अखिल भारतीय साधुमार्गी जैन संस्कृति रक्षक संघ साहित्य रत्नमाला का ४६ वां रत्न

तीर्थंकर चरित्र

(भाग १)

लेखक—

रतनलाल डोशी

प्रकाशक—

अखिल भारतीय साधुमार्गी
जैन संस्कृति रक्षक संघ
सैलाना (म. प्र.)

मुख्य सहायक

श्रीमान् सेठ लाधूरामजी पन्नालालजी गोलेछा
खीचन
(जिला-जोधपुर राजस्थान)

प्राप्ति स्थान-

१—श्री अखिल भारतीय साधुमार्गी जैन संस्कृति रक्षक संघ सैलाना
२— " एडुन बिल्डिंग, पहली धोबी-तलाव लेन बम्बई २
३— " सराफा बाजार, जोधपुर (राजस्थान)

स्वल्प मूल्य ५—००

प्रथमावृत्ति
२०००

वीर संवत् २४८९
विक्रम संवत् २०२०
सन् १९६३

मुद्रक—श्री जैन प्रिंटिंग प्रेस, सैलाना (मध्यप्रदेश)

प्राक् कथन

परमवन्दनीय तीर्थंकर भगवंत ही धर्म की आदि के कर्त्ता हैं—"जिनपण्णत्तं तत्तं।" जिन तीर्थंकर भगवत के धर्मशासन को शिरोधार्य कर के अनन्त जीव परमात्म पद प्राप्त कर गये, और वर्त्तमान मे भी जिनके मार्ग का अनुसरण कर के जीव अपना उत्थान करते हैं, उन परमोपकारी भगवंतो के उत्थान का क्रम, पूर्वभवो का वर्णन एवं तीर्थंकर भव का चरित्र जानना प्रत्येक उपासक के लिये आवश्यक है। सभी जिनोपासक जिनेश्वर भगवंतो का चरित्र जानने की इच्छा रखते हैं, परन्तु साधन उपलब्ध नहीं होने से विवश रहते हैं। इस अवसर्पिणी काल मे हुए तीर्थंकर भगवतो का व्यवस्थित चरित्र हमारे समाज मे है ही नहीं। स्व. सुश्रावक श्रीवालचन्दजी श्रीश्रीमाल रतलाम निवासी ने दो भागो मे तीर्थंकर चरित्र प्रकाशित किया था, परन्तु वह सक्षेप मे था और धार्मिक परीक्षा बोर्ड के विद्यार्थियो के उपयोग की दृष्टि से लिखा गया था। वह संक्षिप्त चरित्र भी आज उपलब्ध नही है।

भगवान् ऋषभदेवजी, शांतिनाथजी, अरिष्टनेमिजी, पार्श्वनाथजी और महावीर स्वामीजी के जीवन चरित्र तो मिलते हैं और ढाल-चोपाई के रूप मे भी मिल सकते हैं, परन्तु समग्र रूप मे—जैसा श्रीमद् हेमचन्द्राचार्य का "त्रिषष्ठिशलाका पुरुष चरित्र" है, वैसा कोई ग्रंथ नहीं था +। इस अभाव की पूर्ति का ही यह प्रयास है। इसका प्रारम्भ 'सम्यग्दर्शन' वर्ष १४ दिनांक ५ जनवरी सन् १९६३ के प्रथम अंक मे किया था, जो अभी चल ही रहा है। जिनेश्वरो की धर्मदेशना का वर्णन सम्यग्दर्शन वर्ष १२ के ५ जनवरी ६१ अंक से प्रारम्भ कर वर्ष १३ अंक १८ ता २०-९-६२ तक हुआ। इसका मुख्य आधार 'त्रिषष्ठिशलाका पुरुष चरित्र' है। इसमें "चउप्पन्न महापुरिस चरियम," आगमों से उद्धृत [illegible] और [illegible] ढाल-चोपाई का भी उपयोग किया है। भगवान् अरिष्टनेमि चरित्र लिखते समय [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] का [illegible] इतिहास भी सहायक रहा है।

आवश्यक भाष्य गा २६१ मे एक दिन उपरान्त केवलज्ञान होना लिखा है। सूत्र मे निर्वाण तिथि चैत्र शु ४ लिखी है, परन्तु ग्रथकार फाल्गुन शु. १२ बतला रहे हैं। परिवार की सख्या मे भी अन्तर है।

इस प्रकार के अन्तर अन्य तीर्थंकरो के चरित्रो मे भी हो सकते हैं। इसलिए इस ग्रंथ की वे ही बाते प्रामाणिक मानी जाय जो आगमिक विधानो से अविपरीत हो।

हमने एक अभाव की पूर्ति का प्रयास किया है। इनमे हमसे कई भूले भी हुई होगी। अकेले काम किया है और सशोधन करने वाला भी कोई अनुभवी विद्वान् नही मिल सका। इसलिये इसमे कई भूले रही होगी। इतना होते हुए भी एक वस्तु प्रस्तुत हुई है, जिस पर आगे कोई महानुभाव परिश्रम कर के संशोधित संस्करण तय्यार कर समाज के सामने प्रस्तुत कर सके।

इस ग्रथ मे १९ तीर्थंकर भगवतों ८ चक्रवर्तियो और ७ वासुदेवो बलदेवो और प्रतिवासुदेवो के चरित्र समाविष्ट हुए हैं। प्रसगोपात अन्य अनेक सम्बन्धित चरित्र भी आये हैं। हमारा विचार है कि इसके बाद दूसरे भाग मे बीसवे तीर्थंकर भगवान् मुनिसुव्रत स्वामीजी का और इक्कीसवे तीर्थंकर श्री नमिनाथजी का चरित्र हो। भगवान् मुनिसुव्रत स्वामीजी के शासन मे आठवे वासुदेव बलदेव (श्री रामचन्द्रजी लक्ष्मणजी) हुए हैं, उनमे यह चरित्र बडा होगा। तीसरे भाग मे भगवान् अरिष्टनेमिजी म का चरित्र होगा और अत मे भ पार्श्वनाथजी और भ महावीर स्वामीजी का चरित्र देने का विचार है। यह कार्य कब पूरा होगा? स्वास्थ्य और साधनो की अनुकूलता पर ही कार्य की प्रगति रही हुई है।

इस ग्रंथ की एक हजार प्रतियों के सहायक — श्रीमान् सेठ लाधूरामजी पन्नालालजी गोलेछा [illegible] निवासी हैं और दूसरी एक हजार प्रतियों के द्रव्य सहायक श्रीमान् सेठ पारसमलजी [illegible] बोहरा सदूपा निवासी हैं। दोनों महानुभाव धर्मप्रिय हैं और ज्ञान प्रचार की प्रबल भावना वाले हैं। इस सहयोग के लिए संघ आपका पूर्ण आभारी है।

तीर्थंकर चरित्र

भ० ऋषभदेवजी

आदिमं पृथिवीनाथ-मादिमं निष्परिग्रहिम् ।
आदिम तीर्थनाथ च, ऋषभस्वामिन स्तुम ॥१॥

पूर्वभव—धन्य सार्थवाह

चाहे, वे तय्यार हो जावे। जिन्हे पूँजी की आवश्यकता होगी, उन्हे पूँजी मिलेगी। जिनको वाहन चाहिए, वह वाहन पा सकेगा और जिसे भोजन, रक्षण और अन्य प्रकार की सहायता की आवश्यकता होगी, तो वह भी मिलेगी। जो सभी प्रकार के साधनो से वञ्चित होगे, उनकी सगे भाई के समान सहायता की जायगी।"

धन्ना सेठ की इस उदार उद्घोषणा का लाभ हजारो मनुष्यो ने लिया। शुभ मुहूर्त मे सार्थ ने प्रयाण किया। उस समय जैनाचार्य श्री धर्मघोष मुनिराज, अपने शिष्य-परिवार के साथ धन्य-श्रेष्ठी के पास आये। आचार्य को देखते ही सेठ उठा। नमस्कार किया और आने का प्रयोजन पूछा। आचार्यश्री ने कहा—

"हम भी आपके सार्थ के साथ आना चाहते हैं।"

आचार्य का अभिप्राय जान कर धन्ना सेठ बहुत प्रसन्न हुआ। उसने कहा—

"भगवन्! मैं धन्य हुआ। आप अवश्य पधारे। मैं आपकी सेवा करूँगा।"

सेठ ने अपने रसोइये को बुला कर कहा—

"देखो, ये आचार्य और इनके ये संत भी हमारे साथ चल रहे है। इनके लिए भी भोजन ।"

सेठ की बात पूरी होने के पूर्व ही आचार्य ने कहा—

"भद्र! हम उस आहार को ग्रहण नही करते, जो हमारे लिए बनाया गया हो, या हमारे सकल्प से बनवाया हो। जिस आहार मे हमारे उद्देश्य का एक दाना भी मिला हो, वैसा आहार या पानी हमारे लिए ग्रहण के योग्य नही रहता।"

"महानुभाव! कूएँ, तालाब अथवा नदी आदि का सचित्त जल भी हमारे लिए अनुपयोगी होता है। हम वही आहार-पानी लेते हैं, जो निर्दोष हो, अचित्त हो और गृहस्थ ने अपने लिये बनाया हो। हमारे लिए जिनेश्वर भगवान् की यही आज्ञा है।"

यह बात हो ही रही थी कि इतने मे एक अनुचर पके हुए आमो का थाल भर कर लाया। सेठ ने वे फल ग्रहण करने की आचार्यश्री से प्रार्थना की। तब आचार्यश्री ने कहा—

"ये फल जीव युक्त है। इसलिए हमारे स्पर्श करने के योग्य भी नही है।"

सेठ ने आचार्यश्री के वचन सुन कर आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा—

"अहो श्रमणवर! आप तो कोई महा दुष्कर व्रत के धारक हो। ऐसा व्रत प्रमादी पुरुष तो एक दिन भी धारण नही कर सकता। आप हमारे साथ अवश्य पधारे। हम

आपको वही वस्तु अर्पण करेगे, जो आपके योग्य होगी।"

सार्थ-सघ ने प्रस्थान किया। आचार्यश्री भी अपनी शिष्य-मण्डली के साथ ईर्या-समिति युक्त विहार करते हुए चलने लगे। सार्थ बहुत बडा था। हजारो मनुष्य साथ थे। खाने-पीने का सामान, व्यापार की चीजे और बिस्तर, वस्त्र, बरतन आदि ढोने के लिए तथा रास्ते मे पानी ले कर साथ चलने मे बैल, गधे, खच्चर आदि हजारो पशु थे। सार्थ की रक्षा के लिए सशस्त्र सेना भी साथ थी। जाना बहुत दूर था। शीतकाल मे प्रस्थान किया, किन्तु उष्णकाल भी बीत चुका और वर्षाकाल आया। वर्षा के कारण सभी मार्ग रुक गये। गमनागमन रुक गया। सार्थपति ने वर्षाकाल बिताने के लिए उचित स्थान पर पडाव डालने की आज्ञा दी। तम्बू तन गये। अस्थायी निवास की व्यवस्था हो गयी। आचार्यादि भी एक स्थान मे ठहर गये। वर्षाकाल लम्बा था और सार्थ मे मनुष्य भी बहुत हो गये थे। अतएव खाद्य सामग्री कम हो गई थी। भावी सकट की आशका से सार्थपति धन्य सेठ चिन्तित रहने लगे। उन्हे अचानक स्मरण हो आया कि—"मै धर्मघोष आचार्य को साथ लाया और उनके अनुकूल व्यवस्था करने का वचन दिया, किन्तु आज तक मैने उनसे पूछा भी नहीं, याद भी नही किया। अहो! मै कितना दुर्भागी हूँ। मैने महात्माओ की उपेक्षा की। उन अकिचन महाव्रतियो का जीवन अब तक कैसे चला होगा? अब मै उन्हे अपना मुंह भी कैसे दिखाऊँ"—वह चिन्ता से छटपटाने लगा। अन्त मे निश्चय किया कि प्रात काल होते ही आचार्यश्री के चरणो मे उपस्थित हो कर क्षमा मांगू और प्रायश्चित्त करूँ। उसके लिए शेष रात्रि बिताना कठिन हो गया। प्रात काल होते ही वह कुछ योग्य साथियो के साथ आचार्यश्री की सेवा मे उपस्थित हुआ। उसने देखा कि—

आचार्य ज्ञान, दर्शन और चारित्र से सुशोभित है। उनके मुखकमल पर शांति एव सौम्यता स्पष्ट हो रही है। तप के शान्त तेज की आभा से उनका चेहरा देदीप्यमान हो रहा है। उनके परिवार के साधुओ मे कोई ध्यान-मग्न है, तो कोई स्वाध्यायरत। कोई वन्दन कर रहा है, तो कोई पृच्छा। कोई सीखे हुए ज्ञान की परावर्तना कर रहा है, तो कोई वाचना ही ले रहा है। सभी सत किसी न किसी प्रकार की साधना मे लगे हुए हैं। वे सभी टूटी-फूटी एव जीर्ण निर्दोष झोंपडी मे बैठे हुए हैं।

सार्थपति आदि ने आचार्यश्री और अन्य महात्माओ को वन्दन किया और उनके सम्मुख बैठ कर निवेदन किया—

था, किन्तु आज तक आपके दर्शन भी नही कर सका । मै प्रमाद के वश हो कर आपकी स्मृति ही भूल गया । महात्मन् ! आप तो कृपानिधान है, क्षमा के सागर है । मेरे अपराध क्षमा करे—प्रभु !"

"सार्थपति ! चिता मत करो"—आचार्य शात वचनो से सेठ को आश्वस्त करने लगे—"आपने जगली क्रूर पशुओ से और चोरो से हमारी रक्षा की है । आपके सघ के लोग ही हमे आहारादि देते है । मार्ग मे हमे कुछ भी कष्ट नही हुआ । इसलिए खेद करने की आवश्यकता नही है ।"

"महर्षि ! गुणिजन तो गुण ही देखते है । मै भूल और दोष का पात्र हूँ । मैं अपने ही प्रमाद से लज्जित हो रहा हूँ । आप मुझ पर प्रसन्न होवे और मेरे यहाँ से आहार ग्रहण करे"—धन्य सार्थवाह ने कहा ।

बोधिलाभ

आचार्यश्री ने साधुओ को आहार के लिए भेजा । जिस समय साधु गोचरी के लिए गये, उस समय सेठ के रसोडे मे साधुओ को देने योग्य निर्दोष सामग्री कुछ भी नही थी । सेठ ने देखा—सिवाय घृत के और कुछ भी नही है । उसने मुनिवरो को घृत ग्रहण करने का निवेदन किया । साधुओ ने पात्र आगे रख दिया । सार्थपति श्री धन्य श्रेष्ठी ने भावो की उत्तमता से—बडे ही प्रमोद भाव से भक्तिपूर्वक घृत दान दिया । घृत-दान के समय भावो की विशुद्धि से सार्थपति को मोक्ष के बीज रूप 'बोधि-बीज'—सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई ।

सेठ दान देने के पश्चात् मुनिवरो को पहुँचाने आश्रम तक गया और आचार्यश्री को वन्दना कर के बैठ गया । आचार्यश्री ने सार्थपति को धर्मोपदेश दिया, जिसे सुन कर वह बहुत प्रसन्न हुआ । उसने कहा—"भगवन् ! आपका उपदेश मेरे हृदय मे उतर गया है । मैने आज पहली बार ही ऐसा उपदेश सुना । मै अब तक अन्धकार मे ही भटक रहा था ।" आचार्यश्री को वन्दना कर के सेठ अपने स्थान पर आये । वर्षाकाल पूरा हुआ । सार्थपति ने प्रस्थान की तय्यारी की और उद्घोषणा करवा कर सभी को तय्यार होने की सूचना दी । पूरा सघ चल पडा । जब सघ, भयानक और विशाल जगल को पार कर गया और छोटे-मोटे गाँव आने लगे, तब आचार्यश्री ने सघपति धन्य सेठ को सूचित कर के पृथक् विहार कर दिया और सार्थ वसन्तपुर की दिशा मे आगे बढा । वसन्तपुर पहुँचने के बाद

क्रय-विक्रय कर के सब, पीछा लौटा और सुखपूर्वक स्वस्थान—क्षितिप्रतिष्ठित नगर पहुँच गया।

युगलिक भव

कालान्तर मे सार्थपति धन्य सेठ आयु पूर्ण कर के उत्तरकुरु क्षेत्र मे युगलिक पुरुष के रूप मे उत्पन्न हुआ। उत्तरकुरु क्षेत्र के युगलिको मे एकान्त 'सुषम-सुषमा' नामक आरे जैसी स्थिति होती है। वहाँ की पृथ्वी, मिश्री जैसी मीठी और निर्मल होती है। जल भी स्वादिष्ट होता है। वहाँ तीन दिन के बाद आहार लेने की इच्छा होती है। वहाँ के मनुष्यो के २५६ पसलियाँ होती है। शरीर का प्रमाण तीन गाउ लम्बा और आयु तीन पल्योपम की होती है। वे अल्प कषायी व ममत्व-रहित होते हैं। दस प्रकार के कल्पवृक्षो से वहाँ के निवासियो का निर्वाह होता है। वे कल्पवृक्ष इस प्रकार के है—

१ मद्यांग—इस वृक्ष से मद्य—पौष्टिक रस मिलता है। २ भृंगांग—पात्र देता है। ३ तुर्यांग—विविध प्रकार के वादिन्त्र मिलते हैं। ४ दीपशिखांग—दीपक-सा प्रकाश देने वाले। ५ ज्योतिष्कांग—सूर्य-सा प्रकाश मिलता है और उष्णता भी मिलती है। ६ चित्रांग—विविध प्रकार के पुष्प। ७ चित्ररस से भोजन। ८ मण्यंग से आभूषण। ९ गेहाकार से घर और १० अनग्न कल्पवृक्ष से सुन्दर वस्त्र मिलते हैं। उनके जीवन के अन्त के दिनो मे एक युगल का जन्म होता है। वे अपनी सन्तान की प्रतिपालना केवल ४९ दिन ही करते हैं। इसके बाद उनकी मृत्यु हो जाती है और वे देवगति प्राप्त करते हैं।

देव और विद्याधर भव

- एक दिन विद्याधर-पति महाराज शतबल, एकान्त मे बैठे हुए अशुचि-भावना मे मग्न हो कर सोचने लगे—

"अहो ! यह शरीर स्वभाव से ही अशुचिमय है। ऊपर के आवरणों से ही यह शोभायमान हो रहा है। इसकी स्वाभाविक अशोभनीयता कब तक छुपी रहेगी ? प्रतिदिन शोभा सत्कार करते हुए, यदि एक दिन भी इसकी सफाई नही की जाय, तो दुष्ट मनुष्य के समान यह शरीर तत्काल अपने विकार प्रकट कर देता है। बाहर निकले हुए विष्टा, मूत्र कफ, श्लेष्मादि से मनुष्य घृणा करता है, किन्तु वह यह नही सोचता कि हमारे शरीर के भीतर क्या है ? यही तो भरा है। जिस प्रकार जीर्ण वृक्ष की कोटर मे सांप, बिच्छु आदि जन्तु रहते है, उसी प्रकार शरीर मे भी अनेक प्रकार के कृमि और दुःखदायक रोग भरे हैं। यह शरीर शरदऋतु के मेघ के समान स्वभाव से ही नाश होने योग्य है। यौवन-लक्ष्मी विद्युत् चमत्कार के सदृश है और देखते-देखते ही चली जाती है। राज्य भी पताका के समान चपल है और सपत्ति जल-तरग के तुल्य तरल है। भोग, भुजग के फण के समान विषम है और संगम, स्वप्न की तरह मिथ्या है। इस शरीर मे रही हुई आत्मा, काम-क्रोधादि के ताप से तप्त हो कर दिन-रात पक रही है। इस प्रकार शरीर की दशा स्पष्ट दिखाई देते हुए भी अज्ञानी जीव, दुःखदायक परिणाम वाले विषयो मे सुख मानते हैं और अशुचि स्थान मे रहे हुए कीडे के समान उसी मे प्रीति करते है। उन्हे वैराग्य क्यो नही प्राप्त होता ? वे परम सुखदायक ऐसे धर्म और मोक्ष-पुरुषार्थ मे पराक्रम क्यो नही करते ?

मुझे यह सुअवसर प्राप्त हुआ है। अब विलम्ब करना उचित नही।" इस प्रकार विचार कर के राजा ने युवराज महाबल का राज्याभिषेक किया और स्वयं धर्माचार्य के समीप निर्ग्रंथ-प्रव्रज्या ग्रहण की। बहुत वर्षों तक चारित्र का पालन कर के स्वर्गवासी हुए।

स्वयंबुद्ध का उपदेश

महाराज महाबल कुशलतापूर्वक राज्य का संचालन करने लगे और मनुष्य सम्बन्धी काम-भोग भोगने लगे। वे काम-भोग मे अत्यन्त आसक्त हो गए थे। राज्य सचालन अनेक मन्त्रियो द्वारा होता था। मुख्यमन्त्री चार थे। चारो मुख्य मन्त्रियो के नाम इस प्रकार

अधोगति मे ले जाते है। इसलिए इनकी आसक्ति हितकारक नही होती। इसलिए हे नरेन्द्र! पाप के मित्र, धर्म के शत्रु और नरक की ओर ले जाने वाले ऐसे विषयो मे आप विमुख रहे। इन्हे त्याग दे। इसी मे आपका हित रहा हुआ है।"

"नराधिपति! हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि ससार मे कोई मनुष्य सेव्य है, तो कोई सेवक है, एक दाता है, तो दूसरा याचक है, एक जीव, वाहन बनता है, तो दूसरा जीव उस पर सवार होता है, एक भयभीत हो कर अभयदान मांगता है, तो दूसरा अभयदान देता है और एक सुखी है, तो दूसरा दुखी है। इस प्रकार धर्म-अधर्म के फल प्रत्यक्ष दिखाई देते है। इसलिए आप अधर्म को त्याग कर धर्म का आचरण करे। इसीमे आपका कल्याण है।"

स्वयबुद्ध के युक्ति-सगत वचन सुन कर सभिन्नमति चुप रह गया, तब 'शतमति' नाम के तीसरे क्षणिकवादी मन्त्री ने कहा—"मित्र! प्रतिक्षण नाश होने वाली वस्तु का ज्ञान करने वाली शक्ति को ही 'आत्मा' कहते है। इसके सिवाय आत्मा नाम की कोई स्वतन्त्र वस्तु नही है। वस्तु मे स्थिरत्व नही होता। जीवो मे जो स्थिरत्व बुद्धि है, वह तो वासना है। इसलिए पूर्व और पश्चात् क्षणो का वासना रूप एकत्व ही वास्तविक है। क्षणो का एकत्व सत्य नही है।"

अतएव असत्य है ।

सभी वस्तु प्रतिक्षण नष्ट होने वाली मानने पर पाप का फल भोगने की मान्यता भी मिथ्या हो जाती है । चोरी करने वाला चोर या हत्यारा, वह क्षण बीत जाने पर अन्य क्षणो मे दण्ड का भागी नही रह सकेगा और जो दण्ड भोग रहा है, वह कोई दूसरा प्राणी ही माना जायगा । इस प्रकार कृतनाश (किये हुए कर्म का फल नष्ट होना) और अकृता-गम (नहीं किये का फल पाना) ये दो महान् दोष आ जावेंगे । अतएव एकान्त क्षणभगुरत्व की मान्यता मिथ्या है और द्रव्यापेक्षा ध्रुवत्व मानना सत्य है ।

क्षणिकवादी शतमति के चुप रह जाने पर 'महामति' नाम का चौथा मन्त्री बोला—

"स्वयबुद्धजी ! आप-हम सब माया के चक्कर मे पडे हुए हैं । हम जो कुछ देखते है और आप जो कुछ कहते हैं, यह सब माया का ही प्रपञ्च है । न तो कोई वस्तु ध्रुव है, न क्षणभगुर, सब माया ही माया है । माया के अतिरिक्त दूसरा कोई तत्त्व नहीं है । हम जो कुछ जानते-देखते है, यह सब का सब स्वप्न एव मृगतृष्णा के समान मिथ्या है । गुरु-शिष्य, पिता-पुत्र, धर्म-अधर्म, अपना-पराया, आदि बाते सब व्यवहार के लिए है । तत्त्व से तो ये सभी बाते मिथ्या है ।

जिस प्रकार एक गीदड, मास का टुकडा मुँह मे दबा कर नदी के किनारे आता है । वहाँ मच्छी को देख कर ललचाता है और मास को एक ओर रख कर मच्छी पकडने को झपटता है, किंतु मच्छी पानी मे लुप्त हो जाती है और उधर मास के लोथडे को गिद्ध पक्षी उठा ले जाता है । वह अप्राप्त मच्छी की आशा मे प्राप्त मास को भी खो बैठता है । इसी प्रकार जो लोग, परलोक की आशा से इस लोक के प्राप्त सुखो को छोडते है, वे दोनो ओर से भ्रष्ट होते है और अपनी आत्मा को धोखा देते हैं ।

पाखंडी लोगो के मिथ्या उपदेश सुन कर और नरक से भयभीत हो कर मोहा-धीन प्राणी, व्रत और तप के द्वारा देह दमन करते हैं, वे अज्ञानी हैं ।"

महामति की मिथ्या वाणी सुन कर महामन्त्री स्वयंबुद्ध ने कहा—"यदि ससार मे सभी वस्तु असत्य और माया (भ्रम) मात्र हो, तो जीव अपने कृत्यो का कर्त्ता भी नही हो सकता और भोक्ता भी नही हो सकता । यदि सब स्वप्न के समान ही हो, तो जिस प्रकार स्वप्न मे प्राप्त धन, सम्पत्ति, रमणी और हाथी आदि मिथ्या होते है, वैसे प्राप्त साधन भी मिथ्या ही होना चाहिए ? फिर मिथ्या वस्तु का लोभ ही क्या और राज-सेवा आदि से धन आदि की प्राप्ति का प्रयत्न ही क्यो होता है ? यदि पदार्थों

का कार्यकारण भाव सत्य नहीं है, तो दुष्ट द्वारा आक्रमण का भय भी नहीं होना चाहिए और "मैं" "तुम" "वे" आदि वाच्य-वाचक भी नहीं होना चाहिए और व्यापार-व्यवसाय और सेवा आदि व्यवहार का फल भी नहीं मिलना चाहिए ? जब समस्त व्यवहार मिथ्या है और सब माया ही माया है, तो माया के पक्षकार को तो व्यवहारों से मुक्त ही रहना चाहिए ?"

'महाराज ! यह सब वितण्डावाद है और विषयाभिलाषा के पोषण की मिथ्या युक्तियें हैं। आपको इस पर स्वयं सोचना चाहिए और विवेक के द्वारा विषयों का त्याग कर के धर्म का आश्रय लेना और भविष्य सुधारना चाहिए।"

मन्त्रियों के भिन्न-भिन्न मतों को जान कर अपने निर्णय के स्वर में महाराज महाबल ने कहा,—

"महाबुद्धि स्वयंबुद्धजी ! आपने बहुत ही सुन्दर और हितकारक उपदेश दिया। आपका उपदेश यथार्थ है। मैं धर्म-द्वेषी नहीं हूँ। परन्तु धर्म का पालन भी यथावसर ही होना चाहिए। वर्तमान में मित्र के समान प्राप्त यौवन की उपेक्षा करना उचित नहीं है। आपका उपदेश यथार्थ होते हुए भी असमय हुआ है। जब वीणा का मधुर स्वर चल रहा हो, तब उपदेश की धारा व्यर्थ ही नहीं, असोभनीय लगती है। धर्म का परलोक में मिलने वाला फल निःसन्देह नहीं है। इसलिए आपका इस लोक में प्राप्त सुखभोग का निषेध करना उचित नहीं लगता।"

किया। मैं उस प्रसंग को भूल ही गया था। अब मैं परलोक को मान्य करता हूँ। अब मुझे आपके धर्म-वचनो मे कुछ भी शका नही रही।"

राजा के ऐसे आस्तिकता पूर्ण वचन सुन कर स्वयबुद्ध मन्त्री हर्षित हुआ और कहने लगा,—

"महाराज! आपके वश मे पहले कुरुचन्द्र नाम का एक राजा हो गया है। उसके कुरुमती नाम की रानी और हरिश्चन्द्र नाम का पुत्र था। कुरुचन्द्र राजा महापापी, महा-आरभी, महापरिग्रही, अनार्य, निर्दय, दुराचारी और भयकर था। उसने बहुत वर्षो तक राज भोगा, किंतु मरते समय धातु-विकृति के रोग से वह नरक के समान दुःख भोगने लगा। उसे रुई के नरम गदेले आदि काँटो की शय्या से भी अति तिक्ष्ण लगने लगे। मधुर भोजन बिलकुल निरस, कडुआ, सुगन्धित पदार्थ दुर्गन्धरूप और स्त्री-पुत्र आदि स्वजन भी शत्रु के समान लगने लगे। उसकी प्रकृति ही विपरीत और महा दुःखदायक हो गई थी। अन्त मे दाहज्वर से पीडित हो कर रौद्र-ध्यानपूर्वक मृत्यु पा कर दुर्गति मे गया।'

कुरुचन्द्र की मृत्यु के बाद हरिश्चन्द्र राजा हुआ। उसने अपने पिता के पाप का फल प्रत्यक्ष देख लिया था। इसलिए वह पाप से विमुख हो कर धर्म के अभिमुख हुआ। उसने अपने सुबुद्धि नाम के श्रावक मित्र से कहा—"मित्र! तुम्हारा कर्त्तव्य है कि तुम धर्मोपदेश सुन कर मेरे पास आओ और रोज मुझे सुनाया करो।" इस प्रकार पाप से भयभीत हुआ राजा धर्म के प्रति प्रीतिवान् हो कर धर्म सुनने लगा और उस पर श्रद्धा रखने लगा।

कालान्तर मे नगर के बाहर उद्यान मे, शीलन्धर नाम के महा मुनि को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ। देवगण केवलज्ञानी महात्मा के पास जाने लगे। सुबुद्धि श्रावक, अपने मित्र महाराज हरिश्चन्द्र को भी केवलज्ञानी भगवान् के पास ले गया। धर्मोपदेश सुन कर राजा सतुष्ट हुआ। उसने केवली भगवान् से पूछा,—

"भगवन्! मेरा पिता मर कर किस गति मे गया?"

"राजन्! सातवी नरक मे गया।"

राजा विरक्त हुआ और पुत्र को राज्यभार सौंप कर, सुबुद्धि श्रावक के साथ भगवान् के पास प्रव्रजित हुआ और चारित्र पाल कर सिद्ध-गति को प्राप्त हुआ।

स्वयबुद्ध प्रधान आगे कहने लगा,—

"महाराज! आपके वश मे एक 'दंडक' नाम का राजा हुआ था। उसका शासन प्रचण्ड था। शत्रुओ के लिए वह यमराज के समान था। उसके 'मणिमाली' नाम का पुत्र था। वह सूर्य के समान तेजस्वी था। दंडक राजा, स्त्री, पुत्र, स्वर्ण, रत्न आदि मे

आसक्त हो कर आर्त्तध्यान युक्त मृत्यु पाया और भयंकर अजगर हुआ। वह अपने राज्य-भण्डार में रहने लगा। जो भी व्यक्ति भण्डार में पहुँचता, उसे वह क्रुद्ध अजगर निगल जाता। एक बार 'मणिमाली' भण्डार में गया। उसे देख कर अजगर को स्नेह उत्पन्न हुआ। विचार में मग्न होते पूर्वजन्म का स्मरण हुआ और अपना पुत्र जान कर शान्तिपूर्वक उसे निरखने लगा। मणिमाली ने भी समझा कि यह मेरा पूर्वजन्म का सम्बन्धी है। उसने ज्ञानी महात्मा से पूछ कर जान लिया कि वह अजगर उसके पिता का जीव ही है। मणिमाली ने अजगर को धर्म सुनाया। अजगर संवेग भाव में रहने लगा और शुभध्यान से आयुष्य पूर्ण कर के स्वर्ग में गया। उस देव ने पुत्र-प्रेम से प्रेरित हो कर एक दिव्य मुक्ताहार मणिमाली को अर्पण किया। वही हार आपके वक्षस्थल पर अभी भी शोभा पा रहा है। आप महाराज हरिश्चन्द्र के वंशज हैं और मैं सुबुद्धि श्रावक का वंशज हूँ। मेरे पूर्वज के समान मैं भी आपको धर्म की प्रेरणा करता हूँ। मैंने आज नन्दन वन में दो चारण मुनियों को देखा और आपके आयुष्य के विषय में पूछा। उन्होंने आपका आयुष्य मात्र एक महीने का ही बताया है। इसलिए आपको अभी ही धर्म की आराधना करनी चाहिए। आपके लिए यह अवसर चूकने का नहीं है।

स्वयंबुद्ध के द्वारा अपना आयुष्य एक मास का जान कर राजा चौंक उठा। उसने स्वयंबुद्ध का उपकार मानते हुए कहा—"हे मित्र ! हे अद्वितीय भ्रात ! तुम मेरे परम उपकारी हो और सदैव मेरे हित की बात ही सोचा करते हो। तुमने मोह नींद में बे-भान बने हुए और विषयों की सेना से दबे हुए मुझ पामर को जगाया, सावधान किया। अब तुम्हीं बताओ कि इस अल्पकाल में मैं क्या करूँ, किस प्रकार धर्म की आराधना करूँ ?"

"महाराज ! घबराइये नहीं, स्वस्थ रह कर श्रमण-धर्म का पालन कीजिए। एक दिन का धर्म-पालन भी मुक्ति दे सकता है, तो स्वर्ग प्राप्ति कितनी दूर है ?

प्रव्रज्या ग्रहण और स्वर्ग गमन

ललिताग देव, [illegible] [illegible]। निर्नामिका देव के [illegible] [illegible] 'स्वयप्रभा' नाम की ललिताग देव की प्रिया [illegible]। [illegible] पूर्ण होने से च्युत हो गया।

ललितांग देव का च्यवन

इस प्रकार भोग भोगते हुए ललिताग को अपने च्यवन (मरण) समय के चिह्न दिखाई देने लगे। रत्नाभरण निस्तेज होने लगे, मुकुट की मालाएँ म्लान होने लगीं और वस्त्र मलीन होने लगे। उसे निद्रा आने लगी। वह दीन होने लगा, अंगोपाग ढीले होने लगे। उसकी दृष्टि मन्द होने लगी। उसके कल्पवृक्ष काँपने लगे। अंगोपाग में कम्पन होने लगा। उसका मन रम्य स्थानो मे भी नही लगता। उसकी यह दशा देख कर स्वयप्रभा बोली—

"नाथ! आप मुझ पर अप्रसन्न क्यों हैं? मुझ से ऐसा कौन-सा अपराध हुआ है?"

ललिताग ने कहा—"प्रिये! तेरा कोई अपराध नहीं है, किन्तु मेरा ही अपराध है। मैने मनुष्य-भव मे धर्म की आराधना बहुत कम की, इससे देवायु इतना ही पाया। अब मेरे च्यवन का समय निकट आ रहा है। क्योंकि ये लक्षण हैं।"

यह बात हो ही रही थी कि इशानेन्द्र का आदेश मिला—'इन्द्र जिनवन्दन को जाते हैं, इसलिए तुम भी चलो।' उसने सोचा—'यह अच्छा ही हुआ। ऐसे समय धर्म का सहारा हितकारी होता है। वह देवी को साथ ले कर जिनदर्शन को गया। वहाँ जिनेश्वर की वाणी श्रवण से उत्पन्न प्रमोद भाव मे रमता हुआ लौट रहा था कि रास्ते मे ही आयु पूर्ण हो गया और पूर्व-विदेह के पुष्कलावती विजय के 'लोहार्गल' नगर मे सुवर्णजघ राजा की लक्ष्मी नाम की रानी की कुक्षी से पुत्र रूप मे उत्पन्न हुआ। उसका नाम 'वज्रजघ' रखा गया।

मनुष्य भव में पुनः मिलन

ललिताग के विरह से दुखित हुई स्वयप्रभा भी धर्म-रुचि वाली हुई और वहाँ से च्यव कर उसी पुष्कलावती विजय की पुडरीकिनी नगरी के वज्रसेन नाम के चक्रवर्ती राजा

शंकित हुई। उसने राजकुमार से चित्र का पूरा परिचय बताने का कहा। दुर्दान्त ने कहा—"यह मेरु पर्वत है, यह पुंडरीकिनी नगरी है, यह ललितांग देव है।"

पंडिता—"इन मुनि का नाम क्या है ?" दुर्दान्त—नाम तो मैं भूल गया।

पंडिता—"मन्त्रियों के मध्य बैठे हुए राजा का नाम क्या है ?' दुर्दान्त—"मैं नाम नहीं जानता।"

पंडिता—"यह तपस्विनी कौन है ?" दुर्दान्त—"इसे भी मैं नहीं जानता।"

पंडिता को विश्वास हो गया कि यह मायावी है। उसने कहा—

"कुमार! यदि तू स्वयं ललितांग कुमार है, तो नन्दी ग्राम में जा। वहाँ तेरी प्रिया है। वह लंगडी है। उसे जाति-स्मरण हुआ है। उसी का यह चित्रपट है और उसने अपने पूर्वभव के पति को खोजने के लिए मुझे दिया है। चल, मैं तुझे उसके पास ले चलूँ। वह बिचारी बहुत दुःखी है। मैं उसकी दयाजनक स्थिति देख कर ही परोपकार की भावना से यह पट ले कर आई। अब तू जल्दी चल।"

कुमार यह सुन कर विस्मित हुआ और नीचा मुंह कर के चलता बना।

कुछ समय बाद वहाँ लोहार्गलपुर से राजकुमार वज्रजंघ आया। वह चित्र देख कर मूर्च्छित हो गया। उपचार करने पर वह सावधान हुआ। उसने कहा—"यह चित्रपट तो मेरा पूर्वभव बता रहा है। इसमें मेरी प्रिया का भी उल्लेख है। यह देखो—ईशानकल्प रहा। यह श्रीप्रभ विमान। यह मैं ललितांग देव। यह मेरी प्रिया स्वयंप्रभा देवी। यह नन्दी ग्राम वाले महादरिद्री की पुत्री निर्नामिका। यह गंधारतिलक पर्वत। ये महामुनि युगंधरजी। यहाँ निर्नामिका अनशन कर रही है और इसके पास मैं इसे आकर्षित करने के लिए देवलोक से आ कर खड़ा हूँ। इसके बाद यह दृश्य मेरे जिनवन्दन का है और इसके बाद लौटते हुए मेरी मृत्यु हो गई। मेरा विश्वास है कि मेरी वियोगिनी प्रिया स्वयंप्रभा भी यहीं-कहीं होगी। उसीने जातिस्मरण से पूर्वभव जान कर इस चित्रपट को तय्यार किया है।"

राजकुमार वज्रजंघ की बात पर पण्डिता को विश्वास हो गया। वह राजकुमारी के पास आई और सारी घटना सुनाई। श्रीमती के हर्ष का पार नहीं रहा। पण्डिता ने ये समाचार राजा को सुनाया और राजा ने वज्रजंघ कुमार के साथ श्रीमती के लग्न कर दिये। वे नव-दम्पत्ति लोहार्गलपुर आये। सुवर्णजंघ राजा ने राज्य का भार युवराज वज्र-जंघ को दे कर निर्ग्रन्थ-प्रव्रज्या धारण कर ली। उधर चक्रवर्ती महाराज वज्रसेन भी अपने पुत्र पुष्करपाल को राज्य दे कर दीक्षित हुए और तीर्थङ्कर पद पाये।

२ सुनाशीर मन्त्री की लक्ष्मी नामक पत्नी से 'सुबुद्धि' पुत्र। ३ सागरदत्त सार्थवाह की अभयमती स्त्री से 'पूर्णभद्र' और ४ धनश्रेष्ठि की शीलमती से [illegible] 'गुणाकर' पुत्र। इनके अतिरिक्त श्रीमती का जीव भी देवलोक से च्यव कर उसी नगर में ईश्वरदत्त सेठ का 'केशव' नामका पुत्र हुआ।

कुष्ठ रोगी महात्मा का उपचार

ये छहो बालक सुखपूर्वक बढ़ते हुए किशोरवय को प्राप्त हुए और परस्पर मित्र रूप से खेल-कूद मे साथ रहने लगे। इनकी मैत्री एक शरीर की पांच इन्द्रियां और मन के समान एकता युक्त थी। उनमे से जीवानन्द वैद्य, आयुर्वेद मे निष्णात हुआ। वह अन्य सभी वैद्यों से विशेपज्ञ एव मम्माननीय था। एक बार वह अपने अन्य मित्रों के साथ घर बैठा हुआ था, उस समय एक गुणाकर नाम के राजर्षि तपस्वी मुनिराज भिक्षार्थ पधारे। उनका देह कृश हो गया था। वे कुष्ठ रोग से पीडित थे। उनके तन मे कीड़े पड गये थे। उनका सारा शरीर कृमिकुष्ठ व्याधि से व्याप्त हो गया था। असह्य पीड़ा होते हुए भी वे ओपधोपचार का विचार ही नहीं करते थे और शान्त भाव से सहन करते हुए संयम का पालन कर रहे थे।

तपस्वी मुनिराज बेले के पारणे, आहार के लिए पधारे थे। उन्हे देख कर राजकुमार महीधर ने व्यग्यपूर्वक कहा—"मित्र जीवानन्द! तुम कुशल वैद्य हो। तुम्हारा औषध-विज्ञान भी अद्वितीय है। किंतु तुम्हारे हृदय मे दया नही है। तुम वेश्या के समान पैसे के विना आँख उठा कर भी रोगी की ओर नही देखते। तुम्हे धर्म को नही भूलना चाहिए और अपनी योग्यता का उपयोग, परोपकार मे भी करना चाहिए और ऐसे त्यागी तपस्वी सत की भक्तिपूर्वक चिकित्सा करनी चाहिये।"

जीवानन्द ने कहा—"मित्र! आपने मुझे कर्त्तव्य का भान करा कर मेरा उपकार किया। मैं इन महा मुनि की चिकित्सा करना चाहता हूँ। किंतु अभी मेरे पास इनकी औषधी की सामग्री नही है। औषधी मे काम आने वाला 'लक्षपाक तेल' तो मेरे पास है, किन्तु 'गोशीर्षचन्दन' और 'रत्नकम्बल' नही है। यदि आप ये दोनो वस्तुएँ ला दें, तो इनका उपचार हो सकता है।"

९ दर्शन—शकादि दोष से रहित, स्थैर्यादि गुणयुक्त और शमादि लक्षण वाले सम्यग्-दर्शन की आराधना कर के।

१० विनय—ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि का विनय कर के।

११ प्रात, साय उभयकाल भावपूर्वक षडावश्यक कर के।

१२ व्रतो का शुद्धतापूर्वक निरतिचार पालन कर के।

१३ शुभ ध्यान से समय को सार्थक कर के।

१४ यथाशक्ति तपाचरण कर के।

१५ अभय-सुपात्र दान दे कर।

१६ वैयावृत्य—आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, तपस्वी, ग्लान, नवदीक्षित, साधर्मिक, कुल, गण और सघ की यथायोग्य सेवा कर के।

१७ आकुल-व्याकुलता छोड कर, समाधिभाव रख कर और गुर्वादि की यथायोग्य सेवा कर के उन्हे समाधिभाव मे रखने से।

१८, नवीन ज्ञान का अभ्यास करते रहने से।

१९ श्रुत—सम्यग्श्रुत का शुभ भावपूर्वक प्रचार कर के और श्रुत का अवर्णवाद दूर कर के।

२० धर्म-प्रभावना—उपदेश और प्रचारादि से धर्म की प्रभावना कर के।

तीर्थंकर नामकर्म की परम शुभ पुण्य-प्रकृति का वन्ध उपरोक्त बीस प्रकार की उत्तम आराधना से होता है। इनमे से किसी एक पद की आराधना से भी तीर्थंकर पद की प्राप्ति हो सकती है, तब अधिक और सभी पदो की आराधना के पुण्य-प्रभाव का तो कहना ही क्या है। उत्कृष्ट भावो से आराधना हो, तो तीर्थंकर पद प्राप्त करने की योग्यता आ सकती है। महा मुनि वज्रनाभजी ने उत्कृष्ट भावो से सभी पदो की आराधना की और तीर्थंकर नामकर्म का वन्ध कर लिया।

बाहुमुनि ने साधुओ की वैयावृत्य कर के चक्रवर्ती पद के भोग फल का वन्ध कर लिया।

तपस्वी मुनिवरो की सेवा कर के श्री सुबाहुमुनि ने अलौकिक बाहुबल उपार्जन किया।

एक बार वज्रनाभ महाराज ने कहा—"धन्य है इन बाहु-सुबाहु मुनिवरो को जो साधुओ और तपस्वी रोगी आदि अशक्त मुनिवरो की भावपूर्वक सेवा करते हैं।" उनकी

९ दर्शन—शंकादि दोष से रहित, स्थैर्यादि गुणयुक्त और शमादि लक्षण वाले सम्यग्-दर्शन की आराधना कर के।

१० विनय—ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि का विनय कर के।

११ प्रात, साय उभयकाल भावपूर्वक षडावश्यक कर के।

१२ व्रतो का शुद्धतापूर्वक निरतिचार पालन कर के।

१३ शुभ ध्यान से समय को सार्थक कर के।

१४ यथाशक्ति तपाचरण कर के।

१५ अभय-सुपात्र दान दे कर।

१६ वैयावृत्य—आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, तपस्वी, ग्लान, नवदीक्षित, साधर्मिक, कुल, गण और संघ की यथायोग्य सेवा कर के।

१७ आकुल-व्याकुलता छोड कर, समाधिभाव रख कर और गुर्वादि की यथायोग्य सेवा कर के उन्हे समाधिभाव मे रखने से।

१८, नवीन ज्ञान का अभ्यास करते रहने से।

१९ श्रुत—सम्यग्श्रुत का शुभ भावपूर्वक प्रचार कर के और श्रुत का अवर्णवाद दूर कर के।

२० धर्म-प्रभावना—उपदेश और प्रचारादि से धर्म की प्रभावना कर के।

तीर्थंकर नामकर्म की परम शुभ पुण्य-प्रकृति का वन्ध उपरोक्त वीस प्रकार की उत्तम आराधना से होता है। इनमे से किसी एक पद की आराधना से भी तीर्थंकर पद की प्राप्ति हो सकती है, तब अधिक और सभी पदो की आराधना के पुण्य-प्रभाव का तो कहना ही क्या है। उत्कृष्ट भावो से आराधना हो, तो तीर्थंकर पद प्राप्त करने की योग्यता आ सकती है। महा मुनि वज्रनाभजी ने उत्कृष्ट भावो से सभी पदो की आराधना की और तीर्थंकर नामकर्म का वन्ध कर लिया।

वाहुमुनि ने साधुओ की वैयावृत्य कर के चक्रवर्ती पद के भोग फल का वन्ध कर लिया।

तपस्वी मुनिवरो की सेवा कर के श्री सुवाहुमुनि ने अलौकिक वाहुबल उपार्जन किया।

एक बार वज्रनाभ महाराज ने कहा—"धन्य है इन वाहु-सुवाहु मुनिवरो को जो साधुओ और तपस्वी रोगी आदि अशक्त मुनिवरो की भावपूर्वक सेवा करते हैं।" उनकी

सागरचद्र के पिता ने जब यह वृत्तात सुना, तो दग रह गया। उसने पुत्र को एकान्त में ले जा कर कहा कि—"पुत्र ! तूने अशोकदत्त से मित्रता की, यह अच्छा नहीं हुआ। यद्यपि अशोकदत्त भी कुलीन है, किन्तु हृदय का मैला दिखाई देता है। ऐसे व्यक्ति के साथ की हुई मित्रता दुखदायक होती है। तू स्वय बुद्धिमान् है। मैं तुझे क्या समझाऊँ, और अपन तो व्यापारी है। अपने को धन के समान वीरता भी गुप्त ही रखनी चाहिए और साहस का काम नही करना चाहिए।"

सागरचद्र ने सोचा—'पिताजी मोहवश साहस के कामो से रोकते है।' उसने कहा—"मै कहाँ साहस करने जाता हूँ। वह तो अचानक प्रसग उपस्थित हो गया था और सोचने का समय ही नही रहा था। जैसी भावना जगी, वैसी प्रवृत्ति की और अशोकदत्त की बुराई मुझ मे तो नही आ जायगी। मैं स्वय सावधान रहूँगा। इतने दिनो की मित्रता एकदम तोड देना उचित भी नही रहेगा। फिर जैसी आपश्री की आज्ञा।" सेठ ने केवल सावधान रहने का सकेत कर दिया। कालान्तर मे सागरचद्र का विवाह प्रियदर्शना के साथ हो गया। दोनो का जीवन अत्यन्त स्नेहमय बीतने लगा।

अशोकदत्त भी प्रियदर्शना पर मोहित हो गया था। उसकी वासना दुर्दम्य हो गई। वह मोहान्ध हो कर प्रियदर्शना की ताक मे रहने लगा। एक बार जब सागरचंद्र बाहर गया हुआ था, अशोकदत्त प्रियदर्शना के पास आया और कहने लगा—

"प्रियदर्शना ! तुम्हे एक गुप्त बात कहना है।"

"ऐसी क्या बात है—भाई"।

"तुम्हारा पति सागरचद्र, धनदत्त सेठ की पत्नी के साथ रहता है। मैंने अपनी आँखो से देखा है।"

"होगा, किसी काम से मिलना हुआ होगा। इसमे विचार करने जैसी कौन-सी बात है ?"

"प्रियदर्शना ! उसका आशय मैं जानता हूँ। वह उस पर मोहित है और उससे उसका गुप्त सम्बन्ध है।"

प्रियदर्शना विचार मे पड गई। उसको चिंतित देख कर अशोकदत्त ने कहा,—

"प्रिये ! घबडाने की आवश्यकता नही। यदि वह तुम्हे नही चाहता, तो मैं तुझे अपनी हृदयेश्वरी बनाने को तय्यार हूँ।"

ये शब्द सुनते ही प्रियदर्शना चौकी। अब तक वह उसे पति के मित्र और अपने हितैषी देवर के समान मानती थी। किंतु उसकी मनोभावना का पता लगते ही वह गरजी

सागरचद्र को अशोकदत्त के शब्द विष-पान जैसे लगे। उसे पत्नी के प्रति तनिक भी शका नही थी। वह उस पर पूर्ण विश्वस्त था। किन्तु मित्र की बात सुन कर वह स्तम्भित रह गया। दिग्मूढ हो गया। उसके हृदय मे आग जैसी लग गई। वह क्या करे ! ! !

सागरचद्र को स्तब्ध देख कर अशोकदत्त बोला—"मित्र ! घबराओ नही। अब चिन्ता छोड कर सावधान रहो और उसकी बात पर कभी विश्वास मत करो तथा इस बात को भी अपने मन मे ही रख कर, जैसे चले वैसे चलाते रहो। अन्यथा सारा परिवार दुखी हो जायगा।"

सागरचन्द्र नीचा मुंह किये घर लौट आया। आवेग मिटने पर उसने यही निश्चय किया कि जिस प्रकार शरीर मे फोडा हो जाने पर, पट्टी बाँध कर उसे चलाया जाता है, उसी प्रकार प्रियदर्शना को उदासीन भाव से पूर्व के समान निभाया जाय, जिससे परिवार मे शान्ति बनी रहे। वह प्रियदर्शना के साथ उदासीनता से रहने लगा और मन की गाठ मन मे ही दबाये रहा।

प्रियदर्शना ने सागरचन्द्र के हृदय को आघात नही लगे, इस विचार से अशोकदत्त की नीचता की बात उसे या किसी को भी नही कही। उसने सोचा—'मैने उसे कुत्ते के समान दुत्कार दिया। अब वह कभी मेरे सामने नही आ सकेगा। फिर सागरचंद्र के मन मे अशाति उत्पन्न करने की आवश्यकता ही क्या है ? वह नही जानती थी कि उस कामी-कुत्ते ने सागरचद्र के हृदय मे कैसा विष भर दिया है। वह अपने कर्त्तव्य का पालन यथावत् करती रही।

सागरचंद्र को ससार के प्रति अरुचि हो गई। वह अपनी सम्पत्ति का दान करने लगा। काल के अवसर मे मृत्यु पा कर सागरचंद्र और प्रियदर्शना, जम्बूद्वीप के भरत-क्षेत्र के दक्षिण-खड मे, गगा-सिन्धु नदी के मध्य-प्रदेश मे, इस अवसर्पिणी काल के तीसरे आरे के पल्योपम का आठवाँ भाग शेष रहने पर युगलिकपने जन्मे। उनकी आयु पल्योपम के दसवे भाग जितनी थी और अवगाहना ९०० धनुष थी, अशोकदत्त पाप के फल से उसी क्षेत्र मे हाथी के रूप मे उत्पन्न हुआ। वह चार दाँत वाला था। उसका वर्ण श्वेत था।

एक बार घूमते-फिरते हाथी ने अपने पूर्वभव के मित्र सागरचद्र को अपनी युगलिनी सहित देखा। देखते ही उसके मन मे प्रीति उत्पन्न हुई। उसने स्नेहपूर्वक युगल को सूंड से उठा कर अपनी पीठ पर बिठा लिया। सागरचन्द्र को भी हाथी के प्रति प्रीति हो गई। उसे अपने पूर्वभव का स्मरण हुआ। अब युगल, हाथी की पीठ पर बैठ कर फिरने

लगा। उन्हें इस प्रकार फिरते देख कर अन्य युगल विस्मित हुए। उन्होंने उनका नाम 'विमलवाहन' रखा। विमलवाहन जातिस्मरण ज्ञान के कारण पूर्वभव में पाली हुई न्याय-नीति को जानने लगा। काल-परिवर्तन के साथ द्रव्य-क्षेत्रादि में भी परिवर्तन आने लगा। कल्पवृक्षों का प्रभाव मंद होने लगा। उनसे प्राप्त खाद्यादि सामग्री थोड़ी उतरने लगी।

मद्यांगवृक्ष से पेय रस थोड़ा स्वाद में पूर्व की अपेक्षा मंद और विलम्ब से मिलने लगा। इसी प्रकार सभी प्रकार के कल्पवृक्षों के फल थोड़े, स्वाद में हीन और विलम्ब से प्राप्त होने लगे। काल-प्रभाव से युगलिकों में भी ममत्व भाव जाग्रत होने लगा। एक दूसरे के कल्पवृक्षों पर ललचाने लगे। परस्पर खिंचाव उत्पन्न होने लगा और विवाद खड़े होने लगे। ऐसी स्थिति में व्यवस्था बनाये रखने और शान्तिपूर्वक रहने के लिए किसी व्यवस्थापक की आवश्यकता हुई। सभी युगलिकों ने यह भार विमलवाहन को सौंपा और उसे अपना कुलकर● माना। विमलवाहन ने सभी युगलिकों में कल्पवृक्षों का विभाजन कर दिया। यदि कोई नियम का उल्लंघन करता, तो विमलवाहन उसका न्याय करता और नियम तोड़ने वाले को 'ह' कार शब्द से दण्डित करता। वह कहता कि—"हा, तुम दुष्कृत्य करते हो" बस इतना कहना भी उस समय मृत्युदण्ड से बढ़ कर माना जाता था।

विमलवाहन की आयु छह मास शेष रहने पर उसकी युगलिनी ने एक युगल को जन्म दिया। उनका नाम 'चक्षुष्मान्' और 'चन्द्रकान्ता' रखा। वे ८०० धनुष ऊँचे और असंख्य पूर्व आयु वाले थे। वे श्याम वर्ण वाले थे। छह महीने तक उनका लालन-पालन कर के विमलवाहन मर कर भवनपति का सुवर्णकुमार देव हुआ और युगलिनी नागकुमार जाति के भवनपति देवों में उत्पन्न हुई।

चक्षुष्मान् भी विमलवाहन के समान 'ह' कार नीति से ही युगलिक मर्यादा का संचालन करने लगा। वह दूसरा कुलकर हुआ। उसकी आयु के छह माह शेष रहे, तब युगल उत्पन्न हुआ। उनका नाम 'यशस्वी' और 'सुरूपा' रखा। यशस्वी भी अपने पिता के बाद युगलिक मर्यादा निर्वाहक हुआ। वह तीसरा कुलकर हुआ। किंतु उस समय तक विषमता में वृद्धि हो गई थी। लोग 'ह' कार दण्ड-नीति की उपेक्षा करने लगे थे, तब यशस्वी कुलकर (कुलपति) ने 'म' कार नीति चलाई। अल्प अपराध वाले को हकार और विशेष अपराध वालों को मकार = "मत कर" तथा महान् अपराध वाले को हकार-मकार दोनों प्रकार से दण्डित करने लगा।

● कुलकर = कुलपति, स्वामी, व्यवस्थापक।

यशस्वी के 'अभिचन्द्र' और 'प्रतिरूपा' हुए। अभिचन्द्र चौथा कुलकर हुआ। उनके 'प्रसेनजित्' और 'चक्षुकान्ता' हुए। प्रसेनजित् नामके पाँचवे कुलकर के समय स्थिति मे विशेष उतार आया, तब इसने 'धिक्कार' नीति अपनाई। इनके 'मरुदेव' और 'श्रीकान्ता' हुए। मरुदेव छठे कुलकर हुए। इनके अतिम (सातवे) कुलकर 'नाभि' और 'मरुदेवा' जन्मे।

मरुदेवा के गर्भ में अवतरण

तीसरे आरे के चौरासी लाख पूर्व और ८९ पक्ष (तीन वर्ष साढे आठ मास) शेष रहे, तब आषाढ मास के कृष्ण-पक्ष की चतुर्दशी को उत्तराषाढा नक्षत्र मे चन्द्र का योग होने पर महर्षि 'वज्रनाभजी' का जीव, सर्वार्थसिद्ध महाविमान मे ३३ सागरोपम का आयु पूर्ण कर के, नाभि कुलकर की मरुदेवा पत्नी के गर्भ मे उत्पन्न हुआ। इनके गर्भ मे आने पर तीनो लोक मे सुख और उद्योत हुआ और श्री मरुदेवाजी ने चौदह महास्वप्न देखे। वे इस प्रकार थे—

१ उज्ज्वल वर्ण, पुष्ट स्कन्ध और वलिष्ठ शरीर वाला एक वृषभ देखा। जिसके गले मे स्वर्ण की घुंघरमाल पहनी हुई थी। २ दूसरे स्वप्न मे श्वेत वर्ण वाला पर्वत के समान ऊँचा और चार दाँत वाला गजराज देखा। ३ केशरीसिंह ४ लक्ष्मीदेवी ५ पुष्पमाला ६ चन्द्रमा ७ सूर्य ८ महाध्वज ९ स्वर्ण-कलश १० पद्म-सरोवर ११ क्षीर-समुद्र १२ देव-विमान १३ रत्नो का ढेर और १४ धूम्र-रहित प्रकाशमान् अग्नि। ये महा मगलकारी चौदह स्वप्न देखे।

स्वप्न देख कर जाग्रत हुई मरुदेवा हर्षित हुई और नाभि कुलकर को मीठे वचनो से स्वप्नो का वृत्तान्त सुनाया। नाभि कुलकर ने अपनी सहज बुद्धि से विचार कर के कहा—"तुम्हारे एक ऐसा पुत्र होगा, जो महान् कुलकर होगा।" वास्तव मे गर्भस्थ जीव भविष्य मे होने वाले तीर्थंकर भगवान् थे।

उस समय इन्द्रो के आसन कम्पायमान हुए। इन्द्रो ने अवधिज्ञान से आसन कम्पने का कारण जाना। सभी इन्द्र मरुदेवाजी के पास आये और विनयपूर्वक स्वप्न का वास्तविक अर्थ बताते हुए कहा‡—

‡ वह कर्मभूमि के प्रारम्भ का समय था। उस समय ज्योतिष शास्त्र के जानने वाले नही थे। अत-एव यह काम इन्द्रो को करना पडा।

"स्वामिनी ! आपने प्रथम स्वप्न मे बलवान् वृषभ देखा है। इसका अर्थ यह है कि आपका होने वाला पुत्र-रत्न ऐसा पराक्रमी और लोकोत्तम महापुरुष होगा—जो मोह-रूपी कीचड मे फँसे हुए धर्मरूपी रथ का उद्धार करेगा।

२ हस्ति-दर्शन का फल यह है कि आपका पुत्र महत् पुरुषो का भी गुरु होगा और महान् वलशाली होगा।

३ सिंह-दर्शन से आपका पुत्र, पुरुषो मे सिंह के समान, निर्भय, शूरवीर, धीर और पराक्रमी होगा।

४ लक्ष्मीदेवी का दर्शन यह वताता है कि आपका महान् पुण्यशाली पुत्र, तीन लोक की राज्यलक्ष्मी का अधिपति होगा।

५ पुष्पमाला से वह पुण्यदर्शन वाला होगा और ससार के प्राणी उनकी आज्ञा को माला के समान शिरोधार्य करेगे।

६ मनोहर और आनन्दकारी होने का सकेत, चन्द्रदर्शन करा रहा है।

७ मोह एवं अज्ञानरूपी अन्धकार का नाश कर के ज्ञान का प्रकाश करने वाला विश्वोत्तम महापुरुष होने की सूचना सूर्यदर्शन से मिलती है।

८ महाध्वज वता रहा है कि गर्भस्थ पुण्यशाली आत्मा, महान् प्रतिष्ठित एव यशस्वी होगा।

९ पूर्ण कलश का फल है—सभी प्रकार की विशेषताओ (अतिशयो) से परिपूर्ण होना।

१० जिस प्रकार पद्मसरोवर, मनुष्य के तन का मैल दूर कर के शान्ति देता है, उसी प्रकार आपका होने वाला पुत्र-रत्न, ससारी प्राणियो के पापरूपी ताप का हरण कर के, आत्मा को पवित्र और शीतल बनावेगा।

११ समुद्र-दर्शन बताता है कि आपका पुत्र, समुद्र के समान गम्भीर होगा।

१२ विमान-दर्शन का फल है कि महान् भाग्यशाली ऐसे वैमानिक देव भी आपके पुत्र-रत्न की सेवा करेगे।

१३ रत्नराशि वताती है कि वह महान् आत्मा, गुण-रत्नो की खान होगी।

१४ महान् तेजस्वी होगा वह महापुरुष—यह सन्देश निर्धूम अग्नि का अतिम स्वप्न दे रहा है।

ये चौदह स्वप्न वता रहे हैं कि गर्भस्थ जीव, चौदह राजलोक का स्वामी होगा।

यशस्वी के 'अभिचन्द्र' और 'प्रीतिरूपा' हुए। अभिचन्द्र चौथा कुलकर हुआ। उनके 'प्रसेनजित्' और 'चक्षुकान्ता' हुए। प्रसेनजित् नामके पांचवे कुलकर के समय स्थिति मे विशेष उतार आया, तव उसने 'धिक्कार' नीति अपनाई। उनके 'मरुदेव' और 'श्रीकान्ता' हुए। मरुदेव छठे कुलकर हुए। उनके अंतिम (सातवे) कुलकर 'नाभि' और 'मरुदेवा' जन्मे।

मरुदेवा के गर्भ में अवतरण

तीसरे आरे के चौरासी लाख पूर्व और ८९ पक्ष (तीन वर्ष साढे आठ मास) शेष रहे, तव आषाढ मास के कृष्ण-पक्ष की चतुर्दशी को उत्तराषाढा नक्षत्र मे चन्द्र का योग होने पर महर्षि 'वज्रनाभजी' का जीव, सर्वार्थसिद्ध महाविमान मे ३३ सागरोपम का आयु पूर्ण कर के, नाभि कुलकर की मरुदेवा पत्नी के गर्भ मे उत्पन्न हुआ। इनके गर्भ मे आने पर तीनो लोक मे सुख और उद्योत हुआ और श्री मरुदेवाजी ने चौदह महास्वप्न देखे। वे इस प्रकार थे—

१ उज्ज्वल वर्ण, पुष्ट स्कन्ध और वलिष्ठ शरीर वाला एक वृषभ देखा। जिसके गले मे स्वर्ण की घुंघरमाल पहनी हुई थी। २ दूसरे स्वप्न मे श्वेत वर्ण वाला पर्वत के समान ऊँचा और चार दाँत वाला गजराज देखा। ३ केशरीसिंह ४ लक्ष्मीदेवी ५ पुष्पमाला ६ चन्द्रमा ७ सूर्य ८ महाध्वज ९ स्वर्ण-कलश १० पद्म-सरोवर ११ क्षीर-समुद्र १२ देव-विमान १३ रत्नो का ढेर और १४ धूम्र-रहित प्रकाशमान् अग्नि। ये महा मगलकारी चौदह स्वप्न देखे।

स्वप्न देख कर जाग्रत हुई मरुदेवा हर्षित हुई और नाभि कुलकर को मीठे वचनो से स्वप्नो का वृत्तान्त सुनाया। नाभि कुलकर ने अपनी सहज वुद्धि से विचार कर के कहा—"तुम्हारे एक ऐसा पुत्र होगा, जो महान् कुलकर होगा।" वास्तव मे गर्भस्थ जीव भविष्य मे होने वाले तीर्थंकर भगवान् थे।

उस समय इन्द्रो के आसन कम्पायमान हुए। इन्द्रो ने अवधिज्ञान से आसन कम्पने का कारण जाना। सभी इन्द्र मरुदेवाजी के पास आये और विनयपूर्वक स्वप्न का वास्तविक अर्थ बताते हुए कहा‡—

‡ वह कर्मभूमि के प्रारम्भ का समय था। उस समय ज्योतिष शास्त्र के जानने वाले नही थे। अत-एव यह काम इन्द्रो को करना पडा।

"स्वामिनी ! आपने प्रथम स्वप्न मे बलवान् वृषभ देखा है। इसका अर्थ यह है कि आपका होने वाला पुत्र-रत्न ऐसा पराक्रमी और लोकोत्तम महापुरुष होगा—जो मोह-रूपी कीचड मे फँसे हुए धर्मरूपी रथ का उद्धार करेगा।

२ हस्ति-दर्शन का फल यह है कि आपका पुत्र महत् पुरुषो का भी गुरु होगा और महान् बलशाली होगा।

३ सिंह-दर्शन से आपका पुत्र, पुरुषो मे सिंह के समान, निर्भय, शूरवीर, धीर और पराक्रमी होगा।

४ लक्ष्मीदेवी का दर्शन यह बताता है कि आपका महान् पुण्यशाली पुत्र, तीन लोक की राज्यलक्ष्मी का अधिपति होगा।

५ पुष्पमाला से वह पुण्यदर्शन वाला होगा और ससार के प्राणी उनकी आज्ञा को माला के समान शिरोधार्य करेगे।

६ मनोहर और आनन्दकारी होने का सकेत, चन्द्रदर्शन करा रहा है।

७ मोह एव अज्ञानरूपी अन्धकार का नाश कर के ज्ञान का प्रकाश करने वाला विश्वोत्तम महापुरुष होने की सूचना सूर्यदर्शन से मिलती है।

८ महाध्वज बता रहा है कि गर्भस्थ पुण्यशाली आत्मा, महान् प्रतिष्ठित एव यशस्वी होगा।

९ पूर्ण कलश का फल है—सभी प्रकार की विशेषताओ (अतिशयो) से परिपूर्ण होना।

१० जिस प्रकार पद्मसरोवर, मनुष्य के तन का मैल दूर कर के शान्ति देता है, उसी प्रकार आपका होने वाला पुत्र-रत्न, संसारी प्राणियो के पापरूपी ताप का हरण कर के, आत्मा को पवित्र और शीतल बनावेगा।

११ समुद्र-दर्शन बताता है कि आपका पुत्र, समुद्र के समान गम्भीर होगा।

१२ विमान-दर्शन का फल है कि महान् भाग्यशाली ऐसे वैमानिक देव भी आपके पुत्र-रत्न की सेवा करेगे।

१३ रत्नराशि बताती है कि वह महान् आत्मा, गुण-रत्नो की खान होगी।

१४ महान् तेजस्वी होगा वह महापुरुष—यह सन्देश निर्धूम अग्नि का अतिम स्वप्न दे रहा है।

ये चौदह स्वप्न बता रहे हैं कि गर्भस्थ जीव, चौदह राजलोक का स्वामी होगा।

इस प्रकार स्वप्नो का अर्थ बता कर और प्रणाम कर के सभी इन्द्र अपने-अपने स्थान पर गये। महामाता श्रीमती मरुदेवा, इन्द्रो के मुख से स्वप्न का फल सुन कर परम हर्षित हुई।

गर्भ सुखपूर्वक बढने लगा। गर्भ के अनुकूल प्रभाव से मातेश्वरी के शरीर की शोभा, कान्ति और लावण्य भी बढने लगा तथा नाभिराजा की ऋद्धि, यश, प्रभाव और प्रतिष्ठा मे भी वृद्धि होने लगी। प्रकृति भी कुछ अनुकूल हो गई, जिससे कल्पवृक्षो की फलदा शक्ति मे भी कुछ वृद्धि हुई। मनुष्यो और पशु-पक्षियो की प्रकृति मे भी कुछ सौमनस्य की वृद्धि हुई।

आदि तीर्थंकर का जन्म

गर्भकाल पूर्ण होने पर चैत्र-कृष्णा अष्टमी की अर्धरात्रि को सभी ग्रह उच्च स्थान मे रहे हुए थे और चन्द्रमा उत्तरापाढा नक्षत्र मे था, तब परम सौभाग्यवती महादेवी मरुदेवा की कुक्षि से एक युगल का सुखपूर्वक जन्म हुआ। जिस प्रकार देवो की उपपात शय्या मे देव का जन्म होता है, उसी प्रकार रुधिरादि वर्जित, कर्मभूमि के आदि मानव, आदिकुमार का जन्म हुआ। दिशाएँ प्रफुल्ल हुई। जनसमुदाय मे स्वभाव से ही आनन्द का वातावरण निर्मित हो गया। ऊर्ध्व, अधो और तिर्यक् लोक मे उद्योत हो गया। जैसे स्वर्ग अपने-आप हर्ष से गर्जना करता हो, वैसे आकाश मे विना वजाये ही मेघ के समान गम्भीर शब्द वाली दुदुभि बजने लगी। उस समय नारक जीवो को भी क्षणभर के लिए अपूर्व सुख की प्राप्ति हुई। भूमि पर चलते हुए मद-मद पवन ने पृथ्वी पर की रज और कचरा दूर कर के सफाई कर दी। मेघ सुगन्धित जल की वृष्टि करने लगे,—

दिशा ुमारी देवियों द्वारा शौ -कर्म

इस समय अपने आसन चलायमान होने से अधोलोकवासिनी आठ दिशाकुमारियें तत्काल भगवान् के जन्म स्थान पर आई और भावी आदि-तीर्थंकर तथा उनकी माता को तीन बार प्रदक्षिणा कर के वन्दना की और अपना परिचय देती हुई कहने लगी,—

"हे जगज्जननी ! हे विश्वोत्तम लोक-दीपक महापुरुष को जन्म देने वाली महा माता ! हम अधोलोक मे रहने वाली आठ दिशाकुमारियाँ है। हम अवधिज्ञान से जिनेश्वर

भ० का जन्म जान-कर, जन्मोत्सव करने के लिए यहाँ आई है। आप हमे देख कर भयभीत नही होवे।"

इस प्रकार कह कर उन्होने पूर्वदिशा की ओर द्वार वाले एक विशाल 'सूतिका-गृह' की रचना की। इनके बाद संवर्तक वायु चला कर सूतिकागृह के आसपास की एक योजन प्रमाण भूमि के काँटे, कंकर, कचरा आदि को दूर फेंका और भगवान् को प्रणाम कर के मधुर स्वर से गान करने लगी।

इसी प्रकार मेरु पर्वत के ऊपर रहने वाली ऊर्ध्वलोक-वासिनी आठ दिशाकुमारियाँ भी आई। उन्होने भी प्रणाम कर के अपना परिचय दिया और मेघ की विकुर्वणा कर के सुगन्धित जल की मद-मद वृष्टि की और उठी हुई धूल को दवाया। पाँचो वर्ण के सुगन्धित पुष्पो की वृष्टि कर के पृथ्वी को सुशोभित बनाई। फिर गायन कर के अपना हर्ष व्यक्त करने लगी। इसी प्रकार रूचक पर्वत के पूर्व की ओर रहने वाली आठ दिशा कुमारियाँ आई और अपने हाथ मे दर्पण ले कर गीत गाती हुई खडी रही। दक्षिण दिशावाली आठ दिग्कुमारी देवियाँ हाथ मे कलश ले कर खडी रही। पश्चिम रुचक की आठ देविये हाथ मे पखा ले कर गाती हुई खडी रही। उत्तर रूचक पर की आठ देविये चँवर लिये हुए, रुचक की विदिशा मे रहने वाली चार देवकुमारियें दीपक ले कर और रूचक मध्य की चार दिशाकुमारी देवियाँ आकर नाभिनाल का छेदन कर भूमि में गाडती है और रत्नो से गड्डे को भर कर के गायन करती है।

इसके वाद उन देवियो ने जन्मगृह के पूर्व, उत्तर और दक्षिण मे तीन कदलीगृह की रचना की और उनमे देवविमान जैसे चौक और सिंहासन आदि की व्यवस्था की। इसके वाद एक देवी ने तीर्थंकर को अपने हाथ मे लिये, दूसरी चतुर दासी के समान मातेश्वरी का हाथ पकड कर दक्षिण दिशा के कदलीगृह मे ले गई। वहाँ माता और पुत्र को सिंहा-सन पर विठाया और लक्षपाक तेल से धीरे-धीरे मर्दन करने लगी। फिर उबटन किया। इसके वाद पूर्वदिशा के गृह मे ले जा कर स्वच्छ जल से स्नान कराया। सुगन्धित कषाय वस्त्रो से उनके शरीर को पोछ कर गोशीर्ष चन्दन का विलेपन किया और दोनो को दिव्य वस्त्राभूषण पहिनाये। इसके वाद उत्तर दिशा के मण्डप मे ले गई। वहाँ उन्होंने प्रचलित क्रम से गोशीर्ष चन्दन की लकडी से सुगन्धित द्रव्यो का हवन आदि क्रिया कर के, भगवान् को दीर्घ आयु वाले होने का आशीर्वाद दिया, फिर माता और कुमार को सूतिकागृह मे सुला कर मंगलगान गाने लगी।

इन्द्रों का आगमन और जन्मोत्सव

प्रभु का जन्म होने पर प्रथम स्वर्ग के अधिपति श्री सौधर्मेन्द्र का आसन चलायमान हुआ। अवधिज्ञान से भगवान् का जन्म जान कर उनके हर्ष का पार नहीं रहा। वे आसन से नीचे उतरे और भगवान् की दिशा मे सात-आठ चरण चल कर नीचे बैठे। दाहिने घुटने को नीचे टिका कर बायें घुटने को खडा रखते हैं और दोनो हाथ जोड कर मस्तक झुकाये हुए भगवान् की स्तुति करते हैं। स्तुति करने के बाद वे अपने आज्ञाकारी 'हरिणैगमेषी' देव को आज्ञा देते हैं कि—तुम 'सुघोषा' नाम की अपनी विशाल घंटा को बजा कर, उद्-घोषणा कर के सभी देव-देवियो को भगवान् के जन्मोत्सव मे सम्मिलित होने की सूचना दो। हरिणैगमेषी देव, इन्द्र की आज्ञा सिरोधार्य कर के सुघोषा घंटा के पास आता है और उस पर तीन बार प्रहार कर के उद्घोषणा करता है कि—

"हे देवो और देवियो! ध्यान दे कर सुनो,—

"जम्बूद्वीप के दक्षिण भरतक्षेत्र मे भगवान् आदिनाथ का जन्म हुआ है। श्री सौधर्मेन्द्र, तीर्थंकर भगवान् का जन्मोत्सव करने के लिए जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र मे पधारेंगे। इन्द्र महाराज की आज्ञा है कि सभी देव-देवियाँ भगवान् का जन्मोत्सव करने के लिए आवे।"

सुघोषा घटा का गभीर नाद होते ही बत्तीस लाख विमानो मे रही हुई सभी घण्टाएँ गरज उठी। घण्टानाद सुनते ही आमोद-प्रमोद मे आसक्त हुए देव-देवी स्तब्ध हो कर सावधान हो गये। उनके मन मे जिज्ञासा हुई—"क्या बात है? इस समय कौनसी स्थिति बनने वाली है? इन्द्र का क्या आदेश है?" इतने मे इन्द्र के सेनापति हरिणै-गमेषी देव द्वारा इन्द्र की आज्ञा उनके कानो मे पडती है। इन्द्र की आज्ञा सुनते ही कई देव तो भगवान् पर के अपने राग के कारण प्रसन्नतापूर्वक जाते हैं। कई देव, इन्द्र की आज्ञा का पालन करने के लिए जाते हैं। कुछ देवाँगनाओ द्वारा उत्साहित हो कर जाते हैं और कुछ मित्रो की प्रेरणा से जाते हैं। इस प्रकार देवगण इन्द्र के पास उपस्थित होते हैं।

इन्द्र अपने 'पालक' नाम के आज्ञाकारी देव को एक असंभाव्य और अप्रतिम विमान की रचना करने का आदेश देता है। आज्ञाकारी देव, एक ऐसे विशाल विमान की रचना करता है, जिसमे हजारो स्तभ खिडकियाँ ध्वजाएँ आदि हैं। सुन्दर चित्रों, तोरणो और वन्दनवारो से सुशोभित है। मध्य मे प्रेक्षामण्डप (अत्यन्त आकर्षक दृश्यो से परिपूर्ण प्रदर्शनी) बनाया। उस प्रेक्षामडप के मध्य मे मणिमय पीठिका बनाई। उस पर सिंहासन बनाया। उसके वायव्य उत्तर तथा उत्तर-पूर्व दिशा के मध्य मे इन्द्र के

सामानिक देवो के आसन सजाये गये। उसके पूर्व मे इन्द्र की आठ इन्द्रानियो के सिंहासन लगे। दक्षिण-पूर्व के मध्य मे आभ्यतर सभा के सदस्य देवो के सिंहासन, दक्षिण मे मध्य सभा के देवो के और दक्षिण-पश्चिम के मध्य मे वाह्य परिषद् के देवो के भद्रासन तथा पश्चिम दिशा मे सेनापतियो के सिंहासन लगाये गये। इन सव के आस-पास आत्मरक्षक देवो के सिंहासन लगे।

इस प्रकार विमान को पूर्णरूप से सम्पन्न कर के शक्रेन्द्र से निवेदन किया। शक्रेन्द्र ने उत्तर वैक्रिय + कर के अपना रूप वनाया और इन्द्रानियो तथा समस्त देव-परिषद् के साथ विमान के निकट आया और विमान की परिक्रमा करता हुआ पूर्व द्वार के सोपान चढ कर विमान मे अपने सिंहासन पर बैठ गया। सामानिक देव उत्तर द्वार से और अन्य देव दक्षिण द्वार से आ कर अपने-अपने आसनो पर बैठ गये। इन्द्र की इच्छा से विमान गति-शील हुआ और सौधर्म स्वर्ग के मध्य मे हो कर चला। उसके पीछे अन्य देवो के विमान भी शीघ्रता से चले। वे असख्य द्वीपो और समुद्रो पर होते हुए नन्दीश्वर द्वीप पर आये। रतिकर पर्वत पर ठहर कर पालक विमान को सक्षिप्त किया (एक लाख योजन के वडे विमान को विलकुल छोटा वनाया) और वहाँ से चल कर भगवान् के जन्म-स्थान पर आया। सूतिकागृह की प्रदक्षिणा करने के वाद विमान ईशानकोण मे ठहराया गया।

इन्द्र, विमान मे से उतर कर प्रभु के पास आया। इन्द्र को देखते ही दिशाकुमारियो ने उन्हें प्रणाम किया। इन्द्र ने प्रदक्षिणा कर के प्रभु को और माता को प्रणाम किया और माता से इस प्रकार कहने लगा,—

"हे रत्नकुक्षिधारिणी जगत्माता! मैं आपको नमस्कार करता हूँ। आप धन्य हैं, पुण्यवती है, उत्तम लक्षणो से युक्त है। आपका जन्म सफल है। ससार मे जितनी भी पुत्र वाली माताएँ हैं, उन सभी मे आप अधिकाधिक पवित्र हैं। आपने धर्म की आदि करने वाले, धर्म का प्रसार कर के जगत् के जीवो को परम सुख प्राप्त कराने वाले, ऐसे आदि तीर्थंकर को जन्म दिया है। मैं सौधर्म स्वर्ग का इन्द्र हूँ और आपके पुत्र का जन्मोत्सव करने के लिए यहाँ आया हूँ। आप मुझ से किसी प्रकार का भय नही करे।"

इतना कह कर इन्द्र ने मातेश्वरी को निद्राधीन कर दिया और प्रभु का एक प्रति-

---

+ देवो का शरीर 'वैक्रिय' होता है। उसमे हमारी तरह रक्त-मास, हड्डी आदि नही होते। उनके स्वाभाविक शरीर को 'भवधारणीय' कहते हैं और आवश्यकतानुसार वढ़ाने-घटाने और इच्छित रूप वनाने की क्रिया को 'उत्तर वैक्रिय' कहते है।

विंव बना कर मातेश्वरी के पास सुलाया। इसके बाद इन्द्र ने अपने पाँच रूप बनाये। फिर भगवान् को प्रणाम कर के—"हे भगवन्! आपकी आज्ञा हो"—इस प्रकार कह कर अपने एक रूप से दोनो हाथो मे भगवान् को ग्रहण किया। दूसरे रूप मे पीछे खड़े रह कर हाथ मे छत्र धारण किया। दो रूप चँवर धारण कर दोनो ओर रहे और पाँचवे रूप मे वज्र धारण कर के आकाश मार्ग से आगे चले। इस प्रकार प्रभु को ले कर मेरु पर्वत के पाडुक वन मे पहुँचे। फिर 'अतिपाडुकबला' नामक शिला पर सिंहासन रखा और इन्द्र अपनी गोदी मे प्रभु को ले कर पूर्व दिशा की ओर मुँह कर के बैठे।

जिस समय सौधर्मेन्द्र, भगवान् को ले कर मेरु पर्वत पर आये, उस समय 'महाघोषा' घंटा के नाद से प्रबोधित हो कर ईशानेन्द्र, पुष्पक विनान मे बैठ कर अपने परिकर सहित दक्षिण दिशा के मार्ग से ईशानकल्प से नीचे उतरे और तिरछे चल कर नन्दीश्वर द्वीप पर आये और रतिकर पर्वत पर अपने विमान को सकुचित कर, मेरु पर्वत पर भगवान् के समीप भक्तिपूर्वक उपस्थित हुए। सनत्कुमार इन्द्र भी अपने 'सुमन' विमान द्वारा उपस्थित हुए। महेन्द्र, श्रीवत्स विमान से, ब्रह्मेन्द्र, नन्द्यावर्त विमान से, लातकेन्द्र, कामगव विमान से, शुक्रेन्द्र, प्रीतिगम विमान से, सहस्रार इन्द्र, मनोरम विमान से, आनत-प्राणत के इन्द्र, विमल विमान से और आरणाच्युत देवलोक के इन्द्र, सर्वतोभद्र विमान मे बैठ कर भगवान् का जन्मोत्सव मनाने के लिए भक्तिपूर्वक मेरु पर्वत पर आये।

रत्नप्रभा पृथ्वी की पोलार मे रहने वाले भवनपति और व्यन्तर के इन्द्रो के आसन कम्पायमान हुए। उस समय चमरचचा नगरी की सुधर्मा सभा मे असुरराज चमरेन्द्र ने अवधिज्ञान के उपयोग से जब भ० आदिनाथ का जन्म होना जाना, तो वह भी अपने परिवार के साथ आया। 'बलिचचा' नगरी से बलिन्द्र, नागकुमार जाति के धरणेन्द्र और भूतानेन्द्र, विद्युत्कुमारो के इन्द्र—हरि और हरिस्सह, स्वर्णकुमारो के इन्द्र—वेणुदेव और वेणुदारी, अग्निकुमारो के इन्द्र—अग्निशिख और अग्निमाणव, वायुकुमारो के इन्द्र—वेलव और प्रभजन, स्तनितकुमारो के इन्द्र—सुघोष और महाघोष, उदधिकुमारो के इन्द्र—जल-कान्त और जलप्रभ, द्वीपकुमारो के इन्द्र—पूर्ण और अवशिष्ट और दिशाकुमार जाति के इन्द्र—अमित और अमितवाहन भी आये।

व्यन्तर जाति के देवो मे पिशाचो के इन्द्र—काल और महाकाल। भूतो के इन्द्र—सुरूप और प्रतिरूप। यक्षो के इन्द्र—पूर्णभद्र और मणिभद्र। राक्षसो के इन्द्र—भीम और महाभीम। किन्नरो के इन्द्र—किन्नर और किंपुरुष। किंपुरुषो के इन्द्र—सत्पुरुष और

महापुरुष । महोरगो के इन्द्र—अतिकाय और महाकाय । गन्धर्वो के इन्द्र—गीतरति और गीतयश ।

व्यन्तरो की दूसरी आठ निकाय के १६ इन्द्र है । जैसे—अप्रज्ञप्ति के इन्द्र—सन्निहित और समानक । पचप्रज्ञप्ति के इन्द्र—धाता और विधाता । ऋषिवादितो के इन्द्र—ऋषि और ऋषिपालक । भूतवादितो के इन्द्र—ईश्वर और महेश्वर । क्रन्दितो के इन्द्र—सुवत्सक और विशालक । महाकन्दितो के इन्द्र—हास और हासरति । कुष्माडो के इन्द्र—श्वेत और महाश्वेत । पालको के इन्द्र—पावक और पावकपति ।

ज्योतिषियो के असख्याता चन्द्र और सूर्य । ये 'चन्द्र' और 'सूर्य'—इन दो नाम के ही हैं । इसलिये गिनती मे दो ही लिये है ।

वैमानिको के १०, भवनपतियो के २०, व्यन्तरो के ३२ और ज्योतिषियो के २ । इस प्रकार ६४ इन्द्र, भगवान् का जन्मोत्सव मनाने के लिए मेरु पर्वत पर एकत्रित हुए ।

जन्मोत्सव का प्रारम्भ करते हुए वैमानिको के अच्युतेन्द्र ने अपने आज्ञाकारी देवो को जन्मोत्सव के योग्य उपकरण एकत्रित करने की आज्ञा दी । आज्ञाकारी देवो ने ईशान-कोन की ओर जा कर वैक्रिय-समुद्घात किया और उत्तम पुद्गलो का आकर्षण कर के, सोना, चाँदी, रत्न, सोना और चाँदी के मिले हुए, सोना और रत्नो के मिले हुए, सोना, चाँदी और रत्न के मिले हुए, चाँदी और रत्न के मिले हुए और मृतिका के ऐसे आठ प्रकार के उत्तम, एक हजार आठ सुन्दर कलश बनाये । इसी प्रकार झारी, दर्पण, करडिये, ढकने, थाल, चगेरिये आदि बनाये और क्षीर-समुद्र आदि विशिष्ठ स्थानो के जल, श्रेष्ठ कमलादि पुष्प, गोशीर्ष आदि सुगन्धित चन्दन आदि एकत्रित किये ।

इसके बाद अच्युतेन्द्र ने अपने सामानिक, आत्मरक्षक, लोकपाल आदि देवो के साथ उत्तरासग कर के भगवान् को स्नान कराया, चन्दन से अग पर विलेपन किया, पुष्पमालाएँ आदि से सुशोभित किया, सुगन्धित धूप से वायुमण्डल सुगन्धित किया । परिवार के अन्य देव तथा आज्ञाकारी देव, उस समय विभिन्न प्रकार के वादिन्त्र बजाने लगे । कई नृत्य करने लगे, कई हर्षातिरेक से कूदने, फाँदने और विविध प्रकार के कौतुक करने लगे । इस प्रकार मेरु पर्वत का पाडुकवन, द्रव्य जिनेश्वर के जन्मोत्सव मे आल्हादित होने लगा •।

• जिस प्रकार साधारण मनुष्यो के जन्मोत्सव होते हैं उससे अधिक आडम्बर युक्त जन्मोत्सव बडे बडे सेठो, सामन्तो, ठाकुरो और राजा-महाराजाओ के यहाँ होते है और उन सब से श्रेष्ठ प्रकार से चक्रवर्ती सम्राटो के यहाँ जन्मोत्सव होता है । किन्तु भावी जिनेश्वर भगवान् के सर्वोत्कृष्ट पुण्य-प्रकृति के उदय से, उनका जन्मोत्सव, ससार (समस्त लोक) की उत्तम हस्ति (सर्वश्रेष्ठ देवेन्द्र) द्वारा, लोक की

अच्युतेन्द्र से स्नान, विलेपनादि करवाने के वाद प्रभु को वन्दन-नमस्कार किया और स्तुति करते हुए बोले, —

"हे जगन्नाथ ! हे धर्म-प्रवर्त्तक ! हे कृपार्णव ! सिद्धिदाता ! आपकी जय हो, विजय हो, आप आनन्द करें× ।"

अच्युतेन्द्र की ओर से जन्माभिषेक हो जाने के वाद अन्य ६२ इन्द्रो ने भी यथाक्रम जन्माभिषेक किया । उसके वाद ईशानेन्द्र ने अपने पाँच रूप वनाये । उसमे से एक रूप, भगवान् को गोदी मे ले कर वैठा । एक रूप ने छत्र धारण किया । दो रूपो ने दोनो ओर चँवर धारण किये और एक रूप त्रिशूल धारण कर के खडा रहा । इसके वाद सौधर्मेन्द्र ने भगवान् के चारो दिशा मे चार वृषभ रूप वनाये । उनके प्रत्येक के दोनो ऊँचे सिंगो से, ऊँची जलधाराएँ (फव्वारे के समान) निकलने लगी । वे धाराएँ आकाश मे एक साथ मिल कर प्रभु के मस्तक पर गिरने लगी । इस प्रकार स्नान करवाने के वाद देवदुष्य वस्त्र से शरीर पोछा । चन्दन का विलेपन कराने के वाद दिव्य वस्त्र पहिनाये, मुकुट धारण कराया, स्वर्ण कुण्डल पहिनाये, मुक्तामाला पहिनाई । इस प्रकार और भी आभूषण पहिना कर वन्दन-नमस्कार और स्तुति की और इसके वाद शक्रेन्द्र ने पूर्व के समान अपने पाँच रूप बना कर भगवान् को ईशानेन्द्र के पास से अपनी गोदी मे लिये और अन्य रूप छत्र, चामर और वज्र ले कर, आकाश मार्ग से चल कर जन्म-स्थान पर आये और भगवान् के प्रतिबिम्ब को हटा कर भगवान् को मातेश्वरी के पास सुलाये, फिर माता की निद्रा दूर की । शक्रेन्द्र ने भगवान् के सिरहाने वस्त्र-युगल और कुण्डलादि आभूषण रखे और प्रभु की दृष्टि मे आवे, इस प्रकार छत मे एक स्वर्ण और रत्नमय 'श्रीदामगंड' (गेद) लटकाया, जो रत्नो की लटकती हुई मालाओ से सुशोभित था ।

रीति के अनुसार विशिष्ट प्रकार के द्रव्यो और साधनो से यह सारी क्रिया सम्पन्न होती है । यह मनुष्य भव मे होने वाले महान् अभ्युदय की निशानी है कि जिसका जन्मोत्सव ससार का सर्वोच्च व्यक्ति—अच्युतेन्द्र करता है । विश्व का महान् इन्द्र, जिस नवजात मनुष्य-बालक की अनुचर के समान सेवा करे, उस बालक के पुण्य के उत्कृष्ट भण्डार का तो कहना ही क्या ?

× श्रीमद् हेमचन्द्राचार्य ने उपरोक्त स्तुति 'चारणमुनियो ने की' ऐसा लिखा है । किन्तु यह बात समझ मे नही आती । उस समय भरत-ऐरवत मे चारण मुनि तो क्या, पर साधारण मुनि होने की सम्भावना भी नही है । यदि महाविदेह के आवे, तो वहाँ तो साक्षात् भाव-तीर्थंकर बिराजमान होते हैं । उन्हे छोड कर यहाँ जन्मोत्सव जैसी सासारिक—आरम्भयुक्त—सावद्य क्रिया मे शरीक होने के लिए चारण मुनि आवे, यह कैसे मानने मे आवे ? यह तो मुनि-मर्यादा का भग ही है । यह उल्लेख अवास्तविक है ।

इसके वाद कुवेर (वैश्रमण) देव को आज्ञा दे कर सोना, चाँदी आदि और उपयोग मे आने योग्य वहुमूल्य सिंहासनादि उपकरणो से जिन-भवन को परिपूर्ण कराया। इसके वाद आज्ञाकारी देवो के द्वारा चारो निकाय के देवो मे शक्रेन्द्र ने यह उद्घोषणा करवाई—

"यदि किसी भी दुष्ट प्रकृति वाले देव ने, जिनेश्वर और उनकी मातेश्वरी का अनिष्ट चिन्तन किया, तो उन्हे सौधर्मेन्द्र कठोर दण्ड देगे। उसके सिर के टुकडे-टुकडे कर दिये जावेगे।"

इस प्रकार की उद्घोषणा के वाद इन्द्र ने भगवान् के हाथ के अगूठे मे अनेक प्रकार के उत्तमोत्तम रसो से भरी हुई अमृतमय नाडी (नस) का सक्रमण किया। जिससे अगुष्ठ चूसने से ही उनकी क्षुधा शान्त हो जाय। वाल तीर्थंकर, माता का स्तन पान नही करते। इसलिए यह व्यवस्था की गई +। इसके वाद धात्री-कर्म करने के लिए इन्द्र ने पाँच अप्सराओ की नियुक्ति की।

मेरु पर्वत पर जन्मोत्सव हो चुकने पर शक्रेन्द्र, भगवान् को रखने के लिए आये और वहुत-से देव और शेष इन्द्र, मेरु पर्वत से ही रवाना हो कर, देवो के निवास रूप नन्दीश्वर द्वीप पर गये। शक्रेन्द्र भी प्रभु को रख कर नन्दीश्वर द्वीप पर गये और अठाई महोत्सव कर के सभी देव अपने-अपने स्थान पर गये।

प्रात काल होने पर भगवती मरुदेवा जाग्रत हुई। प्रभु का जन्म और देवागमन आदि वाते उनके लिए स्वप्नवत् थी। उन्होने नाभि राजा को सारा वृत्तान्त सुनाया। वे भी आश्चर्यान्वित हुए। प्रभु की जघा पर वृषभ का लाछन था, तथा माता ने चौदह स्वप्न मे से प्रथम स्वप्न मे वृषभ देखा था, इसलिए प्रसन्न हो कर माता-पिता ने प्रभु का नाम 'ऋषभ' और प्रभु के साथ जन्मी हुई वालिका का नाम 'सुमगला' रखा। प्रभु आनन्दपूर्वक वढने लगे। इन्द्र द्वारा नियुक्त पाँच धात्री अप्सराएँ निरन्तर प्रभु की सेवा मे रहने लगी ‡।

+ यह इन्द्र की भक्ति थी, अन्यथा क्षीरधात्री दुग्ध-पान कराती ही है।

‡ गर्भ मे आना, जन्म लेना, जन्मोत्सव, लग्नोत्सव, राज्याभिषेक आदि क्रियाएँ सासारिक होती है। उदय भाव की क्रियाएँ हैं। जिस प्रकार ससार मे हम सभी ये क्रियाएँ करते हैं, उसी प्रकार ये भी हैं। इनका निर्ग्रन्थ-धर्म से कोई सम्बन्ध नही है। ये सभी क्रियाएँ आश्रव, बन्ध और आरम्भयुक्त है, सावद्य है। स्वय आदिनाथ भी जन्म, वाल और यौवनादि सासारिक अवस्था मे चतुर्थ गुणस्थानयुक्त

वंश स्थापना

जब श्री ऋषभकुमार एक वर्ष के हुए तब सौधर्मेन्द्र, कर्मभूमि के आदि महामानव के वंश की स्थापना करने के लिए भारत भूमि पर आये। खाली हाथ प्रभु के सम्मुख नही आने की दृष्टि से वे एक इक्षु-यष्टि (गन्ना) साथ लेते आये। उस समय भगवान् अपने पिता श्री नाभि राजा की गोद मे बैठे थे। इन्द्र को देखते ही प्रभु ने अपने अवधिज्ञान से इन्द्र के मनोगत भाव जान लिये और इन्द्र के हाथ से इक्षु-दण्ड लेने के लिए हाथ लम्बा किया। इन्द्र ने प्रणाम कर के वह गन्ना प्रभु को सादर समर्पित कर दिया। इक्षु ग्रहण करने के कारण इन्द्र ने भगवान् का 'इक्ष्वाकु' नाम का वंश स्थापन किया।

जन्म से चार अतिशय

भगवान् आदिनाथजी का शरीर, जन्म से ही—१ स्वेद (पसीना) मल और रोग से रहित और सुन्दराकार था। स्वर्ण-कमल के समान शोभनीय था, २ उनका रक्त और मांस, गाय के दूध के समान उज्ज्वल एवं सुगन्ध युक्त था, ३ उनका आहार-नीहार चर्म-चक्षु के लिए अगोचर था और ४ उनके श्वास की सुगन्ध, सुविकसित कमल की सुगन्ध के समान थी। ये चार अतिशय उनके जन्म के साथ ही थे।

प्रभु का शरीर 'वज्र-ऋषभ-नाराच संहनन' (शरीर की सर्वोत्तम रचना, जिससे हड्डियो का जोड और पट्ट वज्र मेख से सुदृढ हो जाता है) और समचतुरस्र संस्थान युक्त था। वे मंद गति से चलते थे। वय से बालक होते हुए भी गम्भीर और मधुर वचन बोलते थे। कई देव, भगवान् के साथ खेलने के लिए अपना बालक रूप बना कर आते थे, तो उनके साथ, उनकी इच्छापूर्ति के लिए प्रभु खेलते थे। यदि कोई देव, प्रभु के बल की परीक्षा करने के लिए आता, तो वह तत्काल पराभव पा जाता। कई देवकुमार, भगवान् को प्रसन्न करने के लिए मयूर बन कर केकारव करते और नृत्य दिखाते। कई पोपट, मैना, कोयल, हंस आदि बन कर अपनी मधुर बोली और मोहक रूप से मनरंजन करते। कोई सुन्दर अश्व,

---

सांसारिक अवस्था मे थे। अतएव जन्मोत्सवादि क्रिया मे धर्म मानने की भूल नही करनी चाहिए। इन्द्रो ने भावी जिनेश्वर—जिनसे भविष्य मे धर्म-प्रवर्त्तन की महान् आशा है—जान कर उनके द्वारा संसार के भव्य जीवो का उद्धार जान कर, हर्षातिरेक से जन्मोत्सव मनाया है। जिनके द्वारा भविष्य मे हित होने की आशा हो, उनका अत्यादर किया ही जाता है। इसी दृष्टि से इस प्रसंग को समझना चाहिए।

गज आदि रूप वन कर भगवान् का वाहन बनता। इस प्रकार क्रीडा करते हुए भगवान् वढने लगे।

अगुष्ठपान की अवस्था बीत जाने के पश्चात् द्रव्य जिनेश्वर, सिद्ध-अन्न (पकाया हुआ अन्न) भोजन मे लेते है, किंतु ऋषभदेव तो देवकुरू-उत्तरकुरू क्षेत्र से, देवो द्वारा लाये हुए कल्पवृक्षो के फलो का ही भोजन करने लगे * और क्षीरसमुद्र के जल का पान करने लगे। इस प्रकार वाल-वय व्यतीत होने पर भगवान् यौवनावस्था को प्राप्त हुए।

ु के शरीर का शिख-न र्णन ‡

प्रभु का मस्तक अत्यन्त ठोस, स्नायुओ से भली प्रकार बँधा हुआ, पर्वत के शिखर के समान आकार वाला और पत्थर की पिण्डी के समान गोल तथा श्रेष्ठ लक्षणो से युक्त था। उनके वाल सेमल वृक्ष के फल की रूई के समान कोमल, सुलझे हुए, सुन्दर चमकिले, घुंघराले और उत्तम लक्षण युक्त थे। वालो का रग हर्षित भ्रमर और काजल के समान काला था। वालो के स्थान की त्वचा निर्मल, स्वच्छ और दाडिम के फूलो के समान लाल थी। मस्तक भाग, छत्र के आकार का था। ललाट अष्टमी के चन्द्रमा के आकार जैसा था। चन्द्रमा के समान सौम्य मुख था। उनके कान मनोहर, मुख से जुडे हुए स्कन्ध तक लम्बे और प्रमाण युक्त थे। दोनो गाल भरे हुए मासल और सुन्दर थे। भौहे झुके हुए धनुष के समान वाँकी और वादल की रेखा के समान पतली, काली तथा कान्ति से युक्त थी। आँखें, खिले हुए श्वेत कमल के समान थी। जिस प्रकार पत्रयुक्त कमल सुशोभित होता है, उसी प्रकार वरौनी युक्त श्वेत आँखे शोभा पा रही थी। नासिका गरुड की चोच के समान लम्वी, सीधी और ऊँची थी। ओष्ठ, विशुद्ध मूगे और विम्व फल के समान लाल थे। दाँतो की पक्ति निर्मल चद्र, शख, गो-दुग्ध, फेन, कुन्द के पुष्प, जल-कण और कमल-नाल के समान श्वेत थी। अखण्ड, परस्पर मिले हुए स्निग्ध और सुन्दर दांत थे। दत-पक्ति के वीच मे विभाजक रेखाएँ दिखाई नही देती थी। तालु और जिव्हा, तपे हुए सोने के समान लाल

* क्योंकि उस समय भारत के मनुष्य फलाहार ही करते थे, न तो उस समय अन्न पकाने के काम मे आने वाली बादर अग्नि ही यहाँ थी और न पकाने की विधि ही कोई जानता था।

‡ यह वर्णन औपपातिक सूत्र के आधार पर दिया है। श्री हेमचन्द्राचार्य ने नख-शिख वर्णन किया, किन्तु जिनेश्वरो के शरीर का वर्णन 'शिख-नख' होता है।

थे। दाढी-मूंछ के वाल, सदा एक समान और सुन्दर रूप मे छँटे हुए-से रहते थे। उनकी ठुड्डी सुन्दराकार मासल और व्याघ्र की ठुड्डी के समान विस्तीर्ण थी। उनकी गर्दन गोलाकार, चार अगुल प्रमाण, तीन रेखा से युक्त और शख के समान थी। कधे श्रेप्ठ वृपभ, व्याघ्र, हाथी और सिंह के समान प्रमाण से युक्त एव विशाल थे। प्रभु के वाहु, गाडी के जुडे के समान गोल, लम्ब और पुप्ट थे। उनके वाहु ऐसे दिखाई देते थे जैसे इच्छित वस्तु को प्राप्त करने के लिए किसी फणिधर (भुजग) ने अपना महान् शरीर फैलाया हो। प्रभु की हथेलियाँ लाल, उन्नत, कोमल, भरी हुई, सुन्दर और सुलक्षणो से युक्त थीं। अगुलियो के मिलने पर, बीच मे छिद्र दिखाई नही देते थे। अगुलियाँ पुप्ट, कोमल और श्रेप्ठ थी। अंगुलियो के नख तावे के समान कुछ लाल, पवित्र, दीप्त और स्निग्ध थे। हाथो मे चन्द्राकार, सूर्याकार, शखाकार, चक्राकार और दक्षिणावर्त स्वस्तिकाकार रेखाएँ थी। भगवान् का वक्षस्थल, सुवर्ण शिलातल के समान समतल, प्रशस्त, मासल, विशाल और चौडा था। उस पर श्रीवत्स का चिन्ह था। मासलता के कारण पसलियें दिखाई नही देती थी। प्रभु का देह स्वर्ण कान्ति के समान निर्मल, मनोहर और रोग से रहित था। देह मे एक हजार आठ उत्तम लक्षण अकित थे। उनके पार्श्व (वगले) नीचे की ओर क्रमश. कम घेरे वाले हो गए थे और देह के प्रमाण के अनुकूल सुन्दर, पुष्ट तथा रम्य थे।

वक्षस्थल पर सीधी और समरूप से एक दूसरे से मिली हुई, प्रधान, पतली, स्निग्ध, मन को भाने वाली, सलावण्य और रमणीय रोमो की पंक्ति थी। मत्स्य और पक्षी की-सी उत्तम और दृढ मास-पेशियो से युक्त कुक्षि थी। मत्स्य के समान उदर था। नाभि गगा के भँवर के समान दाहिनी और घूमती हुई तरगो सी चचल एव सूर्य की तेज किरणो से विकसित कमल के मध्य-भाग के समान गंभीर और गहन थी। देह का मध्य-भाग त्रिदण्ड, मूसल और तलवार की मूठ के समान क्षीण था। कमर, श्रेष्ठ अश्व और सिंह के समान उत्तम घेरे वाली थी। गुप्ताग श्रेष्ठ घोडे के समान गुप्त और उत्तम था और लेप से रहित रहता था। हाथी की सूंड के समान जघाएँ थी और चाल भी श्रेष्ठ हाथी के समान पराक्रम और विलास युक्त थी। गोल डिब्बे के समान पुष्ट घुटने थे। हरिणी की जघा के समान और कुरुविंद तृण के समान क्रमश उतरती हुई पिंडलियाँ थी। पाँवो के टखने सुगठित, सुन्दराकार एव गुप्त थे। भली प्रकार से स्थापित कछुए के समान पाँव थे। क्रमश बडी-छोटी अगुलियाँ थी। ऊँचे उठे हुए, पतले ताम्रवर्ण और स्निग्ध नख थे। रक्त-कमल के समान कोमल और सुकुमार पगतलियाँ थी। पर्वत, नगर, मगर, समुद्र,

चक्र, स्वस्तिक आदि मंगल चिन्ह, पगतलियो मे अकित थे।

जिस प्रकार वहुमूल्य रत्नो से युक्त रत्नाकर, सेवन करने के योग्य होता है, उसी प्रकार उत्तमोत्तम एव असाधारण लक्षणो से युक्त प्रभु भी देवो और मनुष्यो के लिए सेवा करने योग्य थे।

ुन्दा ो

एक वाल युगल, ताड-वृक्ष के नीचे खेल रहा था। भवितव्यतावश ताड का बडा फल टूट कर पुरुष-वालक पर पडा और वह मर गया+। बालिका अकेली रह गई। वह दिग्मूढ हो गई। उसके माता-पिता उसे ले गये। उस बालिका का नाम 'सुनन्दा' रखा। उसके माता-पिता भी थोडे ही दिनो मे मर गए। बालिका अकेली रह गई। वह इधर-उधर भटकने लगी। वह अत्यन्त सुन्दरी थी। कुछ युगल उस अकेली भटकती हुई को साथ ले कर अपने कुलपति श्री नाभिराजा के पास आये। श्री नाभिराजा ने उसे श्री ऋषभदेव की पत्नी घोषित करते हुए स्वीकार कर ली।

वि ाह

एकदा सौधर्मेन्द्र, भगवान् को विवाह के योग्य जान कर भगवान् के पास आया और सुनन्दा तथा सुमगला के साथ विवाह कर के, विवाह सम्बन्धी लोक-नीति प्रचलित करने का निवेदन किया। प्रभु के मौन रहने पर शक्रेन्द्र ने मनोगत भाव जाने। भगवान् को तिरयासी लाख पूर्व तक उदय भाव के अधीन-गृहवास मे रहने का योग था। शक्रेन्द्र ने देवी-देवताओ को भगवान् का विवाह रचाने की आज्ञा दी*। देवागनाएँ वैवाहिक मंगल-

+ युगल का यह अकाल-मरण आश्चर्यजनक माना गया है, क्योकि अकर्म-भूमि के मनुष्य परिपूर्ण अवस्था भोग कर ही मरते हैं।

* १—उस समय अकर्म-भूमि के भाव चल रहे थे। विवाह करने की रीति ही नही थी। एक माता-पिता से साथ जन्मे हुए भाई-बहिन ही अवस्था पा कर पति-पत्नी हो जाते थे। श्री ऋषभदेव के विवाह से ही यह विधि प्रचलित हुई। उस समय कर्म-भूमि के भावो का उदय चल रहा था।

२ श्रीमद् हेमचन्द्राचार्य ने जो विवाह-विधि बताई, उसमे तो आचार्यश्री के समय के विधि*

गान गाने लगी। एक ओर देवागनाएँ सुमगला और सुनन्दा को सजाने लगी। पीठी, चन्दन, इत्र, उत्तम वस्त्र और बहुमूल्य आभूषण आदि से दोनो वधुएँ सजाई गई। दूसरी ओर देव, ऋषभदेवजी को स्नानादि से शृंगारित करने लगे। विवाह के लिए एक सुन्दर मण्डप बनाया गया। भव्य आसन लगाये गये। श्री ऋषभदेवजी को और दोनो कन्याओ को स्वर्ण सिंहासन पर पूर्वाभिमुख बिठाये। इन्द्र ने सुमगला और सुनन्दा का हाथ श्री ऋषभकुमार के हाथ मे दिया और लग्न-ग्रंथी मे जोडे। गन्धर्वगण, बाजे बजाने लगे और बहुत-से देवी-देवता गायन तथा नृत्यादि करने लगे। नाभि राजा, मरुदेवा और अन्य युगलिक स्त्री-पुरुष एकत्रित हो कर इस विवाहोत्सव को आश्चर्यपूर्वक देखते रहे। विवाह कार्य पूर्ण कर के इन्द्रादि देव स्वर्ग मे गये। उसी दिन से इस भरत-क्षेत्र मे विवाह-विधि प्रारंभ हुई।

विधानो का खूब समावेश हुआ लगता है। जैसे—विवाह के समय दही उछालना, मक्खन फेंकना, वेदिका बनाना, अग्नि के फेरे लेना, मथानी को वर के भाल से तीन बार स्पर्श करवाना, सरावले मे अग्नि रख कर उसमे नमक डालना और उस सरावले को वर से ठुकरा कर नष्ट करवाना, वेदि का स्थान गोबर से लिपना, वर को अर्घ देना, दुर्वा चढाना, मातृ भवन (कुलदेवी ?) मे लग्न होना, देवियो द्वारा अनुचर (वर के साथ रहने वाले मित्र = श्री ऋषभकुमार के साथ इन्द्र के सामानिक देव अनुचर थे) की विविध प्रकार से हँसी-मजाक करना आदि और देवागनाओ की विविध हलचलो का वर्णन है तो रसपूर्ण और काव्य-कला से समृद्ध, किंतु ये क्रियाएँ ग्रथकार के अपने समय की श्रीऋषभकुमार के लग्न मे जुड गई है।

३ श्री आदिकुमार का सुनन्दा के साथ विवाह हुआ। इस घटना को कई सुधारक लोग, 'पुनर्विवाह' बता कर विधवा-विवाह के पक्ष मे बरबस घसीट ले जाते हैं। यह उनका अन्याय है। पत्नी बनने के पूर्व ही विधवा मान लेने जैसी बेसमझी इस बात मे है। यह ठीक है कि युगलिक ही पति-पत्नी बन जाते हैं। यदि सुनन्दा के साथ जन्मा हुआ युगल नही मरता, तो वही उसका पति बनता, किंतु उनका भाई-बहिन का सम्बन्ध भी तो मानना चाहिए न ? क्या युगलिको मे भाई-बहिन होते ही नहीं ? और गर्भ से ही पति-पत्नी बन कर जन्म लेते थे ? वास्तव मे वे जब तक माता पिता के सरक्षण मे रहते थे, तब तक भाई-बहिन के रूप मे रहते थे और ज्यो ही सयाने हुए कि स्वतन्त्र विचरण करने लगते। स्वतन्त्र विचरण के दिन से उन्हें पति-पत्नी मानना उचित है। इसके पूर्व वे भाई-बहिन थे। सुनन्दा के साथ जन्मे हुए बच्चे का मरण बालवय मे (भाई-बहिन के रूप मे माता-पिता के सरक्षण मे रहते थे, तभी) हो गया था। अतएव उसे कुँवारी (अपरिणिता) मानना ही उचित है। जब उसमे पत्नी-भाव की उत्पत्ति ही नही हुई, तो उसे विधवा कैसे मान ली गई ? यह अन्याय नही है क्या ?

र -बाहुबली और ब्राह्मी-सुन्दरी जन्म

श्री ऋषभकुमार अपनी दोनो पत्नियो के साथ, वेदमोहनीय कर्म के अनुसार अनासक्त भाव से भोग भोगने लगे। कुछ कम छ लाख पूर्व तक भोग भोगने के वाद 'वाहु' और 'पीठ' के जीव, सर्वार्थसिद्ध महाविमान से च्यव कर श्री सुमगलाजी की कुक्षि मे गर्भ रूप से उत्पन्न हुए और 'सुवाहु' तथा 'महापीठ' के जीव श्री सुनन्दाजी के गर्भ मे उत्पन्न हुए। सुमगलाजी ने श्रीमरुदेवा के समान चौदह महास्वप्न देखे और श्रीऋषभकुमार को स्वप्न की वात कही। श्री ऋषभकुमार ने कहा—"प्रिये! तुम्हारे गर्भ मे रहा हुआ वालक, प्रथम चक्रवर्ती नरेश होगा।" गर्भ-काल पूर्ण होने पर सुमंगलाजी की कुक्षि से युगल का जन्म हुआ। पुत्र का नाम 'भरत' और पुत्री का नाम 'ब्राह्मी' दिया गया। श्री सुनन्दाजी के पुत्र का नाम 'वाहुवलि' और पुत्री का नाम 'सुन्दरी' रखा। इसके वाद श्री सुमगलाजी ने अनुक्रम से ४९ युगल पुत्रो (९८ पुत्रो) को जन्म दिया। जिस प्रकार अनेक शाखाओ से वृक्ष सुशोभित होता है, उसी प्रकार पुत्री और पुत्रो से श्री ऋषभदेवजी सुशोभित थे।

कर्म-भूमि का ारम्भ × राज्य स्थापना

जिस प्रकार प्रात काल मे दीपक का प्रकाश कम हो जाता है, उसी प्रकार अकर्म-भूमि के वीत जाने और कर्म-भूमि के उदय से कल्पवृक्षो का प्रभाव क्षीण होने लगा। वे थोडे फल देने लगे। उधर शान्त प्रकृति वाले युगलिको मे कपाय की भावना जग कर वृद्धि पाने लगी। वे 'हकार', 'मकार' और 'धिक्कार' की नीति की अवहेलना करने लगे। इस परिस्थिति को देख कर कुछ युगलिक एकत्रित हो कर श्री आदिनाथ के पास आये और व्यवस्था जमाने का निवेदन किया। श्री आदिनाथजी ने अवधिज्ञान का उपयोग लगा कर देख लिया कि अव सुव्यवस्था और शान्ति के लिए एक सत्ताधारी शासक की आवश्यकता है। इसके विना न तो व्यवस्था रहेगी, न शान्ति ही। अव्यवस्था ही अशान्ति की जड है। इसका उपाय मुझे ही करना पडेगा। कर्म-भूमि के आदिकाल मे यह व्यवस्था इसी प्रकार हुई और होती रहेगी। मेरा उदय भी उसीके अनुसार है"—इस प्रकार सोच कर कहा—

"आपके सामने जो समस्या है, वह आगे चल कर वढेगी। इसके लिए आपको एक शासक की आवश्यकता है। आप अपने लिए एक शासक नियुक्त कर ले। वह सम्पूर्ण अधिकार और सैन्य-शक्ति के साथ आप पर शासन करेगा और आपकी कठिनाइयो को दूर

करेगा। आप सभी को उस शासक की आज्ञा मे रहना पडेगा।"

उपस्थित समूह ने कहा—"स्वामिन्! आप ही हमारे स्वामी हैं। हम और किस स्वामी के पास जावे? आप से बढ कर अथवा आपके समान दूसरा कोई भी व्यक्ति नही है। इसलिए आप ही हमारे शासक बन कर हमारी प्रतिपालना करे।"

श्री ऋषभदेव ने कहा—"आप अपने कुलकर के पास जा कर प्रार्थना करे। वे आपके लिए शासक की व्यवस्था करेगे।" सभी युगलिक श्री नाभि कुलकर के पास गये और प्रार्थना की। श्री नाभि कुलकर ने कहा—"ऋषभ आपका राजा होगा।" सभी युगलिक प्रभु के पास आये और नाभि कुलकर की आज्ञा सुनाई।

उस समय सौधर्म स्वर्गाधिपति शक्रेन्द्र का आसन चलित हुआ। उसने अवधिज्ञान से प्रभु के राज्याभिषेक का समय जान कर राज्याभिषेक करने के लिए प्रभु के पास आया। उसने स्वर्ण की वेदिका और उस पर एक सिंहासन बनाया और तीर्थ-जल से अभिसिञ्चित कर राज्याभिषेक किया। दिव्य वस्त्र परिधान कराये। रत्नो के मुकुट आदि अलकार धारण कराये। इसके बाद इन्द्र, उन सभी के रहने के लिए 'विनीता' नाम की नगरी निर्माण करने का 'कुबेर' को आदेश दे कर स्वर्ग मे चला गया।

कुबेर ने बारह योजन लम्बी और नौ योजन चौडी ऐसी विनीता नगरी का निर्माण किया और उसका दूसरा नाम 'अयोध्या' भी रखा। भव्य, सुन्दर और सभी प्रकार की सुविधाओ से परिपूर्ण भवन बनाये। बाजार, हाट, उद्यान, बाग-बगीचे आदि यथास्थान बनाये। बालको के खेलने के लिए रमणीय स्थान। आवास बडे ही सुन्दर, खिडकिये और कमरे आदि से परिपूर्ण। सभी प्रकार की सजाई के सामान और गृहकार्य के लिए उपयोगी ऐसे पलग, आसन, शयन और अन्य सभी प्रकार के उपकरणो की व्यवस्था कर दी। नगरी को धन-धान्य और वस्त्रादि से परिपूर्ण की। सुरक्षार्थ किला बनाया। लाखो कूए, बावडी, कुण्ड, गृहवापिका आदि निर्माण किये।

जन्म से बीस लाख पूर्व बीतने पर श्री ऋषभदेवजी इस अवसर्पिणीकाल के प्रथम नरेश हुए। वे अपनी प्रजा का पुत्र के समान पालन करते थे। काल-प्रभाव से मनुष्यो के मनोगत भावो मे भी क्लिष्टता आ गई थी। इससे सघर्ष भी होने लगे थे। अतएव सज्जनो का पालन करने और दुष्टो का दमन करने के लिए योग्य मन्त्रियो को नियुक्त किया। चोर आदि से प्रजा को बचाने के लिए 'आरक्षक' नियुक्त किया। हयदल, गयदल रथदल और पायदल, इस प्रकार चार प्रकार की सेना बनाई और बलवान् सेनापति

स्थापित किया । गाय, बैल, भैंस आदि पशुओ को भी उपयोग के लिए ग्रहण किये ।

कुछ समय बाद कल्पवृक्ष नष्ट हो गए और साधारण वृक्ष उत्पन्न हुए । इस समय लोग कन्द, मूल, फल और गेहूँ, चनादि धान्य, कच्चे और छिलके सहित ही खा जाते थे । कच्चे धान्य के खाने से उनकी पाचन-क्रिया बिगडी और पेट मे गडबडी उत्पन्न हुई तो वे श्री ऋषभ नरेश के पास आये और निवेदन किया, तब नरेश ने कहा— "तुम धान्य को साफ कर के छिलके हटा कर खाओ ।" कुछ दिन बाद यह भी नही पचा, तो फिर नरेश के पास आये । प्रभु ने पानी मे भिगो कर नरम होने पर खाने का निर्देश किया । कुछ दिन बाद, भीगा हुआ अन्न भी नही पचने लगा, तो नरेश ने उस भीगे हुए अन्न को मुट्ठि या बगल मे दबा कर और शरीर की गर्मी दे कर खाने की सलाह दी । जब वह भी कष्ट कर हुआ, तो लोग दु ख का अनुभव करने लगे । इतने मे वृक्षों के परस्पर घर्षण से अग्नि उत्पन्न हुई और तृण-काष्ठादि जलने लगे । नव उत्पन्न बादर अग्नि को लोग आश्चर्य-पूर्वक देखने लगे और प्रकाशमान अग्नि को रत्न समझ कर ग्रहण करने को दौड़े, किन्तु इससे उनके हाथ जले । हाथ जलने पर वे श्रीऋषभ नरेश के पास गये । नरेश ने कहा— "स्निग्ध और रूक्ष काल के योग से अग्नि उत्पन्न हुई है । अग्नि की उत्पत्ति न तो एकान्त स्निग्ध काल मे होती है और न एकान्त रूक्ष काल में । तुम इसे हाथों से मत छुओ । उसके आस-पास के घास आदि को हटा दो, जिससे वह फैले नहीं । फिर इसमें धान्य आदि को पका कर खाओ ।" उन अनजान लोगों ने वह धान्य और फलों को अग्नि मे डाला, तो वे जल गये और वे खडे-खडे देखते ही रहे । वे फिर नरेश के पास आये और कहा—" स्वामिन् ! अग्नि तो भुक्खड है । वह सभी चीजें खा जाती है ।" प्रभु ने गीली मिट्टी का एक पिंड लिया और उसे फैला कर बनाते हुए कहा—"तुम इस प्रकार मिट्टी का पात्र बना कर उसे सुखालो और उसमे धान्य रख कर अग्नि पर रखो और पकाओ । वह जलेगा नही और तुम्हारे खाने योग्य हो जायगा ।" मिट्टी का पात्र बना कर आदि नरेश ने सर्वप्रथम कुभकार का शिल्प प्रकट किया । इसके बाद घर बनाने की कला बताई । फिर वस्त्र-निर्माण कला, केश-कर्त्तन की कला, चित्रकला आदि कलाएँ सिखाई । अन्न उत्पन्न करने के लिए कृषि-कर्म और व्यापार आदि बताये । साम, दाम, दड और भेद, ऐसे चार उपाय से नागरिक एव राष्ट्रीय व्यवस्था कायम की । अपने ज्येष्ठ पुत्र 'भरत' को बहत्तर कलाएँ सिखाई । भरत ने अपने भाइयो और पुत्रो आदि को उन कलाओ की शिक्षा दी । बाहुबली को हस्ति, अश्व, स्त्री और पुरुष के लक्षणो का बोध दिया । ब्राह्मी

को दाहिने हाथ से अठारह प्रकार की लिपि सिखाई और सुन्दरी को वायें हाथ से गणित, तोल, नाप आदि वताये और मणि आदि के उपयोग करने की विधि वताई। नरेश के आदेश से वादी-प्रतिवादी का विचार, राजा, अध्यक्ष और कुलगुरु की साक्षी से चलने लगा। धनुर्वेद, आयुर्वेद, अर्थशास्त्र, युद्ध आदि तथा माता, पिता, भ्राता आदि सम्वन्ध उसी समय से चलने लगे। प्रभु का विवाह देख कर तदनुसार विवाह होने लगे।

उपरोक्त सभी कार्य सावद्य है, फिर भी श्री आदि नरेश ने उदयानुसार, अपने उत्तरदायित्व को निभाने के लिए प्रवृत्ति की।

इसके वाद उग्रकुल, भोगकुल, राजन्यकुल और क्षत्रीयकुल—ऐसे चार भेद से कुल की रचना की। उग्र-दण्ड के अधिकारी—आरक्षक को 'उग्रकुल,' मन्त्री आदि को 'भोगकुल,' मित्र-गण 'राजन्यकुल' और शेष सभी 'क्षत्रीयकुल' के कहलाये। इस प्रकार व्यवहार-नीति का प्रवर्तन किया। यो अनेक प्रकार की सुव्यवस्था से यह भरत-क्षेत्र प्राय. महाविदेह क्षेत्र के समान हो गया। इस प्रकार आदि नरेश ने तिरसठ लाख पूर्व तक राज्य का पालन किया।

भु ो ैराग्य और देवों ारा उद्बोधन

एक बार वनिता के उद्यान मे वसतोत्सव मनाया जा रहा था। परिवार के अनुरोध से आप भी उसमे सम्मिलित हुए। वहाँ लोगो की मोहलीला—खेल-कूद, हँसी-मजाक, नृत्य-गान आदि विकारवर्धक चेष्टा देख कर आपको विचार हुआ कि—ऐसे उत्सव तो मैंने पहले कभी कही देखे है। ऐसा विचार आते ही अवधिज्ञान के उपयोग से अनुत्तर विमान और उससे भी पूर्व के भव देखे और पूर्व के भोगे हुए सुख तथा पाला हुआ चारित्र साक्षात् दिखाई दिया। मोह के कटु विपाक का विचार करते हुए प्रभु को वैराग्य उत्पन्न हो गया। वे ससार से विरक्त हो गए। भगवान् के विरक्त होने पर, ब्रह्म देवलोक के अत मे रहने वाले—१ सारस्वत २ आदित्य ३ वन्हि ४ अरुण ५ गर्दतोय ६ तुषिताश्व ७ अव्याबाध ८ मरुत और ९ रिष्य—ये नौ प्रकार के लोकान्तिक देव, प्रभु के समीप उपस्थित हुए और परम विनीत हो कर नम्र निवेदन करने लगे—

"हे प्रभु! बहुत लम्बे काल से भरत-क्षेत्र में से नष्ट हुए मोक्षमार्ग रूपी धर्मतीर्थ का प्रवर्तन कर के भव्य जीवो पर उपकार करे। आपने लोकव्यवस्था कर के जनता का ऐहिक उपकार तो कर दिया और नीति प्रचलित कर दी। अब धर्मतीर्थ को चला कर

परम सुख का मार्ग खोले ।"

इस प्रकार निवेदन कर के लोकान्तिक देव, स्वर्ग मे गये और प्रभु अभिनिष्क्रमण की इच्छा करते हुए भवन मे पधारे ।

वर्षीदान

ससार से विरक्त बने हुए श्री आदिनाथजी ने अपने सामन्तो और भरतादि पुत्रों को वुलाया और सभी के सामने ससार-त्याग की भावना व्यक्त करते हुए कहा—

"मैं अव इस राज्य और परिवार को त्याग कर निर्ग्रंथ बनना चाहता हूँ। अव आप अपनी व्यवस्था सँभाले। मनुष्य को ससार मे ही नही फँसा रहना चाहिए। उसे जीवन मे उस महान् कर्त्तव्य का भी पालन करना चाहिए जिससे जन्म-मरण का अनादि से लगा हुआ दु ख मिट कर शाश्वत एवं अव्यावाध सुख की प्राप्ति हो। मैं इसी कर्त्तव्य का पालन करने के लिए, आप सभी को छोड कर प्रव्रजित हूँगा। आप भी इस ध्येय को दृष्टि मे रखें और जव तक वैसी तय्यारी नही हो, तव तक उत्तरदायित्व को भली प्रकार से निभाते रहें।"

प्रभु ने राजकुमार भरत को सम्वोधित करते हुए कहा—

"पुत्र ! तू इस राज्य को सँभाल। मैं तो अव सयम रूपी राज्य ग्रहण करूँगा। इस राज्य मे अव मेरी रुचि नही रही।"

भरत हाथ जोड कर विनयपूर्वक कहने लगे—"स्वामिन् ! आप के चरण-कमल की सेवा मे होने वाले सुख-सागर को छोड कर राज्य की झझट मे पडने की मेरी इच्छा नहीं है। मैं तो श्रीचरणो की छत्र-छाया मे ही परम सुख का अनुभव कर रहा हूँ। आप मुझे इस सुख से वञ्चित नही करे।"

"भरत ! तुम्हे समझना चाहिए। मेरी इच्छा के विरुद्ध मुझे रोकना मेरे हित मे नही होगा। तुमको मेरी इच्छा का आदर कर के मुझे आत्मिक राज्य प्राप्त करने में सहायक होना चाहिए और यह राज्य-भार ग्रहण करना चाहिए। यदि राज्य-व्यवस्था नही सँभाली जाय, तो 'मच्छगलागल' चल जाय (बड़ा मच्छ, छोटे मच्छ को निगल जाता है, इसी प्रकार शक्तिशाली, गरीव को लूट ले)। इसलिए तुम इस राज्य-भार को ग्रहण करो और इसका भली प्रकार से पालन करो।"

प्रभु के आदेश को शिरोधार्य कर भरत ने राज्य-भार ग्रहण करना स्वीकार किया और प्रभु के आदेश से अमात्य, सामन्त और सेनापति आदि ने भरतकुमार का राज्याभिषेक किया। भरत के अतिरिक्त बाहुबली आदि ९९ पुत्रो को योग्यता के अनुसार पृथक्-पृथक् देशो का राज्य दिया। इसके बाद श्रीऋषभदेवजी ने साम्वत्सरिक दान देना प्रारभ किया। जब वर्षीदान देना प्रारम्भ हुआ, तो इन्द्र के आदेश से कुबेर ने जृभक देवो के द्वारा श्रीभण्डार मे ऐसा द्रव्य जमा किया कि जो भूमि मे, बाग, उद्यान, श्मशान, जलाशय आदि मे दबा हो, जिसका कोई स्वामी नही हो और जिसकी वश-परम्परा मे कोई नही बचा हो।

वर्षीदान प्रारम्भ करने के पूर्व यह उद्घोषणा करवाई कि—जिसे जो वस्तु चाहिए, उसे वह वस्तु दान मे दी जायगी। प्रतिदिन प्रात काल से लगा कर भोजन के समय तक श्री आदिनाथजी, एक कोटी आठ लाख सोनैये का दान करने लगे।

दीक्षा

जब नित्यदान को एक वर्ष पूरा हो गया और प्रव्रजित होने का समय आया, तो शक्रेन्द्र का आसन चलायमान हुआ। वह भगवान् की सेवा मे उपस्थित हुआ और उसने भगवान् का दीक्षाभिषेक किया। 'सुदर्शना' नामकी शिविका मे प्रभु बिराजे। प्रथम मनुष्यो ने और बाद मे देवो ने शिविका उठाई। सुर और असुरो ने मंगल बाजे बजा कर दिशाओ को गुजा दिया। चामर बिंजने लगे। भगवत का जयजयकार करते हुए भगवान् की सवारी निकली। भगवान् को जाते देख कर वनिता नगरी के लोग उनके पीछे-पीछे दौडने लगे। देव-गण अपने विमानो मे बैठ कर आकाश मार्ग से आने लगे। भगवान् के दोनो ओर भरत और बाहुबली बैठे थे। अन्य अठाणु पुत्र प्रभु के पीछे चल रहे थे। मरुदेवी माता, सुमगला और सुनन्दा रानी, ब्राह्मी-सुन्दरी पुत्री और अन्य स्त्रिये सजल नयन हो पीछे-पीछे चल रही थी। भगवान्, सिद्धार्थ नामक उद्यान मे पधारे और अशोक वृक्ष के नीचे शिविका से उतरे। भगवान् ने अपने आभूषण और वस्त्र उतार दिये। उसी समय इन्द्र ने एक देवदुष्य वस्त्र भगवान् के कन्धे पर रख दिया।

यह चैत्र-कृष्ण अष्टमी का दिन था। चन्द्र, उत्तराषाढा नक्षत्र मे आया हुआ था। दिन के अतिम प्रहर मे देवो और मनुष्यो के बहुत बडे समूह के सामने प्रभु ने चार मुष्टि लोच किया। प्रभु के केशो को सौधर्मपति शक्रेन्द्र ने अपने वस्त्र मे ग्रहण किया। जब

भगवान् पाँचवी मुष्टि से शिखा का लुचन करने लगे, तब इन्द्र ने निवेदन किया—"हे स्वामी ! अब इतने केश तो रहने दीजिए, क्योकि जब ये केश हवा से उड कर आपके कन्धे पर आते है, तब मर्कत मणि के समान शोभित होते है।" प्रभु ने इन्द्र की प्रार्थना स्वीकार कर ली। इन्द्र ने भगवान् द्वारा लुचित केशो को क्षीर समुद्र मे प्रवेश कराया।

अब इन्द्र की आज्ञा से वादिन्त्र बजाना रोक दिया गया। फिर बेले के तप से युक्त ऐसे श्री नाभिकुमार ने देवो और मनुष्यो के समक्ष, सिद्ध को नमस्कार कर के इस प्रकार उच्चारण किया—

"मैं सभी पापकारी प्रवृत्ति का त्याग करता हूँ।"

इस प्रकार उच्चारण कर के चारित्र ग्रहण किया। जिस प्रकार शरद ऋतु की तेज धूप से तपे हुए मनुष्य को बादल की छाया आ जाने से शाति मिलती है, उसी प्रकार प्रभु के मोक्षमार्ग पर आरूढ होते ही नारकी के जीवो को भी क्षणभर के लिए शाति मिली। भगवान् को सयमरूपी धर्म-रथ पर आरूढ होते ही मन पर्यव ज्ञान उत्पन्न हो गया। प्रभु के साथ चार हजार राजा भी दीक्षित हो गए। इसके बाद इन्द्र और अन्य देवी-देवता, भगवान् को वन्दन-नमस्कार कर के अपने-अपने स्थान पर चले गए और नन्दीश्वर द्वीप पर अठाई महोत्सव किया। भरत-बाहुबली आदि परिवार भी शोक-सतप्त होते हुए बडी कठिनाई से स्वस्थान आये।

प्रव्रजित होने के बाद इस अवसर्पिणी काल के आदि महामुनि श्री ऋषभदेवजी ने मौन धारण कर के अपने 'कच्छ,' 'महाकच्छ' आदि मुनियो के साथ विहार किया। बेले के पारणे के दिन प्रभु को किसी भी स्थान से भिक्षा नही मिली। उस समय लोग भिक्षा-दान करना जानते ही नही थे। उस समय उस क्षेत्र मे कोई भिक्षु नही था। प्रभु ही आदि-भिक्षुक हुए, तब लोग भिक्षा देना क्या जाने ? और प्रभु तो मौन ही रहते थे। जब प्रभु भिक्षा के लिए किसी के यहाँ जाते, तो वह यही समझता कि 'हमारे महाराजाधिराज हमारे घर आये हैं।' भगवान् ने मौनपूर्वक विचरने की प्रतिज्ञा कर ली थी। जब भगवान् भिक्षार्थ जाते, तो लोग उत्तम घोडे, हाथी और अनिन्द्य सुन्दर कन्याएँ ले कर उपस्थित होते, कोई हीरे-मोती और बहुमूल्य आभूषण ले कर अर्पण करने आता, कोई विविध वर्ण के बहुमूल्य वस्त्र ले कर अर्पण करने आता। इस प्रकार बहुमूल्य भेंट ले कर लोग आते, किन्तु भोजन-पानी देने का कोई नही कहता। प्रभु उन सभी भेंटो को अग्राह्य होने के कारण स्वीकार नही करते और लौट जाते। उनका अनुकरण करने वाले स्वय दीक्षित

राजागण भी लौट जाते ।

साधुओं का पतन और तापस-परम्परा

इस प्रकार निराहार रहते कई दिन वीत गए, तव क्षुधा आदि परीपहो से दुखी हुए और तत्त्वज्ञान से अनभिज्ञ साधु, आपस मे विचार करने लगे—"हमसे अव यह दुख सहन नही होता। भगवान् तो कुछ बोलते ही नही। अव हम क्या करे ?" उन्होने कच्छ-महाकच्छ मुनि से पूछा। उन्होने भी कहा—"भगवान् के मन की वात हम भी नही जानते। किन्तु अब घर चलना भी अनुचित है, क्योकि हमने अपना राज्य तो भरतजी को दे दिया और साधु वन कर निकल गये। अव पीछा लौटना उचित नही है। इससे अच्छा यही है कि किसी ऐसे वन मे हम रुक जायँ कि जिसमे अच्छे-अच्छे फल हो और पीने के लिए पानी भी मिल सके।" इस प्रकार विचार कर के वे गगा नदी के निकट रहे हुए वन मे गये और इच्छानुसार कद-मूल-फलादि का आहार करने लगे और वल्कल से तन ढाँकने लगे। तभी से कदमूलादि का आहार करने वाले जटाधारी तापसो की परम्परा चली।

विद्याधर राज्य की स्थापना

कच्छ और महाकच्छ राजा के नमि और विनमि पुत्र थे। वे प्रभु की दीक्षा के पूर्व ही कार्यवश विदेश चले गये थे। जव वे लौट कर आये, तो उनके पिता उन्हे बन मे तापस के रूप मे मिले। उन्होने पूछा—"आपकी यह दशा क्यो हुई ?" उन्होने अपनी प्रव्रज्या की बात कही। जब नमि-विनमि को मालूम हुआ कि उनकी राजधानी नही रही, तो वे खोज करते हुए भगवान् ऋषभदेव के पास आये। भगवान् ध्यान युक्त खडे थे। उन्होने निवेदन किया—"आपने अपने पुत्रो को तो राज्य दे दिया, लेकिन हम तो यो ही रह गए। अब हमे भी कही का राज्य दीजिए।" भगवान् ने कोई उत्तर नही दिया, तो उन्होने सोचा—"हम इन्ही की सेवा करेगे। इन्हे छोड कर महाराज भरत या और किसी के पास क्यो जावे ? जिन्होने भरत को राज्य दिया, वे हमको भी देंगे।" इस प्रकार सोच कर वे दोनो भगवान् के साथ रह गए। भगवान् जहाँ पधारते, वहाँ ये भी पीछे-पीछे जाते और जहाँ ठहरते, वहाँ ये भी ठहर कर आस-पास के स्थान की सफाई करते, उसे स्वच्छ बनाते

और सुगधित पुष्प बिखेरते । फिर हाथ मे तलवार ले कर दोनो ओर अग-रक्षक के समान खडे रह कर पहरा देते । वे प्रतिदिन त्रिकाल वन्दना कर के निवेदन करते—"हमे आप ही राज्य दीजिए । हम आपको छोड कर अन्यत्र नही जावेगे ।" कालान्तर मे नागकुमार की जाति के देवो का धरणेन्द्र, भगवान् के दर्शन करने आया । उसने नमि-विनमि को भक्ति करते हुए और राज्यश्री की याचना करते हुए देख कर पूछा—"अरे भाई ! तुम कौन हो और भगवान् से क्या माँगते हो ? देखते नही, ये तो निर्ग्रथ है ।" उन्होने कहा—

"ये हमारे स्वामी है । हम विदेश गये थे, पीछे से आपने अपने पुत्रो को राज दे दिया और साधु बन गए और हम यो ही रह गए । अब हम इनसे राज्य की याचना करते है ।"

धरणेन्द्र ने कहा—"अब तो ये साधु हैं । इनके पास कुछ भी नही बचा । तुम भरत महाराज के पास जाओ । वे तुम्हारी माँग पूरी करेगें ।"

—"नही भाई ! हम तो इनसे ही लेगे । भरत के पास जावे और वे कह दे कि 'मुझे तो पिताजी ने दिया और तुम्हारे पिता ने अपनी इच्छा से छोडा,' तो फिर हम क्या करे ? हम तो इन्ही से राज्य लेंगे । ऐसे समर्थ स्वामी को छोड कर दूसरे के सामने हाथ पसारने कौन जावे ।"

—"अरे भाई ! तुम समझते क्यो नही ? जब इनके पास कुछ भी नही है, तो तुम्हे क्या देगे"—धरणेन्द्र ने पुन समझाया ।

—"महाशय ! आप अपना काम करिये । हम यहाँ से टलने वाले नही है" —नमि-विनमि ने कहा ।

नागेन्द्र इनके भोलेपन पर प्रसन्न हो गया । उसने कहा—

"मैं भवनपति देव की नाग जाति का इन्द्र और इन महापुरुष का सेवक हूँ । तुम्हारी प्रभु-भवित देख कर मैं प्रसन्न हूँ । तुम भाग्यशाली हो । मैं तुम्हे तुम्हारी प्रभु-भक्ति के फलस्वरूप विद्याधरो का ऐश्वर्य प्रदान करता हूँ ।" धरणेन्द्र ने नमि-विनमि को 'गौरी,' 'विज्ञप्ति' आदि अडतालीस हजार विद्याएँ दी और कहा कि "तुम वैताढ्य पर्वत पर जा कर दोनो श्रेणी मे नगर बसा कर राज्य करो ।" नमि-विनमि ने विद्या के बल पर पुष्पक नाम का विमान तय्यार किया और धरणेन्द्र के साथ विमान मे बैठ कर अपने पिता कच्छ-महाकच्छ के पास आये । उन्हे अपनी सफलता सुनाई । फिर भरत महाराज के पास आ कर उन्हे भी निवेदन किया और स्वजनादि को साथ ले, विमान मे बैठ

कर वैताढ्य पर्वत पर आये। नमि ने दक्षिण श्रेणी पर पचास नगर बसाये और 'रथनुपुर' नगर बसा कर राजधानी बनाई। विनमि ने उत्तर श्रेणी मे साठ नगर बसाये और 'गगनवल्लभ' नगर को राजधानी बनाया। वे दोनो धरणेन्द्र की बताई रीति से न्याय और नीतिपूर्वक राज करने लगे।

भगवान् का पारणा

भगवान् आदिनाथजी मौन रह कर, निराहार एक वर्ष पर्यन्त आर्य-अनार्य देशो में विचरते रहे। विचरते-विचरते प्रभु 'गजपुर' (हस्तिनापुर) नामक नगर मे पधारे। उस नगर मे बाहुबली के पौत्र व सोमप्रभ राजा के पुत्र 'श्रेयास कुमार' रहते थे। उन्होने स्वप्न मे देखा कि—'मेरु पर्वत जो स्वर्ण के समान है, वह कुछ श्याम हो गया है। उस पर्वतराज का उन्होने दूध से अभिषेक कर के उज्ज्वल किया। उसका कालापन मिटाया।' उसी रात को 'सुबुद्धि' नाम के सेठ ने यह स्वप्न देखा—'सूर्य से निकल कर गिरी हुई सूर्य की सहस्र किरणो को श्रेयास कुमार ने पुन सूर्य मे प्रवेश कराया, इससे सूर्य अत्यत प्रकाशमान हुआ। 'सोमप्रभ नाम के राजा ने स्वप्न मे देखा कि—अनेक शत्रुओ से घिरे हुए किसी राजा ने मेरे पुत्र श्रेयास कुमार की सहायता से विजय प्राप्त की। श्रेयास कुमार, सुबुद्धि सेठ और 'सोमप्रभ' राजा ने अपने-अपने स्वप्न का वर्णन एक दूसरे के सामने किया, किन्तु वे अपने स्वप्न के परिणाम का निर्णय नही कर सके। भगवान् ऋषभदेवजी ने उसी दिन हस्तिनापुर नगर मे प्रवेश किया। प्रभु को आते देख कर लोग अपने-अपने घर से निकल कर प्रभु के निकट आ गये और अपने-अपने घर पधारने का आग्रह करने लगे। कोई स्नान, मर्दन, विलेपन के लिए आग्रह करने लगा, तो कोई वस्त्र, रत्न, आभूषणादि ग्रहण करने के लिए प्रार्थना करने लगा और कोई अपनी परम सुन्दरी युवती कन्या ग्रहण करने का आग्रह करने लगा। कोई रथ, कोई घोडा, इस प्रकार लोग विविध प्रकार की भोग योग्य वस्तुएँ ग्रहण करने की प्रार्थना करने लगे। किंतु प्रभु उन सभी की प्रार्थना की उपेक्षा करते हुए आगे बढते रहे। लोगो का कोलाहल बढ़ने लगा। जब यह कोलाहल श्रेयास कुमार के कानो तक पहुँचा, तो उसने अपने सेवक को कारण जानने के लिए भेजा। सेवक ने लौट कर निवेदन किया—"भगवान् ऋषभदेव पधारे है।" श्रेयास कुमार यह शुभ सम्वाद सुन कर उठा और हर्षोल्लासपूर्वक प्रभु के सन्मुख आया। उस समय प्रभु उसके आगन मे पधार गए

थे। कुमार ने वन्दन-नमस्कार किया और अपलक दृष्टि से प्रभु के श्रीमुख को देखने लगा। उसे विचार हुआ कि 'ऐसे महापुरुष को मैंने पहले भी कभी देखा है।" इस प्रकार विचार करते उसे जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ और उसने जाना कि—

"पूर्व-विदेह क्षेत्र मे भगवान्, वज्रनाभ के भव मे चक्रवर्ती सम्राट थे, तव मैं उनका सारथी था। उनके पिता वज्रसेन महाराज तीर्थंकर थे। उन्हे मैंने इसी रूप मे देखे थे। जव श्री वज्रनाभ चक्रवर्ती ने श्री वज्रसेन तीर्थंकर के समीप दीक्षा ली, तव मैंने भी उनके साथ दीक्षा ली थी। उस समय तीर्थंकर भगवान् के श्रीमुख से मैंने सुना था कि यह वज्र-नाभ, भरत-क्षेत्र मे प्रथम तीर्थंकर होगा। मैं स्वयप्रभादि के भव मे इनके साथ रहा हूँ। इस भव मे ये मेरे प्रपितामह हैं। सद्भाग्य से ये आज मेरे यहाँ पधार गये है।" इस प्रकार वह विचार करता ही था कि किसी ने आ कर उसे इक्षु-रस के घडे भेंट किए। श्रेयास कुमार जातिस्मरण ज्ञान से निर्दोष भिक्षा-विधि जान गया था। उसने प्रभु से वह कल्पनीय रस ग्रहण करने की प्रार्थना की। प्रभु ने दोनो हाथो का करपात्र वना कर आगे किया। श्रेयास कुमार ने इक्षु-रस के घडे ले कर भगवान् के कर-पात्र मे खाली करने लगा और भगवान् रस-पान करने लगे। श्रेयास कुमार के हर्ष का पार नही रहा। इस अवसर्पिणी के आदि महाश्रमण श्री ऋषभदेवजी ने दीक्षा लेने के एक वर्ष वाद पहली वार इक्षु-रस का पान किया। वेले के तप के साथ चैत्र कृ० ८ को दीक्षा ली थी, जिसका पारणा एक वर्ष वाद हुआ। प्रभु के पारणे से मनुष्यो और देवो मे प्रसन्नता छा गई। आकाश मे देव-दुदुभि वजने लगी। देवगण "अहोदान, महादान" का उच्चारण करने लगे। रत्नो की वृष्टि, पांच वर्ण के उत्तम पुष्पो की वृष्टि, गन्धोदक की वृष्टि और वस्त्रो की वृष्टि, इस प्रकार पांच दिव्य प्रकट हुए। इस दान के कारण वह दिन अक्षय-तृतीया के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस प्रकार धर्मदान की प्रवृत्ति श्री श्रेयास कुमार से हुई।

प्रभु के पारणे की वात जान कर और रत्नादि की वृष्टि से विस्मित हो कर राजा और नागरिकजन श्रेयान्स कुमार के भवन पर आने लगे। कच्छ और महाकच्छ आदि क्षत्री तापस भी आये। वे सभी हर्षोत्फुल्ल हो कर श्रेयांस कुमार को धन्यवाद दे कर उसके सौभाग्य की सराहना करने लगे और कहने लगे कि "प्रभु ने हम सभी के आग्रह और प्रार्थना की उपेक्षा की। हमारा आतिथ्य ग्रहण नहीं किया और हमें इस प्रकार भुला दिया कि जैसे हमें जानते ही नहीं हो—जब कि प्रभु ने हमारा [illegible] पूर्वक पुत्र के समान पालन किया था।"

श्रेयास कुमार ने उनका समाधान करते हुए कहा—"आपको ऐसा नही सोचना चाहिए। प्रभु पहले तो परिग्रहधारी राजा थे। किंतु ससार त्यागने के वाद सभी सावद्य योगो का त्याग कर के साधु वन गए। उन्होने सभी प्रकार के परिग्रह और भोगो को त्याग दिया है। फिर वे धन, हाथी, घोडे और कामिनियो को स्वीकार कैसे कर सकते हैं? यदि उन्हे आपसे ये वस्तुएँ लेनी होती, तो प्राप्त सम्पदा को त्याग कर क्यो निकलते? प्रभु तो अव खाने-पीने के लिए अन्न-पानी भी वैसा ही लेते है, जो हम लोग अपने लिए बनाते है, जो जीव-रहित और सभी प्रकार के दोपो से रहित हो। आप, प्रभु की चर्या को नही जानते है, इसलिए आपने निर्दोप आहार-पानी को छोड कर दूसरी अनुपयोगी और संसारियो के लिए उपयोग मे आने वाली चीजे ग्रहण करने की भगवान् से प्रार्थना करते रहे। ऐसी प्रार्थना कैसे स्वीकार हो सकती है?

"युवराज! हम तो उन्ही वातो को जानते है, जो प्रभु ने हमे सिखाई है। प्रभु ने हमे ऐसे धर्मदान की विधि तो बताई ही नही, तब हम कैसे जानते? किंतु आपने यह वात कैसे जान ली?"—लोगो ने पूछा

"जिस प्रकार ग्रथ के अवलोकन से अज्ञात वाते जानी जाती है, उसी प्रकार मैंने भगवान् के श्रीमुख का अवलोकन करते हुए जातिस्मरण ज्ञान प्राप्त किया और उससे मुझे विविध गति के आठ भवो का स्मरण हो आया और पूर्व-भव मे भगवान् के साथ पाले हुए सयम के स्मरण से सारी विधि का ज्ञान हो गया। गत रात्रि को मैंने, मेरे पिताश्री ने और सेठ सुबुद्धि ने जो स्वप्न देखे, उसका प्रत्यक्ष फल प्राप्त हो गया। मैंने देखा था—कंचन वर्ण वाला सुमेरु पर्वत श्याम हो गया और मैंने उसे दूध से सींच कर स्वच्छ किया। इसका प्रत्यक्ष फल मुझे यह मिला कि दीर्घ-काल के उग्र तप से कृश हुए प्रभु को इक्षु-रस से पारणा कराया। जिससे वह पुन सुशोभित हो गया।

"मेरे पिताश्री ने शत्रु के साथ युद्ध करते हुए जिन्हे देखा, वे प्रभु ही थे। प्रभु ने मेरे द्वारा इक्षु-रस का पारणा कर के परीषह रूपी शत्रु पर विजय प्राप्त की।"

"सुबुद्धि सेठ ने सूर्य-मण्डल से गिरी हुई सहस्र किरणो को मुझे पुन सूर्यमडल मे आरोपित करते देखा, जिससे सूर्य पुन सुशोभित हो गया। इसका फल सूर्य किरणो के समान प्रभु के शरीर का तेज+ क्षिण हो रहा था, यह पारणे के प्रभाव से पुन देदीप्यमान हो गया।"

+ श्री हेमचन्द्राचाय ने यहाँ—सहस्रकिरण रूप 'केवलज्ञान' मान कर विना आहार के केवल

इस प्रकार श्रेयांस कुमार से सुन कर सभी लोग अपने-अपने स्थान पर गये। भगवान् भी पारणा कर के अन्यत्र विहार कर गये।

भग ान् को केवल

भगवान् ऋषभदेवजी एक हजार वर्ष तक मौनयुक्त विविध प्रकार के तप एव अभिग्रह करते हुए विचरते रहे। छद्मस्थावस्था के अंतिम दिन प्रभु वनीता नगरी के पुरिमताल नाम के उपनगर मे पधारे और उसकी उत्तर-दिशा मे स्थित 'शकटमुख' उद्यान मे वटवृक्ष के नीचे ध्यानस्थ हो गए। छद्मस्थकाल की तपश्चर्या मे कर्म के वृन्द के वृन्द झड गये थे और आत्मा हलकी होती जा रही थी। घातीकर्मों की जड कटने की घडी निकट आ रही थी। ध्यान की धारा वढी। अप्रमत्त गुणस्थान से अपूर्वकरण (निवृत्तिवादर) गुणस्थान मे प्रवेश करने का सामर्थ्य प्रकट हुआ। धर्मध्यान से आगे वढ कर शुक्लध्यान की प्रथम पक्ति पर पहुँचे। आत्मवल सविशेष प्रकट होने लगा। सत्ता एव उदय मे आये हुए कर्म-शत्रु विशेष रूप से नष्ट होने लगे और विजयकूच आगे वढने लगी। अपूर्वकरण से अनिवृत्ति वादर गुणस्थान मे पहुँचे, फिर सूक्ष्म-सम्पराय नाम के दसवे गुणस्थान मे प्रवेश कर के शेष रहे हुए मोहनीय के महाअग ऐसे लोभरूप महाशत्रु को भी परास्त कर के शुक्लध्यान की दूसरी सीढी पर पहुँच गये और क्षिणमोह गुणस्थान प्राप्त कर लिया। इसके वाद ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय, इन तीन कर्मों को एक साथ नष्ट कर दिया। इस प्रकार चारित्र अगीकार करने के एक हजार वर्ष के वाद फाल्गुन-कृष्णा एकादशी को जव चन्द्रमा उत्तराषाढा नक्षत्र मे आया, तव प्रात काल के समय प्रभु को केवलज्ञान और केवल-दर्शन प्राप्त हुआ। वे सर्वज्ञ-सर्वदर्शी हुए। लोकालोक के भूत, भविष्य और वर्तमान के सभी भाव जानने-देखने लगे। प्रभु को केवलज्ञान प्राप्त होने पर विश्व मे एक प्रकाश फैल गया और सुखशान्ति की लहर व्याप्त हो गई। नारकीय जीवो को भी कुछ समय के लिए सुखानुभव हुआ।

भ्रष्ट' होना माना, किन्तु यह कल्पना समझ मे नही आई। क्षुधा-परीषह एव तप का प्रभाव देह पर तो पडता है, किंतु उमसे आत्मा भी कमजोर हो जाती है और आत्मगुण नष्ट होते हैं—ऐसा नही माना जाता। इसलिए हमने अपनी मति से यहां 'शरीर का तेज क्षिण होने' का लिखा है। फिर वहुश्रुत कहे, वह सत्य है।

समवसरण की रचना

भगवान् को केवलज्ञान-केवलदर्शन उत्पन्न होते ही देवलोक के इन्द्रो के आसन कम्पायमान हुए। इन्द्रो ने अपने अवधिज्ञान के उपयोग से जिनेश्वर भगवत को केवलज्ञान होना जाना और वे सभी अपनी ऋद्धि के साथ केवल-महोत्सव करने के लिए आए।

आचार्य लिखते है कि इस वार सौधर्मेन्द्र की सवारी मे 'ऐरावण' नाम का गजराज था। ऐरावण नाम का देव ही हाथी वना—पर्वत के समान विशाल और श्वेत वर्ण वाला। उसके आठ मुंह थे। प्रत्येक मुंह पर आठ लम्बे विस्तृत और कुछ टेढे दांत थे। प्रत्येक दांत पर स्वच्छ और सुस्वादु जल से भरी हुई एक-एक पुष्करिणी (वावडी) थी। प्रत्येक पुष्करिणी मे आठ-आठ कमल थे। प्रत्येक कमल के आठ-आठ पत्र थे। प्रत्येक पत्र पर विभिन्न प्रकार के आठ-आठ नाटक हो रहे थे×। ऐसे लाख योजन जितने विशाल गजराज पर शक्रेन्द्र अपने परिवार सहित बैठा था। शक्रेन्द्र की सवारी चली। गजेन्द्र अपने विशाल देह को सकुचित करता हुआ थोडी ही देर मे शकटमुख उद्यान मे—जहाँ प्रभु बिराजमान थे, आ पहुँचा। अन्य इन्द्र भी आ उपस्थित हुए।

इसके पूर्व वायुकुमार देव ने उस क्षेत्र को एक योजन प्रमाण स्वच्छ कर दिया था और मेघकुमार देव ने सुगन्धित जल की वृष्टि से सिंचित कर दिया था। वहाँ वैमानिक देवो ने समवसरण के ऊपर के भाग का रत्नमय प्रथम गढ वनाया* और उस पर विविध प्रकार की मणियो के कंगूरे बना कर सुशोभित किया। उस गढ के आस-पास ज्योतिषी देवो ने स्वर्णमय गढ बनाया और रत्नमय कगूरो से सुशोभित किया। यह मध्य गढ था। इसके बाहर भवनपति देवो ने रजतमय तीसरा गढ वनाया। यह स्वर्णमय कगूरो से दर्शको को आकर्षित कर रहा था। प्रत्येक गढ की चारो दिशाओ मे एक-एक ऐसे चार दरवाजे थे। प्रत्येक गढ के पूर्व दरवाजे पर दोनो ओर एक-एक वैमानिक देव द्वारपाल हो कर खडा था, दक्षिण द्वार पर दो व्यन्तर देव, पश्चिम द्वार पर दो ज्योतिषी देव और उत्तर द्वार पर दो भवनपति देव पहरा दे रहे थे। दूसरे गढ के चारो द्वार पर प्रथम के समान चारो निकाय की दो-दो देवियाँ पहरे पर थी और बाहर के गढ के चारो द्वार पर देव खडे थे। समवसरण के मध्य मे व्यन्तर देवो ने एक विशाल अशोक वृक्ष बनवाया था। उस वृक्ष के नीचे विविध प्रकार के रत्नो से एक पीठिका बनाई और उस पर एक मणिमय छन्दक (पीठ को छत्र के समान आच्छादित करने वाला आवरण विशेष)

× देवो की वैक्रिय शक्ति के आगे यह कोई असभव बात नही लगती।

* ऐसे गढ़ बनाने का उल्लेख समवायाग के अतिशयाधिकार मे नही है।

वनाया। उसके मध्य मे पूर्वदिशा की ओर पादपीठिका युक्त एक रत्नमय सिंहासन की रचना की। उस पर तीन छत्रो की व्यवस्था की। सिंहासन के आस-पास दो देव, श्वेत चामर ले कर खडे रहे। समवसरण के चारो दरवाजो पर अद्भूत कान्ति वाला एक-एक 'धर्मचक्र' स्वर्ण-कमल मे स्थापित किया।

प्रात काल, चारो प्रकार के देवो के विशाल समूह के साथ प्रभु, समवसरण मे, पूर्व द्वार से पधारे और सिंहासन पर पूर्व-दिशा की ओर मुँह कर के विराजमान हुए। प्रभु के मस्तक के चारो ओर प्रभामण्डल प्रकाशमान हो रहा था। देव दुदुंभि + आकाश मे गभीर प्रतिशब्द करती हुई वज रही थी। एक रत्नमय ध्वज, प्रभु के समीप शोभायमान हो रहा था।

वैमानिक देवियाँ पूर्व द्वार से प्रवेश कर के तीर्थंकर भगवान् को नमस्कार कर के प्रथम गढ मे साधु-साध्वियो का स्थान छोड कर ● अपने लिए नियत स्थान की ओर अग्निकोण मे वैठी ‡। भवनपति, ज्योतिपी और व्यन्तरो की देवागनाएँ दक्षिण द्वार से प्रवेश कर नैऋत्य कोण मे, और भवनपति, ज्योतिषी और व्यन्तर देव, पश्चिम द्वार से प्रवेश कर वायव्य कोण मे बैठे। वैमानिक देवगण, मनुष्य और मनुष्य-स्त्रियें उत्तर दिशा के द्वार से समवसरण मे प्रवेश कर के ईशानकोण मे बैठे। दूसरे गढ मे तिर्यञ्च ग्रा कर बैठे और तीसरे गढ मे सभी आने वालो के वाहन रहे।

प्रभु के समवसरण मे किसी के लिए प्रतिबन्ध नही था। वहाँ कोई भी मनुष्य, देव और तिर्यञ्च आ सकते थे। उन्हे न तो किसी प्रकार का भय था, न वैर-विरोध ही। यदि जातिगत अथवा पूर्व का कोई वैर-विरोध होता, तो भी शान्त रहता।

भर` र को धाइयाँ

भगवान् के गृह-त्याग कर प्रव्रज्या स्वीकार करने के बाद पुत्र-विरह से मरुदेवी माता दु खी रहती थी और आँसू बहाती रहती थी। महाराजा भरत उनके चरण-वन्दन करने आते,

---

+ देव दुदुभि का उल्लेख आगम मे नही है।

● साधु-साध्वी थे ही कहाँ ? साध्वियो की तो अभी दीक्षा ही नही हुई थी।

‡ ग्रथकार खडी रहने का लिखते हैं, किंतु औपपातिक सूत्र के अर्थ मे मतभेद है। युक्ति से भी लगता है कि जब तिर्यञ्चिनी—उरपरिसर्पादि बैठ सकती है, तो मनुष्यनी और देवागनाएँ क्यो खड़ी रहे?

तब वे ऋषभदेव के समाचार मँगवाने का कहती। भरत महाराज उन्हें सान्तवना देते रहते। इस प्रकार दिन बीतते-बीतते एक हजार वर्ष निकल गये।

महाराजा भरत को एक साथ दो बधाई सन्देश मिले। यमक नाम के सन्देशवाहक ने कहा—"महाराजाधिराज की जय हो। बधाई है महाराज! भगवान् ऋषभदेव शकट-मुख उद्यान मे पधारे हैं और उन्हे केवलज्ञान-केवलदर्शन की प्राप्ति हुई है। देवगण, केवल-महोत्सव करने आ रहे है—महाराज! जय हो! विजय हो! आनन्द हो! कल्याण हो!"

भरत महाराज यह सन्देश सुन कर प्रसन्नता से भर उठे। इतने मे शमक नाम के सन्देशवाहक ने प्रणाम कर के कहा—

"स्वामिन्! प्रबलतम शत्रु का पलभर मे विनाश करने वाला, शक्ति का अनुपम भण्डार, देव-रक्षित अस्त्र 'सुदर्शनचक्र' आयुधशाला मे आ उपस्थित हुआ है। यह सार्वभौम साम्राज्य के होने वाले अधिपति की सेवा मे उपस्थित होता है। जय हो-विजय हो महा-राज! आप इस अवनीतल के आदि चक्रवर्ती सम्राट होगे महाराज! बधाई है।"

मरुदेवा की ‌ुक्ति

भरतेश्वर ने सोचा—'मै पहले किस का उत्सव मनाऊँ।' तत्काल उन्होने निश्चय कर लिया—'भौतिक ऋद्धि का मिलना उतना प्रसन्नता का विषय नही है, जितना असख्यकाल से इस भारत-भूमि पर से अस्त हुए धर्म को उत्पन्न करने वाला और मोक्ष के द्वार खोलने वाला केवलज्ञान रूपी भाव-सूर्य उदय होना है। यह ससार के भव्य प्राणियो को शाश्वत परम सुख देने वाला है। अतएव सर्वप्रथम केवलमहोत्सव मनाना ही उत्तम है। महाराजा ने केवलमहोत्सव मनाने की आज्ञा दी और सन्देशवाहको को इस बधाई के उपलक्ष मे बहुमूल्य पारितोषिक दे कर बिदा किया। फिर आप स्वय सन्देशवाहक बन कर मरुदेवा के पास पहुँचे और बोले,—

"पितामही! आप जिनकी याद मे सदैव चिन्तित रहा करती थी, वे आपके प्रिय पुत्र भगवान् ऋषभदेवजी यहाँ पधार गये हैं, और उन्हे केवलज्ञान-केवलदर्शन रूपी शाश्वत आत्मऋद्धि प्राप्त हो गई है। आप दर्शन के लिए पधारने की तय्यारी करे।"

प्रभु-वन्दन के लिए सवारी जुडी। मरुदेवा माता हाथी पर सवार हुई। उनके पास-

भरतेश्वर विराजे। ज्योंही सवारी समवसरण के निकट पहुँची कि भरत महाराज ने पितामही से कहा—

"देखिये, यह अनेक ध्वजाओं से सुशोभित इन्द्रध्वज दिखाई दे रहा है। यह मेरे पूज्य पिताजी की परम विजय की साक्षी दे रहा है। आप यह जो दुन्दुभि का नाद सुन रहे हैं, यह भी प्रभु का यशोगान कर रहा है। अब देखिये—यह रत्न और स्वर्णमय गढ दिखाई दे रहे हैं, ये देवों ने बनाये हैं। अरे आप देखें तो सही कि आपके पुत्र की सेवा बड़े-बड़े देवी-देवता और इन्द्र तक कर रहे हैं।'

माता ने समवसरण की रचना देखी। वह मन्त्र-मुग्ध हो गई। प्रभु के परम शान्त श्रीमुख पर उनकी दृष्टि स्थिर हो गई। उन्होंने अपलक दृष्टि से प्रभु के मुख से झलकती हुई वीतरागता निरखी। उनके मन में भी यह भावना जगी कि—जैसा ऋषभ वीतराग हो गया, वैसी वीतरागता ही परम सुख देने वाली है। पराये पर मोहित होना दुःखदायक है और आत्मनुष्ठ रह कर अपने में ही लीन रहना सुखदायक है।" माता की विचारधारा वेगवती हुई। वज्रऋषभनाराच संहनन युक्त बलशाली आत्मा में स्थिरता बढ़ी। कर्म-समूह झड़ने लगे। अप्रमत्तता से क्षपक-श्रेणी में आगे कूच हुई। केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त कर के योगों का निरोध किया और शैलेषीकरण कर के मोक्ष प्राप्त कर लिया। देवों ने उनके शरीर को क्षीर-समुद्र में पधरा दिया। पितामही के वियोग से भरत महाराज को शोक हुआ। वे तत्काल हाथी पर से उतर कर और राजचिन्ह को त्याग कर समवसरण में गये और पूर्व द्वार से प्रवेश कर के प्रभु को वन्दन-नमस्कार कर इन्द्र के पीछे बैठ गए।

भगवान् का धर्मोपदेश

इस अवसर्पिणी काल के प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेवजी ने केवलज्ञान-केवलदर्शन होने के पश्चात् बारह प्रकार की परिषदा में जो धर्मोपदेश दिया, वह इस प्रकार था—

"आधि, व्याधि, जरा और मृत्यु रूपी सैकड़ों ज्वालाओं से घिरा हुआ यह संसार, देदीप्यमान अग्नि के समान है। सभी सांसारिक प्राणी इस दावानल से भयभीत हैं। इस भय से मुक्त होने का प्रयत्न करना ही बुद्धिमानों का कर्त्तव्य है। जिस प्रकार असह्य गर्मी से बचने के लिए सुखार्थी लोग, रेगिस्तानी मार्ग को ठण्डे समय में पार करते हैं। उस

समय समझदार प्राणी रात की सुखमय नीद मे पडे रहने का प्रमाद नही करते । वे जानते है कि यदि रात के समय सोते रहे, तो दिन की भयकर गर्मी मे, अग्नि के समान धधकती हुई रेती पर चलना महान् कष्टकर होगा ।

अनेक जीवयोनि रूप ससार समुद्र मे गोते लगाते हुए जीव को उत्तम रत्न के समान मनुष्य-जन्म की प्राप्ति होना महान् कठिन है । जिस प्रकार दोहला + पूर्ण करने से वृक्ष फलदायक होता है, उसी प्रकार परलोक की साधना करने से प्राणियो का मनुष्य-जन्म सफल होता है । जिस प्रकार दुष्टजन मीठे वचनो से मोहित कर के लोगो को ठग लेते है, उनकी मीठी वाणी, परिणाम मे दु खदायक होती है, उसी प्रकार इन्द्रियो के मोहक विषय पहले तो मधुर लगते हैं, किन्तु उनका परिणाम महान् दु खप्रद होता है । जिस प्रकार बहुत ऊँची पहुँची हुई वस्तु अन्त मे नीचे गिरती है, उसी प्रकार अनेक प्रकार का प्राप्त हुआ सुखद सयोग, अन्त मे वियोग दु ख मे ही परिणत होता है । मनुष्यो को प्राप्त हुआ धन, यौवन और आयु, ये सभी नाशवान् हैं । जिस प्रकार मरुस्थल मे स्वादिष्ट जल का झरना नही होता, उसी प्रकार चतुर्गतिमय ससार मे भी सुख नही होता । क्षेत्र-दोष से और परमाधामी देवो की असह्य मार से, दारुण दु खो को भोगने वाले नारको के लिए सुख तो है ही कहाँ ?

शीत, ताप, वायु और जल से तथा वध, वन्धन और क्षुधादि विविध प्रकार से पीडित, तिर्यञ्च जीवो को भी कौन-सा सुख है ?

गर्भावास, व्याधि, जरा, दरिद्रता और मृत्यु के दु खो से जकडा हुआ मनुष्य भी सुखी नही है ।

पारस्परिक मात्सर्य, अमर्ष, कलह तथा च्यवन (मरण) आदि दु खो के सद्भाव मे भी क्या देवी-देवता सुखी माने जा सकते है ?

इस प्रकार चारो गतियो मे दु ख ही दु ख भरा हुआ है, फिर भी अज्ञानी जीव, पानी की नीची गति के समान ससार की ओर ही झुकते है । इसलिए हे भव्यजीवो ! जिस प्रकार सांप को दूध पिलाने से विष की वृद्धि होती है, उसी प्रकार मनुष्य-जन्म का दुरुपयोग करने से दु.खो की वृद्धि होती है । अतएव इस मनुष्य-जन्म रूपी दूध के द्वारा ससार रूपी विष की वृद्धि नही [illegible]ी चाहिए ।

हे विवेकशील प्राणियो ! इस ससार-निवास मे उत्पन्न होते हुए अनेक प्रकार के

+ बकुल आदि कई प्रकार की वनस्पति ऐसी होती है कि जिनके अनुकूल क्रिया होने पर प्रफुल्लित एव फलयुक्त होती है ।

दु खो का विचार करो । यदि दु खो के कारण को ही नष्ट कर के सुखी वनना है, तो ससार को छोडो और मोक्ष के लिए प्रयत्नशील वनो । गर्भ का दु ख, नरक के दु ख के समान है । प्राणियो को जन्म के समय—प्रसव सम्वन्धी वेदना वैसी ही होती है, जैसी कुभी (नारकी के नेरियो का उत्पत्ति स्थान) के मध्य मे से खीच कर निकाले हुए नारक को होती है । मुक्त जीवो को ऐसी वेदना कभी नही होती । मुक्त जीवो को न तो, शस्त्राघात सम्वन्धी पीडा होती है, न व्याधि जन्य ही । यमराज का अग्रदूत, अनेक प्रकार की पीडाओ का कारण और सभी प्रकार के तेज और पराक्रम का हरण कर के, जीव को पराधीन वनाने वाला—ऐसा वुढापा भी मुक्त जीवो को प्राप्त नही होता और भव-भ्रमण की कारण रूप मृत्यु भी (जो देवता तक को मार देती है) मोक्ष प्राप्त सिद्धात्मा से दूर रहती है ।

मोक्ष मे परम आनन्द, महान् अद्वैत एवं अव्यय सुख, शाश्वत स्थिति और केवलज्ञानरूपी सूर्य की अखण्ड ज्योति रही हुई है । इस शाश्वत स्थान को वही आत्मा प्राप्त कर सकती है, जो ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूपी तीन उज्ज्वल रत्नो का पालन करती हो ।"

ान रत्न

रत्नत्रय की आराधना करने का उपदेश देते हुए भगवान् ने कहा,—

"जीवादि तत्त्वो का सक्षेप अथवा विस्तार से यथार्थ बोध होना ही सम्यग्ज्ञान है । यह मति, श्रुत, अवधि, मन पर्यय और केवलज्ञान—ऐसे पाँच भेद वाला है ।

मतिज्ञान—अवग्रह, ईहादि और बहुग्राही, अबहुग्राही आदि भेदयुक्त तथा इन्द्रिय और अनिन्द्रिय से उत्पन्न होने वाला मतिज्ञान है ।

श्रुतज्ञान—अग, उपाग, पूर्व और प्रकीर्णक सूत्रो से अनेक प्रकार से विस्तार पाया हुआ तथा 'स्यात्' पद से अलकृत श्रुतज्ञान अनेक प्रकार का है ।

अवधिज्ञान—देव और नारक को भव के साथ और मनुष्य-तिर्यंच को क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाले अवधिज्ञान के मुख्यत छ भेद हैं ।

मन पर्ययज्ञान—ऋजुमति और विपुलमति, इन दो भेदो से मन पर्यय ज्ञान होता है । विपुलमति मन पर्ययज्ञान विशुद्ध एव अप्रतिपाति होता है ।

केवलज्ञान—समस्त द्रव्यो और सभी पर्यायो को विषय करने वाला, विश्व-लोचन के

समान, अनन्त, एक और इन्द्रियो के विपय से रहित केवलज्ञान होता है।"

दर्शन रत्न

"शास्त्रोक्त तत्व मे रुचि होना सम्यक् श्रद्धान है। यह स्वभाव से और गुरु के उपदेश से, यो दो प्रकार से प्राप्त होता है।

अनादि-अनन्त ससार के चक्र मे भटकने वाले प्राणियो को, ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय और अन्तराय, इन चार कर्मो की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटानुकोटि सागरोपम प्रमाण होती है। गोत्र और नाम कर्म की स्थिति बीस कोटानुकोटि सागरोपम प्रमाण होती है और मोहनीय कर्म की स्थिति सत्तर कोटानुकोटि सागरोपम की होती है। जिस प्रकार पर्वत मे से निकली हुई नदी के प्रवाह मे आया हुआ पत्थर, अथडाते-टकराते अपने-आप गोल हो कर कोमल हो जाता है, उसी प्रकार कर्मो की स्थिति क्रमश २९, १९ और ६९ कोटाकोटि से कुछ अधिक क्षय हो जाय और एक कोटाकोटि सागरोपम से कुछ कम रह जाय, तब प्राणी यथाप्रवृत्तिकरण से ग्रथीदेश को प्राप्त करता है।

ग्रंथी—राग-द्वेष के ऐसे परिणाम कि जिनका भेदन करना बढा कठिन होता है। यह राग-द्वेष की गाँठ, काष्ठ की गाँठ जैसी अत्यन्त दृढ और कठिनाई से टूटने वाली होती है। जिस प्रकार किनारे तक आया हुआ जहाज, विपरीत वायु चलने से पुन समुद्र मे चला जाता है, उसी प्रकार रागादि से प्रेरित किनने ही जीव, ग्रथी के निकट आ कर भी उसे काटे बिना वापिस लौट जाते हैं। कुछ जीव, ग्रंथी के निकट आते-आते ही पुन लौट जाते हैं और कितने ही प्राणी ग्रथी के निकट आ कर ठहर जाते है। शेष कुछ ही प्राणी वैसे उत्तम भविष्य वाले होते हैं, जो 'अपूर्वकरण' से अपनी शक्ति लगा कर उस ग्रथी को तत्काल तोड देते हैं। इसके बाद 'अनिवृत्तिकरण' से अन्तरकरण कर के मिथ्यात्व को विरल कर अन्तर्मुहूर्त मात्र के लिए सम्यग्दर्शन को प्राप्त करते है। यह 'नैसर्गिक (स्वाभाविक) श्रद्धान' कहाती है और जो सम्यक्त्व, गुरु के उपदेश के अवलबन से प्राप्त हो, वह 'अधिगम सम्यक्त्व' कहलाता है।

सम्यक्त्व के औपशमिक, सास्वादान, क्षयोपशमिक, वेदक और क्षायिक, ये पाँच प्रकार हैं।

१ जिस प्राणी की कर्मग्रथी टूट चुकी है। जिसे सम्यक्त्व का प्रथम लाभ अन्तर्मुहूर्त

मात्र ही होता है, वह 'औपशमिक सम्यक्त्व' कहाता है तथा उपशम-श्रेणि के योग से जिसका मोह शान्त हो गया हो * ऐसी आत्मा को 'औपशमिक सम्यक्त्व' होता है।

२ सम्यक्त्व का त्याग कर के मिथ्यात्व के सम्मुख होते हुए प्राणी को अनन्तानुवन्धी कषाय का उदय होते, जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छह आवलिका पर्यन्त, सम्यक्त्व का परिणाम रहता है। उसे 'सास्वादन समकित' कहते है।

३ मिथ्यात्व-मोहनीय का क्षय और उपशम होने से होने वाला वोध, 'क्षयोपशमिक सम्यक्त्व' कहाता है। इसमे सम्यक्त्व-मोहनीय का उदय रहता है।

४ जिस भव्यातमा के अनन्तानुवन्धी कषाय चतुष्क, मिथ्यात्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय का क्षय हो गया हो, ऐसी सम्यक्त्व-मोहनीय के अन्तिम अंश का वेदन करते हुए क्षायक-भाव को प्राप्त करने मे तत्पर आत्मा का परिणाम 'वेदक-सम्यक्त्व' कहाता है। (इनकी स्थिति एक समय मात्र की है)।

५ अनन्तानुवन्धी कषाय की चौकडी और दर्शन-त्रिक, मोहनीय कर्म की इन सातो प्रकृतियो को क्षय करने वाली प्रशस्त भाव वाली आत्मा को प्राप्त (अप्रतिपाति) सम्यक्त्व 'क्षायिक सम्यक्त्व' कहाता है।

सम्यग्दर्शन, गुण की अपेक्षा—१ कारक २ रोचक और ३ दीपक, यो तीन प्रकार का है।

कारक—जो विरति भाव को उत्पन्न करने वाला—सयम और तप का आचरण कराने वाला है, वह कारक सम्यक्त्व है।

रोचक—जिसके परिणाम स्वरूप तत्त्वज्ञान मे, हेतु और उदाहरण विना ही दृढ प्रतीति हो, रुचि उत्पन्न हो, वह 'रोचक सम्यक्त्व' कहाता है।

दीपक—जो सम्यत्व को प्रदिप्त करे (जाहिर करे अथवा दूसरे श्रोता के सम्यक्त्व को प्रभावित करे), वह 'दीपक सम्यक्त्व' है (यह प्रथम गुणस्थान मे होती है)।

सम्यक्त्व को पहिचानने के पाँच लक्षण इस प्रकार है—

१ शम २ सवेग ३ निर्वेद ४ अनुकम्पा और ५ आस्तिक्य। इन पाँच लक्षणो से सम्यक्त्व की पहिचान होती है।

शम—जिसके परिणाम स्वरूप अनन्तानुवन्धी कषाय का उदय नही होता। कषाय के शक्तिशाली प्रभाव (अनन्तानुवन्धी प्रकृति) के अभाव से, आत्मा मे जो शान्ति उत्पन्न

* जिसने दर्शन-मोहनीय का भी उपशम ही किया हो।

होती है, वह 'शम' नामक लक्षण है।

सवेग—कर्म परिणाम और ससार की असारता का चिन्तन करते हुए जीव को विषयो के प्रति वैराग्य भाव उत्पन्न हो, उसे 'सवेग' कहते हैं (मोक्ष की अभिलाषा अथवा धर्म-प्रेम को भी 'सवेग' कहते हैं)।

निर्वेद—सवेगवत आत्मा को संसार कारागृह के समान और स्वजन, बन्धन रूप लगते है। इस प्रकार ससार और सासारिक सयोगो से होने वाला विरक्ति भाव 'निर्वेद' लक्षण है।

अनुकम्पा—एकेन्द्रियादि सभी प्राणियो को संसार-सागर मे डूबते हुए देख कर हृदय का आर्द्र—कोमल हो जाना, दुखी होना और दुख निवारण के उपाय मे यथाशक्ति प्रवृत्ति करना "अनुकम्पा" है।

आस्तिक्य—इतर दर्शनो के तत्त्वो को सुनने पर भी आर्हत् तत्त्व (जिन प्रणीत तत्त्व) मे आकाक्षा रहित रुचि बनी रहना—दृढ श्रद्धा रहना, 'आस्तिक्य' नाम का लक्षण है।

इस प्रकार सम्यग्दर्शन रूपी रत्न का स्वरूप है। दर्शन-रत्न की क्षणभर के लिए भी प्राप्ति हो जाय, तो इसके अभाव मे पहले जो मति अज्ञान था, वह (अज्ञान) पराभूत हो कर मतिज्ञान रूप परिणत हो जाता है। श्रुतअज्ञान पराभूत हो कर श्रुतज्ञान हो जाता है और विभगज्ञान मिट कर अवधिज्ञान के भाव को प्राप्त हो जाता है।

चारित्र रत्न

सर्वथा प्रकार से सावद्य योग का त्याग करना 'चारित्र' कहाता है। वह अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, यो पाँच व्रतो से पाँच भेद का कहा जाता है। ये पाँच महाव्रत हैं। पाँच-पाँच भावना (कुल २५ भावना) से युक्त ये महाव्रत मोक्ष साधना के लिए अवश्य पालनीय है।

अहिंसा—प्रमाद के योग से त्रस और स्थावर जीवो के जीवन का नाश नही करना 'अहिंसाव्रत' है।

सत्य—प्रिय, हितकारी और सत्य वचन बोलना, 'सुनृत' (सत्य) व्रत कहाता है। अप्रिय और अहितकारी सत्य वचन भी असत्य के समान होता है।

अस्तेय—विना दी हुई वस्तु का ग्रहण नही करना 'अस्तेय व्रत' है। क्योकि द्रव्य

(धन-धान्यादि) मनुष्य के वाह्य प्राण के समान है। इसका हरण करने वाला, प्राणो का हरण करता है—ऐसा समझना चाहिए।

ब्रह्मचर्य—दिव्य (वैक्रिय) और औदारिक शरीर से अब्रह्मचर्य के सेवन का मन, वचन और काया से, करन, करावन और अनुमोदन का त्याग करना—'ब्रह्मचर्य व्रत' है। इसके अठारह× भेद होते हैं।

अपरिग्रह—समस्त पदार्थों पर से मोह (मूर्च्छा) का त्याग करना 'अपरिग्रह व्रत' है। मोह के कारण अप्राप्त वस्तु पर भी चित्त मे विप्लव होता है। इसलिए अपरिग्रह व्रत मूर्च्छा त्याग रूप है।

यतिधर्म मे अनुरक्त ऐसे यतिन्द्रो के लिए उपरोक्त स्वरूप वाला सर्वचारित्र होता है। गृहस्थो के लिए देश (आशिक) चारित्र इस प्रकार का है।

सम्यक्त्व-मूल पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत, इस प्रकार गृहस्थो के वारह व्रत हैं।

हिंसा त्याग—लगडा-लूलापन, कोढ अन्धत्यादि हिंसा के दु खदायक फल देख कर बुद्धिमान पुरुष को निरपराध त्रस जीवो की सकल्पी हिंसा का त्याग कर देना चाहिए।

असत्य त्याग—गूगा, तोतला, अस्पष्ट वचन और मुखरोगादि अनिष्ट फल के कारणो को समझ कर कन्या, गाय और भूमि संबंधी असत्य, धरोहर (थापण) दवा लेना और झूठी साक्षी देना, ये पाँच प्रकार के बडे असत्य का त्याग करना चाहिए।

अदत्त त्याग—दुर्भाग्य, दासत्व, अगच्छेद, दरिद्रता आदि कटु परिणाम का कारण जान कर स्थूल चोरी का त्याग करना चाहिए।

अब्रह्म त्याग—नपुसकत्व, इन्द्रिय-छेद आदि बुरे फलो का कारण ऐसे अब्रह्मचर्य के फल का विचार कर के बुद्धिमान् प्राणियो को स्वस्त्री मे ही सतोष रख कर, परस्त्री का त्याग करना चाहिए।

परिग्रह त्याग—असतोष, अविश्वास, आरम्भ और दु ख, ये सभी परिग्रह की मूर्च्छा के फल हैं। इसलिए परिग्रह का परिमाण करना चाहिए। ये पाँच अणुव्रत है।

दिग्विरति—छहो दिशाओ मे मर्यादा की हुई भूमि की सीमा का उल्लघन नही करना। यह प्रथम गुणव्रत है।

× वैक्रिय और औदारिक, यो दो प्रकार का मैथुन, मन, वचन और काया के भेद से छह प्रकार का हुआ। इसके करन, करावन और अनुमोदन, इन तीन प्रकारो से गुणन करने पर अठारह भेद होते हैं।

भोगोपभोग परिमाण व्रत—भोगोपभोग (खान-पान आदि मे काम मे आने वाली वस्तुओ) का शक्ति के अनुसार परिमाण रख कर शेष का त्याग कर देना, यह दूसरा गुणव्रत है।

अनर्थदण्ड त्याग—१ आर्त्त और रौद्र, ये दो 'अपध्यान' हैं, इनका आचरण २ पाप-कर्म का उपदेश ३ हिंसक अधिकरण (शस्त्रादि) देना तथा ४ प्रमाद का आचरण करना, यह चार प्रकार का अनर्थ-दण्ड है। शरीरादि तथा कुटुम्व-परिवारादि के लिए हिंसादि पाप किये जायँ, वे 'अर्थदण्ड' है। इस के अतिरिक्त अनर्थ-दण्ड है। इस अनर्थ-दण्ड का त्याग करना तीसरा गुणव्रत है।

सामायिक व्रत—आर्त्त-रौद्र ध्यान तथा सावद्य-योग का त्याग कर के मुहूर्त (दो घडी) तक समताभाव धारण करना—सामायिक नाम का प्रथम शिक्षा व्रत है।

देशावकाशिक—दिग्व्रत (छठे व्रत) मे दिशा का जो परिमाण किया है, उसमे दिन और रात्रि संवधी संक्षेप करना, तथा अन्य व्रतो को भी सक्षेप करना दूसरा गुणव्रत है।

पौषधव्रत—चार पर्व दिन (अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या और पूर्णिमा—ये चार तथा दूसरे पक्ष की अष्टमी, चतुर्दशी यो कुल छह) मे उपवासादि तप करना, कुव्यापार (सावद्य व्यापार) का त्याग करना, ब्रह्मचर्य का पालन करना और स्नानादि क्रिया का त्याग करना 'पौषध व्रत' नाम का तीसरा शिक्षा व्रत है।

अतिथिसविभाग व्रत—अतिथि (मुनि) को चार प्रकार का आहार, वस्त्र, पात्र और स्थानादि का दान करना। यह चौथा शिक्षा व्रत है।

मोक्ष की प्राप्ति के लिए इस प्रकार रत्न-त्रय की सदैव आराधना करना चाहिए।

आदि तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेवजी ने केवलज्ञान प्राप्त होने के बाद, प्रथम धर्म-देशना दी। इससे प्रतिबोध पा कर ऋषभसेन आदि सैकडो भव्यात्माएँ असार ससार का त्याग कर मोक्षमार्ग पर अग्रसर हुई।

धर्म- र्तन

भगवान् की परम पावनी धर्मदेशना सुन कर उसी समय भरत महाराज के ऋषभ-सेन आदि पाँच सौ पुत्र और सात सौ पौत्रो ने संसार से विरक्त हो कर मुनि-दीक्षा ग्रहण की। भगवान् के केवलज्ञान का देवो द्वारा किये हुए महोत्सव से प्रभावित हो कर भरत महाराज के पुत्र 'मरिचि' ने भी सयम स्वीकार किया और भरत महाराजा की आज्ञा से

ब्राह्मी भी प्रव्रजित हुई। किन्तु वाहुवली की आज्ञा नही होने से 'सुन्दरी' दीक्षित नही हो सकी और श्राविका वनी। भगवान् के दीक्षित होते समय जिन लोगो ने भगवान् के साथ दीक्षा अगीकार की थी और वाद मे परीपहो से विचलित हो कर तापस हो गए थे, उनमे से 'कच्छ महाकच्छ' को छोड कर शेष सभी तापस पुन भगवान् के पास दीक्षित हो गए। शेष बहुत-से मनुष्यो और तिर्यंचो ने श्रावक व्रत धारण किया और बहुतो ने तथा देवो ने सम्यक्त्व ग्रहण किया।

भगवान् ने ऋषभसेन (पुडरीक) आदि साधु, ब्राह्मी आदि साध्वी, भरत आदि श्रावक और सुन्दरी आदि श्राविकाओ के चतुर्विध सघ की स्थापना की। यह चतुर्विध सघ इस अवसर्पिणी काल का प्रथम सघ—प्रथम तीर्थ हुआ। ऋषभसेन आदि ८४ बुद्धिमान् साधु गणधर नामकर्म के उदय वाले थे। उन्हे भगवान् ने 'उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य' इस त्रिपदी का उपदेश दिया। इस उपदेश के आधार पर उन गणधरो ने चौदह पूर्व और द्वादशागी की रचना की। श्री तीर्थंकर भगवान् ने उन गणधरो को सूत्र, अर्थ और सूत्रार्थ का द्रव्य-गुण-पर्याय एव नय-निक्षेप आदि से प्रवर्त्तन करने और गण धारण करने की अनुज्ञा प्रदान की। भगवान् ने पुन. शिक्षामय देशना प्रदान की। इसमे प्रथम प्रहर व्यतीत हो गया। उसके वाद भगवान् सिंहासन से उठ कर देवच्छदक मे पधारे। फिर मुख्य गणधर श्री ऋषभसेनजी (पुडरीकजी) ने भगवान् की पादपीठिका पर वैठ कर धर्मोपदेश दिया। गणधर महाराज के उपदेश के वाद परिषद् के लोग अपने-अपने घर गए ×।

कुछ समय वाद भगवान् श्री ऋषभदेवस्वामी ने शिष्यो के साथ विहार किया और भव्य जीवो को धर्मोपदेश तथा योग्य जीवो को सर्वविरति देशविरति प्रदान करते हुए ग्रामानुग्राम विचरने लगे।

चक्रवर्ती भरत महाराजा की दिग्विजय

भगवान् की धर्मदेशना सुन कर महाराजा भरत, शस्त्रागार मे आये और सुदर्शन-चक्र को देखते ही प्रणाम किया। चक्र का मोरपिंछी से प्रमार्जन किया। उसे पानी से धोया, गोशीर्ष चन्दन का तिलक किया और पुष्प, गध, चूर्ण, वस्त्र तथा आभूषण से

× तीर्थंकर भगवान् के समवसरण मे गणधर महाराज की देशना होने का उल्लेख आगमों में नहीं मिलता, ग्रंथों में ही मिलता है।

चक्र-रत्न की पूजा की। उसके आगे चाँदी के चावलो से अष्ट-मंगल का आलेखन किया। उसके आगे उत्तम द्रव्यो का धूप दिया। उसके बाद महाराज ने चक्र को तीन प्रदक्षिणा दी और सात आठ चरण पीछे हट कर, भूमि पर बैठ कर प्रणाम किया तथा वहाँ रह कर अठाई-महोत्सव किया। इसके बाद हस्ति-रत्न पर आरूढ हो कर सेना के साथ दिग्विजय के लिए पूर्व-दिशा की ओर प्रस्थान किया। महाराज के प्रस्थान करते ही वह यक्षाधिष्ठित चक्र-रत्न, सेना के आगे चलने लगा। फिर दण्ड-रत्न को धारण करने वाला 'सुषेण' नाम का सेनापति-रत्न, उत्तम अश्व-रत्न पर सवार हो कर आगे चलने लगा। पुरोहित-रत्न भी महाराजा के साथ हो गया। विशाल सेना के लिए भोजनादि की सुव्यवस्था करने वाला 'गाथापति-रत्न' तथा सेना के पडाव (मार्ग मे ठहरने योग्य सुखदायक आवास) का प्रबन्ध करने वाला 'वार्द्धिकी-रत्न' भी सेना के साथ हुआ। इसी प्रकार चर्म-रत्न, छत्र-रत्न, मणि-रत्न, काकिणी-रत्न और खड्ग-रत्न भी नरेश के साथ रहे। सारी सेना चक्र-रत्न का अनुगमन करने लगी। प्रतिदिन एक-एक योजन प्रमाण चल कर चक्र-रत्न ठहर जाता और वही सेना का पडाव हो जाता। इस प्रकार सेना चलते-चलते गगानदी के दक्षिण तट पर पहुँची। वहाँ सेना का पडाव हुआ। सेना के प्रत्येक सैनिक और हस्ति आदि पशु के खाने-पीने और अन्य आवश्यक सामग्री की उत्तम व्यवस्था थी। वहाँ से प्रयाण कर के समुद्र-तट पर 'मागध तीर्थ' के निकट पहुँचे। वहाँ पडाव की सुव्यवस्था हुई। महाराजा के आवास के निकट एक पौषधशाला का भी निर्माण हुआ। महाराजा पौषध-शाला मे पधारे और मागध तीर्थ-कुमार देव की आराधना करते हुए विधिवत् तेले का तप किया। तप पूर्ण होने पर महाराजा भरत, स्नानादि से निवृत हो कर रथ पर सवार हुए और समुद्र की ओर प्रस्थान किया। रथ की नाभि-धुरी तक समुद्र के पानी मे पहुँचने के बाद रथ को खडा किया और महाराजा ने धनुष उठाया, उस पर नामाङ्कित बाण चढा कर मागध तीर्थाधिपति की ओर छोडा। वह बाण, सूर्य के समान चमकता, आग की चिनगारियें छोडता और विद्युत के समान धारा बिखरता हुआ तीव्र गति से बारह योजन चल कर मागध तीर्थ मे, मागधाधिपति की सभा मे गिरा। अचानक घटी इस घटना को देख कर अधिपति देव एकदम कोपायमान हो गया और भयकर क्रोध युक्त बोला—

"कौन है यह मृत्यु का ग्रास ? किसका जीवन समाप्त होना चाहता है, जो मेरा अपमान कर रहा है ? देखता हूँ मैं उस अभिमानी को"—इस प्रकार बोलता हुआ वह मागध तीर्थाधिपति देव, खड्ग ले कर उठा और उस बाण को देखने के लिए चला।

उसके साथ ही उसकी सभा के सभासद् तथा अन्य अनुचर देव भी कोपायमान हो कर अपने-अपने शस्त्र ले कर उठे और उस वाण को देखने के लिए आगे वढे। इतने मे अमात्य ने वाण को ले कर देखा। उस पर निम्नलिखित अक्षर अंकित थे,—

"मैं भरत-क्षेत्र के इस अवसर्पिणी काल के आदि तीर्थंकर भगवान् आदिनाथ का पुत्र और प्रथम चक्रवर्ती भरत, मागध तीर्थाधिपति को आदेश करता हूँ कि तुम मेरा आधिपत्य स्वीकार कर के मेरे शासन मे रहो। इसी मे तुम्हारा हित है।"

इस प्रकार का उल्लेख पढ कर देव ने विचार किया और अवधिज्ञान का उपयोग कर के निश्चयपूर्वक वोला—

"सभासद्गण! उत्तेजित होने की वात नही है। भरत-क्षेत्र का जो चक्रवर्ती सम्राट होता है, उसकी आज्ञा मे हमे रहना ही पडता है। इस समय महाराजाधिराज भरत, आदि चक्रवर्ती के रूप मे शासन-प्रवर्तन करने निकले हैं। इन्हे चक्रवर्ती की ऋद्धि प्राप्त हुई है। हमे इनकी सेवा मे उपस्थित हो कर उनकी अधीनता स्वीकार करनी चाहिए। इसीमे हमारा हित है। वे समुद्र मे हमारी प्रतीक्षा कर रहे। है हमे मूल्यवान् उत्तम भेट ले कर उनकी सेवा मे चलना चाहिए। यह वात सुन कर सभी लोग शान्त हुए। मागधतीर्थ का अधिपति वहुमूल्य भेट, मागध तीर्थ का जल तथा वह वाण ले कर भरत महाराज की सेवा मे आया और प्रणाम कर के भेट उपस्थित की तथा चक्रवर्ती महाराज की अधीनता स्वीकार की। महाराजा भरतेश्वर ने भेंट स्वीकार करते हुए मागधतीर्थाधिपति का सत्कार किया। इसके वाद वे अपनी छावनी मे आये और तेले का पारणा किया। मागधदेव स्वस्थान गया। महाराजा ने मागधतीर्थ साधना के उपलक्ष मे अठाई-महोत्सव किया।

महोत्सव पूर्ण हो चुकने पर सुदर्शन-चक्र आकाश मार्ग से दक्षिण-दिशा की ओर चला और चक्रवर्ती ने भी सेना सहित उसका अनुगमन किया। कालान्तर मे 'वरदाम' नामक तीर्थ के पास पहुँचे। यहाँ भी भरतेश्वर ने तेले का तप किया और वरदाम तीर्थाधिपति को साधने के लिए नामाङ्कित वाण फेका। मागध तीर्थ के समान वरदाम तीर्थ भी चक्रवर्ती के अधिकार मे आया। इसी प्रकार समुद्र की पश्चिम दिशा के 'प्रभास' नामक तीर्थ को अधिकार मे लिया।

इसके वाद समुद्र के दक्षिण की ओर सिन्धु नदी के किनारे आये और सिन्धु देवी की साधना के लिए तेले का तप किया। सिन्धु देवी का आसन चलायमान हुआ। देवी ने अवधिज्ञान से भरतेश्वर का अभिप्राय जाना और वहुमूल्य रत्न, रत्न-जडित सिंहासन तथा आभूषणादि ले कर सेवा मे उपस्थित हुई और चक्रवर्ती का शासन स्वीकार किया। भरत

महाराज ने देवी की भेट स्वीकार की और उसका सत्कार कर के विदा की तथा विजयोत्सव मनाया।

इसके बाद वैताढ्य पर्वत के पास आये और वैताढ्यादि कुमार देव को अधीन करने के लिए तेले का तप किया। उसे अपने आधीन बना कर तिमिस्रा गुफा की ओर गये और गुफा के अधिष्ठायक कृतमाल देव का आराधन किया। देव, महाराजाधिराज भरत की सेवा मे उपस्थित हुआ और उत्तम भेट धर कर अधीनता स्वीकार की। फिर सिन्धु नदी के दक्षिण की ओर के सिंहल, बर्बर, यवन द्वीप के लोगो को वश मे करने के लिए सेनापति को भेजा। सेनापति ने उन्हे जीत कर चक्रवर्ती महाराजा के आज्ञाधीन बनाये। इसके बाद सेनापति तिमिस्रा गुफा के निकट आया और उसके द्वार को प्रणाम किया, फिर दड से किवाड पर तीन बार प्रहार किया। इससे गुफा के द्वार खुल गये। किवाड खुलते ही महाराजा की सवारी सेना सहित गुफा मे चली। उस विशाल गुफा मे घोर अन्धकार था। मणि-रत्न की सूर्य के समान प्रभा से समस्त अन्धकार का नाश हो कर प्रकाश फैल गया। गुफा मे दो नदियाँ बह रही थी। एक नदी उन्मग्ना थी (जिसमे पडा हुआ भारी पत्थर भी नही डूबता था। नदी की तेज धारा उसे घुमा कर बाहर फेंक देती थी। दूसरी निमग्ना नदी मे पडा हुआ पत्ता और तिनका जैसी हलकी वस्तु भी डूब जाती थी। वार्द्धिक-रत्न ने उन नदियो पर तत्काल सुदृढ पुल बाँध दिया। इस पुल पर से हो कर चक्रवर्ती की सेना उत्तर खण्ड मे पहुँची। उधर शक्तिशाली एव प्रतापी भिल्ल और किरात आदि रहते थे। वे दानवो के समान दुर्दम्य एव युद्ध-प्रिय थे। चक्रवर्ती महाराजा की चढाई देख कर वे क्रोधित हुए। युद्ध भडक उठा। चक्रवर्ती महाराजा की सेना के अगभाग के सैनिक, शत्रुसेना के पराक्रम के आगे ठहर नही सके और रण छोड कर भाग खडे हुए। यह स्थिति देख कर सेनापति सुषेण कुपित हुआ। उसने अपना घोडा आगे किया और शत्रुओ का सहार करने लगा। सेनापति का उत्कृष्ट पराक्रम देख कर किरातो की सेना भाग गई। किरात योद्धा भयभीत हुए। उन्होने सिन्धु नदी के किनारे रेती मे लेट कर अपने इष्ट देव मेघमाली को अनशन पूर्वक स्मरण किया। देव ने आ कर कहा—"भरत-क्षेत्र के आदि चक्रवर्ती भरतेश्वर, खण्ड साधने को निकले है। इनकी आज्ञा मान लेने मे ही लाभ है। फिर भी मैं तुम्हारे लिए चक्रवर्ती को उपसर्ग करता हूँ।" ऐसा कह कर मेघमाली देव ने घनघोर वर्षा प्रारम्भ कर दी। लगातार सात दिन-रात तक मूसलाधार वर्षा होती रही। चारो ओर पानी ही पानी हो गया। चक्रवर्ती महाराजा की सेना, चर्म-रत्न और छत्र-रत्न के साधन से सुरक्षित

रही। उसे किसी प्रकार का कष्ट नही हुआ। किंतु महाराजा भरतेश को विचार हुआ कि "यह अकाल वर्षा कैसे हुई? किसी ने उपद्रव तो नही किया है?" इस प्रकार विचार होते ही उनकी सेवा मे रहने वाले देवो ने मेघमाली देव को फटकारा। वह अपनी लीला समेट कर चला गया और अपने आराधक किरातो को कहता गया कि "तुम चक्रवर्ती सम्राट भरतेश्वर की सेवा मे जा कर उनसे क्षमा याचना करो। उनको भेंट दे कर अधीनता स्वीकार करो। ऐसा करने से ही तुम्हारा हित होगा। तुम्हे ऐसा करना ही होगा।"

वे किरात-भिल्ल आदि मूल्यवान् भेट ले कर सम्राट की सेवा मे उपस्थित हुए। भेट धर कर क्षमा मागी और अधीनता स्वीकार की। महाराजा ने उनका सत्कार कर के विदा किया।

इसके वाद चक्र-रत्न चुल्लहिमवत पर्वत की ओर गया। महाराजा भी सेना-सहित उधर ही चले। वहाँ के देव को अधीन किया। वहाँ से ऋषभकूट पर्वत पर आये। वहाँ के पूर्व शिखर पर सम्राट ने काकिणी-रत्न से इस प्रकार लिखा,—

"इस अवसर्पिणी काल के तीसरे आरे के प्रान्त भाग मे, मैं भरत नाम का प्रथम चक्रवर्ती हुआ हूँ। मैने विजय प्राप्त की है। अव मेरा कोई शत्रु नही रहा।"

इसके वाद चक्रवर्ती महाराज वैताढ्य पर्वत पर गये और नमि-विनमि नाम के विद्याधरो के अधिपति को आधीन किया। विनमि ने अपनी अत्यन्त सुन्दरी युवती कन्या 'सुभद्रा' को चक्रवर्ती महाराज को भेट की। यह चक्रवर्ती की 'स्त्री-रत्न' कहलाई। नमि-विनमि ने अपने-अपने पुत्र को राज्य दे कर अरिहत भगवान् ऋषभदेव स्वामी के पास जा कर निर्ग्रंथ दीक्षा स्वीकार की।

चक्रवर्ती की सेना वहाँ से लौट कर गंगा महानदी के निकट आई और गगा देवी को अपने अधिकार मे की। इसके वाद खडप्रपाता गूफा साधी।

इसके वाद महाराजा ने 'नव निधान' की साधना की। नव निधान ये हैं,—

१ नैसर्ग—इससे ग्राम नगर आदि की रचना होती है।

२ पाडुक—इससे नाप-तोल आदि के गणित तथा धान्य और बीज की प्राप्ति होती है।

३ पिंगल निधि—इसमे स्त्री, पुरुष और अश्वादि के आभूषण की विधि ज्ञात होती है।

४ सर्वरत्नक निधि—इससे सभी प्रकार के रत्नो की उत्पत्ति होती है।

५ महापद्म निधि—सभी प्रकार के सुन्दर वस्त्रो की प्राप्ति होती है।
६ काल निधि—इससे भूत-भविष्य काल का ज्ञान और शिल्प-कृपि आदि का ज्ञान होता है।
७ महाकाल निधि—इससे स्वर्ण-रत्नादि की खानो की उत्पत्ति होती है।
८ माणव निधि—शस्त्र, युद्ध-नीति और दंड-नीति की प्राप्ति होती है।
९ 　निधि—काव्य, नाट्य और वादित्रादि निष्पन्न होते हैं।

ये नौ निधि चक्रवर्ती के अधीन हुए। ये निधान पुस्तक रूप मे, दृढ एव सुरक्षित पेटी मे रहते हैं। देव इनकी रक्षा करते हैं। इसका स्थान मागध तीर्थ है। किंतु चक्रवर्ती के पुण्योदय से उन्हे प्राप्त हुए। ये अक्षय—सदाकाल भरपूर रहने वाले हैं।

इस प्रकार सर्वत्र अपना शासन चला कर महाराजाधिराज भरतेश्वर, अयोध्या नगरी मे पधारे। बडा-भारी उत्सव मनाया गया और चक्रवर्ती का बडे भारी आडम्बर से महाराज्याभिषेक किया।

चक्रवर्ती की ऋद्धि

चक्रवर्ती महाराजाधिराज की ऋद्धि इस प्रकार थी। उनकी आयुधशाला मे सर्वोत्तम आयुध—१ चक्र-रत्न २ छत्र-रत्न ३ दण्ड-रत्न और ४ खड्ग रत्न थे। उनके रत्नागार (लक्ष्मीभंडार) मे—१ काकिणी-रत्न २ चर्म-रत्न ३ मणि-रत्न और ४ नौ निधान थे। उन्ही के नगर मे उत्पन्न १ सेनापति-रत्न २ गाथापति-रत्न ३ पुरोहित-रत्न और ४ वार्द्धकी-रत्न—ये चार रत्न थे। वैताढ्य पर्वत के मूल मे उत्पन्न गज-रत्न हस्तीशाला मे और अश्व-रत्न अश्वशाला मे तथा विद्याधर की उत्तम श्रेणी मे उत्पन्न स्त्री-रत्न उनके विशाल अन्त पुर मे था।

सोलह हजार देव उनकी सेवा मे थे। बत्तीस हजार राजा उनके अधीन थे। उनकी भोजनशाला के लिए ३६३ प्रधान रसोइदार थे। इनमे से प्रत्येक को रसोई बनाने का अवसर वर्षभर मे एक दिन ही आता था। उनकी सेना मे चोरासी लाख हाथी, चोरासी लाख घोडे, चोरासी लाख रथ, छियानवे करोड पदाति सैनिक थे।

राज्याभिपेक के वाद भरतेश्वर अपने सम्वन्धियो से मिले। उस समय वे अपनी वहन सुन्दरी के दुर्बल शरीर को देख कर दुखित हुए। राजभगिनी सुन्दरी को जब दीक्षा

की अनुमति नही मिली, तो वह आयविल तप करने लगी। इससे उसका शरीर दुर्वल हो गया था। जव महाराज ने उसकी यह दशा देखी, तो उन्होने उसके वैराग्य से प्रभावित हो कर दीक्षा लेने की आज्ञा प्रदान कर दी।

भ० ऋषभदेवजी ग्रामानुग्राम विहार करते हुए अष्टापद पर्वत पर पधारे। राज-भगिनी सुन्दरी के निष्क्रमण का समय आ गया। भरतेश्वर ने उन्हे भगवान् के समीप दीक्षा दिलाई।

९८ पुत्रों को भगवान् का उपदेश और दी ।

महाराजाधिराज भरतेश्वर ने छ खण्ड साध लिया और राज्याभिषेक भी हो चुका। किन्तु उनके खुद के वन्धु (जो पृथक्-पृथक् भूपति थे) राज्याभिपेक के समय उपस्थित नही हुए और अपने को चक्रवर्ती के आज्ञाकारी नही माना। हजारो योजन दूर के दूसरे देश के राजा और देव तक आज्ञाकारी रहे और अपने ही छोटे भाई राजा, विलकुल स्वतन्त्र रहे, तो वे पूर्णरूप से चक्रवर्ती सम्राट नही हो सकते। उनके चक्रवर्तीपन मे न्यूनता रह जाती थी। अतएव उन्होने अपने सभी वन्धु राजाओ के पास दूत भेज कर आज्ञा मे रहने की स्वीकृति मँगवाई। राजदूतो से भरत नरेश का अभिप्राय जान कर वे सभी बोले—

"पिताश्री ने भरत को और हम सभी को पृथक्-पृथक् राज्य दे दिया है। भरत अपना राज्य सम्भाले और हम अपना राज्य सम्भाले। हम भरत की आज्ञा क्यो मानने लगे ? भरत ने हमे क्या दिया, जो वह हमसे अपनी आज्ञा मनवाना चाहता है ? यह उसका अन्याय है। अभी पिताश्री विद्यमान है। हम उनसे निवेदन करेगे कि भरत सत्ता के मद और राज्य-तृष्णा के जोर से हमे दवाता है और अपने सेवक वनाना चाहता है।"

राजदूतो को रवाना कर के वे भगवान् आदि जिनेश्वर की सेवा मे पहुँचे। वन्दन-नमस्कार करने के वाद निवेदन किया—

"स्वामिन् ! आपने योग्यता के अनुसार भरत को और हम सभी को पृथक्-पृथक् राज्य दे कर स्वतन्त्र कर दिया था। हम सभी तो आपके दिये हुए राज्य मे ही सतोष कर के चला रहे हैं, किंतु हमारे ज्येष्ठ-वन्धु भरत की तृष्णा वहुत वढ गई है। उसने अपने राज्य का वहुत ही लम्वा-चौडा विस्तार कर लिया और अब हमारे राज्य भी अपने अधिकार मे करना चाहता है। उसने हमारे पास अपने दूत भेज कर यह माँग की है कि

"तुम या तो मेरी सेवा करो या राज्य छोड कर हट जाओ। इस प्रकार भरत हमारे साथ अन्याय एव अत्याचार कर रहा है—प्रभो!"

"नाथ! सेवा वही करता है, जिसे सेव्य से कुछ पाने की आशा हो, अथवा भय हो। हमे न तो भरत से कुछ लेना है और न भय ही है। ऐसी दशा मे युद्ध का ही मार्ग शेष रह जाता है। हम उनसे युद्ध करेगे, यही हमारा निश्चय है। फिर भी कुछ करने के पूर्व श्रीचरणो मे निवेदन करने के लिए उपस्थित हुए हैं। यदि कोई शान्ति का मार्ग हो, तो बतलाइये कृपालु! जिससे रक्तपात का अवसर नही आवे।"

भगवत ने फरमाया—"आयुष्यमानो! मनुष्य मे वीरत्व का होना आवश्यक है। जिनके वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम होता है, वही वीरत्व रख सकता है। परन्तु शक्ति का सदुपयोग ही आत्मा को परम सुखी बनाता है। धन, लक्ष्मी, राज्य, स्त्री, कुटुम्ब, परिवार और बल तथा अधिकार के लिए वीरत्व का किया हुआ उपयोग, आत्मा को दु खी बना देता है और इन सभी प्रकार की वासनाओ और दु खो के मूल, लोभ तथा उसके साथी क्रोध, मान और माया रूपी दुर्वृति को नष्ट करने मे लगाया हुआ वीरत्व, आत्मा को वह अनन्त आत्म-ऋद्धि देता है कि उसके आगे भरत की नाशवान् ऋद्धि किस गिनती मे है?"

"भव्यो! ऐसी ऋद्धि तो क्या, इससे भी अधिक देव-ऋद्धि तुमने पूर्वभवो मे प्राप्त कर ली और पल्योपम सागरोपम तक उसका उपभोग किया। उस देव-ऋद्धि के सामने मनुष्यो की ऋद्धि किस हिसाब मे है? इस ऋद्धि मे रचा-पचा मनुष्य नीच गति मे जा कर असख्य काल तक दु ख भोगता रहता है। इसलिए मैंने इस पौद्गलिक ऋद्धि का त्याग कर के मोक्षमार्ग अपनाया। इसलिए मेरा तो यही कहना है कि तुम इस झझट को छोडो और आतमधनी बन जाओ।"

"भरत को जो ऋद्धि प्राप्त हुई, वह अकारण नही है। उसके पूर्व-भव के प्रबल पुण्य का उदय है। वह इस अवसर्पिणी काल का प्रथम चक्रवर्ती है। इस प्रकार की ऋद्धि भी अपने समय के एक ही पुरुष को प्राप्त होती है। वह चक्रवर्ती होगा। किन्तु तुम्हारे त्याग के प्रभाव से वह तुम्हारे चरणो मे झुकेगा। तुम्हे सेवक बनाने वाला महाबली भरत, तुम्हारी वन्दना करेगा। महत्ता त्याग की है, भोग की नही। यदि तुम्हे जन्म, जरा, रोग, शोक, सयोग, वियोग और मृत्यु से बचना है और परम आत्मानन्द प्राप्त करना है, तो अपने भीतर रहे हुए राग-द्वेष, विषय-कषाय एव पौद्गलिक दृष्टि को त्याग कर द्रव्य-भाव

निर्ग्रंथ वनो। यही तुम सब के लिए हितकर है। इसीसे परमात्म पद की प्राप्ति होती है।"

"भव्यो ! समझो, समझने और सम्यग्-धर्म की आराधना करने का ऐसा उत्तम अवसर बार-वार नही आता। यदि इस बार चुक गये, तो फिर स्वाधीनता चली जायगी। उठो और प्रमाद छोड कर सावधान हो जाओ।"

भगवान् आदि जिनेश्वर का उपदेश ९८ ही बान्धवो पर असर कर गया। उनके मोह का नशा हट गया और ज्ञान-चक्षु खुल गये। वे भगवान् के पास सर्वसयमी निर्ग्रंथ बन गए।

बाहु ी नहीं ने

अपने ९८ भाइयो का राज्य स्वाधीन हो जाने पर सेनापति ने सम्राट से निवेदन किया—

"महाराज ! चक्र-रत्न अव तक आयुधशाला मे नही आया।"

"क्यो मन्त्रीजी ! क्या वात है ? मेरे भाइयो का राज्य भी अब स्वतन्त्र नही रहा, तो अव क्या रुकावट हो गई ? ऐसा कौन वीर शेष रह गया, जिसने अब तक अपने को स्वतन्त्र बनाये रखा है ?"—सम्राट ने प्रधान-मन्त्री से पूछा।

"स्वामिन ! और तो कोई नही, केवल आपके लघु-बन्धु श्री बाहुबलीजी ही बचे हैं, जो आपकी अधीनता स्वीकार करना नही चाहते। वे हैं भी महाबली और बलवानो के गर्व को नष्ट करने वाले। जिस प्रकार एक वज्र के सामने अन्य सभी अस्त्र नगण्य हैं, उमी प्रकार वाहुवलीजी के आगे सभी राजाओ का बल निरुपाय है। जब तक आप उन्हे नही जीत लेते, तब तक विजय अधूरी रहेगी"—प्रधान-मन्त्री ने नम्रतापूर्वक निवेदन किया।

भरतेश्वर विचार मे पड गये। उन्होने कहा—"एक ओर छोटा भाई आज्ञा नही मानता, यह भी लज्जा की बात है, दूसरी ओर भाई से युद्ध करना भी अच्छा नही है। जिसकी आज्ञा अपने घर मे ही नही चलती, उसकी आज्ञा वाहर कैसे चलेगी ? एक ओर छोटे भाई के अविनय को सहन नही करना भी बुरा है, दूसरी ओर गर्वोन्मत्त को शिक्षा देना भी राज-धर्म है। मेरे सामने एक उलझन खडी हो गई। क्या किया जाय ?"

"महाराज ! चिन्ता छोड कर श्री वाहुवलीजी के पास दूत भेजिए। वे ज्येष्ठ-वन्धु की आज्ञा मान ले, तो ठीक ही है, अन्यथा उन्हे शिक्षा करनी ही पडेगी। ऐसा करने

मे लोकापवाद नही रहेगा"—मन्त्री ने कहा।

महाराज ने मन्त्री का परामर्श मान कर एक सन्देशवाहक, वाहुवलीजी के पास भेजा। राजदूत तक्षशिला नगरी मे आ कर राजभवन मे गया और श्री वाहुवलीजी को प्रणाम किया। बाहुवलीजी राज-सभा मे अनेक राजाओ और मन्त्रियो के साथ बैठे थे। श्री बाहुबलीजी ने राजदूत से भरत महाराज और विनितावासियो की कुशल-क्षेम के समाचार पूछे। राजदूत ने भरत महाराज की छ खड साधना, विनिता मे हुए राज्याभिषेक और कुशल-मगल के समाचार निवेदन करने के बाद नम्रतापूर्वक इस प्रकार कहा,—

"महाराज! जिनकी सेवा मे नौ निधान और चौदह रत्न है। हजारो देव जिनकी सेवा कर रहे हैं और छ खड जिनकी आज्ञा शिरोधार्य कर रहा है उन परम ऐश्वर्यशाली महाराजाधिराज के आनन्द और क्षेम का तो कहना ही क्या? उनकी आज्ञा मे चलने वालो के यहाँ भी सदा सुख-शान्ति रहती है। भरतेश्वर को इतनी उत्कृष्ट ऋद्धि प्राप्त हुई है, फिर भी उन्हे सुख का अनुभव नही हुआ। जिस गृहपति के घर आनन्दोत्सव हो और कुटुम्ब-परिवार के दूर-दूर के लोग भी जिस उत्सव मे सम्मिलित हो, उस मगल प्रसग पर उसका भाई ही सम्मिलित नही हो कर पृथक् रह जाय, तो उस गृहपति को सुखानुभव कैसे होगा—महाराज?"

"लगातार साठ हजार वर्ष तक भरतेश्वर ने छह खड की साधना की और उसकी सिद्धि के उपलक्ष मे राज्याभिषेक का महोत्सव किया। उस उत्सव मे दूर-दूर तक के लोग आये, देव और इन्द्र तक आये, किन्तु उनके अपने भाई ही उसमे सम्मिलित नही हुए। वे आप सभी की प्रतीक्षा कर रहे थे। आपके नही आने से श्री भरत महाराज के मन मे अशान्ति रहना स्वाभाविक ही है। महाराजा ने अपने भाइयो को बुलाने के लिए दूत भेजे, किंतु कोई नही आया और आपके अतिरिक्त सभी भाइयो ने भगवान् की सेवा मे जा कर सर्वविरति स्वीकार कर ली। उनकी ओर से भरत महाराज, बन्धु-प्रेम से वञ्चित रह गये। अव आप एक ही भाई उनके है, जिनसे वे भ्रातृ-प्रेम की आशा रखते हैं। आप ही उनका वन्धु-प्रेम सफल कर सकते है। इसलिए आप वहाँ पधार कर उनके बन्धु-प्रेम को सफल करने का कष्ट करे।"

"महाराजाधिराज भरतेश्वर आपके ज्येष्ठ वन्धु है। वे आपके लिए पूज्य हैं—सेव्य हैं। आपका कर्त्तव्य है कि आप विना वुलाये ही उनकी सेवा मे उपस्थित हो कर उनके आज्ञाकारी वने। आपके नही पधारने और चक्रवर्ती महाराजा की आज्ञा को स्वीकार नहीं

करने के अविनय को महाराजाधिराज तो सहन कर लेते है, किंतु जनता पर इसका बुरा प्रभाव पडता है। निन्दक लोगो को निन्दा करने का अवसर प्राप्त होता है और उस निन्दा रूपी कीचड के छिटे जब भरतेश्वर तक पहुँचते हैं, तो उन्हे भी इससे खेद होता है। आपके पधारने मे बुराई का यह छिद्र वन्द हो जायगा और वन्धु-प्रेम की धारा अक्षुण्ण रहेगी।"

राजदूत की वात सुन कर वाहुवलीजी वोले,—

"दूत! तुम योग्य हो। तुमने अपना प्रयोजन वडी योग्यता के साथ निवेदन किया। मैं भी मानता हूँ कि ज्येष्ठ-वन्धु भरत, पिता के तुल्य सेव्य है। वे हमारा वन्धु-प्रेम चाहते हैं, यह भी उनके योग्य एव उचित है। किन्तु वडे भाई भरत, वडे-वडे राजा-महाराजाओ और देवो से सेवित हैं। महान् ऋद्धि के स्वामी है। वे हमारे जैसे अल्प ऋद्धि वाले छोटे भाई के आने से लज्जित नही हो जाय, इसी विचार से मैं नही आया।"

'ज्येष्ठ-वन्धु, दूसरो के राज्य को अपने आधीन करने मे साठ हजार वर्ष तक लगे रहे और अपने छोटे भाइयो के छोटे-छोटे राज्य को अपने अधिकार मे करने के लिए ही उन्होने सभी भाइयो के पास दूत भेजे। यदि उनके मन मे वन्धु-प्रेम होता, तो वे अपने भाइयो के पास दूत भेज कर राज्य अथवा युद्ध की इच्छा क्यो प्रकट करते?"

"मेरे अन्य छोटे भाइयो ने वडे भाई से युद्ध नही करने की शुभ भावना से ही अपना राज्य त्याग कर पिताश्री का अनुसरण किया। वे महान् सत्त्ववत थे। तुम्हारे स्वामी ने उन छोटे भाइयो द्वारा त्यागे हुए राज्य को अपने अधिकार मे ले कर, जिस लोभवृत्ति का परिचय दिया, यह उनके वन्धु-प्रेम का प्रमाण है, या राज्य-लोभ का?"

"चतुर दूत! भरतेश्वर ने क्या वैसे ही शुभ भावो से तुझे मेरे पास भेजा है? अपने वन्धु-प्रेम के छल से वे मुझ से भी राज्य छिनना चाहते है? किन्तु यहाँ उनकी वह चाल सफल नही होगी। मैं उन छोटे वन्धुओ के समान राज्य का त्याग कर चला जाने वाला नही हूँ।"

"मै मानता हूँ कि गुरुजन—ज्येष्ठ व्यक्ति सेव्य हैं। किंतु तव तक ही, जब तक कि वे अपने गुरुत्व को धारण किये रहे। मन मे स्वार्थ की मलिनता नही आने दे। गुणसम्पन्न गुरुजन ही पूज्य है। जो गुरुपद की ओट मे स्वार्थ साधना कर के गुरुत्व के गुणो से रहित होते है, उन्हे आदर-सत्कार देना तो लज्जास्पद है, विवेकहीनता है। मैं ऐसी विवेकहीनता से वचना चाहता हूँ। जिनके मन मे कार्य-अकार्य, उचितानुचित और सद्गुणो को स्थान नही हो—ऐसे नामधारी गुरुजन तो त्यागने लायक होते हैं।"

"यदि मैं ज्येष्ठभ्राता के नाते उनकी आज्ञा का पालन करूँ, तो भी वह भ्रातृ-सम्बन्ध की अपेक्षा नही रह कर राज्य के कारण स्वामी-सेवक सम्बन्ध ही लोक-प्रसिद्ध रहेगा।"

"मुझे मालूम है कि भरत को इन्द्र भी अपना आधा आसन दे कर सम्मान करता है, किन्तु यह तो पिताश्री का ज्येष्ठ पुत्र होने के कारण है। इसलिए मेरे मन पर इन वातो का कोई प्रभाव नही पडता। मैं ज्येष्ठ-बन्धु के मन मे प्रेम नही लोभ का वास देख रहा हूँ। इसलिए मैं तुम्हारी बात स्वीकार नही करता।"

श्री बाहुबलीजी की बात सुन कर 'सुवेग' ने परिणाम का बोध कराते हुए कहा,

"महाराज ! आपके विचार वास्तविकता से दूर हैं। महाराजाधिराज भरतेश्वर की आत्मा महान् है और आपका भ्रम निर्मूल है। आप प्रत्यक्ष देख रहे हैं कि हजारो राजाओ ने उनकी अधीनता स्वीकार कर ली, तो उनके राज्य उनके पास ही रहे। किसी के राज्य से किसी को हटाया नही गया। किरातो ने युद्ध किया, तो उन्हे क्षति उठानी पडी और अन्त मे उन्हे आज्ञाधीन होना ही पडा। ज्यो ही वे शस्त्र डाल कर शरण मे आये, त्यो ही सम्राट ने उनका सम्मान किया और उन्हे अभयदान दे कर बिदा किया। अतएव आप भ्रम को त्याग कर ज्येष्ठ-बन्धु की आज्ञा शिरोधार्य करे। यदि आपने मेरे निवेदन पर योग्य निर्णय नही किया, तो आपके लिए हितकारी नही होगा। आपको यह भी सोच लेना चाहिए कि आपके नम्र नही बनने पर सम्राट के लाखो हाथी, घोडे, रथ और करोडो पदाति सेना के सामने आपकी और आपके राज्य की क्या दशा होगी ? मनुष्य को शाति के साथ अच्छी तरह से आगे-पीछे का विचार करने के वाद ही किसी निर्णय पर पहुँचना चाहिए। आवेश मे आ कर किया हुआ साहस दु खदायक हो जाता है।"

राजदूत की बात की अवगणना करते हुए श्री बाहुवली ने कहा, —

"सुवेग ! तुम अपने कर्त्तव्य का पालन करते हो। तुमने अपने स्वामी का बाहरी उज्ज्वल पक्ष वता कर अपने कर्त्तव्य का पालन किया। किन्तु मैं भरत को वैसा नही मानता। मेरे सामने ९८ वन्धुओ के राज्य को आत्मसात् कर लेने का ऐसा महान् उदाहरण है कि इसके आगे तेरे स्वामी की सदाशयता टिक नही सकती और जो तू उसकी सैन्य-शक्ति का वर्णन कर के मुझे डराना चाहता है, तो यह तेरी भूल है। यदि भरत के पास सेना का महासागर है, तो मैं स्वय उस सागर में वडवानल (समुद्र के भीतर रहने वाली

अग्नि) हूँ। मुझे भरत की सैन्य-शक्ति का कोई भय नही है। मैंने बचपन मे इस भरत को टाग पकड कर आकाश मे ऊँचा फेंक दिया था और फिर उसे एक पुष्प के समान हाथो मे झेल लिया था, जिससे इसके शरीर को आघात नही लगे। किन्तु विजय के नशे मे वह पिछली बात भूल गया है और चाटुकारो ने उसे अभिमान के शिखर पर चढा दिया है। ठीक है, तुम जाओ। अपने स्वामी से कहो कि मैं उसकी इच्छा के अनुकूल होना नही चाहता।"

श्री बाहुबलीजी और राजदूत की बाते सुन कर सभा मे उपस्थित राजकुमार, राजा, सेनापति आदि क्रोधित हुए। उन्हे राजदूत की बाते तुच्छ, विवेकशून्य, नरेश और देश का अपमान करने वाली और असहनीय लगी। वे राजदूत को दण्ड देने के लिए तय्यार हो गए। सुवेग, राज-सभा से चल कर अपने रथ के पास आया और रथ पर चढ कर विनिता की ओर चल दिया।

भरतेश्वर के दूत की बात तक्षशिला की जनता मे फैली, तो सर्वत्र हलचल मच गई। राज्य की ओर से किसी प्रकार की सूचना नही होने पर भी लोग युद्ध की तय्यारी करने लगे। जब सुवेग अपने रथ पर सवार हो कर, विनिता की ओर लौटा जा रहा था, तो उसने मार्ग मे लोगो की हलचल और युद्ध की तय्यारी देखी। नगरजन ही नही, गाँवो के किसान भी क्रोधित हो कर अपने आप युद्ध की तय्यारी करते दिखाई दिये। उसे विचार हुआ कि बाहुबली को छेडना भरतेश्वर को भारी पड सकता है।'

सुवेग ने विनिता पहुँच कर महाराजाधिराज भरतेश्वर को अपनी असफलता के समाचार सुनाये और कहा—"बाहुबलीजी भी आपके समान महाबली है। वे आपकी आज्ञा मे रहना नही चाहते और युद्ध करने को तय्यार हैं। उनकी सभा के सामन्त तथा राजकुमार, प्रचण्ड योद्धा हैं और वे मेरी बात सुनते ही आगबबूला हो गए। वहाँ की प्रजा भी अपने आप ही आप पर क्रुद्ध हो कर युद्ध की तय्यारी करने लग गई है। यह स्थिति है महाराज! वहाँ की। अब आप जैसा योग्य समझें वैसा करे।"

राजदूत की बात सुन कर भरतेश्वर प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा—"मैं जानता हूँ सुवेग! बाहुबली के समान शक्तिशाली दूसरा कोई मनुष्य नही है। वह सुर-असुर से भी नहीं डरता। त्रिलोकनाथ तीर्थंकर का पुत्र और मेरा भाई महाबली हो, यह तो मेरे लिए प्रसन्नता की बात है। मुझे गौरव है कि मेरा छोटा भाई अद्वितीय महाबली है। मैं उसके बलाभिमान को सहन करता हुआ उसका हित चाहता हूँ। उससे मेरी शोभा है, क्योंकि

वह मेरा भाई है। मै उसके दुर्विनय की उपेक्षा करता हूँ। राज्य तो प्राप्त हो सकता है, किंतु ऐसा भाई मिलना अशक्य है। मेरे ६८ भाई चले गये, अब यह एक ही रहा है। इसके साथ लडाई करने की मेरी इच्छा नही है। अव मैं इस एकमात्र भाई का मनमुटाव सहन नही कर सकूँगा।" उन्होने मन्त्रियो की ओर देख कर पूछा,— "बोलो, तुम क्या कहना चाहते हो ?"

बाहुबली के अविनय और सम्राट की क्षमा से उत्तेजित हो कर सेनापति सुषेन बोला—

"भगवान् आदिनाथ के पुत्र महाराजाधिराज क्षमा करे, यह तो उचित हैं, किंतु करुणा के पात्र पर क्षमा हो, वही उचित है। जो मनुष्य, जिस राजा के गाँव मे बसता है, वह भी उस राजा के अधीन होता है, तव बाहुवलीजी तो हमारे एक देश का उपभोग कर रहे है, उन्हे तो अधीन होना ही चाहिए। जव वे ज्येष्ठ-बन्धु के नाते और वचनमात्र से भी अधीनता स्वीकार नही करते और अपने बल का घमण्ड रख कर अवज्ञा करते हैं, तव वे क्षमा के पात्र नही रहते—महाराज!"

"सम्राट! वह शत्रु भी अच्छा है, जो अपने प्रताप मे वृद्धि करता है। किन्तु वह भाई तो बुरा ही है जो अपने भाई के प्रताप एव प्रतिष्ठा को हानि पहुँचाता है। राजा, महाराजा और सम्राट, अपने भण्डार, सेना, पुत्र, मित्र और शरीर से भी अपने प्रताप को अधिक महत्व देते है। अपने तेज की रक्षा के लिए वे अपने प्राणो की भी बाजी लगा देते हैं, क्योकि प्रताप ही उनका जीवन होता है। आपको राज्य की कोई कमी नही थी, फिर छह-खण्ड साधने का कष्ट क्यो उठाया ? केवल प्रताप के लिए ही। चक्र-रत्न आने पर भी यदि आप खण्ड साधना नही करते, तो आपके प्रताप मे क्षति आती। वास्तव मे वह सर्वोत्तम अस्त्र-रत्न, किसी ऐसे ही भाग्यशाली को प्राप्त होता है, जो महान् प्रतापी हो, सत्वशाली हो और उसका प्राप्त होना सार्थक वना सकता हो।"

"स्वामिन्! जिस सती का शील एक वार खण्डित हो जाय, तो वह असती ही मानी जाती है, उसी प्रकार जिसका एक वार प्रभाव खण्डित हो जाता है, तो वह खण्डित ही रहता है।"

"गृहस्थो मे पिता की सम्पत्ति मे भाइयो का हिस्सा होता है। उन भाइयो मे कोई तेजस्वी होता है, तो दूसरे भाई उसके तेज का आदर और रक्षा करते है, उपेक्षा नही करते, तव आप जैसे छह-खण्ड के विजेता का अपने घर मे ही विजय नही हो, तो यह समुद्र तिरने पर भी एक छोटे खड्डे मे डूव मरने के समान होगा—देव!"

"क्या कही सुना भी है कि चक्रवर्ती सम्राट का प्रतिस्पर्द्धी हो कर कोई राज्य का उपभोग कर सकता है ? महाराज ! आप मेरी प्रार्थना नही माने, तो आपकी इच्छा, परन्तु आपने खण्ड-साधना के समय यह प्रतिज्ञा की थी कि "मैं अपने सभी शत्रुओ को जीत कर, अपनी आज्ञा के अधीन वनाने के वाद राजधानी मे प्रवेश करूँगा।" उस प्रतिज्ञा का क्या होगा—महाराज ! और चक्र-रत्न जो अव तक नगर के वाहर ही रहा है, उसे कैसे स्थानासीन करेगे—प्रभु ! मैं तो निवेदन करूँगा कि भाई के रूप मे शत्रु वने हुए वाहुवली की उपेक्षा करना उचित नही है। फिर आप दूसरे मन्त्रियो से भी पूछ लीजिए।"

युद्ध का आयोजन और माप्ति

सेनाधिपति की वाते सुनने के वाद सम्राट ने प्रधान-मन्त्री वाचस्पति की ओर देखा। उन्होने भी सेनापति की वात का समर्थन किया और विशेष मे कहा—"महाराज ! अव युद्ध की तय्यारी का आदेश दीजिए।"

महाराज ने आज्ञा प्रदान कर दी। शुभ मुहूर्त मे प्रस्थान किया और वहली देश मे आ कर सीमान्त पर पडाव डाल दिया।

भरतेश्वर की चढाई के समाचार पा कर वाहुवलीजी ने भी तय्यारी की और सीमान्त पर आ कर पडाव लगाया। दूसरे दिन चारण-भाटो ने दोनो नरेशो को युद्ध के लिए निमन्त्रण दिया। वाहुवलीजी ने अपनी युद्ध-परिषद् के राजाओ के परामर्श से अपने पुत्र राजकुमार सिंहरथ को सेनापति घोषित किया और भरतेश्वर ने सुषेण सेनापति को युद्ध करने की आज्ञा प्रदान की। भरतेश्वर ने सैनिको को सम्बोधित करते हुए कहा,—

"योद्धागण ! आप मेरे छोटे भाई से युद्ध करने जा रहे है। आप जिस प्रकार मेरी आज्ञा का पालन करते हैं, उसी प्रकार सेनापति की आज्ञा का पालन करे और युद्ध मे विजय प्राप्त करे। आप यह ध्यान मे रखें कि जिसके साथ आप युद्ध करने जा रहे हैं, वह साधारण सेना नही है। वाहुवली स्वय अद्वितीय महावली है और उसके सेनापति, सामन्त तथा सैनिक सभी शक्तिशाली हैं। किरातो के साथ हुए युद्ध से भी यह युद्ध विशेष उग्र हो सकता है। मैं आपको विपक्ष का वल वढा-चढ़ा कर नही वता रहा हूँ। यह वास्तविक स्थिति है। अतएव आपको किसी प्रकार का प्रमाद और असावधानी नही रखनी चाहिए और प्राप्त उत्तरदायित्व का प्राणपण से पालन करना चाहिए।"

"मैं मानता हूँ कि आप सभी शूरमा हैं। आपको जीवन से भी अधिक विजय प्रिय है। आपके सेनापति महान् योद्धा और रण-नीति पारगत हैं। इनकी अधीनता मे लडने वाले सदा विजयी ही होते है। विपक्ष की अपेक्षा अपनी सेना भी विशाल है और शस्त्रास्त्र भी उच्चकोटि के हैं। इस प्रकार की विशिष्टता का फल तभी प्राप्त होगा, जब कि आप सभी, सदा सावधान रह कर अपने कर्त्तव्य का पालन करने मे जी-जान से जुट जावे।"

"वीर सैनिको! आपका पराक्रम निर्णायक होगा। इसी पर साठ हजार वर्ष के पराक्रम से प्राप्त विजयश्री का स्थायित्व रहा हुआ है। यह अन्तिम युद्ध होगा और इसमे आपकी विजय निश्चित् है। साहस के साथ प्रस्थान करो और विजयी बनो। मैं आप सभी की मगल कामना करता हुआ आपके साथ हूँ।"

"महाराजाधिराज की जय! हम अवश्य विजयी होगे। हमारा शौर्य शत्रु-पक्ष को परास्त कर के रहेगा। चक्रवर्ती सम्राट भरतेश्वर की जय। महाबाहु सेनापति सुसेन की जय।"

विशालतम सेना के जयघोष से आकाश गुंज उठा। दिशाएँ कम्पायमान हो गई और सारी प्रकृति ही भयाक्रान्त हो गई। वातावरण की विक्षुब्धता ने देवो को आकर्षित किया। उन्होने भ० ऋषभदेव के पुत्रो मे युद्ध और लाखो मनुष्यो के रक्तपात होने की तय्यारी देखी। वे तत्काल युद्ध-भूमि मे आये और युद्ध प्रारंभ होने के क्षणो मे ही दोनो सेनाओ के मध्य मे खडे रह कर कहा—

"हम दोनो पक्षो से मिल कर युद्धबन्दी का प्रयत्न करते हैं, तब तक तुम ठहरो और प्रतीक्षा करो। तुम्हे भ० ऋषभदेव की आण है।"

भगवान् की आज्ञा देने से दोनो पक्ष स्तब्ध हो गये। उनका उत्साह—युद्धोन्माद ठण्डा हो गया। प्रहार करने के लिए उठाए हुए अस्त्र नीचे झुक गए।

× देवो ने भरतेश्वर से निवेदन किया—

"नरदेव! आप जैसे योग्य एव आदर्श ऋषभ-पुत्रो को यह विश्व-सहार कैसे भाया? अहिंसा-धर्म के परम प्रवर्तक भ० आदिनाथ के पुत्रो और भरत-क्षेत्र के आदि नरेशो के हृदय मे इतनी उत्कृष्ट हिंसा? करोडो मनुष्यो का सहार कर पृथ्वी, नदी-नालो और सरोवरो को रक्त से भरने की उत्कृष्ट भावना? यह क्या अनर्थ कर रहे हैं—

× 'त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र' मे देवो के आने का उल्लेख है। अन्य स्थलो पर इन्द्र का आगमन बताया है। यह मतान्तर है।

जिनेश्वर भगवान् के परमभक्त श्रमणोपासक ? आप सच्चे जिनोपासक हैं या यह सब दभ ही है ? अरे, आप इस जमती हुई राजनीति मे ही युद्ध का वीज वोते हैं, तो भविष्य की राज्य-परम्परा कैसी होगी ? कुछ सोचा भी है ?"

देवो की वात सुन कर भरतेश्वर ने कहा--

'आपका कहना यथार्थ है। आप जैसे उत्तम देव ही विश्वहित की भावना रख कर सद्प्रवृत्ति करते हैं। दूसरे तो पक्ष, विपक्ष के हैं, तथा लडाने-भिडाने और खेल देखने वाले हैं।"

"हे पवित्र आशय वाले देवो ! मैं युद्ध-प्रिय नही हूँ। मैं दूसरे किसी से भी युद्ध करना नही चाहता, तो अपने छोटे भाई से युद्ध करना कैसे चाहूँगा ? मुझे राज्य-लोभ भी नही है, किन्तु करूँ क्या ? यह चक्र-रत्न स्थानासीन नही होता। इसी के लिए मुझे विवश हो कर यह मार्ग अपनाना पडा। यदि मैं ऐसा नही करता हूँ, तो चक्रवर्ती की परम्परा विगडती है, अनहोनी घटना होती है। इस समय मै उत्साहरहित हो कर जन-संहार की चिन्तायुक्त इस अप्रिय प्रवृत्ति मे लगा हूँ।"

"यह कोई नियति का ही प्रभाव लगता है, अन्यथा वाहुवली भी ऐसा नही था। वह मुझे पिता के समान मानता था। मेरे साठ हजार वर्ष तक खडसाधना मे लगे रहने से उसका स्नेह क्षीण हो कर विपरीत भावना वनी है। अव आप ही कोई मार्ग निकाले।"

"नरेन्द्र ! हम वाहुवलीजी से मिलते हैं। यदि समाधान का कोई मार्ग निकले, तो ठीक ही है। अन्यथा इस भीषण युद्ध को त्याग कर आप दोनो भाई स्वय ही नि शस्त्र युद्ध कर के निर्णय कर ले। क्या आप यह वात मानेगे ?"

—"हाँ, मुझे स्वीकार है"—भरतेश्वर ने कहा।

देव, वाहुवलीजी के पास आये। उन्हे भी समझाया। वे नही माने। किन्तु भरतेश्वर के साथ स्वय युद्ध कर के निर्णय करने और सैनिको को युद्ध से पृथक् ही रखने की वात उन्होने भी स्वीकार कर ली। भीषण रक्तपात टल गया।

भरतेश्वर के बल का रिचय

दोनो ओर युद्धवन्दी की घोषणा हो गई। दोनो ओर के सैनिको को यह समझौता अच्छा नहीं लगा। वे युद्ध कर के विजय प्राप्त करने के लिए तरस रहे थे। उन्होने युद्ध रोकने का प्रयत्न करने वालो को गालियाँ दी। रण-क्षेत्र से उनका पलटना कठिन हो गया।

कोई कहता था—"जब युद्ध नही करना था, तो चढाई कर के आये ही क्यो ?

दूसरा कहता था—किसी कायर मन्त्री ने महाराज को ऐसी विपरीत सलाह दी होगी।"

तीसरा कहता था—"अब इन शस्त्रो को समुद्र मे डूबो दो।"

चौथे ने हताश हो कर कहा—"हा, मेरी सारी आशा ही नष्ट हो गई। आज अपना पराक्रम दिखाने का अवसर आ गया था, वह दुर्दैव ने छिन लिया।"

पाँचवे ने कहा—"हमारी रण-विद्या और युद्धाभ्यास व्यर्थ गया। अब इसकी आवश्यकता ही नही रही।"

सैनिकगण यो अनेक प्रकार से अपने मन की भडास निकालते और रोष व्यक्त करते हुए लौट रहे थे। सेनाधिकारियो के लिए उन्हे शान्त करना कठिन हो रहा था।

भरतेश्वर के सेनाधिकारियो को, द्वद्व-युद्ध मे भरतेश्वर के विजयी होने मे सन्देह हुआ। वे परस्पर कहने लगे,—

"सम्राट महाबली हैं, किंतु बाहुबलीजी तो अद्वितीय बलवान् है। उनसे इन्द्र भी नही जीत सकता। ऐसी दशा मे सम्राट को द्वद्व युद्ध करने देना हमारे लिए दु खदायक होगा। सम्राट ने देवो की बात मान कर अच्छा नही किया।"

भर ` र के बल का परिचय

इस प्रकार सेनाधिकारियो को परस्पर वार्त्तालाप करते देख कर भरतेश्वर उनका आशय समझ गए। उन्होने सेनाधिकारियो को अपने पास बुलाया और कहने लगे,—

"वीर हितैषियो ! जिस प्रकार अन्धकार का नाश करने मे सूर्य की किरणे आगे रहती है, उसी प्रकार शत्रुओ को नष्ट करने मे तुम लोग मुझसे आगे रहते हो। जिस प्रकार गहरी खाई मे पडा हुआ हाथी, पहाडी किले तक नही पहुँच सकता, उसी प्रकार तुम योद्धाओ के रहते कोई भी शत्रु मुझ तक नही आ सकता। तुम्हारे हृदय मे उद्भूत मेरे-प्रति हित-कामना का मैं आदर करता हूँ। किन्तु तुमने कभी मुझे युद्ध करते देखा नही है। तुम्हे मेरे बल कापरिचय नही है। इसीलिए तुम्हे सन्देह हो रहा है। अब तुम सभी एकत्रित हो कर मेरे बल को देख लो, जिससे तुम्हारी शंका दूर हो जाय।"

भरतेश्वर ने एक गहरा खड्डा खुदवाया और उसके किनारे पर खुद बैठ गए।

इसके बाद अपनी बांयी भुजा पर बहुत-सी सुदृढ साँकले बँधवाई और सैनिको को सम्बोध कर कहा,—

"योद्धाओ ! जिस प्रकार बैल, गाडे को खिच कर ले जाते है, उसी प्रकार उस किनारे पर खडे रह कर तुम सभी, इन साकलो को अपने सम्मिलित बल से एक साथ खिचो और मुझे इस खड्डे मे गिरा दो। देखो, तुम यह मत सोचना कि इससे मुझे दु ख होगा। इस समय तुम्हारा लक्ष्य अपनी पूरी शक्ति लगा कर मुझे इस खड्डे मे गिराना ही होना चाहिए। मैं तुम्हे आज्ञा देता हूँ कि अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा कर मुझे खिचो।

भरतेश्वर का आदेश होने पर भी योद्धागण तय्यार नही हुए, तब उन्हे आग्रह पूर्वक दृढ स्वर मे आज्ञा दी गई। योद्धागण उठे। उन्होने दूसरे किनारे पर खडे रह कर साँकले पकडी और खिचने लगे।

भरतेश्वर ने सैनिको को उत्साहित करते हुए विशेष बल लगाने का कहा। जब सभी का बल एक साथ लगा, तो कौतुक करने के लिए भरतेश्वर ने अपना हाथ थोडा लम्बा कर दिया। योद्धागण सभी एक बल से झूम गए, किन्तु भरतेश्वर को एक अगुल भी नही खिसका सके। अन्त मे भरतेश्वर ने झटके के साथ अपना हाथ समेट कर छाती पर चिपका लिया, तो साँकले खिचने वाले सैनिक धडाम से एक दूसरे पर गिर गए। योद्धाओ को महाराजाधिराज के बल का पता लग गया। उन्हे विश्वास हो गया कि भरतेश्वर भी महान् बलाधिपति हैं। उनकी शका नष्ट हो गई।

भरत-बाहुब ी का -युद्ध

इसके बाद भरतेश्वर युद्ध-भूमि की ओर चले और बाहुबलीजी भी आये। सब से पहले दोनो बन्धुओ ने दृष्टि-युद्ध करने का निश्चय किया। युद्ध-भूमि मे दोनो प्रतिद्वद्वी वीर, शक्र और ईशान इन्द्र के समान सुशोभित हो रहे थे। दोनो ओर के सेनापति, अधिकारी और सैनिक, आस-पास पंक्तिबद्ध खडे रह कर उनका अशस्त्र युद्ध देख रहे थे।

सर्व प्रथम दृष्टि-युद्ध प्रारभ हुआ। एक दूसरे को अनिमेष दृष्टि से देखने लगे। ध्यानस्थ योगी के समान, बहुत देर तक दोनो एक दूसरे को स्थिर दृष्टि से देखते रहे। किंतु अंत मे भरतेश्वर के नेत्रो मे से पानी बहने लगा और आँखें बन्द हो गई। देवो ने बाहुबलीजी का जयनाद किया और उन पर पुष्प वृष्टि की। उनके पक्ष की ओर से

कोई कहता था—"जब युद्ध नही करना था, तो चढाई कर के आये ही क्यो ?

दूसरा कहता था—किसी कायर मन्त्री ने महाराज को ऐसी विपरीत सलाह दी होगी।"

तीसरा कहता था—"अब इन शस्त्रो को समुद्र मे डूबो दो।"

चौथे ने हताश हो कर कहा—"हा, मेरी सारी आशा ही नष्ट हो गई। आज अपना पराक्रम दिखाने का अवसर आ गया था, वह दुर्दैव ने छिन लिया।"

पाँचवे ने कहा—"हमारी रण-विद्या और युद्धाभ्यास व्यर्थ गया। अब इसकी आवश्यकता ही नही रही।"

सैनिकगण यो अनेक प्रकार से अपने मन की भडास निकालते और रोष व्यक्त करते हुए लौट रहे थे। सेनाधिकारियो के लिए उन्हें शान्त करना कठिन हो रहा था।

भरतेश्वर के सेनाधिकारियो को, द्वद्व-युद्ध मे भरतेश्वर के विजयी होने मे सन्देह हुआ। वे परस्पर कहने लगे,—

"सम्राट महाबली हैं, किंतु बाहुबलीजी तो अद्वितीय बलवान् हैं। उनसे इन्द्र भी नही जीत सकता। ऐसी दशा मे सम्राट को द्वद्व युद्ध करने देना हमारे लिए दु खदायक होगा। सम्राट ने देवो की बात मान कर अच्छा नही किया।"

भरतेश्वर के बल का परिचय

इस प्रकार सेनाधिकारियो को परस्पर वार्त्तालाप करते देख कर भरतेश्वर उनका आशय समझ गए। उन्होने सेनाधिकारियो को अपने पास बुलाया और कहने लगे,—

"वीर हितैषियो ! जिस प्रकार अन्धकार का नाश करने मे सूर्य की किरणे आगे रहती है, उसी प्रकार शत्रुओ को नष्ट करने मे तुम लोग मुझसे आगे रहते हो। जिस प्रकार गहरी खाई मे पडा हुआ हाथी, पहाडी किले तक नही पहुँच सकता, उसी प्रकार तुम योद्धाओ के रहते कोई भी शत्रु मुझ तक नही आ सकता। तुम्हारे हृदय मे उद्भूत मेरे-प्रति हित-कामना का मैं आदर करता हूँ। किन्तु तुमने कभी मुझे युद्ध करते देखा नही है। तुम्हे मेरे बल कापरिचय नही है। इसीलिए तुम्हे सन्देह हो रहा है। अब तुम सभी एकत्रित हो कर मेरे बल को देख लो, जिससे तुम्हारी शंका दूर हो जाय।"

भरतेश्वर ने एक गहरा खड्डा खुदवाया और उसके किनारे पर खुद बैठ गए।

सके बाद अपनी बांयी भुजा पर बहुत-सी सुदृढ साँकले बँधवाई और सैनिको को म्बोध कर कहा, —

"योद्धाओ! जिस प्रकार बैल, गाडे को खिच कर ले जाते है, उसी प्रकार उस किनारे पर खडे रह कर तुम सभी, इन साकलो को अपने सम्मिलित बल से एक साथ खिचो और मुझे इस खड्डे मे गिरा दो। देखो, तुम यह मत सोचना कि इससे मुझे दुख होगा। इस समय तुम्हारा लक्ष्य अपनी पूरी शक्ति लगा कर मुझे इस खड्डे मे गिराना ही होना चाहिए। मैं तुम्हे आज्ञा देता हूँ कि अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा कर मुझे खिचो।

भरतेश्वर का आदेश होने पर भी योद्धागण तय्यार नही हुए, तब उन्हे आग्रह पूर्वक दृढ स्वर मे आज्ञा दी गई। योद्धागण उठे। उन्होने दूसरे किनारे पर खडे रह कर साँकले पकडी और खिचने लगे।

भरतेश्वर ने सैनिको को उत्साहित करते हुए विशेष बल लगाने का कहा। जब सभी का बल एक साथ लगा, तो कौतुक करने के लिए भरतेश्वर ने अपना हाथ थोडा लम्बा कर दिया। योद्धागण सभी एक बल से झूम गए, किन्तु भरतेश्वर को एक अगुल भी नही खिसका सके। अन्त मे भरतेश्वर ने झटके के साथ अपना हाथ समेट कर छाती पर चिपका लिया, तो साँकले खिचने वाले सैनिक धडाम से एक दूसरे पर गिर गए। योद्धाओ को महाराजाधिराज के बल का पता लग गया। उन्हे विश्वास हो गया कि भरतेश्वर भी महान् बलाधिपति हैं। उनकी शका नष्ट हो गई।

रत-बाहुब ी का -युद्ध

इसके बाद भरतेश्वर युद्ध-भूमि की ओर चले और बाहुबलीजी भी आये। सब से पहले दोनो बन्धुओ ने दृष्टि-युद्ध करने का निश्चय किया। युद्ध-भूमि मे दोनो प्रतिद्वंद्वी वीर, शक्र और ईशान इन्द्र के समान सुशोभित हो रहे थे। दोनो ओर के सेनापति, अधिकारी और सैनिक, आस-पास पंक्तिबद्ध खडे रह कर उनका अशस्त्र युद्ध देख रहे थे।

सर्व प्रथम दृष्टि-युद्ध प्रारभ हुआ। एक दूसरे को अनिमेष दृष्टि से देखने लगे। ध्यानस्थ योगी के समान, बहुत देर तक दोनो एक दूसरे को स्थिर दृष्टि से देखते रहे। किंतु अत मे भरतेश्वर के नेत्रो मे से पानी बहने लगा और आँखें बन्द हो गई। देवो ने बाहुबलीजी का जयनाद किया और उन पर पुष्प वृष्टि की। उनके पक्ष की ओर से

मेरे बल को, धिक्कार है मेरे दु साहस को, धिक्कार है मेरी भुजा को और मेरे ऐसे दुष्कृत्य की उपेक्षा करने वाले राज्य-मन्त्रियो को भी धिक्कार है।" इस प्रकार विचार आते ही उन्होने आकाश की ओर देख कर पृथ्वी पर गिरने के पूर्व ही भरतेश्वर को अपने हाथो मे झेल लिये। चारो ओर हर्ष की लहर दौड गई। किन्तु भरतेश्वर के हृदय मे कोप की ज्वाला भडक उठी। उस समय बाहुबलीजी विनम्र हो कर कहने लगे,—

"हे भरताधिपति! हे महावीर्य! हे महाबाहु! आपको खेद नही करना चाहिए। देव-योग से मैं इस बार जीत गया, तो भी मैं विजयी नही हुआ। अब तक आप अजातशत्रु ही है। आप आगे के युद्ध के लिए तय्यार हो जाइए।

भरतेश्वर ने कहा,—"मेरी भुजा, मुष्टि प्रहार कर के पिछले दोष का परिमार्जन करेगी।"

इतना कह कर उन्होने मूठ उठाई। वे बाहुबलीजी की ओर दौडे और बाहुबलीजी की छाती पर जोरदार प्रहार किया। किन्तु उसका बाहुबलीजी पर कोई प्रभाव नही पडा और वे अडिग रहे। इसके बाद बाहुबलीजी मूठ तान कर भरतेश्वर पर झपटे और उनकी छाती पर मुक्का मारा। इस आघात को सहन नही कर सकने के कारण भरतेश्वर मूर्च्छित हो कर धराशायी हो गए। उनके गिरने और मूर्च्छित होने पर बाहुबली को विचार हुआ कि—

"क्षत्रियो के मन मे यह वीरत्व का दुराग्रह क्यो उत्पन्न होता है कि जो अपने भाई तक के प्राणो को नष्ट करने वाला बन जाता है। यदि मेरे भाई जीवित नही रहे, तो मुझे जीवित रह कर क्या करना है?"

इस प्रकार चिन्ता करते हुए और आँखो से आंसू बहाते हुए बाहुबली अपने उत्तरीय वस्त्र से भरतेश्वर पर वायु संचार करने लगे। थोडी देर मे भरतेश्वर सावधान हो कर उठे। दोनो की दृष्टि मिली। दोनो भाई नीचे देखने लगे। वास्तव मे महापुरुषो की तो जय और पराजय दोनो लज्जित करने वाली होती है।

भरतेश्वर कुछ पीछे हटे, दड उठाया और बाहुबली के मस्तक पर जोरदार प्रहार किया। इस प्रहार से बाहुबली का मुकुट टूट कर चूर-चूर हो गया। बाहुबली की आँखें बन्द हो गई। थोडी देर मे नेत्र खोल कर उन्होने अपना दड उठाया और भरतेश्वर की छाती पर जोरदार प्रहार किया। इस प्रहार से भरतेश्वर के सुदृढ़ कवच के टुकड़े-टुकडे हो गए-और वे विव्हल हो-गए।

सावधान हो कर भरतेश्वर ने फिर से दड उठाया और घुमा कर बाहुबली के

जयघोष किया गया और विजय के बाजे बजाये गये। भरतेश्वर के सेनाधिकारियो और सुभटो के हृदय को आघात लगा। एक ओर हर्षावेश, तो दूसरी ओर विफलताजन्य घोर उदासी। यह दशा देख कर बाहुबलीजी बोले, —

"आप यह नही समझें कि मैं अनायास ही जीत गया। अभी तो यह पहला ही युद्ध हुआ। आप चाहे तो वाक-युद्ध कर ले।"

चक्रवर्ती तय्यार हो गए। उन्होने भयकर सिंहनाद किया। जिस प्रकार मेघ की भयकर गर्जना होती है और महानदी की महान् वेगवती बाढ आती है और उसका गभीरतम नाद होता है, उससे भी अधिक भयकर सिंहनाद हुआ। घोडे रास तुडा कर भागने लगे। हाथियो को भागने से रोकने के लिए अकुश भी व्यर्थ रहा। ऊँट नाथ के खिचाव को भी नही मानते हुए वेगपूर्वक दौडने लगे। भरतेश्वर के सिंहानाद ने बडे-बडे शूरवीर मनुष्यो के भी हृदय दहला दिये।

इसके बाद बाहुबलीजी ने सिंहनाद किया। उनका सिंहनाद भरतेश्वर के सिंहनाद से विशेष भयंकर हुआ। इस महाघोष को सुन कर सर्प भूमि मे घुसने लगे। समुद्र मे रहे हुए मगर-मत्स्यादि भयभीत हो कर सपाटी पर से भीतर घुस कर तल तक पहुँचने लगे। पर्वत काँपने लगे। मेघगर्जना के साथ कडाके की बिजली गिरी हो—इस आभास से मनुष्य-गण भयभ्रान्त हो भूमि पर लेट गए। पृथ्वी धुजने लगी और देवगण भी व्याकुल हो गए। बाहुबली के सिंहनाद के बाद भरतेश्वर ने फिर सिंहनाद किया। यो सिंहनाद होते-होते भरतेश्वर की गर्जना का घोष मन्द होने लगा और बाहुबलीजी के सिंहनाद का घोष बढ कर रहने लगा। इसमे भी बाहुबलीजी विजयी हुए।

अब बाहु-युद्ध की बारी थी। दोनो भाई भिड गए। मल्ल-युद्ध होने लगा। कभी दोनो परस्पर गुथ जाते, कभी पृथक् हो कर फिर करस्फोट पूर्वक उछलते-कूदते हुए आ कर गुथ जाते। कभी भरतेश्वर नीचे आ जाते, तो कभी बाहुबलीजी। दोनो महाबलियो के वस्त्र और शरीर धूल-धूसरित हो गए। बहुत देर तक मल्ल-युद्ध होता रहा। अत मे बाहुबलीजी ने भरतेश्वर को उठा कर आकाश मे उछाल दिया—फेंक दिया। बाहुबलीजी द्वारा फेंके हुए भरतेश्वर, धनुष मे से छूटे बाण की तरह आकाश मे बहुत ऊँचे तक चले गए। आकाश से नीचे आते समय सेना मे हाहाकार मच गया। यह देख कर बाहुबलीजी अपने को धिक्कारने लगे, —"अहो ! मैं कितना अधम हूँ। पिता के समान पूज्य ज्येष्ठ-भ्राता पर सीमातीत कष्ट पहुँचाते कुछ भी सकोच नही किया। धिक्कार है

मेरे वल को, धिक्कार है मेरे दु साहस को, धिक्कार है मेरी भुजा को और मेरे ऐसे दुष्कृत्य की उपेक्षा करने वाले राज्य-मन्त्रियो को भी धिक्कार है।" इस प्रकार विचार आते ही उन्होने आकाश की ओर देख कर पृथ्वी पर गिरने के पूर्व ही भरतेश्वर को अपने हाथो मे झेल लिये। चारो ओर हर्ष की लहर दौड गई। किन्तु भरतेश्वर के हृदय मे कोप की ज्वाला भडक उठी। उस समय वाहुवलीजी विनम्र हो कर कहने लगे,—

"हे भरताधिपति ! हे महावीर्य ! हे महावाहु ! आपको खेद नही करना चाहिए। देव-योग से मैं इस वार जीत गया, तो भी मैं विजयी नही हुआ। अव तक आप अजातशत्रु ही है। आप आगे के युद्ध के लिए तय्यार हो जाइए।

भरतेश्वर ने कहा,—"मेरी भुजा, मुष्टि प्रहार कर के पिछले दोष का परिमार्जन करेगी।"

इतना कह कर उन्होने मूठ उठाई। वे वाहुवलीजी की ओर दौडे और वाहुवलीजी की छाती पर जोरदार प्रहार किया। किन्तु उसका वाहुवलीजी पर कोई प्रभाव नही पडा और वे अडिग रहे। इसके वाद वाहुवलीजी मूठ तान कर भरतेश्वर पर झपटे और उनकी छाती पर मुक्का मारा। इस आघात को सहन नही कर सकने के कारण भरतेश्वर मूर्च्छित हो कर धराशायी हो गए। उनके गिरने और मूर्च्छित होने पर वाहुवली को विचार हुआ कि—

"क्षत्रियो के मन मे यह वीरत्व का दुराग्रह क्यो उत्पन्न होता है कि जो अपने भाई तक के प्राणो को नष्ट करने वाला वन जाता है। यदि मेरे भाई जीवित नही रहे, तो मुझे जीवित रह कर क्या करना है ?"

इस प्रकार चिन्ता करते हुए और आँखो से आँसू वहाते हुए वाहुवली अपने उत्तरीय वस्त्र से भरतेश्वर पर वायु सचार करने लगे। थोडी देर मे भरतेश्वर सावधान हो कर उठे। दोनो की दृष्टि मिली। दोनो भाई नीचे देखने लगे। वास्तव मे महापुरुषो की तो जय और पराजय दोनो लज्जित करने वाली होती है।

भरतेश्वर कुछ पीछे हटे, दड उठाया और वाहुवली के मस्तक पर जोरदार प्रहार किया। इस प्रहार से वाहुवली का मुकुट टूट कर चूर-चूर हो गया। वाहुवली की आँखें वन्द हो गई। थोडी देर मे नेत्र खोल कर उन्होने अपना दड उठाया और भरतेश्वर की छाती पर जोरदार प्रहार किया। इस प्रहार से भरतेश्वर के सुदृढ कवच के टुकड़े-टुकडे हो गए और वे विव्हल हो गए।

सावधान हो कर भरतेश्वर ने फिर से दंड उठाया और घुमा कर वाहुवली के

मस्तक पर भारी आघात किया। इस आघात के कारण बाहुवली जानु तक भूमि मे धँस गए। वे मस्तक धुनाने लगे। उस प्रहार से वह दड भी टूट कर टुकडे-टुकडे हो गया। थोडी देर मे सावधान हो कर वे भूमि मे से बाहर निकले और अपने दंड को एक हाथ मे ले कर घुमाने लगे और घुमाते-घुमाते भरतेश्वर के मस्तक पर ठोक मारा। इस प्रहार से भरतेश्वर अपने कठ तक भूमि मे धँस गए। चारो ओर हाहाकार हो गया। भरतेश्वर मूर्च्छित हो गए। थोडी देर बाद सावधान हो कर वे बाहर निकले।

इस प्रकार हार-पर-हार होती देख कर भरतेश्वर ने सोचा+—अब मेरी जीत की कोई सभावना नही रही। कदाचित् मेरे साधे हुए छह खड बाहुवली के लिए हो और वह चक्रवर्ती होने वाला हो ? एक काल मे दो चक्रवर्ती तो नही हो सकते। यह तो ऐसा हो रहा है कि जैसे मामूली देव, इन्द्र को जीत ले और साधारण राजा चक्रवर्ती को जीत ले। कदाचित् बाहुबली ही चक्रवर्ती होगा।" इस प्रकार विचार कर रहे थे कि यक्ष-देवो ने भरतेश्वर के हाथ मे चक्र-रत्न दिया।

भरतेश्वर ने उस चक्र-रत्न को घुमाया। भरत को चक्र घुमाते हुए देख कर बाहुबली ने विचार किया—"भरत अपने को आदिनाथ भगवान् का पुत्र मानता है, किन्तु वह दड-युद्ध के उत्तर मे चक्र चला रहा है, क्या यह क्षत्रियो की युद्ध-नीति है ? देवताओ के सामने की हुई उत्तम युद्ध-नीति की प्रतिज्ञा का निर्वाह भी उसने नही किया। धिक्कार है—उसे। मैं उसके चक्र को दण्ड प्रहार से चूर-चूर करूँगा।" इस प्रकार विचार करते रहे। इतने मे भरत का चलाया हुआ चक्र बाहुबली के पास आया और उनकी प्रदक्षिणा कर के वापिस भरतेश्वर के पास लौट गया। क्योकि चक्र-रत्न सामान्य एवं सगोत्री पुरुष पर नही चलता, तो ऐसे चरम-शरीरी पुरुष पर कैसे चले ?

+ इस प्रकार चक्रवर्ती की हार होने की बात विचारणीय लगती है। यदि यह सत्य है, तो इसको भी अछेरा—आश्चर्यभूत अवश्य बताना था। श्रीकृष्ण के अमरकका गमन को आश्चर्य रूप माना, तो यहाँ तो चक्रवर्ती की भारी पराजय और पराजय-पर-पराजय है। इसे आश्चर्य के रूप में क्यो नहीं माना ? यह घटना 'सुभूम' और 'ब्रह्मदत्त' जैसे पापानुबन्धी-पुण्य के धनी और नरक जाने वाले के जीवन मे सम्बन्धित नही, किन्तु पुण्यानुबन्धी-पुण्य के स्वामी और मोक्ष पाने वाले भरतेश्वर की अत्यन्त पराजय के रूप मे हो कर भी आश्चय के रूप मे नही आई। यह विचार की बात है। उदय की प्रबलता और विचित्रता के आगे कुछ असम्भव तो नही है, पर आगमो मे—खास कर 'जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति सूत्र' मे—जहाँ भरतेश्वर की दिग्विजय का विस्तृत वर्णन है, वहाँ इन पराजयो को बताने वाला एक भी शब्द नहीं है। इसलिए विचार होता है।

चक्र-रत्न को लौटता देख कर वाहुवलीजी का कोप भडक उठा। वे मुक्का तान कर भरतेश्वर पर झपटे, किन्तु भरतेश्वर के निकट आते ही एकदम रुक गए और सोचने लगे,—

"अहो! भरतेश्वर के समान मैं भी राज्य मे लुब्ध हो कर ज्येष्ठ-बन्धु को मारने के लिए तत्पर हो रहा हूँ? हा, इस पापिनी तृष्णा ने कितना अनर्थ कराया? जिस पिताने राज्य-वैभव को तृण के समान त्याग दिया, और जिन छोटे भाइयो ने इसे उच्छिष्ट के समान जान कर छोड दिया, उसी के लिए मैं ज्येष्ठ-बन्धु को मारने के लिए झपट रहा हूँ। धिक्कार है—मुझे।" इस प्रकार सोचते हुए उन्होने भी राज्य का त्याग कर, निर्ग्रंथ बनने का निश्चय कर लिया × और भरतेश्वर से वोले,—

"हे बन्धुवर! मैंने राज्य के लिए ही आपको कष्ट दिया और विद्रोह किया। इसके लिए आप मुझे क्षमा करे। आप क्षमा के सागर है। मैं स्वय इस राज्य का त्याग कर के प्रभु के मार्ग का अनुगमन करूँगा।"

उन्होने उठाये हुए अपने मुक्के को अपने सिर पर उतार कर केशो का लोच कर के संयम स्वीकार कर लिया। देवो ने जयध्वनि के साथ पुष्प-वर्षा की।

वाहुवली को प्रव्रजित होते देख कर भरतेश्वर लज्जित हुए और अश्रुपात करते हुए बाहुबली के चरणो मे नमस्कार किया। उस विरक्त बन्धु का गुणगान करते हुए कहा—

"मुनिवर! आप धन्य हैं। आपने मुझ पर अनुकम्पा कर के राज्य का त्याग कर दिया। मैं पापी ही नही, पापियो का शिरोमणि हूँ, अन्यायी हूँ और लोभियो मे धुरन्धर हूँ। मैं राज्य को ससार का मूल जानता हुआ भी नही छोड सकता। वीर! तुम ही पिताश्री के सच्चे पुत्र हो, जो पिताश्री के मार्ग का अनुसरण कर रहे हो। मैं उनके मार्ग पर चलूंगा, तभी उनका खरा पुत्र बनूंगा।"

इस प्रकार पश्चात्ताप करते हुए वहाँ से हटे और वाहुबलीजी के पुत्र 'चन्द्रयश' को उस राज्य पर स्थापित कर के वाहुवलीजी को पुन वंदना की और राजधानी मे लौट आये।

बाहुबलीजी की कठोर साधना

प्रव्रज्या स्वीकार कर के मुनिराज श्री वाहुवलीजी वही—उसी स्थान पर ध्यानस्थ

× विभिन्न साहित्य मे मतान्तर है। इसमे दीक्षा का कारण स्वय के हृदय मे उद्भूत विचार वताया, तव अन्यत्र इन्द्र द्वारा किया हुआ निवेदन बनाया है।

मस्तक पर भारी आघात किया। इस आघात के कारण बाहुवली जानु तक भूमि मे धँस गए। वे मस्तक धुनाने लगे। उस प्रहार से वह दड भी टूट कर टुकडे-टुकडे हो गया। थोडी देर मे सावधान हो कर वे भूमि मे से बाहर निकले और अपने दड को एक हाथ मे ले कर घुमाने लगे और घुमाते-घुमाते भरतेश्वर के मस्तक पर ठोक मारा। इस प्रहार से भरतेश्वर अपने कठ तक भूमि मे धँस गए। चारो ओर हाहाकार हो गया। भरतेश्वर मूच्छित हो गए। थोडी देर बाद सावधान हो कर वे बाहर निकले।

इस प्रकार हार-पर-हार होती देख कर भरतेश्वर ने सोचा+—अब मेरी जीत की कोई सभावना नही रही। कदाचित् मेरे साधे हुए छह खड बाहुबली के लिए हो और वह चक्रवर्ती होने वाला हो? एक काल मे दो चक्रवर्ती तो नही हो सकते। यह तो ऐसा हो रहा है कि जैसे मामूली देव, इन्द्र को जीत ले और साधारण राजा चक्रवर्ती को जीत ले। कदाचित् बाहुबली ही चक्रवर्ती होगा।" इस प्रकार विचार कर रहे थे कि यक्ष-देवो ने भरतेश्वर के हाथ मे चक्र-रत्न दिया।

भरतेश्वर ने उस चक्र-रत्न को घुमाया। भरत को चक्र घुमाते हुए देख कर बाहुबली ने विचार किया—"भरत अपने को आदिनाथ भगवान् का पुत्र मानता है, किन्तु वह दड-युद्ध के उत्तर मे चक्र चला रहा है, क्या यह क्षत्रियो की युद्ध-नीति है? देवताओ के सामने की हुई उत्तम युद्ध-नीति की प्रतिज्ञा का निर्वाह भी उसने नही किया। धिक्कार है—उसे। मैं उसके चक्र को दण्ड प्रहार से चूर-चूर करूँगा।" इस प्रकार विचार करते रहे। इतने मे भरत का चलाया हुआ चक्र बाहुबली के पास आया और उनकी प्रदक्षिणा कर के वापिस भरतेश्वर के पास लौट गया। क्योकि चक्र-रत्न सामान्य एवं सगोत्री पुरुष पर नही चलता, तो ऐसे चरम-शरीरी पुरुष पर कैसे चले?

+ इस प्रकार चक्रवर्ती की हार होने की बात विचारणीय लगती है। यदि यह सत्य है, तो इसको भी अछेरा—आश्चर्यभूत अवश्य बताना था। श्रीकृष्ण के अमरकका गमन को आश्चर्य रूप माना, तो यहाँ तो चक्रवर्ती की भारी पराजय और पराजय-पर-पराजय है। इसे आश्चर्य के रूप मे क्यो नही माना? यह घटना 'सुभूम' और 'ब्रह्मदत्त' जैसे पापानुबन्धी-पुण्य के धनी और नरक जाने वाले के जीवन मे सम्बन्धित नही, किन्तु पुण्यानुबन्धी-पुण्य के स्वामी और मोक्ष पाने वाले भरतेश्वर की अत्यन्त पराजय के रूप मे हो कर भी आश्चर्य के रूप मे नही आई। यह विचार की बात है। उदय की प्रबलता और विचित्रता के आगे कुछ असम्भव तो नही है, पर आगमो मे—खास कर 'जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति सूत्र' मे—जहाँ भरतेश्वर की दिग्विजय का विस्तृत वर्णन है, वहाँ इन पराजयों को बताने वाला एक भी शब्द नही है। इसलिए विचार होता है।

चक्र-रत्न को लौटता देख कर वाहुवलीजी का कोप भडक उठा। वे मुक्का तान कर भरतेश्वर पर झपटे, किन्तु भरतेश्वर के निकट आते ही एकदम रुक गए और सोचने लगे,—

"अहो! भरतेश्वर के समान मैं भी राज्य मे लुब्ध हो कर ज्येप्ठ-वन्धु को मारने के लिए तत्पर हो रहा हूँ? हा, इस पापिनी तृष्णा ने कितना अनर्थ कराया? जिस पिताने राज्य-वैभव को तृण के समान त्याग दिया, और जिन छोटे भाइयो ने इसे उच्छिप्ट के समान जान कर छोड दिया, उसी के लिए मैं ज्येष्ठ-वन्धु को मारने के लिए झपट रहा हूँ। धिक्कार है—मुझे।" इस प्रकार सोचते हुए उन्होने भी राज्य का त्याग कर, निर्ग्रंथ वनने का निश्चय कर लिया × और भरतेश्वर से वोले,—

"हे वन्धुवर! मैने राज्य के लिए ही आपको कप्ट दिया और विद्रोह किया। इसके लिए आप मुझे क्षमा करे। आप क्षमा के सागर हैं। मैं स्वय इस राज्य का त्याग कर के प्रभु के मार्ग का अनुगमन करूँगा।"

उन्होने उठाये हुए अपने मुक्के को अपने सिर पर उतार कर केशो का लोच कर के संयम स्वीकार कर लिया। देवो ने जयध्वनि के साथ पुष्प-वर्पा की।

वाहुवली को प्रव्रजित होते देख कर भरतेश्वर लज्जित हुए और अश्रुपात करते हुए वाहुवली के चरणो मे नमस्कार किया। उस विरक्त वन्धु का गुणगान करते हुए कहा—

"मुनिवर! आप धन्य हैं। आपने मुझ पर अनुकम्पा कर के राज्य का त्याग कर दिया। मैं पापी ही नही, पापियो का शिरोमणि हूँ, अन्यायी हूँ और लोभियो मे धुरन्धर हूँ। मैं राज्य को ससार का मूल जानता हुआ भी नही छोड सकता। वीर! तुम ही पिताश्री के सच्चे पुत्र हो, जो पिताश्री के मार्ग का अनुसरण कर रहे हो। मैं उनके मार्ग पर चलूंगा, तभी उनका खरा पुत्र वनूंगा।"

इस प्रकार पश्चात्ताप करते हुए वहाँ से हटे और वाहुवलीजी के पुत्र 'चन्द्रयश' को उस राज्य पर स्थापित कर के वाहुवलीजी को पुन वंदना की और राजधानी मे लौट आये।

बाहुबलीजी की कठोर साधना

प्रव्रज्या स्वीकार कर के मुनिराज श्री वाहुवलीजी वही—उसी स्थान पर ध्यानस्थ

× विभिन्न साहित्य मे मतान्तर है। इसमे दीक्षा का कारण स्वय के हृदय मे उद्भूत विचार वताया, तव अन्यत्र इन्द्र द्वारा किया हुआ निवेदन वताया है।

मस्तक पर भारी आघात किया। इस आघात के कारण बाहुबली जानु तक भूमि मे धँस गए। वे मस्तक धुनाने लगे। उस प्रहार से वह दड भी टूट कर टुकडे-टुकडे हो गया। थोडी देर मे सावधान हो कर वे भूमि मे से बाहर निकले और अपने दंड को एक हाथ मे ले कर घुमाने लगे और घुमाते-घुमाते भरतेश्वर के मस्तक पर ठोक मारा। इस प्रहार से भरतेश्वर अपने कठ तक भूमि मे धँस गए। चारो ओर हाहाकार हो गया। भरतेश्वर मूर्च्छित हो गए। थोडी देर बाद सावधान हो कर वे बाहर निकले।

इस प्रकार हार-पर-हार होती देख कर भरतेश्वर ने सोचा+—अब मेरी जीत की कोई सभावना नही रही। कदाचित् मेरे साधे हुए छह खड बाहुबली के लिए हो और वह चक्रवर्ती होने वाला हो ? एक काल मे दो चक्रवर्ती तो नही हो सकते। यह तो ऐसा हो रहा है कि जैसे मामूली देव, इन्द्र को जीत ले और साधारण राजा चक्रवर्ती को जीत ले। कदाचित् बाहुबली ही चक्रवर्ती होगा।" इस प्रकार विचार कर रहे थे कि यक्ष-देवो ने भरतेश्वर के हाथ मे चक्र-रत्न दिया।

भरतेश्वर ने उस चक्र-रत्न को घुमाया। भरत को चक्र घुमाते हुए देख कर बाहुबली ने विचार किया—"भरत अपने को आदिनाथ भगवान् का पुत्र मानता है, किन्तु वह दड-युद्ध के उत्तर मे चक्र चला रहा है, क्या यह क्षत्रियो की युद्ध-नीति है ? देवताओ के सामने की हुई उत्तम युद्ध-नीति की प्रतिज्ञा का निर्वाह भी उसने नही किया। धिक्कार है—उसे। मैं उसके चक्र को दण्ड प्रहार से चूर-चूर करूँगा।" इस प्रकार विचार करते रहे। इतने मे भरत का चलाया हुआ चक्र बाहुबली के पास आया और उनकी प्रदक्षिणा कर के वापिस भरतेश्वर के पास लौट गया। क्योकि चक्र-रत्न सामान्य एवं सगोत्री पुरुष पर नही चलता, तो ऐसे चरम-शरीरी पुरुष पर कैसे चले ?

+ इस प्रकार चक्रवर्ती की हार होने की बात विचारणीय लगती है। यदि यह सत्य है, तो इसको भी अछेरा—आश्चर्यभूत अवश्य बताना था। श्रीकृष्ण के अमरकका गमन को आश्चर्य रूप माना, तो यहाँ तो चक्रवर्ती की भारी पराजय और पराजय-पर-पराजय है। इसे आश्चर्य के रूप में क्यो नही माना ? यह घटना 'सुभूम' और 'ब्रह्मदत्त' जैसे पापानुबन्धी-पुण्य के धनी और नरक जाने वाले के जीवन मे सम्बन्धित नही, किन्तु पुण्यानुबन्धी-पुण्य के स्वामी और मोक्ष पाने वाले भरतेश्वर की अत्यन्त पराजय के रूप मे हो कर भी आश्चय के रूप मे नही आई। यह विचार की बात है। उदय की प्रबलता और विचित्रता के आगे कुछ असम्भव तो नही है, पर आगमो मे—खास कर 'जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति सूत्र' मे—जहाँ भरतेश्वर की दिग्विजय का विस्तृत वर्णन है, वहाँ इन पराजयो को बताने वाला एक भी शब्द नहीं है। इसलिए विचार होता है।

चक्र-रत्न को लौटता देख कर वाहुवलीजी का कोप भडक उठा । वे मुक्का तान कर भरतेश्वर पर झपटे, किन्तु भरतेश्वर के निकट आते ही एकदम रुक गए और सोचने लगे,—

"अहो ! भरतेश्वर के समान मैं भी राज्य मे लुब्ध हो कर ज्येष्ठ-वन्धु को मारने के लिए तत्पर हो रहा हूँ ? हा, इस पापिनी तृष्णा ने कितना अनर्थ कराया ? जिस पिताने राज्य-वैभव को तृण के समान त्याग दिया, और जिन छोटे भाइयो ने इसे उच्छिष्ट के समान जान कर छोड दिया, उसी के लिए मैं ज्येष्ठ-वन्धु को मारने के लिए झपट रहा हूँ । धिक्कार है—मुझे ।" इस प्रकार सोचते हुए उन्होने भी राज्य का त्याग कर, निर्ग्रंथ वनने का निश्चय कर लिया × और भरतेश्वर से वोले,—

"हे वन्धुवर ! मैने राज्य के लिए ही आपको कष्ट दिया और विद्रोह किया । इसके लिए आप मुझे क्षमा करे । आप क्षमा के सागर है । मैं स्वय इस राज्य का त्याग कर के प्रभु के मार्ग का अनुगमन करूँगा ।"

उन्होने उठाये हुए अपने मुक्के को अपने सिर पर उतार कर केशो का लोच कर के सयम स्वीकार कर लिया । देवो ने जयध्वनि के साथ पुष्प-वर्षा की ।

वाहुवली को प्रव्रजित होते देख कर भरतेश्वर लज्जित हुए और अश्रुपात करते हुए वाहुवली के चरणो मे नमस्कार किया । उस विरक्त वन्धु का गुणगान करते हुए कहा—

"मुनिवर ! आप धन्य हैं । आपने मुझ पर अनुकम्पा कर के राज्य का त्याग कर दिया । मैं पापी ही नही, पापियो का शिरोमणि हूँ, अन्यायी हूँ और लोभियो मे धुरन्धर हूँ । मैं राज्य को ससार का मूल जानता हुआ भी नही छोड सकता । वीर ! तुम ही पिताश्री के सच्चे पुत्र हो, जो पिताश्री के मार्ग का अनुसरण कर रहे हो । मैं उनके मार्ग पर चलूंगा, तभी उनका खरा पुत्र वनूंगा ।"

इस प्रकार पश्चात्ताप करते हुए वहाँ से हटे और वाहुवलीजी के पुत्र 'चन्द्रयश' को उस राज्य पर स्थापित कर के वाहुवलीजी को पुन वंदना की ओर राजधानी मे लौट आये ।

बाहुबलीजी की कठोर साधना

प्रव्रज्या स्वीकार कर के मुनिराज श्री वाहुवलीजी वही—उसी स्थान पर ध्यानस्थ

× विभिन्न साहित्य मे मतान्तर है । इसमे दीक्षा का कारण स्वय के हृदय मे उद्भूत विचार वताया, तव अन्यत्र इन्द्र द्वारा किया हुआ निवेदन वताया है ।

हो गए और निष्कंप—अडोल खडे रहे। ग्रीष्म का प्रचंड ताप भी उनको चलित नही कर सका। देह से पसीना झरता और रज-कण उड कर उनके देह पर चिपक जाते। इस प्रकार सारा शरीर रज-मैल से लिप्त हो कर कीचड जम गया। किंतु ध्यानस्थ मुनिराज की इस ओर दृष्टि ही नही गई। घनघोर वर्षा और पृथ्वी पर बहते हुए पानी से उनके देह पर शैवाल जम गई। देह को कपा देने वाले झझावात आये, परन्तु योगीराज का स्थिर-योग निश्चल रहा। वन-उपवन को अपने शीत-दाह से दग्ध करने वाली अत्यन्त शीत और साथ ही हिम-वर्षा के भयंकर उपसर्ग भी महान् आत्मबली महामुनि बाहुबली को नहीं डिगा सके। जिस प्रकार वे युद्ध मे अजेय रहे, उसी प्रकार प्रकृति के महा प्रकोप के घोर कष्टो के सामने भी अपराजेय रहे और धर्मध्यान मे विशेष स्थिर रहने लगे। उनकी ध्यान-धारा विशेष विकसित होती रही। जगली भैंसे उन्हे वृक्ष का सूखा ठूंठ समझ कर अपना सिर, स्कन्ध और शरीर रगड कर खुजालने लगे। सिंह उनके पैरो का सहारा ले कर विश्राम करते। हाथी उनके हाथ-पाँव को सूंड से पकड कर खिचने का उपक्रम करते, किंतु निष्फल हो कर लौट जाते। चमरी-गायें अपनी कांटे के समान तिक्ष्ण—खुरदरी जीभ से उनके शरीर को चाटती थी। वर्षा के बाद उगी हुई बेले उनके शरीर पर लिपट कर छा गई थी। बांस और तिक्ष्ण दर्भ के अंकुर उनके पाँव फोड कर ऊपर निकल आये थे। उनके शरीर पर लिपटी हुई लताओ के झुरमुट मे चिडिये अपने घोसले बना कर रहने लगी थी और मयूर के कोकारव से भयभीत सर्प उस लता मे छुपने के लिए उनके शरीर पर चढते और पैरो मे लिपट जाते।

योगीरा को बहिनो रा उद्बोधन

इस प्रकार की कठोर साधना करते हुए महामुनि बाहुबलीजी को एक वर्ष बीत गया। उनका मोह महाशत्रु जीर्ण-शीर्ण हो गया था, फिर भी वह मान के महाश्रय से टिका हुआ था। स्थिति परिपक्व होने आई थी, किंतु इस मान-महिपाल को नष्ट करने मे एक महा निमित्त की आवश्यकता थी।

सर्वज्ञ सर्वदर्शी भगवान् आदि जिनेश्वर ने महासती ब्राह्मी और सुन्दरी को सम्बोध कर कहा,—

"आर्ये! महामुनि बाहुबलीजी कठोर साधना कर रहे हैं। एक वर्ष की साधना

मे उन्होने कर्म के वृन्द के वृन्द क्षय कर डाले। उन्होने ध्यानस्थ हो कर अन्तर्शोधन किया और वहुत-से दोषो को नष्ट कर डाला। किन्तु एक दोष उनकी आत्मा मे अव तक छुप कर वैठा हुआ है। उसकी ओर उनकी दृष्टि नही गई। इस दोप को दूर करने मे तुम्हारा निमित्त आवश्यक है। उनका उपादान तुम्हारा निमित्त पा कर जाग्रत हो जायगा और मोहावरण को नप्ट कर के शाश्वत—सादि-अपर्यवसित परम ज्ञान प्राप्त कर लेगा। इस समय तुम्हारे उद्वोधन की आवश्यकता है। इसलिए तुम जाओ और उनसे कहो कि—"मुनिवर! अव इस मान रूपी गजराज से नीचे उतरो। आप जैसे परम पराक्रमी, इस मान के फन्दे मे फँस कर वीतराग दशा से वचित रहे—यह उचित नही है।"

जव वाहुवलीजी दीक्षित हुए, तो उनके मन मे यह विचार आया—"यदि मैं अभी प्रभु के चरणो मे चला जाऊँगा, तो मुझे अपने छोटे भाइयो को भी वन्दन-नमस्कार करना पडेगा। क्योकि वे मुझसे पूर्व दीक्षित हुए है। इसलिए मैं यही तप करूँ और केवलज्ञान प्राप्त करने के वाद प्रभु की सेवा मे जाउँ।" इन विचारो मे मान-कपाय का रंग था। यही दोप वीतरागता मे वाधक वन रहा था।

महामती व्राह्मी और सुन्दरी, वन की ओर चलीं। वन मे पहुँच कर वे मुनिराज वाहुवलीजी को खोजने लगी। वे उन्हे दिखाई नही दिये। पसीने से जमी हुई रज से लिप्त और लताओ से आच्छादित महर्षि को वे वडी कठिनाई से खोज सकी। उनको पहिचानना सरल नही था। वे मनुष्य के रूप मे तो दिखाई ही नही देते थे। पत्रावली से आच्छादित शरीर को कोई कैसे पहिचान सकता है? वुद्धिवल से ही वे मुनिवर को जान सकी। तीन वार प्रदक्षिणा कर के वन्दना की और इस प्रकार वोली,—

"महर्षि! हम व्राह्मी-सुन्दरी साध्वी हैं। अपने पिता एव विश्वतारक भगवान् ऋषभदेवजी ने हमारे द्वारा आपको कहलाया है कि हाथी पर सवार रहने वाले पुरुषो का मोह-महाशत्रु नष्ट नही होता। वे केवलज्ञान प्राप्त नही कर सकते। अतएव हाथी से उतर कर नीचे आइये।"

इतना कह कर वे दोनो महासतियें वहाँ से लौट आई। महामुनि बाहुवलीजी, उपरोक्त शव्दो को सुन कर आश्चर्य मे पड गए। निमित्त ने अपना काम कर दिया। अव उपादान अगडाई ले कर अपना पराक्रम करने लगा। महर्षि विचार करने लगे;—

"अहो! मैंने तो समस्त सावद्य-योग का त्याग कर दिया और निसग हो कर वन मे साधना कर रहा हूँ। मेरे पास हाथी तो क्या, घोडा-गधा कुछ भी नही है। इस

शरीर के अतिरिक्त कुछ है ही नही—मेरे पास। फिर हाथी की बात कैसी ? क्या महासती झूठ बोली ? भगवान् ने असत्य सम्वाद भेजा ? नही-नही, न तो महासतियें झूठ बोली होगी, न भगवान् ने ही असत्य उद्बोधन कराया होगा। उनका आशय द्रव्य हाथी से नही, भाव हाथी से होगा"—महर्षि आत्म-निरीक्षण करने लगे। दीर्घकाल की ध्यान-धरा के नीचे दबा हुआ चोर पकड मे आ गया,—"अरे! हाँ, वय मे छोटे, किंतु व्रत-पर्याय मे ज्येष्ठ ऐसे लघु-बन्धु श्रमणो को वन्दन नही कर के अपना वडप्पन वनाये रखने की भावना मेरे मन मे छुपी पडी है। मैंने कायुत्सर्ग किया, धर्म ध्यान ध्याया, किंतु साधना के पूर्व से ही छुप कर बैठे हुए इस डाकू मानसिंह का मर्दन नही किया और इस छुपे शत्रु को टिकाये रखा। मोहराज का प्रत्यक्ष मे तो मुझ पर जोर नही चला और उसके अन्य तीन महा सेनापतियो से मैं अजेय रहा, परतु मुझ मे ही छुप कर मेरी साधना के महाफल से मुझे वंचित रखने वाला यह दुष्ट मानसिंह मुझे धोखा देता रहा और मैने इस ओर देखा ही नही। वास्तव मे हाथी के रूप मे रहे हुए मानसिंह पर मै सवार रहा। मेरी कठोर साधना और अडोल ध्यान भी इस दूषित भूमि पर चलता रहा। मैं कितना अधम हूँ ? भगवान् वृषभनाथ का पुत्र और उनके चरणो मे वर्षो तक रहने, उपदेश सुनने और सेवा करने का सुयोग पा कर भी मैं विवेकी नही वन सका। धिक्कार है मेरे अभिमान को और शतश धिक्कार है मेरे अविवेकीपन को। मै अभी जा कर सभी व्रत ज्येष्ठ श्रमणो को वन्दना करता हूँ।"

इस प्रकार विचार कर के महान् सत्वशाली महामुनिजी चलने को तत्पर हुए और पाँव उठाया। चिन्तन की इस चिनगारी ने शुक्ल ध्यान रूपी वह ज्वाला उत्पन्न की कि मानमहिपाल की अत्येष्ठि ही हो गई। मान के मरते ही उसकी ओट मे रहे हुए सूक्ष्म क्रोध माया और लोभ भी भस्म हो गए। तत्काल शुक्ल ध्यान की दूसरी ज्योति उत्पन्न हुई और ज्ञानावरण-दर्शनावरण और अन्तराय कर्म भी जल कर राख हो गए। महर्षि वाहुवलीजी परम वीतराग सर्वज्ञ-सर्वदर्शी भगवान् हो गए। वे वहाँ से चल कर भगवान् आदिनाथ के समवसरण मे उपस्थित हुए और केवलज्ञानियो की परिषद् मे वैठ गए।

भरतेश्वर का पश्चात्ताप और साधर्मी-सेवा

भगवान् ऋषभदेव स्वामी ग्रामानुग्राम विचरते और भव्य जीवो को प्रतिवोध देते हुए अष्टापद पर्वत पर पधारे। देव-देवियाँ और इन्द्र-इन्द्रानियाँ भगवान् के समवसरण मे

उपस्थित हुए। वनपालक ने महाराजाधिराज को भगवान् के पधारने की वधाई दी। इस शुभ समाचार ने सम्राट के हृदय मे हर्ष की वाढ उत्पन्न कर दी। उन्होने वधाई देने वाले को साडे वारह करोड़ स्वर्ण मुद्रा प्रदान कर पुरस्कृत किया और सिंहासन से नीचे उतर कर, प्रभु की ओर सात-आठ चरण चल कर विधिवत् वन्दना की। इसके वाद भरतेश्वर ने प्रभु के दर्शनार्थ समवसरण मे जाने के लिए तय्यारियाँ करने की आज्ञा दी। स्वय स्नानादि कर के वस्त्राभूपण से सुसज्जित हुए। वडी धूमधाम से सवारी निकली। प्रभु के समवसरण मे पहुँच कर भक्तिपूर्वक वन्दन-नमस्कार किया और योग्य स्थान पर सभा मे बैठे। प्रभु ने धर्मोपदेश दिया। प्रभु की उपशम-भाव-वर्धक देशना सुन कर भरतेश्वर को विचार हुआ,—

"अहो! मैं कितना लोभी हूँ। मेरी तृष्णा कितनी वढी हुई है। मैंने अपने छोटे भाइयो का राज्य ले लिया। मेरे ये उदार हृदय वाले वन्धु, मोह को जीत कर और प्रभु के चरणो मे रह कर अपनी आत्मा को शान्त-रस मे निमग्न कर, अलौकिक आनन्द का अनुभव कर रहे हैं। अरे, कौआ जैसा अप्रिय पक्षी भी अकेला नही खाता। वह जहाँ-कही थोडा भी खाने जैसा देखता है, तो पहले 'काँव-काँव' कर के अपने जाति-वन्धुओ को वुलाता है और सव के साथ खाता है। किंतु मैं ऐसा पापी हुआ कि अपने छोटे भाइयो का राज्य छिन कर उन्हे साधु वनने पर विवश किया। मैं उन कौओ से भी गया-वीता हो गया। यद्यपि मैंने इनका छोडा हुआ राज्य, इनके पुत्रो को ही दिया है, किन्तु यह तो उस डाकू जैसा कार्य हुआ, जो एक को लूट कर दूसरे को देता है। इसमे भी मैंने अपने अधिपत्य का स्वार्थ तो साध ही लिया। हा, मेरे छोटे भाई मोक्ष पुरुषार्थ मे लगे हैं, तव मैं सव से वडा हो कर भी अर्थ और काम पुरुपार्थ मे रग रहा हूँ। ये त्यागी हैं और मैं भोगी हूँ। इन्हे भोग से विमुख कर के मैं मन चाहे उत्कृष्ट भोग, भोग रहा हूँ। यह मुझे शोभा नही देता। मुझे अपने वन्धुओ के साथ ससार मे रह कर भ्रातृ-द्रोह के कलक को मिटाना चाहिए।"

इस प्रकार विचार कर के भरत महाराज उठे। उन्होने प्रभु के निकट जा कर विनय-पूर्वक मनोभाव व्यक्त किये और अपने भाई-मुनियो को भोग का निमन्त्रण दिया। भरतेश्वर के सुसुप्त विवेक को जाग्रत करते हुए जिनेश्वर भगवान् ने कहा,—

"हे सरल हृदयी राजन्! तेरे ये मुनि-वन्धु महा सत्वशाली हैं। इन्होंने ससार को असार और भोग को रोग-शोक और दु ख का बीज जान कर त्यागा है। ये महाव्रतधारी निर्ग्रंथ हैं। अव इनका आत्माराम, धर्माराम मे विचर कर निर्दोष आनन्द का उपभोग कर रहा है। इस पवित्र उत्तमोत्तम आत्मानन्द को छोड कर अव ये पुद्गलानन्द—विपयानन्द का विचार ही नही करते। इनकी दृष्टि मे पुद्गलानन्दी जीव, उस सूअर जैसा है, जो विष्ठा

शरीर के अतिरिक्त कुछ है ही नही—मेरे पास। फिर हाथी की बात कैसी ? क्या महासती झूठ बोली ? भगवान् ने असत्य सम्वाद भेजा ? नही-नही, न तो महासतिये झूठ बोली होगी, न भगवान् ने ही असत्य उद्बोधन कराया होगा। उनका आशय द्रव्य हाथी से नही, भाव हाथी से होगा"—महर्षि आत्म-निरीक्षण करने लगे। दीर्घकाल की ध्यान-धरा के नीचे दबा हुआ चोर पकड मे आ गया,—"अरे! हाँ, वय मे छोटे, किंतु व्रत-पर्याय मे ज्येष्ठ ऐसे लघु-बन्धु श्रमणो को वन्दन नही कर के अपना बडप्पन बनाये रखने की भावना मेरे मन मे छुपी पडी है। मैंने कायुत्सर्ग किया, धर्म ध्यान ध्याया, किंतु साधना के पूर्व से ही छुप कर बैठे हुए इस डाकू मानसिंह का मर्दन नही किया और इस छुपे शत्रु को टिकाये रखा। मोहराज का प्रत्यक्ष मे तो मुझ पर जोर नही चला और उसके अन्य तीन महा सेना पतियो से मैं अजेय रहा, परतु मुझ मे ही छुप कर मेरी साधना के महाफल से मुझे वंचित रखने वाला यह दुष्ट मानसिंह मुझे धोखा देता रहा और मैंने इस ओर देखा ही नही। वास्तव मे हाथी के रूप मे रहे हुए मानसिंह पर मै सवार रहा। मेरी कठोर साधना और अडोल ध्यान भी इस दूषित भूमि पर चलता रहा। मैं कितना अधम हूँ ? भगवान् वृषभनाथ का पुत्र और उनके चरणो मे वर्षो तक रहने, उपदेश सुनने और सेवा करने का सुयोग पा कर भी मैं विवेकी नही बन सका। धिक्कार है मेरे अभिमान को और शतश धिक्कार है मेरे अविवेकीपन को। मै अभी जा कर सभी व्रत ज्येष्ठ श्रमणो को वन्दना करता हूँ।"

इस प्रकार विचार कर के महान् सत्वशाली महामुनिजी चलने को तत्पर हुए और पाँव उठाया। चिन्तन की इस चिनगारी ने शुक्ल ध्यान रूपी वह ज्वाला उत्पन्न की कि मानमहिपाल की अत्येष्ठि ही हो गई। मान के मरते ही उसकी ओट मे रहे हुए सूक्ष्म क्रोध माया और लोभ भी भस्म हो गए। तत्काल शुक्ल ध्यान की दूसरी ज्योति उत्पन्न हुई और ज्ञानावरण-दर्शनावरण और अन्तराय कर्म भी जल कर राख हो गए। महर्षि बाहुबलीजी परम वीतराग सर्वज्ञ-सर्वदर्शी भगवान् हो गए। वे वहाँ से चल कर भगवान् आदिनाथ के समवसरण मे उपस्थित हुए और केवलज्ञानियो की परिषद् मे बैठ गए।

भरतेश्वर का पश्चात्ताप और साधर्मी-सेवा

भगवान् ऋषभदेव स्वामी ग्रामानुग्राम विचरते और भव्य जीवो को प्रतिबोध देते हुए अष्टापद पर्वत पर पधारे। देव-देवियाँ और इन्द्र-इन्द्रानियाँ भगवान् के समवसरण मे

उपस्थित हुए। वनपालक ने महाराजाधिराज को भगवान् के पधारने की वधाई दी। इस शुभ समाचार ने सम्राट के हृदय मे हर्ष की वाढ उत्पन्न कर दी। उन्होने वधाई देने वाले को साडे वारह करोड स्वर्ण मुद्रा प्रदान कर पुरस्कृत किया और सिंहासन से नीचे उतर कर, प्रभु की ओर सात-आठ चरण चल कर विधिवत् वन्दना की। इसके वाद भरतेश्वर ने प्रभु के दर्शनार्थ समवसरण मे जाने के लिए तय्यारियाँ करने की आज्ञा दी। स्वय स्नानादि कर के वस्त्राभूषण से सुसज्जित हुए। वडी धूमधाम से सवारी निकली। प्रभु के समवसरण मे पहुँच कर भक्तिपूर्वक वन्दन-नमस्कार किया और योग्य स्थान पर सभा मे बैठे। प्रभु ने धर्मोपदेश दिया। प्रभु की उपशम-भाव-वर्धक देशना सुन कर भरतेश्वर को विचार हुआ, —

"अहो ! मैं कितना लोभी हूँ। मेरी तृष्णा कितनी वढी हुई है। मैंने अपने छोटे भाइयो का राज्य ले लिया। मेरे ये उदार हृदय वाले वन्धु, मोह को जीत कर और प्रभु के चरणो मे रह कर अपनी आत्मा को शान्त-रस मे निमग्न कर, अलौकिक आनन्द का अनुभव कर रहे है। अरे, कौआ जैसा अप्रिय पक्षी भी अकेला नही खाना। वह जहाँ-कही थोडा भी खाने जैसा देखता है, तो पहले 'कांव-कांव' कर के अपने जाति-वन्धुओ को वुलाता है और सव के साथ खाता है। किंतु मैं ऐसा पापी हुआ कि अपने छोटे भाइयो का राज्य छिन कर उन्हे साधु वनने पर विवश किया। मै उन कौओ से भी गया-वीता हो गया। यद्यपि मैंने इनका छोडा हुआ राज्य, इनके पुत्रो को ही दिया है, किन्तु यह तो उस डाकू जैसा कार्य हुआ, जो एक को लूट कर दूसरे को देता है। इसमे भी मैंने अपने अधिपत्य का स्वार्थ तो साध ही लिया। हा, मेरे छोटे भाई मोक्ष पुरुषार्थ मे लगे हैं, तव मैं सव से वडा हो कर भी अर्थ और काम पुरुषार्थ मे रग रहा हूँ। ये त्यागी हैं और मैं भोगी हूँ। इन्हे भोग से विमुख कर के मैं मन चाहे उत्कृष्ट भोग, भोग रहा हूँ। यह मुझे शोभा नही देता। मुझे अपने वन्धुओ के साथ ससार मे रह कर भ्रातृ-द्रोह के कलक को मिटाना चाहिए।"

इस प्रकार विचार कर के भरत महाराज उठे। उन्होने प्रभु के निकट जा कर विनयपूर्वक मनोभाव व्यक्त किये और अपने भाई-मुनियो को भोग का निमन्त्रण दिया। भरतेश्वर के सुसुप्त विवेक को जाग्रत करते हुए जिनेश्वर भगवान् ने कहा, —

"हे सरल हृदयी राजन् ! तेरे ये मुनि-वन्धु महा सत्वशाली हैं। इन्होंने ससार को असार और भोग को रोग-शोक और दुख का वीज जान कर त्यागा है। ये महाव्रतधारी निर्ग्रंथ हैं। अव इनका आत्माराम, धर्माराम मे विचर कर निर्दोष आनन्द का उपभोग कर रहा है। इस पवित्र उत्तमोत्तम आत्मानन्द को छोड कर अव ये पुद्गलानन्द—विषयानन्द का विचार ही नही करते। इनकी दृष्टि मे पुद्गलानन्दी जीव, उस सूअर जैसा है, जो विष्ठा

शरीर के अतिरिक्त कुछ है ही नही—मेरे पास। फिर हाथी की बात कैसी ? क्या महासती झूठ बोली ? भगवान् ने असत्य सम्वाद भेजा ? नही-नही, न तो महासतिये झूठ बोली होगी, न भगवान् ने ही असत्य उद्‌बोधन कराया होगा। उनका आशय द्रव्य हाथी से नही, भाव हाथी से होगा"—महर्षि आत्म-निरीक्षण करने लगे। दीर्घकाल की ध्यान-धरा के नीचे दवा हुआ चोर पकड मे आ गया,—"अरे ! हाँ, वय मे छोटे, किंतु व्रत-पर्याय मे ज्येष्ठ ऐसे लघु-बन्धु श्रमणो को वन्दन नही कर के अपना बडप्पन बनाये रखने की भावना मेरे मन मे छुपी पडी है। मैंने कायुत्सर्ग किया, धर्म ध्यान ध्याया, किंतु साधना के पूर्व से ही छुप कर बैठे हुए इस डाकू मानसिंह का मर्दन नही किया और इस छुपे शत्रु को टिकाये रखा। मोहराज का प्रत्यक्ष मे तो मुझ पर जोर नही चला और उसके अन्य तीन महा सेना पतियो से मैं अजेय रहा, परतु मुझ मे ही छुप कर मेरी साधना के महाफल से मुझे वचित रखने वाला यह दुष्ट मानसिंह मुझे धोखा देता रहा और मैंने इस ओर देखा ही नही। वास्तव मे हाथी के रूप मे रहे हुए मानसिंह पर मै सवार रहा। मेरी कठोर साधना और अडोल ध्यान भी इस दूषित भूमि पर चलता रहा। मैं कितना अधम हूँ ? भगवान् वृषभनाथ का पुत्र और उनके चरणो मे वर्षों तक रहने, उपदेश सुनने और सेवा करने का सुयोग पा कर भी मैं विवेकी नही बन सका। धिक्कार है मेरे अभिमान को और शतश धिक्कार है मेरे अविवेकीपन को। मै अभी जा कर सभी व्रत ज्येष्ठ श्रमणो को वन्दना करता हूँ।"

इस प्रकार विचार कर के महान् सत्वशाली महामुनिजी चलने को तत्पर हुए और पांव उठाया। चिन्तन की इस चिनगारी ने शुक्ल ध्यान रूपी वह ज्वाला उत्पन्न की कि मानमहिपाल की अत्येष्टि ही हो गई। मान के मरते ही उसकी ओट मे रहे हुए सूक्ष्म क्रोध माया और लोभ भी भस्म हो गए। तत्काल शुक्ल ध्यान की दूसरी ज्योति उत्पन्न हुई और ज्ञानावरण-दर्शनावरण और अन्तराय कर्म भी जल कर राख हो गए। महर्षि बाहुबलीजी परम वीतराग सर्वज्ञ-सर्वदर्शी भगवान् हो गए। वे वहाँ से चल कर भगवान् आदिनाथ के समवसरण मे उपस्थित हुए और केवलज्ञानियो की परिषद् मे बैठ गए।

भरतेश्वर का पश्चात्ताप और साधर्मी-सेवा

भगवान् ऋषभदेव स्वामी ग्रामानुग्राम विचरते और भव्य जीवो को प्रतिबोध देते हुए अष्टापद पर्वत पर पधारे। देव-देवियाँ और इन्द्र-इन्द्रानियां भगवान् के समवसरण मे

उपस्थित हुए। वनपालक ने महाराजाधिराज को भगवान् के पधारने की बधाई दी। इस शुभ समाचार ने सम्राट के हृदय मे हर्ष की वाढ उत्पन्न कर दी। उन्होने बधाई देने वाले को साडे वारह करोड स्वर्ण मुद्रा प्रदान कर पुरस्कृत किया और सिंहासन से नीचे उतर कर, प्रभु की ओर सात-आठ चरण चल कर विधिवत् वन्दना की। इसके बाद भरतेश्वर ने प्रभु के दर्शनार्थ समवसरण मे जाने के लिए तय्यारियाँ करने की आज्ञा दी। स्वय स्नानादि कर के वस्त्राभूषण से सुसज्जित हुए। वडी धूमधाम से सवारी निकली। प्रभु के समवसरण मे पहुँच कर भक्तिपूर्वक वन्दन-नमस्कार किया और योग्य स्थान पर सभा मे बैठे। प्रभु ने धर्मोपदेश दिया। प्रभु की उपशम-भाव-वर्धक देशना सुन कर भरतेश्वर को विचार हुआ,—

"अहो! मै कितना लोभी हूँ। मेरी तृष्णा कितनी वढी हुई है। मैंने अपने छोटे भाइयो का राज्य ले लिया। मेरे ये उदार हृदय वाले बन्धु, मोह को जीत कर और प्रभु के चरणो मे रह कर अपनी आत्मा को शान्त-रस मे निमग्न कर, अलौकिक आनन्द का अनुभव कर रहे है। अरे, कौआ जैसा अप्रिय पक्षी भी अकेला नहीं खाता। वह जहाँ-कही थोडा भी खाने जैसा देखता है, तो पहले 'काँव-काँव' कर के अपने जाति-बन्धुओ को वुलाता है और सव के साथ खाता है। किंतु मैं ऐसा पापी हुआ कि अपने छोटे भाइयो का राज्य छिन कर उन्हे साधु वनने पर विवश किया। मै उन कौओ से भी गया-बीता हो गया। यद्यपि मैंने इनका छोडा हुआ राज्य, इनके पुत्रो को ही दिया है, किन्तु यह तो उस डाकू जैसा कार्य हुआ, जो एक को लूट कर दूसरे को देता है। इसमे भी मैंने अपने अधिपत्य का स्वार्थ तो साध ही लिया। हा, मेरे छोटे भाई मोक्ष पुरुषार्थ मे लगे हैं, तब मैं सब से बडा हो कर भी अर्थ और काम पुरुपार्थ मे रग रहा हूँ। ये त्यागी हैं और मैं भोगी हूँ। इन्हे भोग से विमुख कर के मैं मन चाहे उत्कृष्ट भोग, भोग रहा हूँ। यह मुझे शोभा नही देता। मुझे अपने बन्धुओ के साथ ससार मे रह कर भ्रातृ-द्रोह के कलक को मिटाना चाहिए।"

इस प्रकार विचार कर के भरत महाराज उठे। उन्होने प्रभु के निकट जा कर विनय-पूर्वक मनोभाव व्यक्त किये और अपने भाई-मुनियो को भोग का निमन्त्रण दिया। भरतेश्वर के सुसुप्त विवेक को जाग्रत करते हुए जिनेश्वर भगवान् ने कहा,—

"हे सरल हृदयी राजन्! तेरे ये मुनि-बन्धु महा सत्वशाली हैं। इन्होने ससार को असार और भोग को रोग-शोक और दुख का बीज जान कर त्यागा है। ये महाव्रतधारी निर्ग्रंथ हैं। अब इनका आत्माराम, धर्माराम मे विचर-कर निर्दोष आनन्द का उपभोग कर रहा है। इस पवित्र उत्तमोत्तम आत्मानन्द को छोड कर अव ये पुद्गलानन्द—विषयानन्द का विचार ही नही करते। इनकी दृष्टि मे पुद्गलानन्दी जीव, उस सूअर जैसा है, जो विष्ठा

भक्षण करता है। त्यागे हुए भोगो को पुन. भोगना, इनकी दृष्टि मे वमन को चाटने के समान है।"

चक्रवर्ती सम्राट भरतेश्वर समझ गए। उन्हे पश्चात्ताप हुआ—"अभोगी दशा के साधक, भोग सम्बन्धी निमन्त्रण स्वीकार नही करते, यह ठीक ही है। मैंने बिना विचारे ही आमन्त्रण दिया और निराश हुआ, किन्तु शरीर के लिए भोजन तो आवश्यक होता ही है। मैं इन मुनियो को भोजन करा कर कुछ तो सेवा कर सकूंगा।" इस प्रकार विचार कर के उन्होने पाँच सौ गाडे भर कर भोज्य-सामग्री मँगवाई और आहार के लिए निमन्त्रण दिया। तब जिनेश्वर भगवत ने कहा—

"राजन् ! यह औद्देशिक आहार है। निर्दोष माधुकरी करने वाले निर्ग्रंथो के लिए ऐसा आहार त्याज्य है।"

नरेन्द्र ने सोचा—"हाँ, यह भोजन तो मुनियो के लिए ही बना है, इसलिए इनके लिए अग्राह्य है। किन्तु मेरे यहाँ तो ऐसी भोज्य-सामग्री है, जो इनके लिए नही बनी। वह (लड्डू, पेठा, पेडा, खाजा आदि जो नाश्ता आदि मे चलते हैं और कुछ दिन रहने पर भी खराब नही होते) इनके काम मे आ सकेगी।" यह सोच कर उन्होने मुनियो को उद्देश्य कर नही बनाई हुई ऐसी कृत-कारित दोष से रहित सामग्री के लिए निवेदन किया। जिनेन्द्र भगवान् ने कहा,—

"नरेन्द्र ! निर्ग्रंथ ब्रह्मचारियो के लिए 'राजपिण्ड' भी त्याज्य है।

अब तो भरतेश्वर सर्वथा निराश हो गए। उनके मन पर उदासी छा गई। वे सोचने लगे—"अहो ! मैं कितना दुर्भागी हूँ कि मेरी किसी प्रकार की सेवा इन त्यागी निर्ग्रंथो के लिए मान्य नही होती। मुझसे तो मेरी प्रजा और वे गरीब निर्धन लोग भाग्यशाली हैं, जो इन्हे प्रतिलाभते हैं। वे धन्य है, कृतपुण्य हैं और मुझसे लाख गुना उत्तम हैं

चक्रवर्ती को चिन्तामग्न देख कर प्रथम स्वर्ग के अधिपति शक्रेन्द्र ने प्रभु से पूछा—

"भगवन् ! अवग्रह कितने प्रकार का है ?" उत्तर मिला—"पाँच प्रकार का। यथा—

१ इन्द्र का अवग्रह—जिस वस्तु का प्रत्यक्ष मे कोई स्वामी नही हो, उस तृण, सूखा पान, कंकर आदि लेने मे दक्षिण भरत के साधु-साध्वी को शक्रेन्द्र की आज्ञा लेनी चाहिए। यह इन्द्र की आज्ञा रूप प्रथम अवग्रह हुआ।

२ चक्रवर्ती के राज्य में उनकी आज्ञा लेना।

३ माण्डलिक राजा की उसके अधिकार-क्षेत्र मे आज्ञा लेना ।

४ गृह-स्वामी से मकान, पाट आदि लेना ।

५ साधर्मी-साधु का अवग्रह ।

उपरोक्त अवग्रह का क्रम पश्चानुपूर्वी है । सब से पहले साधर्मी का अवग्रह लिया जाता है, उसके वाद सागारी का । इस प्रकार करते हुए यदि चक्रवर्ती का भी योग नही हो, तो अन्त मे देवेन्द्र का अवग्रह लिया जाता है । यदि देवेन्द्र की आज्ञा हो, किन्तु राजा की आज्ञा नही हो, तो वह वस्तु स्वीकार करने योग्य नही रहती ।"

इन्द्र ने कहा,—"प्रभो ! आपके जितने भी साधु-साध्वी हैं, उन सभी को मैं अपने अवग्रह की आज्ञा, सदा के लिए देता हूँ ।"

यह सुन कर चक्रवर्ती नरेन्द्र ने विचार किया—'इन श्रेष्ठ मुनियो ने मेरे आहारादि को स्वीकार नही किया, किन्तु अवग्रह की आज्ञा दे कर कुछ तो कृतार्थ बनूं ?" वह उठा और प्रभु के समीप पहुँच कर निवेदन किया—"प्रभु ! मै भी अवग्रह की आज्ञा देता हूँ।"

इसके वाद उन्होने देवेन्द्र से पूछा—"कहिये, इस लाई गई भोजन-सामग्री का क्या किया जाय ?"

—"नरेन्द्र ! इससे आप व्रतधारी सुश्रावको की सेवा कर के लाभान्वित हो सकते हैं"—देवेन्द्र ने कहा और भरतेश्वर ने ऐसा ही किया ।

भरतेश्वर को अपने साधर्मी इन्द्र का मनोहर रूप देख कर आश्चर्य हुआ । उन्होने पूछा—

—"देवेन्द्र ! आप देवलोक मे भी इसी रूप मे रहते हैं, या दूसरे रूप मे ?"

—"नरेन्द्र ! स्वर्ग मे हमारा ऐसा रूप नही होता । यह रूप तो हमे यहाँ के लिए खास तौर पर वनाना पडता है । हमारा असली रूप इतना प्रकाशमान होता है कि मनुष्य देख ही नही सकता"—देवेन्द्र ने कहा ।

—"शक्रेन्द्र ! मेरी वहुत दिनो से इच्छा हो रही है कि मै आपका असली रूप देखूं । क्या आप मेरी इच्छा पूर्ण करेंगे"—राजेन्द्र ने अपना मनोरथ व्यक्त किया ।

देवेन्द्र ने राजेन्द्र की इच्छा पूरी करने के लिए अपनी एक अगुली दिखाई । वह सुशोभित अगुली, दीपशिखा के समान प्रकाशित एव कान्तियुक्त थी । भरतेश्वर उस दिव्य रूप को देख कर प्रसन्न हुए । इन्द्र और नरेन्द्र, जिनेन्द्र को नमस्कार कर के स्वस्थान गए । नरेन्द्र ने देवेन्द्र की अगुली जैसा प्रकाशमान आकार वना कर जनता को दिखाने के लिए स्थापन किया और इन्द्रोत्सव मनाया । उसी दिन से 'इन्द्र महोत्सव' की प्रथा प्रारम्भ हुई ।

इन्द्र के परामर्श से भरतेश्वर ने सुश्रावको को भोजन कराया। और तभी से भरतेश्वर ने सभी श्रावको को सदा के लिए अपनी भोजनशाला मे भोजन करने का निमन्त्रण दे दिया और कहा—

"अब आप कृषि आदि आरंभजनक कार्य नही कर के स्वाध्याय मे रत रह कर निरन्तर अपूर्व ज्ञानाभ्यास करने मे ही तत्पर रहे और भोजन कर के मेरे पास आ कर प्रतिदिन यह कहा करे—"**जितो भवान् वर्द्धते भीस्तस्मान्माहन-माहन**" (अर्थात् आप जीते गये हैं, भय बढ रहा है, इसलिए आत्मगुणो को मत हणो, मत हणो)।

सम्राट का निमन्त्रण स्वीकार कर श्रावकगण वही भोजन करने लगे और भरतेश्वर को उद्‌बोधन करने लगे।

देवो के समान रति-क्रीडा मे मग्न एव प्रमादी बने हुए भरतेश्वर, उन बोधप्रद शब्दो को सुन कर विचार करते कि "मै किससे जीता गया हूँ ? मुझे किसने जीत लिया है ? मुझे किसका भय है ? किस प्रकार का भय बढ रहा है ?" विचार करते, वे अपने मन से ही समाधान करते—"हाँ, हाँ, ठीक तो है। मै क्रोधादि कषायो से जीता गया हूँ और इन कषायो से ही मेरे लिए भय-स्थान बढ रहा है। ये मेरे हितैषी मुझे सावधान कर रहे हैं और कह रहे हैं कि—"ओ मोहान्ध ! सावधान हो जा। तेरे आत्मगुणो का हनन हो रहा है। अपनी आत्मा की तो दया कर। मत कर ऐ नादान ! अपने आत्मगुणो की हत्या मत कर।" ये विवेकवत साधर्मी वन्धु मुझे सावधान करते हैं। मुझ पर उपकार करते हैं। अहो ! मै कितना प्रमादी और कैसा विषय-लोलुप हूँ कि यह सब सुनता और समझता हुआ भी भूल जाता हूँ और कामदेव के प्रबल प्रवाह मे बहता ही जा रहा हूँ। यह कैसी विडम्वना है—मेरी। मै अपने आत्मगुणो के प्रति इतना उदासीन क्यो हो गया ?"

इस प्रकार भरतेश्वर कभी धर्म-चिन्तन मे, तो कभी विषय-प्रवाह में बह जाते हैं। जव साधर्मियो द्वारा उद्‌बोधन मिलता, तो विकारी प्रवाह रुक कर धर्म-भावना प्रवाहित होने लगती और जब परम सुन्दरी श्रीदेवी अथवा अन्य मदनमोहिनी का मोहक रूप एव उत्तेजक स्वर का आकर्षण बढता, तो उस पवित्र भावना पर पानी फिर जाता। उदयभाव का जोर एवं वालवीर्य का प्रभाव दुर्द्धर्ष होता है। निकाचित उदय को रोकने की सामर्थ्य किसमे है ? फिर भी हृदय मे जगी हुई दर्शन-ज्योति व्यर्थ नही जाती। वह मोह के महावेग को कालान्तर मे नष्ट कर के ही रहती है।

भरतेश्वर की इस प्रकार की डोलायमान स्थिति चल रही है। एक दिन पाकाधिकारी (प्रधान रसोइदार) ने आ कर महाराजाधिराज से निवेदन किया,—

"स्वामिन् ! भोजनशाला मे भोजन करने वालो की संख्या वहुत वढ गई है। वहुत से लोग झूठ-मूठ ही अपने को श्रावक वता कर भोजन कर जाते हैं। उनकी परीक्षा कैसे की जाय, जिससे असली-नकली का भेद किया जा सके ?"

—"अरे भाई ! तुम भी तो श्रावक हो। तुम्हे श्रावक की परीक्षा करना नही आता क्या ? अव जो अपने को श्रावक वतावे, उससे पूछो कि—श्रावक के व्रत कितने होते हैं और तुम कितने व्रतो का पालन करते हो ? जव वे पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत का स्वरूप वतावे और अपने को उनका पालक कहे, तो उसे मेरे पास भेजो। मैं उसके शरीर पर काकिणी-रत्न से तीन रेखाएँ खिच दूंगा। ये रेखाएँ उनके ज्ञान, दर्शन और चारित्र का परिचय देगी। जिसके शरीर पर उत्तरासग के समान तीन रेखाएँ हो, उन्हे श्रावक समझो और उन्ही को भोजन कराओ"—भरतेश्वर ने परीक्षा की छाप निश्चित् कर दी। इसका प्रभाव भी अच्छा हुआ। नकली श्रावको की भीड कम हो गई। भरतेश्वर के वाद उनके उत्तराधिकारी महाराज 'सूर्ययश' के शासन काल मे काकिणी-रत्न नही रहा, तव स्वर्ण के तीन तार पहिनना, श्रावक का परिचय माना गया। उनके वाद चाँदी की, यो होते-होते सूत्र के तीन धागे का परिचय-सूत्र धारण किया जाने लगा। इस परिचय चिन्ह को "जैनोपवित" कहाजा ने लगा। जैनोपवित का अनुकरण 'यज्ञोपवित' के रूप मे हुआ।

वर्ष मे दो वार श्रावको की परीक्षा होती और नये बने हुए श्रावक उसमे सम्मिलित होते। श्रावको के द्वारा भरतेश्वर को उद्वोधन दिया जाता रहा। वे "**f. ो ान् वर्द्धते भीस्तस्मान्**" को सामान्य स्वर मे और "**माहन**" शब्द को उच्च स्वर मे कहते, इसलिए वे "**माहन**" उपनाम से प्रसिद्ध हुए। आगे चल कर यह माहन शब्द 'ब्राह्मण' के रूप मे परिर्वतित हो गया। प्राकृत का माहन, सस्कृत मे ब्राह्मण वन जाता है।

जव धर्म-प्रिय चक्रवर्ती सम्राट, श्रावको को सन्मानपूर्वक भोजन कराने लगे, तो प्रजा मे भी उनके प्रति आदर वढा और साधर्मी की भोजनादि से सेवा करने की शुभ प्रवृत्ति फैली। सम्राट ने सम्यक्ज्ञान के प्रचार और स्वाध्याय के लिए जिनेश्वरो की स्तुति, तत्त्व बोध, आगार धर्म और अनगार धर्म—समाचारी से युक्त चार वेद की रचना की। इनका स्वाध्याय सर्वत्र होने लगा। आचार्य लिखते हैं कि आगे चल कर इन्ही वेदो से आकर्षित हो कर अन्य विद्वानो ने अपने मतानुसार लौकिक वेदो की रचना की।

रीचि की था

भरतेश्वर का पुत्र "मरीचि" भी भगवान् ऋषभदेवजी का सर्वत्यागी शिष्य था। वह स्वभाव से ही सुकुमार और कष्ट सहन करने मे कच्चा था। ग्रीष्म ऋतु के मध्यान्ह के प्रचण्ड ताप से तप्त भूमि पर चलते हुए मरीचि के पाँव जलने लगे, पसीना बहने लगा, शरीर पर धूल लग कर चिपकने लगी और मैल की दुर्गन्ध आने लगी। प्यास के मारे गला सूखने लगा। इस प्रकार के परीषहो से मरीचि घबडा उठा। उसकी भावना डिग गई, किन्तु अपने कुल का गौरव उसे पकडे रहा। उसने सोचा—"मैं चक्रवर्ती सम्राट भरतेश्वर का पुत्र और प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव का पौत्र हूँ। मुझे कायरो की भाति सयम-भ्रष्ट होना शोभा नही देता।" इन विचारो ने उसे साधुता त्याग कर पुन. ससारी बनने से तो रोक दिया, किन्तु व्याप्त शिथिलता के कारण उसका निर्दोष रीति से सयम पालना असभव हो गया। उसने निश्चय किया कि—

"भगवान् के साधु तो मन, वचन और काया के तीनो दण्ड को जीते हुए हैं, किन्तु मैं इन तीनो दण्डो से दण्डित हूँ, इसलिए मैं 'त्रिदण्डी' बनूंगा। श्रमण अपने सिर के केशो का लोच और इन्द्रियो का जय कर के मुण्डित सिर रहते है, किन्तु मैं लोच परीषह सहन नही कर सकता, इसलिए उस्तरे से मुंडन कराउँगा और शिखा धारण करूँगा। ये अनगार महात्मा स्थावर और त्रस जीवो की विराधना से विरत है, तब मैं केवल त्रस जीवो के वध से ही विरत रहूँगा। ये निर्ग्रंथ सर्वथा अपरिग्रही हैं, किंतु मैं तो स्वर्ण-मुद्रिका रखूंगा। ये सर्वत्यागी सत उपानह भी नही पहिनते, किन्तु मैं तो पैरो मे जूते पहिन कर काँटे, ककर और गरमी के कष्ट से बचूंगा। ये शील की सुगन्धि से सुगन्धित एव शीतल हैं, तब मैं चन्दन का लेप कर सुगन्धित एव शीतल बनूंगा। मै शीत और ताप से बचने के लिए छत्र धारण करूँगा। ये श्वेत वस्त्र पहिनते है, तो मै कषाय से कलुषित होने के कारण कषैला—गेरुआ वस्त्र धारण करूँगा। ये मैल का परीषह जीत चुके है, किन्तु मैं तो परिमित्त जल मे स्नान एव पान करूँगा।"

इस प्रकार अपने-आप विचार कर के अपना लिंग—वेश और आचार स्थिर किया और तदनुसार आचरण करता हुआ भगवान् के साथ ही विचरने लगा। जिस प्रकार खच्चर, न तो घोडा कहलाता है और न गधा ही, उसी प्रकार मरीचि न तो साधु रहा, न गृहस्थ ही। मरीचि के इस विचित्र वेश और आचार को देख कर लोग उससे उसके धर्म का उपदेश देने का आग्रह करने लगे, तो वह निर्ग्रंथ-मुनियो के मूलगुण और उत्तरगुण वाले धर्म का ही उपदेश करता। यदि कोई उसे पूछता कि 'आप इस धर्म का पालन क्यों

नही करते ?' तो वह अपनी अशक्ति ही वताता। यदि उसके प्रतिबोध से कोई विरक्त हो कर दीक्षा लेना चाहता, तो उसे वह भगवान् के पास भेज कर दीक्षा दिलवाता।

इस प्रकार विचरते हुए कालान्तर मे मरीचि के शरीर मे असह्य रोग उत्पन्न हुआ। संयम-भ्रष्ट होने के कारण किसी भी साधु ने उसकी वैयावृत्य नही की। सेवा एव सान्त्वना के अभाव मे वह रोग उसे विशेप पीडाकारी लगा। उसे विचार हुआ—"हा, मैं अकेला रह गया। ऐसे विकट समय मे कोई भी साधु मेरी सम्भाल नही करता। मैं सर्वथा निराधार हो गया। यह मेरा ही दोप है। ये शुद्धाचारी श्रमण मेरे जैसे हीनाचारी से सम्बन्ध नही रखते। यह इनका दोष नही है। जिस प्रकार उत्तम कुल के व्यक्ति, हीन कुल वाले म्लेच्छ से सम्बन्ध नही रखते, उसी प्रकार ये निरवद्य चर्या वाले श्रमण भी अपनी मर्यादा मे रहते हुए मुझ सावद्य प्रवृति वाले की सेवा नही करते। इन उत्तम निर्ग्रंथो से सेवा कराना भी मुझे उचित नही है। क्योकि इससे व्रत-भजक पापाचारी का समर्थन होता है और अव्रत की वृद्धि होती है। जिस प्रकार गधे और गजराज का साथ नही रहता, उसी प्रकार मुझसे इनका सम्बन्ध एव सहयोग नही रहता"—इस प्रकार विचार करते वह मन को शान्त करने लगा। रोग का प्रकोप कम हुआ और वह क्रमश रोग मुक्त हो गया।

किसी समय भगवान् के पास एक 'कपिल' नामका राजपुत्र आया। उसने धर्मोपदेश सुना, किन्तु प्रभु का उपदेश उसे रुचिकर नही हुआ। वह दुर्भव्य था। उसने विचित्र वेश वाले मरीचि को देखा। वह उसके पास आया और उसको धर्म सुनाने का आग्रह किया। मरीचि ने कहा—"यदि तुम्हे धर्म चाहिए, तो भगवान् के पास ही जाओ। धर्म वही है, मेरे पास नही है।" कपिल फिर भगवान् के पास आया। उसके जाने के वाद मरीचि को विचार हुआ कि—'यह पुरुप भी कैसा दुर्भागी है, जिसे भगवान् का उत्तमोत्तम धर्म नही रुचा और मेरे पास आया।" वह इस प्रकार सोच ही रहा था कि कपिल पुन मरीचि के पास आया और कहने लगा,—

"मुझे तो उनका धर्म अच्छा नही लगा। आपके पास भी धर्म होना ही चाहिए। यदि आप अपना धर्म मुझे सुनावे, तो मैं सुनना चाहता हूँ।"

मरीचि ने सोचा—"यह भी कोई मेरे जैसा ही है। अच्छा है, मुझे भी एक सहायक की आवश्यकता है। यदि यह मेरा शिष्य वन जाय, तो मेरे लिए लाभदायक ही होगा।" इस प्रकार विचार कर उसने कहा,—

"धर्म तो मेरे पास भी है और वहाँ भी है। यदि मेरे पास धर्म नही होता, तो मैं

इस प्रकार क्यो रहता ।"

मरीचि ने इस प्रकार उत्सूत्र-भाषण कर के कोटानुकोटि सागरोपम प्रमाण उत्कृट कर्म का बन्ध किया और ससार-भ्रमण बढाया। उसने कपिल को दीक्षित कर के अपना शिष्य वनाया। उसी समय से परिव्राजक की परम्परा स्थापित हुई।

रीचि अंतिम तीर्थंकर होंगे

कालान्तर मे जिनेश्वर भगवान् ग्रामानुग्राम विचरते हुए पुन. अष्टापद पर्वत पर पधारे। भरतेश्वर अपने परिवार के साथ वन्दन करने आये। धर्मोपदेश सुनने के बाद विनयपूर्वक पूछा,—

"प्रभो! भविष्य मे आपके समान और भी कोई धर्मनायक, धर्मचक्रवर्ती इस भरतखण्ड मे होगा ?"

—हा, भरत! इस अवसर्पिणी काल मे मेरे बाद और भी तेईस तीर्थंकर होंगे और तेरे अतिरिक्त ग्यारह चक्रवर्ती नरेश होगे।" प्रभु ने भावी तीर्थंकरो और चक्रवर्तियो का समय और नाम-गोत्रादि सुनाया और वासुदेव-प्रतिवासुदेव का वर्णन भी सुनाया। सम्राट ने पुन. प्रश्न किया;—

"हे नाथ! इस महापरिषद् मे ऐसा कोई भाग्यशाली जीव है, जो भविष्य मे तीर्थंकर पद प्राप्त कर के भव्य जीवो का उद्धारक बनेगा ?"

—"वह त्रिदण्ड धारण किया हुआ तुम्हारा पुत्र मरीचि, अभी तो मलिन हो गया है, किन्तु भविप्य मे वह 'त्रिपृष्ट' नामका प्रथम वासुदेव होगा, फिर कालान्तर मे पश्चिम महाविदेह मे 'पुण्यमित्र' नामका चक्रवर्ती नरेश होगा। उसके वाद वहुत संसार परिभ्रमण कर के इसी भरत-क्षेत्र मे 'महावीर' नाम का चौवीसवां तीर्थंकर होगा और मुक्त हो जायगा।"

भगवान् से भविप्यवाणी सुन कर भरतेश्वर मरीचि के निकट आये और शिष्टाचार साधते हुए बोले—

"मैं तुम्हारे इस पाखण्ड के कारण तुम्हे आदर नही देता और न तुम्हें वन्दना करने के लिए आया हूं। मैं तुम्हे प्रभु की कही हुई यह भविष्यवाणी सुनाने आया हूं कि तुम भविप्य मे इस भरत-क्षेत्र मे प्रथम वासुदेव और कालान्तर में महाविदेह मे चक्रवर्ती और

उसके बहुत काल बीत जाने पर इसी भरत-क्षेत्र के चौबीसवे तीर्थंकर होओगे।"

इस प्रकार भविष्य कथन सुना कर सम्राट प्रभु के पास आये और वन्दन-नमस्कार कर के स्वस्थान गए।

भविष्यवाणी सुन कर मरीचि परम प्रसन्न हुआ। उसकी प्रसन्नता हृदय मे समाती नही थी। उसने करस्फोट करते हुए कहा—

"अहो, मैं कितना भाग्यशाली हूँ कि सभी वासुदेवो मे प्रथम वासुदेव होउँगा, चक्रवर्ती भी बनूंगा और इसी भरत-क्षेत्र मे इसी अवसर्पिणी काल का अतिम तीर्थंकर भी बनूंगा। अहा, मै सभी उत्तम पदवियो का उपभोग कर के मोक्ष प्राप्त कर लूंगा। मेरा कुल भी कितना ऊँचा है कि जिसमे मेरे पितामह तो इस काल के प्रथम तीर्थंकर भगवान् हैं, मेरे पिता प्रथम चक्रवर्ती महाराजाधिराज हैं और मै प्रथम वासुदेव हूँगा। विश्वभर मे मेरा कुल सर्वश्रेष्ठ है।"

जिस प्रकार मकडी अपनी ही बनाई हुई जाल मे फँस जाती है, उसी प्रकार मरीचि ने भी कुल का गर्व कर के कुल-मद से 'नीच-गोत्र' कर्म का बन्ध कर लिया।

भगवान् का मोक्ष गमन

भगवान् ऋषभदेवजी भव्य जीवो को मोक्षमार्ग बताते हुए और अपने तीर्थंकर नामकर्मादि की निर्जरा करते हुए ग्रामानुग्राम विचरते रहे। भगवान् के उपदेश से प्रभावित हो कर मोक्षाभिलाषी लाखो मनुष्य प्रव्रजित हुए और लाखो ने श्रावक धर्म धारण किया। प्रभु के मोक्षगमन का समय निकट आ रहा था। मोक्ष-कल्याण से सम्बन्धित क्षेत्र की ओर भगवान् का सहजरूप से पदार्पण हो रहा था। भगवान् अष्टापद पर्वत पर पधारे। एक शिला पर पद्मासन से विराजमान हो गए। अनाहारक दशा मे बाधक आहर पानी छूट गया। चौदह भक्त जितने काल तक निराहार तप और निश्चल—पादपोपगमन दशा मे रहे। अघातिया कर्मों की स्थिति एवं शरीर सम्बन्ध क्षय होने ही वाला था। इस अपूर्व स्थिति को प्राप्त होने के लिए शुक्लध्यान की तीसरी मजिल मे प्रवेश हुआ और योगो का निरुधन होने लगा। योग निरोध होते ही चरम गुणस्थान मे प्रवेश कर शुक्ल-ध्यान के शिखर पर आरूढ हो गए। पर्वत के समान सर्वथा अडोल, अकम्प एवं अचल ऐसी अपूर्व स्थिरता को प्राप्त कर,के शरीर और कर्म-बन्धनो को त्याग दिया और उस अणु समय मे ही लोकाग्र

पर पहुँच कर सिद्ध हो गए। भगवान् इस देह का त्याग कर अजर, अमर, अशरीरी, परमेश्वर परमात्मा हो गए। परम पारिणामिक भाव प्रकट कर के सादि-अनन्त सहज आत्म-सुख के भोक्ता बन गए।

अनन्तानन्त गुणो के स्वामी ऐसे परमात्मा के प्रस्थान कर जाने पर देह, उजडे हुए घर के समान सुनसान हो गया। क्या करे अब उस देह का ? हाँ, यह ठीक है कि उसमे जगदुद्धारक, अनन्त गुणो के भंडार परमपूज्य परमात्मा निवास कर चुके हैं। यह वही पाँच सौ धनुष ऊँचा, वज्र-ऋषभ-नाराच सहनन और समचतुरस्र सस्थान सस्थित और परम शुभ लक्षणो से युक्त शरीर है। जिसकी प्राप्ति करोडो मनुष्यो को नही होती, अरे, अनन्तानन्त जीवो को नही होती। ऐसे अनन्त जीव मोक्ष पा चुके, जिन्हें वज्र-ऋषभ-नाराच सहनन और प्रथम सस्थान तो मिला, किन्तु ऐसे उत्तमोत्तम लक्षणो से युक्त महाप्रभावशाली देह की प्राप्ति नही हुई। किन्तु इसका महत्व उस महान् आत्मा के साथ ही था। इसके सहनन, सस्थान और लक्षण, उस आत्मा के कारण ही महत्व रखते थे। उसके प्रस्थान करने के बाद इसका सारा महत्व लुप्त हो गया। हस (आत्मा) = परमहस चला गया और मानसरोवर सूना हो गया। अब इसको उचित रीति से नष्ट कर देना ही बुद्धिमानी है।

यह वही शरीर है, जिसके द्वारा लाखो मनुष्यो का उपकार हुआ और परम्परा से असंख्य जीवो का उद्धार हुआ। इसको देखते ही भव्य जीवो की प्रसन्नता का पार नही रहता था। जिनके दर्शन, श्रवण एवं वन्दन के लिए लोग तरसते थे। आज इस देह के होते हुए भी वे लोग शोकाकुल हो कर रो रहे है। क्यो ? इसलिए कि वह देहेश्वर, देह छोड कर प्रयाण कर गया। अब यह घर सर्वथा सूना हो गया। अब इस शरीर से उन परमात्मा का कोई सम्बन्ध नही रहा। वे उस परम प्रकाशमान् परमात्मा के विरह से रो रहे हैं। शुभ होते हुए भी उनमे पर दृष्टि तो है। जब तक अपने मे रहे हुए परमात्म स्वरूप आत्मा की परम दशा प्रकट नही होती, तब तक परमात्मा का अवलम्बन ही आधारभूत है। इस परम ज्योति के प्रकाश मे अपनी सुसुप्त मन्दतम ज्योति भी क्रमश सतेज की जा सकती है। पहलवान से शिक्षा पा कर एक बच्चा भी स्वयं पहलवान एवं अपराजित योद्धा बन सकता है।

भरतेश्वरादि भव्यात्मा, उस देह—अखण्ड एव परिपूर्ण देह के उपस्थित होते हुए भी परमात्म-विरह से दुखी हो रहे थे—रुदन कर रहे थे। उनकी आँखो से अश्रुधारा बह रही थी। ग्रथकार श्रीमद् हेमचद्राचार्य लिखते हैं कि—'भगवान् के विरह का आघात नही सह सकने के कारण चक्रवर्ती सम्राट मूच्छित हो गए और बहुत समय तक संज्ञाशून्य

रहे।' वहाँ उनके सामने, वही देह—अखण्ड एव परिपूर्ण देह उपस्थित होते हुए भी वे अपना संतोष नही कर के तीर्थंकर भगवान् के विरह की वेदना से अपार दुःख का वेदन करने लगे।

प्रथम स्वर्ग का अधिपति शक्रेन्द्र, अपने देव विमान मे आनन्दानुभव कर रहे थे कि हटात् उनका आसन चलायमान हुआ। वे स्तब्ध रह गए। अवधिज्ञान का उपयोग लगाया। उन्हे जिनेश्वर का विरह मालूम हुआ। वे भी शोक-मग्न हो गए और परिवार सहित अष्टापद पर्वत पर आये। उसी प्रकार सभी इन्द्र और देवी-देव आये। सभी की आँखो मे आँसू थे। सभी रुदन कर रहे थे।

जिनेश्वर के उस शव को देवो ने स्नान कराया, वस्त्र पहिनाये और आभूषण भी पहिनाये। इसके बाद श्रेष्ठ गोशीर्ष चन्दन की लकडी से तीन चिताएँ रची गई—१ भगवान् श्री ऋषभदेवजी के लिए २ गणधरो के लिए और ३ शेष सभी साधुओ के लिए। फिर तीन शिविकाएँ बनाई। एक शिविका मे भगवान् के शरीर को स्थापन किया, दूसरी मे गणधरो के शरीर को और तीसरी मे शेष साधुओ के शरीर को रखा। उन तीनों शिविकाओ को चिताओ मे स्थापन किया और अग्निकाय देव ने अग्नि उत्पन्न की। वायुकुमार देव ने वायु चला कर अग्नि को सतेज कर प्रज्वलित किया। चिता में अगर, तुरुक, घृत आदि डाला गया। चिताओ मे शरीर जल कर भस्म हो गए। फिर मेघकुमार देवो ने क्षीरोदक की वर्षा की। उसके बाद जिनेश्वर की चिता मे से शक्रेन्द्र ने ऊपर की दाहिनी ओर की दाढा ग्रहण की, ईशानेन्द्र ने बाँयी ओर की, असुरेन्द्र चमर ने नीचे की ओर की दाहिनी और बलिन्द्र ने बाँयी ओर की डाढ ग्रहण की। इसके बाद अन्य देवो ने शेष अस्थि-भाग ग्रहण किया।

उस दाह स्थान पर देवो ने चैत्य-स्तूप बनाये। निर्वाण महोत्सव किया। नन्दीश्वर द्वीप पर जा कर अष्टान्हिका महोत्सव किया। इसके बाद उन दाढो आदि को ले कर स्वस्थान आये और उन दाढो को डिब्बो मे रख कर चैत्य-स्तभ मे रखी और उनकी अर्चना की।

भगवान् ऋषभदेवजी के ८४ गणधर, ८४००० साधु, ब्राह्मी-सुन्दरी आदि ३००००० साध्वियें, श्रेयास आदि श्रावक ३०५००० और सुभद्रादि ५५४००० श्राविकाएँ थी। साधुओ मे ४७५० जिन नही किंतु जिन समान ऐसे चौदह पूर्वधर मुनि थे। ९००० अवधिज्ञानी, २०००० केवलज्ञानी २०६०० वैक्रिय लब्धि वाले, १२६५०+ विपुलमति मन-

+ इसमे मतान्तर है, १२७५० भी माने जाते हैं।

पर्यवज्ञानी, १२६५० वादिविजय लब्धि वाले, २२९०० अनुत्तर विमान मे गये, २०००० साधु सिद्ध हुए, ४०००० साध्वियें सिद्ध हुई।

भगवान् आदिनाथ स्वामी उत्तरापाढा नक्षत्र मे, सर्वार्थसिद्ध महाविमान से चव कर माता के गर्भ मे आये। उत्तरापाढा नक्षत्र मे ही जन्मे, राज्याभिषेक, दीक्षा और केवलज्ञान ये पाँचो प्रसंग उत्तरापाढा नक्षत्र मे ही हुए और अभिजीत नक्षत्र मे सिद्ध हुए।

प्रभु वीस लाख पूर्व तक कुमार अवस्था मे रहे। तिरसठ लाख पूर्व तक राज्यासीन रहे। इस प्रकार ८३ लाख पूर्व तक गृहस्थावस्था मे रहे। इसके बाद दीक्षा ग्रहण की। एक हजार वर्ष तक छद्मस्थावस्था मे साधु रहे और एक हजार वर्ष कम एक लाख पूर्व तक केवलज्ञानी तीर्थंकर रहे। कुल संयमी-जीवन एक लाख पूर्व का रहा और कुल आयु चौरासी लाख पूर्व की थी। जब तीसरे आरे के तीन वर्ष, आठ मास और पन्द्रह दिन शेष रहे, तब सिद्धगति को प्राप्त हुए।

प्रथम तीर्थंकर

भगवान्

ऋषभदेव स्वामी का चरित्र सम्पूर्ण

भर ` र को केवलज्ञान और निर्वाण

भरतेश्वर को भगवान् के मोक्ष-गमन का गहरा आघात लगा। उनके मन पर से शोक का प्रभाव हटता ही नही था। वे चिन्तामग्न रहने लगे। मन्त्रियो को चिन्ता हुई। उन्होने मिल कर निवेदन किया—"भगवान् ने तो अपना मनोरथ सफल कर लिया। वे जन्म-मरण के फन्दे को तोड कर मृत्युजय वन गये। वे परमात्मा अनन्त आत्म-सुखो मे लीन है। उनके लिए शोक करना तो व्यर्थ ही है। अब आपका व हमारा कर्त्तव्य है कि हम शोक-सताप छोड कर अपना उत्तरदायित्व निभावे।"

मन्त्रियो के परामर्श से भरतेश्वर सम्भले और राज-कार्य मे प्रवृत्त होने लगे। वे नगर के बाहर उपवन मे घूमने जाया करते। कौटुम्बिकजन उन्हे उपवन-उद्यानो मे ले जाते। वहाँ सुन्दर स्त्रियो का झुण्ड उपस्थित हो जाता और भरतेश्वर उनके साथ लता-मण्डपो मे जा कर इन्द्रियो के विविध प्रकार के रसो मे निमग्न हो जाते। वे रानियो के साथ कुण्ड मे उतर कर जल-क्रीडा भी करते रहते थे।

भगवान् के मोक्ष-गमन के बाद पाँच लाख पूर्व तक उनका भोगी-जीवन रहा। वे कभी मोह मे मस्त हो जाते, तो कभी विराग के भावो से विरक्त हो जाते। पूर्व-भव के चारित्र के संस्कार उनकी आत्मा को झकझोर कर जाग्रत करते रहते। उदित पुण्य-बन्ध को वेदते और निर्जरते हुए काल व्यतीत होने लगा और वेद-मोहनीयादि प्रकृति का बल भी कम होने लगा। घातीकर्मो की प्रकृतियो के क्षय होने का समय निकट आ रहा था। एक बार वे जल-क्रीडा के पश्चात् वस्त्राभूपण से सज्ज हो कर अत पुर के आदर्श भवन मे गये। वहाँ शरीर प्रमाण ऊँचे, निर्मल एव उज्ज्वल दर्पण मे अपने शरीर को देखने लगे। देखते-देखते उन्हे पुद्गल की परिवर्तनशीलता का विचार हुआ। अवस्था के अनुसार शरीर मे परिवर्तन होने का दृश्य, उनकी दृष्टि मे स्पष्ट हुआ। इस दृश्य ने उन्हे अनित्य भावना मे जोड कर धर्मध्यान मे लगा दिया। धर्मध्यान मे तल्लीन होने के बाद वर्धमान परिणाम से वे शुक्लध्यान मे प्रवेश कर गए और क्षपकश्रेणी चढ कर समस्त घातीकर्मो को नष्ट कर के सर्वज्ञ सर्वदर्शी वन गए। भगवान् भरतेश्वर ने वस्त्रालकार उतारे+, केशो का लोच

+ ग्रथकार लिखते है कि—भरतेश्वर की अगुली मे से एक अगुठी निकल कर गिर गई थी। शरीर निरीक्षण के समय अगुली को सूनी—नगी—अशोभनीय देख कर उन्हे विचार हुआ कि—"क्या इस शरीर की शोभा, इन दूसरे पुद्गलो से ही है? इन्ही मे यह शोभनीय दिखाई देता है?" इस विचार ने दूसरी अगुली से भी अगुठी निकलवाई। वह भी वैसी ही अशोभनीय लगने लगी। फिर तो क्रमश सारे शरीर के आभूषणो को उतार दिया। अब तो सारा शरीर ही अशोभनीय लगने लगा। इस पर से देह

पर्यायज्ञानी, १२६५० वादिविजय लब्धि वाले, २२९०० अनुत्तर विमान मे गये, २०००० साधु सिद्ध हुए, ४०००० साध्वियें सिद्ध हुई।

भगवान् आदिनाथ स्वामी उत्तराषाढा नक्षत्र मे, सर्वार्थसिद्ध महाविमान से चव कर माता के गर्भ मे आये। उत्तराषाढा नक्षत्र मे ही जन्मे, राज्याभिषेक, दीक्षा और केवलज्ञान ये पाँचो प्रसंग उत्तराषाढा नक्षत्र मे ही हुए और अभिजीत नक्षत्र मे सिद्ध हुए।

प्रभु बीस लाख पूर्व तक कुमार अवस्था मे रहे। तिरसठ लाख पूर्व तक राज्यासीन रहे। इस प्रकार ८३ लाख पूर्व तक गृहस्थावस्था मे रहे। इसके बाद दीक्षा ग्रहण की। एक हजार वर्ष तक छदमस्थावस्था मे साधु रहे और एक हजार वर्ष कम एक लाख पूर्व तक केवलज्ञानी तीर्थंकर रहे। कुल सयमी-जीवन एक लाख पूर्व का रहा और कुल आयु चौरासी लाख पूर्व की थी। जब तीसरे आरे के तीन वर्ष, आठ मास और पन्द्रह दिन शेष रहे, तव सिद्ध गति को प्राप्त हुए।

प्रथम तीर्थंकर

भगवान्

ऋषभदेव स्वामी का चरित्र सम्पूर्ण

भरतेश्वर को केवलज्ञान और निर्वाण

भरतेश्वर को भगवान् के मोक्ष-गमन का गहरा आघात लगा। उनके मन पर से शोक का प्रभाव हटता ही नही था। वे चिन्तामग्न रहने लगे। मन्त्रियो को चिन्ता हुई। उन्होने मिल कर निवेदन किया—"भगवान् ने तो अपना मनोरथ सफल कर लिया। वे जन्म-मरण के फन्दे को तोड कर मृत्युजय वन गये। वे परमात्मा अनन्त आत्म-सुखो मे लीन है। उनके लिए शोक करना तो व्यर्थ ही है। अव आपका व हमारा कर्त्तव्य है कि हम शोक-सताप छोड कर अपना उत्तरदायित्व निभावे।"

मन्त्रियो के परामर्श से भरतेश्वर सम्भले और राज-कार्य मे प्रवृत्त होने लगे। वे नगर के वाहर उपवन मे घूमने जाया करते। कौटुम्बिकजन उन्हे उपवन-उद्यानो मे ले जाते। वहाँ सुन्दर स्त्रियो का झुण्ड उपस्थित हो जाता और भरतेश्वर उनके साथ लता-मण्डपो मे जा कर इन्द्रियो के विविध प्रकार के रसो मे निमग्न हो जाते। वे रानियो के साथ कुण्ड मे उतर कर जल-क्रीडा भी करते रहते थे।

भगवान् के मोक्ष-गमन के वाद पाँच लाख पूर्व तक उनका भोगी-जीवन रहा। वे कभी मोह मे मस्त हो जाते, तो कभी विराग के भावो से विरक्त हो जाते। पूर्व-भव के चारित्र के संस्कार उनकी आत्मा को झकझोर कर जाग्रत करते रहते। उदित पुण्य-वन्ध को वेदते और निर्जरते हुए काल व्यतीत होने लगा और वेद-मोहनीयादि प्रकृति का वल भी कम होने लगा। घातीकर्मो की प्रकृतियो के क्षय होने का समय निकट आ रहा था। एक वार वे जल-क्रीडा के पश्चात् वस्त्राभूषण से सज्ज हो कर अत पुर के आदर्श भवन मे गये। वहाँ शरीर प्रमाण ऊँचे, निर्मल एव उज्ज्वल दर्पण मे अपने शरीर को देखने लगे। देखते-देखते उन्हें पुद्‌ग्‌ल की परिवर्तनशीलता का विचार हुआ। अवस्था के अनुसार शरीर मे परिवर्तन होने का दृश्य, उनकी दृष्टि मे स्पष्ट हुआ। इस दृश्य ने उन्हे अनित्य भावना मे जोड कर धर्मध्यान मे लगा दिया। धर्मध्यान मे तल्लीन होने के बाद वर्धमान परिणाम से वे शुक्लध्यान मे प्रवेश कर गए और क्षपकश्रेणी चढ कर समस्त घातीकर्मो को नप्ट कर के सर्वज्ञ सर्वदर्शी वन गए। भगवान् भरतेश्वर ने वस्त्रालकार उतारे+, केशो का लोच

+ ग्रथकार लिखते है कि--भरतेश्वर की अगुली मे से एक अगुठी निकल कर गिर गई थी। शरीर निरीक्षण के समय अगुली को सूनी—नगी--अशोभनीय देख कर उन्हे विचार हुआ कि--"क्या इस शरीर की शोभा, इन दूमरे पुद्‌गलो से ही है? इन्ही मे यह शोभनीय दिखाई देता है?" इस विचार ने दूमरी अगुली से भी अगुठी निकलवाई। वह भी वैमी ही अशोभनीय लगने लगी। फिर तो क्रमश सारे शरीर के आभूषणो को उतार दिया। अब तो सारा शरीर ही अशोभनीय लगने लगा। इस पर से देह

किया। उस समय इन्द्र का आसन चलायमान हुआ। भरतेश्वर को केवलज्ञान होना जान कर इन्द्र, तत्काल वहाँ आया और मुनि का द्रव्य-लिंग अर्पण किया। सर्वज्ञ भगवान् ने मुनिवेश स्वीकार किया। फिर आरिसा भवन से निकल कर अन्त पुर के मध्य मे होते हुए राज्य-सभा मे आये। सभा को प्रतिबोध दे कर दस हजार राजाओ को प्रव्रजित किया और जनपद विहार करने लगे। कुछ कम एक लाख पूर्व तक धर्मोपदेश दे कर भव्य जीवो को मुक्तिमार्ग मे लगाते रहे और एक मास तक अनशन कर के मोक्ष प्राप्त हुए।

की असारता एव अनित्यता का विचार करते हुए वे क्षपक-श्रेणी पर आरूढ़ हो गए। किन्तु जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्तिसूत्र मे—'शुभ परिणाम, प्रशस्त अध्यवसाय से बढते हुए केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त करने और उसके बाद आभरण—अलकार उतारने और केशलुचन करने का उल्लेख है। यहाँ हमने सूत्र के उल्लेख का अनुसरण किया है।

टिप्पणी--

सुनार की कथा का औचित्य

महाराजाधिराज भरत के विषय मे यह कथा प्रचलित है कि---उनकी निर्लिप्तता के विषय मे जिनेश्वर भगवान् ने समवसरण मे कहा था---"भरत चक्रवर्ती सम्राट है। छ खड का अधिपति, चौदह रत्न, नौ निधान और हजारो सुन्दरी रानियो का पति है। इतना वैभवशाली होते हुए भी वह जल-कमल-वत् निर्लिप्त है।" प्रभु का यह वचन एक सुनार को नही जँचा। वह इधर-उधर बाते करने लगा--"भरतेश्वर, भगवान् के पुत्र हैं और चक्रवर्ती सम्राट है। पुत्र-मोह अथवा भरतेश्वर को खुश करने के लिए भगवान् ने यह बात कही है। वास्तव मे वे निर्लिप्त नही है। क्या इतना वैभवशाली, राज्य के लिए युद्ध करने वाला और हजारो रानियो के साथ काम भोग भोगने वाला भी कभी निर्लिप्त-निष्काम रह सकता है?"

सुनार की बात महाराजा भरत के कानो मे गई। उन्होंने सुनार को बुलाया और तेल से भरपूर कटोरा हाथ मे दे कर कहा--

"तुम यह कटोरा ले कर सारे नगर मे घूमो। नगर की शोभा देखो और फिर मेरे पास आओ। परन्तु याद रखो कि इस कटोरे मे से एक बूंद तेल भी नीचे गिरा, तो इन सैनिको की तलवार तुम्हारी गर्दन पर फिरी। तुम वही ढेर कर दिये जाओगे।"

सैनिकों से घिरा हुआ स्वर्णकार, तेल से भरा हुआ कटोरा लिये हुए नगरभर मे घूमा, किंतु इतनी सावधानी के साथ कि एक बूंद भी नही गिरने दिया। वह सम्राट के समक्ष उपस्थित हुआ। सम्राट ने उससे नगर की शोभा का हाल पूछा। वह बोला,—

"महाराज! मेरा ध्यान तो इस कटोरे मे था। यदि मैं एकाग्र नही रह कर इधर-उधर देखता, तो वहीं जीवन समाप्त हो जाता। आपके ये यमदूत जो नगी तलवारे ले कर साथ थे। मै नगरभर मे घूमा, परन्तु मेरा ध्यान तो इस कटोरे पर ही केन्द्रित रहा। जरा भी इधर-उधर नही गया। फिर शोभा निरखने का तो अवकाश ही कहाँ था---महाराज!"

भरतेश्वर ने कहा---"भद्र! जिस प्रकार तू नगरभर मे घूमा, फिर भी तेरा ध्यान एकाग्र रहा, उसी प्रकार मैं भी इस सारे वैभव का अधिपति होते हुए भी अन्तर से निर्लिप्त रहता हूँ।" स्वर्णकार का समाधान हो गया।

उपरोक्त कथा का भाव अपने शब्दो में उपस्थित किया है। किंतु यह जँचती कम है। माना कि भरतेश्वर की आत्मा उच्च प्रकार के सयम की साधना कर के स्वर्ग मे गई थी। उनकी आत्मा बहुत हलकी थी। वे इसी भव मे मोक्ष प्राप्त करने वाले थे, फिर भी उनके उत्कृष्ट भोग-कर्मो का उदय था। लाखो पूर्व काल तक वे भोगासक्त रहे थे। उनके भोग का वर्णन जब हम 'त्रिषष्ठि शलाका पुरुष चरित्र' में देखते हैं, तो लगता है कि वे उत्कृष्ट भोग-पुरुष थे। श्री हेमचन्द्राचार्य यहाँ तक लिखते हैं कि---खण्ड-साधना के समय (स्त्री-रत्न प्राप्त होने के बाद भी) हजार वर्ष तक गगादेवी के साथ भोग भोगते रहे और सेना वहीं पडी रही (पर्व १ सर्ग ४) उनके सन्ताने भी थी। ऐसी दशा मे उन्हे सर्वथा

निर्लिप्त मानना जँचता नही है। हाँ, कभी-कभी उनकी आत्मा मे पूर्व के सस्कार जाग्रत होते और वे निर्लिप्तता की स्थिति मे आ जाते, किन्तु फिर मोह के झपाटे से, वे कामासक्त भी हो जाते थे। अप्रत्याख्याना-वरण कषाय और वेद-मोहनीयादि के उदय से ऐसा होना असभव नही है। यह भी ठीक है कि उनको जो वन्ध होता था, वह तीव्रतम और भवान्तर मे भोगने रूप गाढ निकाचित नही था। फिर भी उन्हें बन्ध तो होता ही था। वे निर्लिप्त, अनासक्त एव निष्काम नही थे। अतएव यह कथा कुछ अतिशयोक्ति पूर्ण लगती है। जो व्यक्ति गृहस्थवास मे रहता हुआ भी कम से कम ब्रह्मचारी, आवेश रहित और विकार रहित-सा हो, उसी पर सुनार का दृष्टान्त लागू हो सकता है।

यह कथा श्री हेमचन्द्राचार्य के 'त्रिषष्ठिशलाका पुरुष चरित्र' मे नही है।

'तेलपात्रधर' का दृष्टात हमे 'ऋषिभाषित' सूत्र के ४५ वे अध्ययन की २२ वी गाथा मे मिला। वह गाथा इस प्रकार है—

"तम्हा पाणदयट्ठाए, 'तेल्लपत्तधरो' जधा।
एगग्गमणीभूतो, दयत्थी विहरे मुणी" ॥२२॥

—दयार्थी मुनि, प्राणियो पर दया करने के लिए, तेलपात्रधारक के समान एकाग्र मन हो कर विचरे।

उपरोक्त गाथा मे तेलपात्रधर की एकाग्रता का दृष्टात है। इसमे तथा इसकी टीका मे इस दृष्टात के विषय मे कुछ भी नही लिखा है। टीका भी सक्षिप्त है। टीकाकार ने इस दृष्टात को अप्रमत्तता प्रदर्शक बताया है। जैसे—

"तस्मात् प्राणिदयार्थमेकाग्रमनाभूत्वा दयार्थी मुनिरप्रमत्तो विहरेद् यथा कश्चि-त्तैलपात्रधरः।"

तेलपात्रधर की यह कथा आचार्य श्री हरीभद्रसूरिजी रचित "उपदेश पद" ग्रथ की गाथा ९२२ से ९३१ तक विस्तार से मिलती है। वे गाथाएँ इस प्रकार है,—

"इह तेल्लपत्तिधारगणाय तंनतरेसुवि पसिद्ध।
अइगभीरत्थ खलु भावेयव्व पयत्तेण ॥९२२॥
सद्धो पण्णो राया पाय तेणोवसामिओ लोगो।
णियनगरे णवरं कोति सेट्ठिपुत्तो ण कम्मगुरू ॥९२३॥
सो लोगगट्टा भण्णइ हिंमपि तहाविहं ण दुट्ठति।
हिंसाण सुहभावा, दुहावि अत्थ तु दुट्ठेय ॥९२४॥
अपमाय सारयाए णिदिरिसय तह जिणोवएसं पि।
तपग्गरूणरयणगय सिरत्तिसमणोवएसंव ॥९२५॥

तस्सुवसमणणिमित्तं जक्खोच्छत्तो समाणदिट्ठित्ति ।
णिउणो कओ समप्पिय माणिक्क सागओ तत्तो ॥६२६॥

अवरो रायासण्णो अहंति परिवोहगो असमदिट्ठी ।
कालेणं वीसंमो तओ य मायापओगोत्ति ॥६२७॥

णट्ठं रायाहरणं पउहग सिट्ठंति पउरघरलाभे ।
माहण पच्छित्तं वहुभयमेवमदं स तहवित्ति ॥९२८॥

जक्खब्भत्थण विण्णवण ममत्थे तं णिवं सुदडेण ।
तच्चोयण परिणामो विण्णत्ती तइलपत्ति वहो ॥६२९॥

संगच्छण जहसत्ती खग्गधरक्खेव छणणिरूवणया ।
तल्लिच्छ जत्तनयणं चोयणमेवति पडि ी ॥९३०॥

एवमणंताणं इह भीया मरणाइयाण दुक्खाणं ।
सेवंति अप्पमायं साहू मोक्खत्थमुज्जुत्ता ॥९३१॥

उपरोक्त गाथाओ मे वनाया है कि किसी नगर का राजा जिनधर्म का श्रद्धालु एव बुद्धिमान् था। उनके दानादि उपायो से वहुत से लोग जिनशासन के प्रति अनुराग रखते थे। नगर के प्रधान और सेठ आदि सभी धर्म मे अनुरक्त थे। किंतु एक सेठ का पुत्र, धर्म से प्रभावित नही था। वह भारीकर्मा, मिथ्यात्व के गाढ उदय से अधमप्रिय था। वह पाखड के ससर्ग से, हिंमा का दु खदायक परिणाम नही मान कर सुखदायक मानता था। वह जिनेश्वर के अप्रमत्तता प्रधान उवदेश को विनर्षिय—समझ से परे—असमव मानता था। उसका कहना था कि जिस प्रकार किसी के सिर मे महा पीडा हो रही हो और उसे कोई उपाय वतावे कि 'तुम महानाग—मणिधर सर्पराज के सिर की मणि ला कर अपने गले मे बांधो,' तो तुम्हारी पीडा मिट सक्ती है। यह उपाय जैसा असभव है, वैसा ही जिनेश्वर का अप्रमत्तता का उपदेश भी असभव है। उस मिथ्यादृष्टि श्रेष्ठिपुत्र के मिथ्यात्व का उपशमन करने के लिए, राजा ने यक्ष नाम के विद्यार्थी द्वारा मायापूर्वक, अपनी माणिक्य जडित मुद्रिका श्रेष्ठिपुत्र के आभरणो मे रखवा दी। इसके वाद मुद्रिका खो जाने की हलचल हुई। ढिंढोरा पीटा गया और अत मे मुद्रिका श्रेष्ठिपुत्र के आभरणो मे से निकली। वह पकडा गया। वह भयभीत हो गया। यक्ष नामक विद्यार्थी ने राजा से अपने मित्र को छोडने की प्रार्थना की, तो राजा ने यह शर्त रखी कि 'यदि अपराधी, तेल का पात्र भर कर नगरभर मे घूमे और उस पात्र मे से एक भी बूंद नही गिरने दे। यदि एक बूंद भी गिरी, तो सिर उडा दिया जायगा। वह तेल-पात्र भर कर चला। साथ मे खड्गधारी सैनिक थे।

वाजार मे—तिराहे-चौराहे पर नृत्यादि जलसे हो रहे थे। किंतु वह भयभीत सेठ पुत्र, एकाग्र ही रहा। उसने दूसरी ओर ध्यान ही नही दिया और बिना एक भी बूंद गिराये वैसा ही पात्र राजा के सामने ले आया। राजा ने उससे नगर की शोभा और उत्सवो का हाल पूछा, तो वह बोला,—

"महाराज ! मेरा मन तो इस कटोरे मे था। मैं क्या जानूं नगर की शोभा, उत्सवों और नृ नाटको को। मैंने कुछ भी नही देखा--स्वामिन् !"

"अरे, तू जलसो के मध्य हो कर निकला, फिर भी उन्हें नही देख सका ? यह कैसे हो सकता है ?"

"नरेन्द्र ! मै जलसा देख कर क्या मौत बुलाता ? मेरे सिर पर तो मौत मँडरा रही थी। फि मै नृत्य देखने का शौक कैसे करता ?"

"भाई ! जिस प्रकार तू मृत्युभय से, जलसो और नृत्य-नाटको के बीच जाते हुए भी निर्लि एव अप्रमत्त रहा, उसी प्रकार अप्रमत्त मुनि भी ससार मे रहते हुए अप्रमत्त रहते हैं। उनके सामने भ मृत्युभय और पाप के कटु फल-विपाक का डर सदैव रहता है। वे इसीलिए ससार से उदासीन ए अप्रमत्त रहते हैं और ससार से मुक्त होने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं।"

यह है तेलपात्रधर का दृष्टात। इसका सम्बन्ध अप्रमत्त सयती--महान् त्यागी निग्रंथों से हैं, जो अप्रमत्त या अप्रमत्तवत् होते हैं। आचार्यश्री हरीभद्रसूरिजी ने गा. ६३१ के उत्तरार्द्ध मे--"सेवति अप्पमाय साहू" से और टीकाकार ने--"सेवन्तेऽप्र मुक्तलक्षण साधवो मोक्षार्थं मुक्ति निमित्तं उद्युक्ता वता"--इस उदाहरण का सम्बन्ध अप्रमत्त-सयत से जोड़ा है।

श्रीहरीभद्रसूरिजी ने गा ६२२ मे यह भी वताया है कि 'तेलपात्रधर का दृष्टात तन्त्रान्तर--दर्शनान्तर मे भी प्रसिद्ध है।' किंतु भरतेश्वर के चरित्र के साथ इस कथा का सम्बन्ध वास्तविक नहीं लगता।

भ अजितनाथजी

अर्हन्तमजितं विश्व-कमलाकर भास्करम् ।
अम्लानकेवलादर्श-संक्रां गतं स्तुवे ॥१॥
ंत्यजितनाथस्य जितशो णिशि : ।
नम्रेन्द्रव ादर्शाः पादपद्मद्वयीन : ॥२॥
कर्माहिपाशनिर्नाश-जांगुलिमन्त्र संनिभम् ।
अजितस्वामीदेवस्य चरितं प्रस्तवीम्यतः ॥३॥

—इस विश्व रूपी सरोवर के कमलो को अपने प्रकाश द्वारा विकसित करने मे जो सूर्य के समान हैं, जिसने अपने केवलज्ञानरूपी दर्पण मे तीन जगत् को प्रतिबिंबित कर लिया है, ऐसे परम पूजित भगवान् अजितनाथ की मैं स्तुति करता हूँ ।

—रक्त वर्ण की मणियो की शोभा को जीतने वाले, प्रणाम करते हुए देवेन्द्र के मुख के लिए दर्पण रूप, ऐसे भगवान् अजितनाथ के दोनो चरण-कमल के नख जयवत होवे ।

—अब कर्मरूपी सर्प के पास को नष्ट करने मे जागुलिमन्त्र के समान भगवान् अजितनाथ का चरित्र प्रारम्भ किया जाता है ।

जम्बूद्वीप के मध्य भाग मे महाविदेह क्षेत्र है । उसमे सीता नामक महा नदी के दक्षिण तट पर 'वत्स' नामक विजय है । वह ऋद्धि, सम्पत्ति और वैभव से युक्त है ।

एक वृक्ष के नीचे वैठ कर स्वाध्याय मे रम रहा था, तो कोई एकाग्रतापूर्वक अनुप्रेक्षा कर रहा था। कुछ संत आपस मे तत्त्व-चर्चा कर रहे थे। एक वृक्ष के नीचे, एक उपाध्याय मुनिवर, कुछ साधुओ को श्रुत का अभ्यास करा रहे थे। एक ओर सत गोदोहासन से वैठ कर ध्यान कर रहे थे, तो कई विविध आसनो से तप कर रहे थे। राजा ने आचार्यश्री की वन्दना की और आचार्यश्री की अवग्रह-भूमि छोड कर विनयपूर्वक सामने वैठ गया। आचार्यश्री ने धर्मोपदेश दिया। राजा की वैराग्य भावना वढी। उसने निवेदन किया,—

"भगवन् ! ससार अनन्त दु खो की खान है। दु खानुभव करते हुए भी जीवो को वैराग्य उत्पन्न नही होता, फिर आप ससार से विरक्त कैसे हुए ? ऐसा कौन-सा निमित्त उपस्थित हुआ जिससे आप निर्ग्रंथ वने ?"

"राजन् !" आचार्य अपनी प्रव्रज्या का निमित्त वताते हुए वोले—"वैराग्य के निमित्तो से तो सारा ससार भरा हुआ है। जिधर देखो, उधर वैराग्य के निमित्त उपस्थित हैं। इनमे से प्रत्येक विरागी को अपने योग्य निमित्त मिल जाता है। मेरे विरक्त होने का निमित्त इस प्रकार वना।"

"मैं एक वार सेना ले कर दिग्विजय करने निकला। मार्ग मे एक अत्यन्त सुन्दर वगीचा मेरे देखने मे आया। गहरी छाया, सुगन्धित एवं सुन्दर पुष्प, अनेक प्रकार के उत्तम फल, स्वच्छ और मीठे पानी के झरने, लतामण्डपो और कुञ्जो से वह वगीचा रमणीय एव मनोहर था। वह मुझे नन्दन वन या भद्रशाल वन जैसा लगा। मैने उस वगीचे मे आराम किया और उसकी उत्तमता पर मोहित हो गया। किन्तु जव मैं दिग्विजय कर के पुन. उसी रास्ते से लौटा और उस वगीचे के पास आया, तो देखता हूँ कि उसका तो सारा रूप ही पलट चुका था। वगीचे की समस्त शोभा एव सुन्दरता नष्ट हो चुकी थी। वह एकदम सूख कर नष्ट हो चुका था। उसमे हरियाली और छाया का नाम ही नही रहा था। सूखे हुए वृक्षो के ठूंठ, पत्तो के ढेर, मरे हुए पक्षियो और सर्पादि की दुर्गन्ध से वह विरूप एव घृणास्पद हो रहा था। यह देख कर मेरे मन मे विचार हुआ। मैने सोचा—सभी संसारी जीवो की ऐसी ही दशा होती है।"

"जो पुरुष, कामदेव के समान अत्यंत सुन्दर दिखाई देता है, वही कालान्तर मे भयंकर रोग होने पर एकदम कुरूप हो जाता है। जिसकी वाणी सुभाषित एव वृहस्पति के समान प्रखर विद्वत्तापूर्ण है, वही कभी जिव्हा के स्खलित हो जाने से गूंगा हो जाता है। जिसकी चाल, गज और वृषभ के समान प्रशस्त है, वही कभी वात रोग या आघात आदि

से पगु हो जाता है। सुन्दर आँखो वाला अन्धा हो जाता है। इसी प्रकार मनुष्यो का शरीर यौवन और वैभव परिवर्तनशील है। सुन्दर से असुन्दर, अरम्य, अक्षम हो कर नष्ट हो जाता है। इस प्रकार विचार करते मुझे वैराग्य हो गया और मैं महाव्रतधारी श्रमण बन गया।"

आचार्यश्री की वाणी सुन कर राजा भी विरक्त हो गया और राज्य का भार पुत्र को सौंप कर आचार्यश्री के पास प्रव्रज्या स्वीकार कर ली। संयम और तप का शुद्धतापूर्वक पालन करते हुए और उत्तम आराधना करते हुए विमलवाहन मुनिवर ने तीर्थंकर नामकर्म का वन्ध किया और अनशन कर के विजय नाम के अनुत्तर विमान मे उत्पन्न हुए। वहाँ उनकी देह एक हाथ प्रमाण लम्बी और विशुद्ध पुद्गलो से प्रकाशमान थी। आयु थी तेंतीस सागरोपम प्रमाण। उत्तम सुखो मे काल निर्गमन करते हुए देवभव पूर्ण किया।

तीर्थंकर और चक्रवर्ती न्म

जम्बूद्वीप के भरत-क्षेत्र मे विनिता नाम की नगरी थी। यह वही नगरी थी, जहाँ भगवान् आदिनाथ हुए। भगवान् आदिनाथ के वाद सम्राट भरत आदि असख्य नरेश विनिता नगरी की राजपरम्परा—इक्ष्वाकु वश मे हुए। उनमे से वहुत-से निर्ग्रंथ वन कर मोक्ष प्राप्त हुए और वहुत-से अनुत्तर विमान मे गये। उसी इक्ष्वाकु वंश मे 'जितशत्रु' नाम का महापराक्रमी राजा हुआ। उसके छोटे भाई का नाम सुमित्रविजय था। यह भी असाधारण पराक्रमी था और युवराज पद को सुशोभित कर रहा था। जितशत्रु नरेश के 'विजयादेवी' नाम की महारानी थी और सुमित्रविजय की पत्नी का नाम 'वैजयती' था। वे दोनो महिलाएं रूप और गुणो से सुशोभित थी।

वैशाख-शुक्ला तेरस को विमलवाहन मुनिराज का जीव, महारानी विजयादेवी की कुक्षि में, विजय नाम के अनुत्तर विमान से आ कर उत्पन्न हुआ। उस रात के अंतिम प्रहर मे महारानी ने चौदह महा स्वप्न देखे। उसी रात को युवराज सुमित्रविजय की रानी वैजयती ने भी चौदह महास्वप्न देखे, किन्तु श्रीमती विजयादेवी के स्वप्नो की प्रभा की अपेक्षा इनके स्वप्नो की प्रभा कुछ मन्द थी। स्वप्न-पाठको से स्वप्नो का अर्थ कराया। उन्होंने गम्भीर विचार के वाद कहा कि महारानी विजयादेवी के गर्भ मे लोकोत्तम लोकनाथ तीर्थंकर भगवान् का जीव आया है और युवराज्ञी वैजयंती के गर्भ मे चक्रवर्ती सम्राट भरत के समान चक्रवर्ती होने वाला महा भाग्यशाली जीव आया है।

माघ-शुक्ला अष्टमी की रात्रि को महारानी विजयादेवी की कुक्षि से एक लोकोत्तम पुत्र-रत्न का जन्म हुआ। सर्वत्र दिव्य प्रकाश फैल गया। नारक जीव भी कुछ समय के लिए सभी दु खो को भूल कर सुख का अनुभव करने लगे। छप्पन कुमारी देवियें, चौसठ इद्र-इन्द्रानियाँ, देव और देवागनाओ ने भारत-भूमि पर आ कर तीर्थंकर का जन्मोत्सव किया।

प्रभु के जन्म के थोड़ी देर वाद ही युवराज्ञी वैजयंती ने भी पुत्र-रत्न को जन्म दिया। पुत्र और भतीजे के जन्म की बधाई पा कर महाराज जितशत्रु की प्रसन्नता का पार नही रहा। उन्होने बधाई देने वाले का पीढियो का दारिद्र दूर कर मालामाल कर दिया और दासत्व से मुक्त भी। उत्सवो की धूम मच गई। शुभ मुहूर्त मे पुत्रो का नामकरण हुआ। महारानी विजयादेवी के गर्भ के दिनो मे महाराजा के साथ पासे के खेल मे सदा महारानी की ही जीत होती। वह महाराज से अजित ही रही। इस जीत को गर्भ का प्रभाव मान कर वालक का नाम 'अजित' रखा गया। यही अजित आगे चल कर भगवान् 'अजितनाथ' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। युवराज के पुत्र का नाम 'सगर' रखा, जो दूसरा चक्रवर्ती हुआ।

सभी जिनेश्वर पूर्व-भव से ही तीन ज्ञान साथ ले कर माता के गर्भ मे आते हैं। तीर्थंकर नामकर्म की महान् पुण्य-प्रकृति का यह नियम है। श्री अजितकुमार भी तीन ज्ञान से युक्त थे। इसलिए उन्हे अध्यापको से पढाने और कलाएँ सिखाने की आवश्यकता नही थी। किन्तु सगरकुमार को विद्याध्ययन कराया जाने लगा। सगरकुमार की बुद्धि भी तीव्र थी। वे थोडे ही दिनो मे शब्द-शास्त्रो को पढ गए और सभी कलाओ मे पारगत हो गए। विद्याध्ययन करते हुए कुमार के मन मे जो जिज्ञासा उत्पन्न होती, उनका समाधान करना उपाध्याय के लिए कठिन होता, किन्तु श्री अजितकुमार उनका ऐसा समाधान करते कि जिससे पूर्ण सतोष हो जाता और विशेष समझने को मिलता, तथा पुन पूछने—समझने की इच्छा होती।

दोनो कुमार वालवय को पार कर यौवन अवस्था को प्राप्त हुए। वे वज्र-ऋषभ-नाराच सहनन, समचतुरस्र सस्थान, स्वर्ण के समान कान्ति से सुशोभित और अनेक उत्तम लक्षणो से युक्त थे। श्री अजितकुमार का सैंकडो राजकन्याओ के साथ लग्न किया गया और सगरकुमार का भी विवाह किया गया। उदय मे आये हुए भोग-फल देने वाले कर्मों का विचार कर के श्री अजितकुमार को लग्न करना पडा। वे रोग के अनुसार औषधी के समान भोग प्रवृत्ति करने लगे। जव श्री अजितकुमार अठारह लाख पूर्व के हुए, तव महाराजा जितशत्रु ने ससार से विरक्त हो कर मोक्ष—पुरुषार्थ साधने की इच्छा से पुत्र को राज्यभार

ग्रहण करने के लिए प्रेरित किया, तब श्री अजितकुमार ने पिता से निवेदन किया—

"हे पिताश्री ! ससार का त्याग कर के मोक्ष की साधना करना आपके लिए भी उत्तम है, मेरे लिए भी और सभी मनुष्यो के लिए आवश्यक है। यदि भोगफलदायक कर्म बाधक नही बनते हो, तो मेरे लिये भी निर्ग्रंथ धर्म का पालन करना आवश्यक है। जो मनुष्य विवेकवत होता है, वह उत्तम साधना मे आगे बढने वाली भव्य आत्मा के मार्ग मे बाधक नही बनता, अपितु सहायक बनता है। मैं भी आपश्री के निष्क्रमण मे बाधक नहीं बनूंगा। आप प्रसन्नतापूर्वक निर्ग्रंथ दीक्षा ग्रहण करे, किन्तु राज्याधिकार मेरे लघुपिता (काका) युवराज श्री सुमित्रविजय को प्रदान कीजिए। ये सभी प्रकार से योग्य हैं।"

श्री अजितकुमार की बात को बीच मे ही रोकते हुए युवराज सुमित्रविजय बोले—

"मैं किसी भी प्रकार इस ससारी राज्य के जजाल मे नही पडता। मैं भी मेरे ज्येष्ठ-बन्धु के साथ शाश्वत राज्य पाने का पुरुषार्थ करूँगा। शाश्वत राज्य पाने के लिए पहले खुद को अजर-अमर बनना पडता है। मैं भी जन्म-मरण के महारोग को नष्ट कर के सादि-अनन्त जीवन पाने के लिए प्रव्रजित बनूंगा और अनन्त आनन्द के धाम ऐसे महाराज्य का अधिनायक होऊँगा। मैं अब आपका साथ छोडना नही चाहता।"

श्री अजितकुमार ने ज्ञानोपयोग से सुमित्रविजय के प्रव्रजित होने मे विलम्ब जान कर निवेदन किया—

"यदि आपकी इच्छा राज्यभार लेने की नही हो, तो आप भावयति के रूप मे कुछ काल तक गृहवास मे रहे। यह हमारे लिए उचित होगा।" महाराजा जितशत्रु ने भी भाई को समझाते हुए कहा—

"भाई ! तुम कुमार की बात मत टालो। ये स्वय तीर्थंकर हैं। इनके शासन मे तुम्हारी सिद्धि होगी और सगरकुमार चक्रवर्ती नरेन्द्र होगा। इसलिए तुम अभी भाव-त्यागी रह कर ससार मे रहो।"

सुमित्रविजय ने अपने ज्येष्ठ-बन्धु का वचन स्वीकार किया। महाराजा जितशत्रु ने उत्सवपूर्वक अजितकुमार का राज्याभिषेक किया। श्री अजित नरेश ने सगरकुमार को युवराज पद पर प्रतिष्ठित किया। जितशत्रु महाराज निष्क्रमण उत्सवपूर्वक प्रव्रजित हुए। वे भगवान् ऋषभदेवजी की परम्परा के स्थविर मुनिराज के अतेवासी हुए और चारित्र की विशुद्ध आराधना कर के केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त कर मोक्ष मे चले गए।

महाराज अजितनाथजी का राज्य सचालन सुखपूर्वक होने लगा। उनके महान्

पुण्योदय से अन्य राजागण अपने आप उनके प्रति भक्तिमान हो कर आधीन हो गए। प्रजा मे न्याय, नीति और सौहार्द्र की वृद्धि हुई। सुख-सम्पत्ति से राज्य की प्रजा सतुष्ट हुई। दुष्काल, रोग और विग्रह का तो नाम ही नही रहा। स प्रकार तिरपन लाख पूर्व तक प्रजा का पालन करते रहे। अब उनके भोगावली कर्म बहुत कुछ क्षीण हो चुके थे। निष्क्रमण का समय निकट आ रहा था। एक बार एकान्त मे चिन्तन करते हुए आपने विचार किया कि—"अब मुझे यह राज्य-प्रपञ्च, भोग और सासारिक सम्बन्धो को छोड कर अपना ध्येय सिद्ध करने के लिए तत्पर हो जाना चाहिए। बन्धनो का छेदन कर निर्बन्ध, निष्कलक और निर्विकार होने के लिए साधना करने मे अब विलम्ब नही करना चाहिए।" इस प्रकार का चिन्तन उनके मन मे होने लगा। उधर लोकान्तक देव भी स्वर्ग से चल कर प्रभु के सम्मुख उपस्थित हुए और विनयपूर्वक निवेदन करने लगे,—

"भगवन्! आप स्वयंबुद्ध है। हम आपको क्या उपदेश करे? फिर भी हम अपना कर्त्तव्य पालन करने के लिए निवेदन करते है कि प्रभो! अब धर्म-तीर्थ का प्रवर्तन कर के भव्य जीवो का उद्धार करे।"

इस प्रकार निवेदन किया और प्रणाम कर के स्वधाम चले गये। देवो के निवेदन से महाराजा अजितनाथजी की विचारणा को प्रोत्साहन मिला और उन्होने तत्काल युवराज सगर कुमार को बुला कर कहा,—

"भाई! अब इस राज्यभार को तुम वहन करो। मैं अब इस प्रपञ्च से निकल कर निवृत्ति के परम पथ पर प्रयाण करना चाहता हूँ। सम्हालो इस भार को। मैं अब ऐसे किसी भी बन्धन मे रहना नही चाहता।"

श्री अजितनाथजी के उपरोक्त वचन, युवराज सगर के लिए क्लेश का कारण बन गये। वे गद्गद् हो कर बोले,—

"देव! मैने आपका ऐसा कौन-सा अपराध किया, जिसके दण्ड स्वरूप आप मुझ पर यह भार लादना चाहते है और मुझे छोड कर पृथक् होना चाहते हैं। मै आपकी छाया के बिना अकेला कैसे रह सकूँगा। आपको खो कर पाया हुआ यह राज्य मेरे लिए दु ख-दायक ही होगा। मुझे जो सुख आपकी सेवा मे मिलता है, वह राज्य मे कदापि नही मिलेगा। इसलिए प्रभो! अपना यह विचार छोड दीजिये और मुझे आप अपनी छाया मे ही रहने दीजिये। यदि आपको ससार त्याग कर निर्ग्रंथ बनना ही है, तो मैं भी आपके साथ ही रहूँगा। मैं आपसे पृथक् नही हो सकता।"

सगर राज्याभिषेक और भु की प्रव्रज्या

श्री अजितनाथजी ने भाई को समझाया और अंत मे भारपूर्वक आज्ञा प्रदान करते हुए कहा—"मैं आज्ञा देता हूँ कि तुम राज्य का भार सँभालो। मैं अब यह भार तुम्हें सौंपता हूँ।"

दुखित मन से प्रभु की आज्ञा शिरोधार्य कर के युवराज ने राज्यारोहण स्वीकार किया। प्रभु ने महान् उत्सव के साथ सगरकुमार का राज्याभिषेक किया और स्वय वर्षीदान देने लगे। वर्षीदान हो चुकने पर शक्रेन्द्र का आसन चलायमान हुआ। वह प्रभु के समीप आया। अन्य सभी इन्द्र और देव-देविये आईं और भगवान् अजितनाथ का दीक्षा महोत्सव हुआ। 'सुप्रभा' नामकी शिविका मे भगवान् को बिराजमान कर के नर-नारियो और देव-देवियो के समूह के साथ महान् धूमधाम से 'जेजेनन्दा जेजेभद्दा'—मंगल शब्दो का उच्चारण करते हुए सहस्राम्रवन उद्यान मे लाये।

माघ मास के शुक्ल पक्ष की नौवी तिथि के दिन, सायकाल के समय जब चन्द्रमा रोहिणी नक्षत्र मे आया, प्रभु ने बेले के तप सहित प्रव्रजित होने के लिए वस्त्रालकार उतारे और इन्द्र का दिया हुआ देवदुष्य धारण किया। पंचमुष्ठि लोच किया और सिद्ध भगवत को नमस्कार कर के सामायिक चारित्र स्वीकार किया। सामायिक चारित्र स्वीकार करते समय भगवान् प्रशस्त भावो के उत्तम रस युक्त अप्रमत्त गुणस्थान मे स्थित थे। उन्हे उसी समय विशेष रूप से मन पर्यय ज्ञान उत्पन्न हो गया। यह जीवो के मनोगत भावो को बताने वाला चौथा ज्ञान है। भगवान् के साथ एक हजार राजाओ ने भी प्रव्रज्या स्वीकार की। इन्द्रादिदेव, सगर नरेश और सभी जन अपने-अपने स्थान गये। दीक्षा के दूसरे दिन प्रभु के बेले का प्रथम पारणा, ब्रह्मदत्त राजा के यहाँ क्षीरान्न से हुआ। वहाँ दिव्य वृष्टि हुई। प्रभु ग्रामानुग्राम विहार करने लगे।

दीक्षित होने के बाद बारह वर्ष तक भगवान् अजितनाथजी छद्मस्थपने विचरते रहे। अब प्रभु की अनादि छद्मस्थता का अत होने का समय आ गया था। अनादिकाल से लगा हुआ कषायो का मल आज पूर्णतया नष्ट होने जा रहा था। पौष शुक्ला ११ के दिन सहस्राम्रवन उद्यान मे बेले के तप मे घातीकर्मों का घात करने वाली क्षपक-श्रेणी का आरभ हुआ। ध्यानस्थ दशा मे अप्रमत्त नामक सातवे गुणस्थान से प्रभु ने 'अपूर्वकरण' नामक आठवे गुणस्थान मे प्रवेश किया।

श्रुत के किसी शब्द का चिन्तन करते हुए अर्थ चिन्तन मे और अर्थ का चिन्तन करते हुए शब्द पर ध्यान लगाते हुए, अनेक प्रकार के श्रुत विचार वाले 'पृथक्त्व वितर्क

सविचार' नामक शुक्लध्यान के प्रथम चरण को प्राप्त हुए। इस आठवे गुणस्थान में अन्तर्मुहूर्त रह कर और ध्यान-बल से हास्य, रति, अरति, भय, शोक और जुगुप्सा, मोहनीय कर्म की इन छः प्रकृतियो को नष्ट कर के "अनिवृत्ति बादर" नामक नौवें गुणस्थान मे आये। ध्यान-शक्ति बढ़ती गई और वेदमोहनीय की प्रकृतियाँ तथा कषायमोहनीय के सज्वलन के क्रोध, मान और माया को नष्ट करते हुए 'सूक्ष्म-सम्पराय' नामक दसवे गुणस्थान मे प्रवेश हुआ। ज्यो-ज्यों मोह क्षय होता गया, त्यो-त्यो आत्म-सामर्थ्य प्रकट होता गया और गुणस्थान बढ़ते गये। मोहनीय कर्म का समूल, सर्वथा नाश कर के प्रभु क्षीणमोह गुणस्थान मे आये। यहाँ तक शुक्लध्यान का प्रथम चरण कार्य-साधक बना। इसके बल से मोहनीय कर्म नष्ट हो गया और परम वीतरागता प्रकट हो गई।

बारहवे गुणस्थान के अतिम समय में शुक्ल-ध्यान का "एकत्त्व-वितर्क-अविचार" नामक दूसरा चरण प्रारम्भ हुआ। इस ध्यान में प्रथम चरण के समान शब्द से अर्थ पर और अर्थ से शब्द पर ध्यान जाने की स्थिति नही रहती। इसमे स्थिरता बढती है और एक ही वस्तु पर ध्यान स्थिर रहता है। चाहे शब्द पर हो या अर्थ पर। इस दूसरे चरण के प्राप्त होते ही ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय, ये तीनो घातीकर्म एक साथ नष्ट हो गए। इनके नष्ट होते ही तेरहवे गुणस्थान मे प्रवेश हुआ। भगवान् अजितनाथजी सर्वज्ञ-सर्वदर्शी बन गए। वे तीनों लोक के तीनो काल के, समस्त द्रव्यो की सभी पर्यायो को हाथ मे रही हुई वस्तु के समान सहज भाव से जानने लगे +।

देवो और इन्द्रो ने प्रभु का केवलज्ञान उत्पत्ति का महोत्सव किया। समवसरण की रचना हुई। उद्यानपालक ने महाराजा 'सगर' को बधाई दी। महाराजा बडे हर्ष, उल्लास

+ शुक्ल-ध्यान का दूसरा चरण प्राप्त होते ही सर्वज्ञता-सर्वदर्शिता प्रकट हो जाती है। इसके साथ ही ध्यानान्तर दशा होती है। शुक्ल-ध्यान के प्रथम के दो चरण श्रुतावलम्बी हैं। केवलज्ञान उत्पन्न होने पर श्रुत का अवलम्बन नही रहता और अवलम्बन नहीं रहता, तो ध्यान भी नहीं रहता। फिर ध्यानान्तर दशा चलती है, वह जीवन के अन्तिम घण्टो तक रहती है। जब जीवन का अन्तिम समय निकट आता है, तब शुक्ल-ध्यान का तीसरा चरण "सूक्ष्मक्रिया-अनिवर्ती" प्राप्त होता है। इसमें योगों का निरोध होता है। अन्तर्मुहूर्त के बाद "अयोगी-केवली" नामक चौदहवां गुणस्थान प्राप्त होता है और "समुच्छिन्न-क्रिया अप्रतिपाती" नामक शुक्ल-ध्यान का चौथा भेद भी। इसमे "शैलेशीकरण" हो कर आत्मा, पर्वत के समान अडोल, निष्कम्प एव स्थिर होती है। यहाँ कायिकी आदि सूक्ष्म क्रियाएँ भी नष्ट हो जाती है और पांच ह्रस्वाक्षर उच्चारण जितना काल रह कर आत्मा मोक्ष धाम को प्राप्त हो जाती है। फिर वहां सदा-सर्वदा के लिए स्थिर हो जाती है और परमानन्द परम सुख एव परम शान्ति मे रहती है।

और आडम्बरपूर्वक भगवान् को वन्दन करने आये । भगवान् ने अपनी अमोघ देशना प्रारम्भ की ।

धर्म देशना—धर्मध्यान

"सुखार्थियो ! जीव अज्ञान से इतने व्याप्त हैं कि उन्हे हिताहित का वास्तविक बोध ही नही होता । जिस प्रकार अज्ञान के कारण जीव काँच को वैदूर्यमणि समझ कर ग्रहण कर लेता है, उसी प्रकार इस दुःखमय असार ससार को सुखमय एव सारयुक्त मानता है । अज्ञान के कारण विविध प्रकार के बँधते हुए कर्मो से प्राणियो का ससार बढता ही जा रहा है । कर्मों की वृद्धि से ससार बढता है और कर्मो के अभाव से ससार का अभाव होता है । इसलिए विद्वानो को कर्मों के नाश करने का ही उपाय करते रहना चाहिये ।

दुर्ध्यान से कर्मों की वृद्धि होती है और शुभ ध्यान से कर्मों का नाश होता है । कर्म-मैल को समूल नष्ट करने वाले शुभ ध्यान का स्वरूप इस प्रकार है—

धर्मध्यान—आज्ञा, अपाय, विपाक और सस्थान चिंतन रूप चार प्रकार का है ।

आज्ञा-विचय

आप्त पुरुषो का वचन 'आज्ञा' कहाती है । यह आज्ञा दो प्रकार की होती है—एक है 'आगम आज्ञा' और दूसरी है—'हेतुवाद आज्ञा' । जो शब्द से ही पदार्थो का प्रतिपादन करता है, वह 'आगम' कहाता है और जो दूसरे प्रमाणो के सवाद से पदार्थों का प्रतिपादन करता है, वह 'हेतुवाद' कहाता है ।

आगम और हेतुवाद के तुल्य प्रमाण से एव निर्दोष कारणो से जो आरभ हो, वह लक्षण से 'प्रमाण' कहाता है । राग, द्वेष और मोह ये 'दोष' कहाते हैं । इनको सर्वथा नष्ट करने के कारण, अर्हंत मे ये दोष बिल्कुल नही होते । इसलिए दोष रहित आत्मा से उत्पन्न हुआ अर्हंतो का वचन प्रमाण होता है । अर्हंतो का वचन, नय और प्रमाण से सिद्ध, पूर्वापर विरोध रहित, अन्य बलवान शासनो मे भी बाधित नही होने वाला, अग उपाग एव प्रकीर्णादि बहुत-से शास्त्र रूपी नदियो के मिलन से समुद्र रूप बना हुआ, अनेक प्रकार के अतिशयो की साम्राज्य-लक्ष्मी से सुशोभित, दुर्भव्य मनुष्यो के लिए दुर्लभ, भव्य जीवो के

लिए सुलभ, आचार्य के लिए रत्न-भण्डार के समान और मनुष्यो तथा देवो के लिए सदैव स्तुति करने योग्य है। ऐसे आगम-वचनो की आज्ञा का अवलम्बन कर के, स्यादवाद न्याय के योग से द्रव्य और पर्याय रूप से, नित्यानित्य वस्तुओ का विचार करना और स्वरूप तथा पर रूप से सत् असत्-रूप मे रहे हुए पदार्थों मे स्थिर प्रतीति करना—'**आज्ञा-विचय**' ध्यान कहलाता है।

अपाय-विचय

जिन जीवो ने जिनमार्ग का स्पर्श ही नही किया, जिन्होंने परमात्मा को जाना ही नही और जिन्होने अपने भविष्य का विचार ही नही किया, ऐसे जीवो को हजारो अपाय (विघ्न—संकट) उठाने पडते हैं। जिसका चित्त माया-मोह के अन्धकार से परवश हो गया है, ऐना प्राणी अनेक प्रकार के पाप करता है और अनेक प्रकार के अपाय (कष्ट—दु ख) सहता है। ऐसा दु खी प्राणी यदि विचार करे कि—

"नारकी, तिर्यंच और मनुष्यो मे मैंने जो-जो दु ख भुगते है, वे सभी मैंने अपने अज्ञान और प्रमाद से ही उत्पन्न किये थे। परम वोधिवीज को प्राप्त करने पर भी अविरत रह कर मन, वचन और काया की कुचेष्टाओ से मैंने अपने ही मस्तक पर अग्नि प्रज्वलित करने के समान पाप-कृत्य किया और दुखी हुआ। वोधिरत्न (सम्यग्दर्शन) प्राप्त कर लेने पर मोक्षमार्ग मेरे सामने खुला हुआ था, किन्तु मैंने उसकी उपेक्षा की और कुमार्ग पर रुचि-पूर्वक चलता रहा। इस प्रकार मैंने स्वय ने ही अपनी आत्मा को अपायो के गर्त मे गिरा दिया। जिस प्रकार उत्तम राज्य-लक्ष्मी प्राप्त होते हुए भी (अत्यागी) मूर्ख मनुष्य, भीख माँगने के लिए भटकता रहता है, उसी प्रकार मोक्ष का साम्राज्य प्राप्त करना मेरे अधिकार मे होते हुए भी मैं अपनी आत्मा को संसार मे परिभ्रमण करा रहा हूँ और दु ख-परम्परा का निर्माण कर रहा हूँ। यह मेरी कितनी वुरी वृत्ति है। इस प्रकार राग, द्वेष और मोह से उत्पन्न होते हुए अपायो का चिन्तन किया जाय, उसे '**अपाय-विचय**' नाम का धर्म-ध्यान कहते हैं।

विपाक-विचय

कर्म के फल को 'विपाक' कहते हैं। यह विपाक शुभ और अशुभ, दो प्रकार का होता है और द्रव्य-क्षेत्रादि की सामग्री से यह विपाक विचित्र रूप मे अनुभव मे आता है।

यो दो प्रकार से वेदन कराने वाला कर्म ।

४ मोहनीय—आत्मा को मोहित करने वाला । जिस प्रकार मद्यपान से मोहमस्त हुआ व्यक्ति, हिताहित और उचितानुचित नही समझ सकता, उसी प्रकार दर्शन-मोह के उदय ने मिथ्यादर्शनी हो जाता है और चारित्र-मोहनीय कर्म के उदय से विरति—चारित्रिक परिणति रुक कर जीव, सदाचार से वचित रहता है ।

५ आयु—यह वन्दीगृह के समान है । इसके उदय से जीव नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवगति मे अपने आयु के अनुसार रहता है ।

६ नाम—यह कर्म चित्रकार के समान है । इसका प्रभाव शरीर पर होता है । इममे जाति आदि की विचित्रता होती है ।

७ गोत्र—यह ऊँच और नीच ऐसे दो भेद वाला है । यह कुमकार जैसा है । जिस प्रकार कुभकार क्षीर-पात्र भी वनाता है और मदिरा-पात्र भी, उसी प्रकार इस कर्म का परिणाम होता है ।

८ अन्तराय—इसकी शक्ति से दान, लाभ और भोगादि मे वाधा उत्पन्न होती है । जिस प्रकार राजा द्वारा दिये हुए पुरस्कार मे भडारी वाधक होता है, उसी प्रकार यह कर्म भी दान-लाभादि मे वाधक वनता है ।

इस प्रकार कर्म की मूल-प्रकृति के फल-विपाक का चिन्तन करना, '[illegible]' धर्मध्यान कहाता है ।

संस्थान-विचय

जिसमे उत्पत्ति, स्थिति, लय और आदि-अत-रहित लोक [illegible] किया जाय, वह 'मस्थान-विचय' ध्यान कहाता है ।

इस लोक की आकृति उस पुरुप जैसी है, जो अपने पाँव [illegible] पर दोनो हाथ रख कर खडा हो । लोक उत्पत्ति, स्थिति और नाश [illegible] (अवस्थाओं) वाले द्रव्यो से भरा हुआ है । नीचे यह वेत्रामन (वेंत के वने [illegible]) जैसा है, मध्य मे 'झालर' जैमा और ऊपर 'मृदग' की आकृति [illegible] से व्याप्त है । इसमे प्रवल 'घनोदधि' (वर्फ अथवा जमे [illegible] ठोस पानी) 'घनवात' (ठोम वायु) और 'तनुवात' (पतला वायु) [illegible] घिरा हुआ है अधोलोक, तिर्यक्लोक और ऊर्ध्वलोक के भेद से यह '[illegible]' कहा जाता है । [illegible]

द्रव्य-विपाक---स्त्री, पुष्पो की माला और रुचिकर खाद्य आदि द्रव्यो के उपभोग से 'शुभ विपाक' कहाता है और सर्प, शस्त्र, अग्नि तथा विष आदि से जो दुःखद अनुभव होता है, वह 'अशुभ विपाक' कहाता है।

क्षेत्र-विपाक---प्रासाद, भवन, विमान और उपवनादि मे निवास करना शुभविपाक रूप है और श्मशान, जगल, अटवी आदि मे विवश हो कर रहना, अशुभ विपाक रूप है।

काल-विपाक---शीत और उष्ण से रहित ऐसी वसत आदि ऋतु मे भ्रमण करना शुभ विपाक है और शीत, उष्ण की अधिकता वाली हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु मे भ्रमण करना पडे, तो यह अशुभ विपाक है।

भाव-विपाक---मन की प्रसन्नता और सतोष मे शुभ विपाक और क्रोध, अहकार तथा रौद्रादि परिणति मे अशुभविपाक होता है।

भव-विपाक---देव-भव और भोग-भूमि सम्वन्धी मनुष्यादि भव मे शुभ विपाक और कुमनुष्य (जहाँ पापाचार की मुख्यता हो, जिनके सस्कार अशुभ हो और अशुभ कर्मों के उदय से अनेक प्रकार के अभाव दरिद्रतादि दु ख भोग रहे हो) तिर्यंच तथा नरकादि भव मे अशुभ विपाक होता है। कहा भी है कि---

"द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव को प्राप्त कर, कर्मों का उदय, क्षय, क्षयोपशम और उपशम होता है।" इसी प्रकार प्राणियो को द्रव्यादि सामग्री के योग से, कर्म अपना फल देते हैं।

कर्म के मुख्यत आठ भेद हैं। यथा---

१ ज्ञानावरणीय---जिस प्रकार आँखो पर पट्टी बाँधने से, नेत्र होते हुए भी दिखाई नही देता, उसी प्रकार जिस कर्म के आवरण से सर्वज्ञ स्वरूपी जीव की ज्ञान-शक्ति दब जाती है, वह ज्ञानावरणीय कर्म कहाता है। इसके १ मति २ श्रुत ३ अवधि ४ मन पर्यय और ५ केवलज्ञानावरण, ये पाँच भेद हैं।

२ दर्शनावरणीय---पाँच प्रकार की निद्रा और चार प्रकार के दर्शन के आवरण से दर्शन-शक्ति को दबाने वाला कर्म। जिस प्रकार पहरेदार, राजा आदि के दर्शन होने मे रुकावट डालता है, उसी प्रकार दर्शन-शक्ति को रोकने वाला।

३ वेदनीय---तलवार की तीक्ष्ण धार पर रहे हुए मधु को चाटने के समान यह कर्म है। जिस प्रकार तलवार की धार पर रहे हुए मधु को चाटने से, मधु की मिठास के साथ जीभ कटने की दु खदायक वेदना भी होती है, उसी प्रकार सुखरूप और दु खरूप

यो दो प्रकार से वेदन कराने वाला कर्म।

४ मोहनीय—आत्मा को मोहित करने वाला। जिस प्रकार मद्यपान से मोहमस्त हुआ व्यक्ति, हिताहित और उचितानुचित नही समझ सकता, उसी प्रकार दर्शन-मोह के उदय से मिथ्यादर्शनी हो जाता है और चारित्र-मोहनीय कर्म के उदय से विरति—चारित्रिक परिणति रुक कर जीव, सदाचार से वचित रहता है।

५ आयु—यह वन्दीगृह के समान है। इसके उदय से जीव नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवगति मे अपने आयु के अनुसार रहता है।

६ नाम—यह कर्म चित्रकार के समान है। इसका प्रभाव शरीर पर होता है। इसमे जाति आदि की विचित्रता होती है।

७ गोत्र—यह ऊँच और नीच ऐसे दो भेद वाला है। यह कुभकार जैसा है। जिस प्रकार कुभकार क्षीर-पात्र भी वनाता है और मदिरा-पात्र भी, उसी प्रकार इस कर्म का परिणाम होता है।

८ अन्तराय—इसकी शक्ति से दान, लाभ और भोगादि मे वाधा उत्पन्न होती है। जिस प्रकार राजा द्वारा दिये हुए पुरस्कार मे भडारी वाधक होता है, उसी प्रकार यह कर्म भी दान-लाभादि मे वाधक वनता है।

इस प्रकार कर्म की मूल-प्रकृति के फल-विपाक का चिन्तन करना, 'विपाक-विचय' धर्मध्यान कहाता है।

संस्थान-विचय

जिसमे उत्पत्ति, स्थिति, लय और आदि-अत-रहित लोक की आकृति का चिन्तन किया जाय, वह 'सस्थान-विचय' ध्यान कहाता है।

इस लोक की आकृति उस पुरुप जैसी है, जो अपने पाँव फैला कर और कमर पर दोनो हाथ रख कर खडा हो। लोक उत्पत्ति, स्थिति और नाश रूपी पर्यायो (अवस्थाओ) वाले द्रव्यो से भरा हुआ है। नीचे यह वेत्रासन (वेंत के वने हुए आसन—कुर्सी) जैसा है, मध्य मे 'झालर' जैसा और ऊपर 'मृदग' की आकृति के समान है। यह लोक तीन जगत् से व्याप्त है। इसमे प्रवल 'घनोदधि' (वर्फ अथवा जमे हुए घृत से भी अधिक ठोस पानी) 'घनवात' (ठोस वायु) और 'तनुवात' (पतला वायु) से सात पृथ्वियें घिरी हुई हैं। अधोलोक, तिर्यक्लोक और ऊर्ध्वलोक के भेद से यह 'तीन लोक' कहाता है। रुचक-प्रदेश

की अपेक्षा से लोक के तीन विभाग होते हैं। मेरु-पर्वत के भीतर, मध्य मे गाय के स्तन की आकृति वाले और चार आकाश प्रदेश को रोकने वाले, चार रुचक-प्रदेश ऊपर और चार आकाश-प्रदेश को रोकने वाले चार रुचक-प्रदेश नीचे, यो आठ प्रदेश हैं। उन रुचक प्रदेशो के ऊपर और नीचे नौ सौ-नौ सौ योजन तक तिर्यक्लोक कहाता है। इस तिर्यक्लोक के नीचे अधोलोक है। अधोलोक नौ सौ योजन कम सात रज्जु प्रमाण है। अधोलोक मे क्रमश सात पृथ्वियाँ हैं। इनमे नपुसकवेद वाले नारक जीवो के भयानक निवास हैं।

उन सात पृथ्वियो के नाम अनुक्रम से —रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा, पकप्रभा, धूम्रप्रभा, तम प्रभा और महातम-प्रभा हैं। इन पृथ्वियो की मोटाई (जाडाई) पहली रत्नप्रभा से लगा कर नीचे अनुक्रम से—एक लाख अस्सी हजार, एक लाख वत्तीस हजार, एक लाख अट्ठावीस हजार, एक लाख वीस हजार, एक लाख अठारह हजार, एक लाख सोलह हजार और एक लाख आठ हजार योजन हैं। इनमे से रत्नप्रभा नाम की पहली पृथ्वी मे तीस लाख नरकावास हैं। दूसरी मे पच्चीस लाख, तीसरी मे पन्द्रह लाख, चौथी मे दस लाख, पाँचवी मे तीन लाख, छठी मे एक लाख मे पाँच कम और सातवी मे केवल पाँच नरकावास है। रत्नप्रभादि सातो पृथ्वियो के प्रत्येक के नीचे और नीचे वाली के ऊपर-मध्य मे बीस हजार योजन प्रमाण मोटा घनोदधि है। घनोदधि के नीचे असख्य योजन प्रमाण घनवात है। इसके नीचे असख्य योजन विस्तार वाला तनुवात है और तनुवात के नीचे असख्य योजन तक आकाश रहा हुआ है। इनमे क्रमश दु ख, वेदना, आयु, रोग और लेश्यादि अधिकाधिक है।

[रत्नप्रभा पृथ्वी + मे असख्य भवनपति देव भी रहते हैं और असख्य नारक जीव भी। शर्कराप्रभा से लगा कर महातम प्रभा तक नारक जीव ही रहते हैं और प्रत्येक मे असख्य-असख्य नारक हैं। रत्नप्रभा पृथ्वी की एक हजार योजन जाडाई छोडने के बाद भवनपति देवो के भवन तथा नरकावास आते है। इस एक हजार योजन मे से ऊपर व नीचे दस-दस योजन छोड कर मध्य के नौ सौ अस्सी योजन मे असख्य व्यन्तर देव रहते हैं।

रत्नप्रभा पृथ्वी पर मनुष्य और तिर्यंच जीव रहते हैं। यह तिर्यक्लोक है। इसकी ऊँचाई अठारह सौ योजन है। इनमे से नौ सौ योजन रत्नप्रभा पृथ्वी के भीतर और नौ सौ योजन ऊपर इसकी सीमा है। व्यन्तर देव तिरछे लोक मे हैं। ज्योतिषी देव, पृथ्वी से ऊपर हैं, फिर भी वह तिरछे लोक मे ही है।

+ लोक का वर्णन विस्तार के साथ हुआ है। उस विस्तार को छोड कर कोष्ठक मे सक्षिप्त विवेचन मैंने अपनी ओर से किया है।

रत्नप्रभा पृथ्वी के मध्य मे एक लाख योजन ऊँचा मेरु-पर्वत है। सूर्य, चन्द्र और ग्रह-नक्षत्रादि इससे ११२१ योजन दूर रहते हुए परिक्रमा करते रहते हैं। इसमे एक ध्रुव का तारा ही निश्चल (?) है। नक्षत्रो मे सव से ऊपर स्वाति नक्षत्र है और सव से नीचे भरणी नक्षत्र है। दक्षिण मे मूल और उत्तर मे अभिजित् नक्षत्र है। इस जम्बूद्वीप मे दो चन्द्र और दो सूर्य हैं। लवण-समुद्र मे चार चन्द्र और चार सूर्य हैं। धातकीखड मे बारह चन्द्र और बारह सूर्य है। कालोदधि मे बयालीस चन्द्र और बयालीस सूर्य हैं। पुष्करार्द्ध मे ७२ चन्द्र और ७२ सूर्य है। इस प्रकार ढाई द्वीप मे १३२ चन्द्र और १३२ सूर्य हैं। प्रत्येक चन्द्र के साथ ८८ ग्रह, २८ नक्षत्र और छासठ हजार नौ सौ पिचहत्तर कोटाकोटि ताराओ का परिवार है। ढाई द्वीप के भीतर रहे हुए ये चन्द्रादि भ्रमणशील हैं। इनके अतिरिक्त ढाई द्वीप के बाहर रहे हुए स्थिर हैं।

मध्य-लोक मे जम्बूद्वीप और लवण-समुद्र आदि शुभ नाम वाले असख्य द्वीप और समुद्र हैं और ये एक-दूसरे से उत्तरोत्तर द्विगुण अधिक विस्तार वाले हैं। सभी समुद्र वलयाकार से द्वीप को घेरे हुए हैं। अंत मे स्वयभूरमण समुद्र है।

जम्बूद्वीप के सात खण्ड ये है—१ भरत २ हेमवत ३ हरिवर्ष ४ महाविदेह ५ रम्यक वर्ष ६ हैरण्यवत और ७ ऐरवत। इनके मध्य मे वर्षधर पर्वत रहे हुए हैं, जिनसे इनके उत्तर और दक्षिण ऐसे दो विभाग हो जाते हैं। इन पर्वतो के नाम—१ हिमवान २ महाहिमवान ३ निषध ४ नीलवत ५ रुक्मि और ६ शिखरी।

भरत क्षेत्र मे गंगा और सिन्धु ये दो बडी नदियां हैं। ज
विस्तार का है। इसके चारो ओर दो लाख योजन का लवण-समुद्र
खण्ड इससे द्विगुण अधिक विस्तार वाला है। उसके आगे आठ ला
समुद्र है। इसके बाद १६ लाख योजन विस्तार वाला पुष्करवर द्वी
आधा (आठ लाख योजन) तो मनुष्य क्षेत्र के अन्तर्गत है और आ
है। मनुष्य-क्षेत्र कुल पेंतालीस लाख योजन परिमाण लम्बा है+।

इसके बाद असख्य द्वीप-समुद्र हैं। यह तिरछा लोक है

+ २ लाख योजन का लवण समुद्र, ४ लाख योजन धातकीखण्ड, ८ लाख योजन पुष्करार्द्ध।

ये २२ लाख योजन पूर्व और २२ लाख योजन पश्चिम में और एक लाख यों कुल ४५ लाख योजन का मनुष्य क्षेत्र हुआ।

ऊर्ध्व-लोक मे वैमानिक देव रहते है। इसमे १२ देवलोक तो कल्पयुक्त छोटे-बडे, स्वामी-सेवक और विविध प्रकार के व्यवहार से युक्त हैं और ९ ग्रैवेयक, पाँच अनुत्तर विमान, कल्पातीत—छोटे-बडे के व्यवहार रहित—अहमेन्द्र है।

भवनपति और व्यन्तर देवो मे अशुभ लेश्या की विशेषता है। भवनपति देवो मे परमाधामी जैसे महान् क्रूर प्रकृति के महा मिथ्यात्वी देव भी है। इनके मनोरजन क्रूरतापूर्ण भी होते हैं। ज्योतिषी देवो की परिणति वैसी नही है। उनके आमोद-प्रमोद भी उतनी विलष्ट परिणति वाले नही होते। वैमानिक देवो की आत्म-परिणति उनसे भी विशेष प्रशस्त होती है। उत्तरोत्तर ऊँचे देवलोको मे वैषयिक रुचि एव परिणति भी कम होती जाती है। ग्रैवेयक और अनुत्तर विमानवासी देवो मे विषय-वासना नही होती। सब से ऊँचा देवलोक सर्वार्थ-सिद्ध महा विमान है। वहाँ परम शुक्ल-लेश्या वाले देव रहते हैं। अनुत्तर-विमानो मे एकान्त सम्यग्दृष्टि और पूर्वभव मे चारित्र के उत्तम आराधक महात्मा ही उत्पन्न होते हैं। ये अवश्य ही मोक्ष मे जाने वाले होते है। सर्वार्थ-सिद्ध महा विमान के ऊपर सिद्धशिला है। सिद्धशिला के ऊपर लोकाग्र पर सिद्ध भगवान् (मुक्त जीव) रहते हैं।

जो बुद्धिमान, अशुभ ध्यान का निवारण करने के लिए समग्र लोक अथवा लोक के किसी विभाग का चिन्तन करते हैं, उन्हे धर्मध्यान सम्बन्धी क्षयोपशमिकादि भाव की प्राप्ति होती है। उनकी तेजोलेश्या, पद्मलेश्या तथा शुक्ललेश्या शुद्धतर होती जाती है। उन्हे स्व सवेद्य (स्वयं अनुभव करे ऐसा) अतीन्द्रिय सुख उत्पन्न होता है। जो स्थिर योगी महात्मा, नि सग हो कर धर्मध्यान के चलते देह का त्याग करते है, वे ग्रैवेयकादि स्वर्गो मे महान् ऋद्धिशाली उत्तम देव होते हैं। वहाँ वे अपना सुखी जीवन पूर्ण कर सम्पूर्ण अनुकूलता वाले उत्तम मनुष्य-जन्म को प्राप्त करते हैं और उत्तम भोग भोगने के बाद ससार का त्याग कर, चारित्र-धर्म की उत्कृष्ट आराधना कर के सिद्ध-बुद्ध एव मुक्त हो जाते है।]

गणधरादि की दीक्षा

अपने प्रथम उपदेश मे तीर्थंकर भगवान् ने धर्म-ध्यान का स्वरूप बताया। उपदेश सुन कर महाराजा सगर चक्रवर्ती के पिता सुमित्रविजय (भगवान् के काका जो भाव सयती के रूप मे ससार मे रहे थे) आदि हजारो नर-नारियो ने धर्म साधना के लिए संसार का त्याग कर दिया। एक साथ हजारो व्यक्ति मोक्ष की महायात्रा के लिए चल पड़े।

प्रव्रज्या स्वीकार करने वालो मे श्री 'सिंहसेन' आदि ९५ महापुरुष ऐसे थे कि जिनके 'गणधर नामकर्म' का उदय होने वाला था। प्रभु ने उन्हे 'उत्पाद व्यय और ध्रौव्य' की त्रिपदी सुनाई। इसमे समस्त आगम—श्रुतज्ञान का मूल रहा हुआ है। इस त्रिपदी को सुनते ही—जिनको ज्ञानावरणीय कर्म का विशिष्ट क्षयोपशम हो गया है और जो वीज को देख कर ही फल तक का स्वरूप समझ लेते है। ऐसे महापुरुषो ने चौदह पूर्व सहित द्वादशागी की रचना कर ली। वे श्रुतकेवली—शास्त्रोके पारगामी हो गए। भगवान् सहस्राम्रवन उद्यान मे से निकल कर जनपद विहार करने लगे।

शुद्धभट का परिचय

ग्रामानुग्राम विचरते हुए भगवान् कौशावी नगरी के निकट पधारे। समवसरण की रचना हुई। भगवान् की धर्मदेशना प्रारम्भ हुई। इतने मे एक ब्राह्मण युगल आया और भगवान् को वन्दन कर के बैठ गया। देशना पूर्ण होने के वाद ब्राह्मण ने हाथ जोड कर पूछा—"भगवन् ! यह इस प्रकार क्यो है ?" भगवान् ने फरमाया—

"यह सम्यक्त्व की महिमा है। सम्यक्त्व सभी अनर्थो को नष्ट करने और सभी प्रकार की अर्थ-सिद्धि का एक प्रबल कारण है। जिस प्रकार वर्षा से दावाग्नि शान्त हो जाती है, उसी प्रकार सम्यक्त्व गुण से सभी प्रकार के वैर शान्त हो जाते हैं। जिस प्रकार गरुड को देख कर सर्प भाग जाता है, उसी प्रकार सम्यक्त्व गुण से सभी प्रकार की व्याधियाँ दूर हो जाती है। दुष्कर्म तो इस प्रकार लय हो जाते हैं कि जिस प्रकार सूर्य के ताप से वर्फ पिघल कर लय हो जाता है। सम्यक्त्व गुण, चिन्तामणी के समान मनोरथ पूर्ण करता है। जिस प्रकार श्रेष्ठ गजराज, वारी जाति के वन्धन से वध जाता है, उसी प्रकार सम्यग्दर्शनी आत्मा के देव का आयु अपने आप वँध जाता है और देव सानिध्य हो जाते हैं। यह तो सम्यग्दर्शन का साधारण फल है। इसका महाफल तो तीर्थंकर पद और मोक्ष प्राप्ति है।"

भगवान् के उत्तर मे ब्राह्मण सतुष्ट हो गया, तब मुख्य गणधर महाराज ने ब्राह्मण के प्रश्न का रहस्य—श्रोताओ की जानकारी के लिए पूछा—

"भगवन् ! ब्राह्मण के प्रश्न और आपके उत्तर का रहस्य क्या है ?"

भगवान ने कहा—"इस नगरी के निकट शालिग्राम नाम का एक गाँव है। उसमें दामोदर नामक ब्राह्मण रहता था। सोमा उसकी स्त्री का नाम था। 'शुद्धभट' नाम का उनके

पुत्र था । उस शुद्धभट का लग्न, सिद्धभट ब्राह्मण की सुलक्षणा नामकी पुत्री के साथ हुआ। कालान्तर मे शुद्धभट के माता-पिता का देहान्त हो गया और सम्पत्ति भी नष्ट हो गई। यहाँ तक दशा बिगडी कि सुभिक्ष होते हुए भी उन्हे रात को भूखा ही सोना पड़ता । निर्धन के लिए तो सुभिक्ष भी दुर्भिक्ष के समान ही होता है । दरिद्रता से पीडित शुद्धभट पत्नी को छोड कर गुपचुप विदेश चला गया । सुलक्षणा निराधार हो गई । वर्षाऋतु आने पर 'विपुला' नामक प्रवर्तिनी साध्वी आदि उसके घर चातुर्मास विताने के लिए रह गई। सुलक्षणा ने साध्वी को रहने के लिए स्थान दिया । अब सुलक्षणा प्रतिदिन साध्वी का उपदेश सुनने लगी । धर्मोपदेश सुनने से उसका मिथ्यात्व नष्ट हो गया और सम्यग्दर्शन प्रकट हुआ । वह जीवादि पदार्थों को पदार्थ रूप से जानने लगी । उसने जैनधर्म ग्रहण किया। उसे विषयो के प्रति अरुचि हुई । उसने अणुव्रत ग्रहण किये । साध्वीजी, सुलक्षणा को श्राविका बना कर, वर्षाकाल समाप्त होते ही विहार कर गई ।

कुछ काल बीतने पर शुद्धभट भी विदेश से बहुत-सा धन कमा कर घर आया। उसने पत्नी से पूछा—"प्रिये ! तेने मेरा दीर्घकाल का वियोग किस प्रकार सहन किया ?"

—"प्रियवर ! आपका वियोग असह्य था, किन्तु महासती श्री विपुला साध्वीजी के योग से वियोग दुःख टला और मैंने कल्याणकारी धर्म पाया । मैंने सम्यग्दर्शन प्राप्त किया"—सुलक्षणा ने कहा ।

—"सम्यग्दर्शन क्या चीज है ? कैसा होता है वह"—शुद्धभट ने जिज्ञासा व्यक्त की।

"सुदेव मे देव-बुद्धि, सद्गुरु मे गुरु-बुद्धि और शुद्धधर्म मे धर्म-बुद्धि रखना, इन पर दृढ श्रद्धा रखना, सम्यग्दर्शन है । इसके विपरीत कुदेव, कुगुरु और अधर्म मे आस्था रखना, इनमे धर्म मानना, मिथ्यादर्शन कहाता है ।"

राग-द्वेष आदि समस्त दोषो को नष्ट कर के परमवीतराग बनने वाले, सर्वज्ञ सर्वदर्शी, तीनो लोक के पूज्य, हितोपदेष्टा अरिहंत परमेश्वर ही सुदेव हैं। इनका ध्यान करना, उपासना करना और इनकी शरण मे जाना । यदि ज्ञान चेतना हो, तो इनके धर्म का प्रचार करना । यह सुदेव आराधना है । जो परमतारक देव तो कहाते हैं, परन्तु शस्त्र और अक्षसूत्रादि राग-द्वेष के चिन्हो को धारण करते हैं, जिनके साथ स्त्री रही हुई है, जो उपासको पर अनुग्रह और दूसरो पर कोप करने मे तत्पर हैं और जो नाटच, अट्टहास और सगीत आदि मे रस लेते है, वे सुदेव नही हो सकते । उनकी आराधना से मोक्षफल प्राप्त नही हो सकता । वे सुदेव नही हैं ।

महाव्रतो के पालक, निर्दोष भिक्षा से जीवन का निर्वाह करने वाले और निरन्तर सामायिक चारित्र मे रहने वाले शान्त, धीरजवान् और धर्म का उपदेश करने वाले सुगुरु होते हैं। इसके विपरीत प्रचुर अभिलाषा वाले सर्वभक्षी, परिग्रहधारी, अब्रह्मचारी और मिथ्या उपदेश देने वाले कुगुरु है। वे सुगुरु नही कहे जाते। जो गुरु कहा कर खुद आरभ और परिग्रह मे मग्न रहते है, वे दूसरो का उद्धार नही कर सकते।

धर्म वही है जो दुर्गति मे गिरते हुए जीव को वचावे। वीतराग सर्वज्ञ भगवंतो का कहा हुआ सयम और क्षमादि १० प्रकार का धर्म ही मुक्ति देने वाला है। परम आप्त पुरुप के वचन ही धर्म-निर्देशक होते हैं। कोई भी वचन अपौरुपेय नहीं होता। अपौरुषेय वचन असभवित है। आप्त पुरुपो के वचन प्रामाणिक होते है। मिथ्यादृप्टियो का माना हुआ, हिंसादि दोपो से कलुपित वना हुआ, ऐसे नाममात्र के धर्म को ही धर्म माना जाय, तो वह ससार मे परिभ्रमण कराने वाला होता है।

यदि रागयुक्त देव भी सुदेव माना जाय, अब्रह्मचारी को गुरु माना जाय और दयाहीन धर्म भी सुधर्म माना जाय, तो दु ख के साथ कहना होगा कि संसार भ्रमजाल मे पड कर भवाटवी मे भटकने को ही धर्म मान रहा है।

शम, सवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य, इन पाँच लक्षणो से सम्यक्त्व की पहिचान होती है। स्थिर करना, प्रभावना, भक्ति, जिनशासन मे कुशलता और चतुर्विध तीर्थ की सेवा, ये पांच सम्यक्त्व के भूपण है। शका, काक्षा, विचिकित्सा, मिथ्यादृष्टि की प्रशसा और मिथ्यादृष्टि का परिचय, ये पाँच सम्यग्दशन को दूषित करते हैं।

अपनी पत्नी से सम्यग्दर्शन का स्वरूप जान कर ब्राह्मण वहुत प्रसन्न हुआ। उसने उसकी प्रशसा की और स्वय सम्यग्दृष्टि हुआ।

उस ग्राम मे पहले वहुत-से लोग श्रावक-धर्म का पालन करते थे। किन्तु वाद मे साधुओ का ससर्ग नही रहने से मिथ्यादृप्टि हो गए। शुद्धभट दम्पत्ति को श्रावक-धर्म पालक जान कर वे मिथ्यादृष्टि लोग उनकी निन्दा करने लगे, किन्तु वे अपने धर्म मे दृढ रहे। कालान्तर मे उनके एक पुत्र का जन्म हुआ।

एक वार सर्दी के दिनो मे अपने पुत्र को ले कर शुद्धभट 'धर्म अग्निष्टिका' के पास गया। वहाँ ब्राह्मण लोक अग्नि ताप रहे थे। शुद्धभट को देखते ही उन्होने कहा—"अरे ओ श्रावक ! तू जा यहाँ से। तू भ्रप्ट है और हमारे पास वैठने योग्य नही है।" इस तिरस्कारपूर्ण व्यवहार से शुद्धभट क्रोधित हो गया। उसने वही उच्च स्वर मे कहा—

"यदि जिनधर्म ससार से तारने वाला नही हो, यदि सर्वज्ञ अरिहत आप्त देव नही

हो और ज्ञान, दर्शन और चारित्र, मोक्ष का मार्ग नही हो तथा विश्व मे इस प्रकार सम्यग्-दृष्टि नही हो, तो इस अग्नि मे डालने पर मेरा यह पुत्र जीवित नही रहे और जल जाय और जो यह सब सत्य हो, तो मेरा यह पुत्र निर्विघ्न रहे और अग्नि शान्त हो जाय।" इस प्रकार कह कर उसने अपने पुत्र को अग्नि मे डाल दिया। यह देख कर वहाँ बैठे हुए सभी लोग हाहाकार कर उठे और बोले—"यह दुष्ट है इसने क्रोधी बन कर पुत्र हत्या की है।" इस प्रकार तिरस्कार करने लगे। किन्तु ज्योही उन्होने अग्नि की ओर देखा, तो उनके आश्चर्य का पार नही रहा। उन्होने देखा—अग्नि के स्थान पर एक विशाल कमल है और उस कमल पर बच्चा आनन्दपूर्वक खेल रहा है। वहाँ एक सम्यक्त्व सम्पन्न देवी रहती थी। उसने बालक की रक्षा की। पूर्व के मनुष्य-भव मे सयम की विराधना कर के वह व्यन्तर जाति की देवी हुई थी। वह केवली भगवान् के उपदेश से प्रबुद्ध हो कर सम्यग्-दृष्टियो की सेवा करने मे तत्पर रहती थी। इस समय सम्यक्त्व का माहात्म्य प्रकट करने के लिए उसने यह प्रभाव दिखाया था। ब्राह्मण लोग यह प्रभाव देख कर आश्चर्यान्वित हुए। शुद्धभट ने घर जा कर अपनी पत्नी से सारी घटना कह सुनाई। पत्नीने कहा—"आपने यह क्या किया ? यह तो अच्छा हुआ कि सम्यग्दृष्टि देवी निकट थी और उसने तत्काल सहायता की, अन्यथा पुत्र जल जाता, तो लोग, धर्म की निन्दा करते और धर्म की हीनता होती। ऐसा दु साहस नही करना चाहिए।"

इसके बाद सुलक्षणा श्राविका अपने पति को ले कर यहाँ धर्म श्रवण करने आई। शुद्धभट ने उस घटना को लक्ष कर प्रश्न किया था, जिसे मैंने सम्यक्त्व का प्रभाव बताया। भट दम्पत्ति ने दीक्षा ली और विशुद्ध साधना से केवलज्ञान केवलदर्शन प्राप्त किया।

एक बार भगवान् अजितनाथजी साकेत नगर के उद्यान मे पधारे। इन्द्रादि देवो और सगरादि राजाओ तथा अन्य नरनारियो की विशाल धर्म-परिषद जुड़ी। भगवान् ने धर्मदेशना दी।

मेघवाहन और सगर के पूर्वभव

वैताढ्य पर्वत पर 'पूर्णमेघ' नाम का विद्याधर रहता था। उसके पुत्र का नाम 'मेघवाहन' था। वही 'सुलोचन' नाम वाला एक दूसरा व्यक्ति रहता था। उसके पुत्र का नाम 'सहस्रलोचन' था। पूर्णमेघ ने पूर्वबद्ध वैर से प्रेरित हो कर सुलोचन को मार डाला।

पिता के वध से क्रोधायमान हो कर सहस्रलोचन ने पूर्णमेघ का वध कर दिया और उसके पुत्र मेघवाहन को भी मारने के लिए तत्पर हुआ। मेघवाहन भयभीत हो कर भागा। वह सीधा भगवान् के समवसरण मे आया और वन्दन-नमस्कार कर के बैठ गया। सहस्रलोचन उसके पीछे पडा हुआ था। उसके मन मे शत्रुता उभर रही थी। वह भी पीछा करता हुआ समवसरण मे आ पहुँचा। किन्तु भगवान् का समवसरण देख कर स्तब्ध रह गया। उसके वैर-भाव का शमन हुआ। उसने शस्त्र डाल दिये और भगवान् की प्रदक्षिणा कर के बैठ गया। इसके बाद चक्रवर्ती महाराज सगर ने सर्वज्ञ-सर्वदर्शी भगवान् से पूछा—"प्रभो! पूर्णमेघ और सुलोचन के वैर होने का क्या कारण है ?" भगवान् ने कहा,—

"सूर्यपुर नगर मे 'भावन' नाम का एक कोट्याधिपति व्यापारी था। वह अपनी समस्त सम्पत्ति अपने पुत्र हरिदास को सौप कर धन कमाने के लिए देशान्तर चला गया। बारह वर्ष मे उसने बहुत-सा धन कमा लिया। स्वदेश लौट कर वह नगर के बाहर ठहर गया। वह उत्सुकता वश अचानक रात्रि के समय अपने घर में आया और गुप्त रूप से घर मे प्रवेश कर के इधर-उधर फिरने लगा। हरिदास की नीद खुल गई। उसे लगा—'घर मे चोर घुस गए है।' वह उठा और तलवार का प्रहार कर ही दिया। घायल भावन सेठ ने देखा कि उसका पुत्र ही उसे मार रहा है, तो उसके क्रोध का पार नही रहा। वह अत्यन्त वैर-भाव लिए हुए मर गया। जब हरिदास ने देखा कि उसके हाथ से उसका पिता ही मारा गया, तो उसे बहुत दुःख हुआ। उसने पश्चात्ताप पूर्वक अपने पिता का अंतिम सस्कार किया। कालान्तर मे हरिदास भी मर गया। भव-भ्रमण करते हुए पिता का जीव पूर्णमेघ के रूप मे उत्पन्न हुआ और हरिदास का जीव 'सुलोचन' हुआ। इस प्रकार इन दोनो का वैर पूर्वभव से ही चला आ रहा है और इस भव मे वैर सफल हुआ।"

भगवान् का निर्णय सुन कर चक्रवर्ती ने फिर पूछा—

"इन दोनो के पुत्रो के वैर का क्या कारण है प्रभो ? और सहस्रलोचन के प्रति मेरे मन मे स्नेह क्यो उत्पन्न हो रहा है ?"

—"सगर! तुम पूर्वभव मे एक सन्यासी थे। 'रम्भक' तुम्हारा नाम था। तुम्हारी दान देने मे विशेष रुचि और प्रवृति थी। तुम्हारे 'शशि' और 'आवली' नाम के दो शिष्य थे। आवली अपनी अतिशय विनम्रता के कारण तुम्हे विशेष प्रिय था। उसने एक गाय मोल ली। किंतु शशि ने गाय बेचने वाले को फुसला कर वह गाय खुद ने मूल्य दे कर ले ली। इस पर शशि और आवली मे झगडा हो गया। दोनो खूब लडे और अन्त मे

शशि ने आवली को मार डाला। भव-भ्रमण करते हुए शशि तो मेघवाहन हुआ और आवली सहस्रलोचन हुआ। रम्भक सन्यासी का जीव—तुम दान के प्रभाव से शुभ गतियो मे होते हुए चक्रवर्ती हुए। सहस्रलोचन के प्रति तुम्हारा स्नेह पूर्वभव से ही है।"

राक्षस वंश

धर्म-सभा मे उस समय 'भीम' नामक राक्षसाधिपति भी बैठा था। उसने मेघवाहन को देख कर स्नेहपूर्वक छाती से लगाया और बोला—

"वत्स! मैं पूर्वभव मे पुस्करवर द्वीप के भरत-क्षेत्र मे, वैताढ्य पर्वत पर के काचनपुर नगर का राजा था। मेरा नाम विद्युद्दष्ट्र था और तू मेरा रतिवल्लभ नाम का पुत्र था। तू मुझे बहुत ही प्रिय था। आज तू मुझे मिल गया। यह अच्छा ही हुआ। मैं अब भी तुझे अपना प्रिय पुत्र मानता हूँ। अब तू मेरे साथ चल। मेरे सर्वस्व का तू अधिकारी है। लवण समुद्र मे सात सौ योजन वाला, सभी दिशाओ मे फैला हुआ एक 'राक्षस द्वीप' है। उसके मध्य मे त्रिकूट नाम का वलयाकार पर्वत है। वह नौ योजन ऊँचा, पचास योजन विस्तार वाला और बडा ही दुर्गम है। उस पर्वत पर 'लका' नाम की नगरी है। वह स्वर्णमय गढ से सुरक्षित है। मैने ही यह नगरी बसाई है। उसके छ योजन पृथ्वी मे नीचे 'पाताल लका नामकी अति प्राचीन नगरी है, जो स्फटिक रत्न के गढ और आवास आदि से सुशोभित है। इन दोनो नगरियो का स्वामी मैं ही हूँ। हे पुत्र! मैं इन दोनो नगरियो का स्वामित्व तुझे देता हूँ। तू इन पर राज्य कर। तीर्थंकर भगवान् के दर्शन का तुझे यह अचिन्त्य लाभ मिल गया है।"

इस प्रकार कह कर राक्षसाधिपति ने अपनी नौ मणियो वाला बडा हार और राक्षसी विद्या मेघवाहन को वही देदी। मेघवाहन भगवान् को वन्दना कर के राक्षस द्वीप मे आया और दोनो लका नगरियो पर शासन करने लगा। राक्षस द्वीप का राज्य और राक्षसी विद्या के कारण मेघवाहन का वश 'राक्षसवंश' कहलाया।

पुत्रों का सामूहिक मरण

चक्रवर्ती सम्राट के साठ हजार पुत्र विदेश भ्रमण के लिए गये थे। सामुदानिक

कर्म के उदय से भ्रमण-काल मे ही किसी निमित्त से उनकी एक साथ मृत्यु हो गई + ।

+ 'त्रिशष्ठिशलाका पुरुष चरित्र' मे यहाँ एक कथा दी है, जिसमे लिखा है कि सगर चक्रवर्ती के साठ हजार पुत्र एक साथ देशाटन के लिए निकले। उनके साथ स्त्री-रत्न को छोड कर चक्रवर्ती के १३ रत्न भी थे और सुवुद्धि आदि अमात्य भी। वे घूमते-घूमते अष्टापद पर्वत के निकट आये और उस पर के भव्य मन्दिर को देखा—जिसमे भगवान् आदिनाथ, अजितनाथ और भविष्य के २२ तीर्थंकरो की मूर्तियाँ थी। वहाँ ऋषभपुत्रो आदि के चरण एव मूर्तियाँ भी थी। उन्होने उनकी पूजा-वन्दनादि की। फिर उन्होंने सोचा—'यह पवित्र तीर्थ भविष्य मे भी इसी प्रकार स्थिर एव सुरक्षित रहे। अर्थलोलप और अधम मनुष्यो के द्वारा इसकी क्षति नही पहुँचे, इसका प्रवन्ध हमे करना चाहिए। इस पवित्र पर्वत को मनुष्य की पहुँच से बचाने के लिए आस-पास एक वडी खाई खोद कर गगा का पानी भर देना चाहिए।' इस प्रकार सोच कर और दण्डरत्न से पृथ्वी खोद कर खाई बनाने लगे। एक हजार योजन गहरी खाई खुद गई। खाई खुदने से भवनपति के नागकुमार जाति के देवो के भवन टूटने लगे। अपने भवन टूटने से सारा नागलोक क्षुब्ध हो गया। सर्वत्र भय, त्रास और हाहाकार मच गया। ऐसी स्थिति देख कर नागकुमार देवो का राजा 'ज्वलनप्रभ' पृथ्वी से बाहर निकल कर, सगर चक्रवर्ती के पुत्रो के पास आया और क्रोधाभिभूत हो कर पृथ्वीदारण का कारण पूछा। उनका शुभाशय और विनय देख कर वह शान्त हो कर लौट गया। उसके जाने के बाद उस खाई को पानी से भरने के लिए, गगा नदी के किनारे पर दण्डरत्न का प्रहार किया और नहर बना कर पानी पहुँचाया। वह गगाजल उस कृत्रिम खाई मे गिर कर नागकुमार के भवनो मे पहुँचा। उनके भवन पानी से भर गए। नागकुमारो मे पुन त्रास वरत गया। उनका अधिपति इस विपत्ति से भयकर कुपित हुआ और बाहर निकल कर सभी—साठ हजार सगर पुत्रो को अपनी क्रोधाग्नि से जला कर भस्म कर दिया। पृथ्वी पर हाहाकार मच गया। सगर चक्रवर्ती के ज्येष्ठ पुत्र जन्हुकुमार द्वारा गगा का पानी अष्टापद तक लाया गया, इससे गगा का दूसरा नाम 'जान्हवी' ‡ पडा।

यह सक्षिप्त कथा आई है। किन्तु इसकी वास्तविकता विचारणीय लगती है। कुछ खास बातें तो ऐसी है कि जिनकी उपेक्षा नही की जा सकती। जैसे—

(१) प्रथम पर्व के छठे सर्ग मे लिखा है कि भरतेश्वर ने आठ योजन ऊँचे इस अष्टापद पर्वत पर 'सिंहनिषद्या' चैत्य और स्तूप बनवाने के बाद उन तक कोई मनुष्य नहीं पहुँच सके, इसके लिए 'लोहे के यन्त्र निर्मित आरक्षक खडे किये' और पर्वत को छिलवा कर स्तभ के समान सीधा-सपाट बना दिया, साथ ही प्रत्येक योजन पर मेखला के समान आठ सोपान बनाये। इस प्रकार के प्रयत्न से वह मनुष्यो के लिए दुर्गम ही नही, अगम हो गया था और पर्वत पर लोह-पुरुष रक्षक थे ही। फिर खाई खोदने की क्या आवश्यकता थी?

---

‡ वैदिक साहित्य मे 'जन्हु ऋषि' से उत्पन्न होने के कारण गगा का नाम 'जान्हवी' बताया है।

शोक-निवारण का उपाय

सगर-पुत्रो के मरण से शोकाकुल बने हुए सेनापति, सामन्त और मडलेश्वरादि तथा साथ रही हुई अन्त पुर की स्त्रियो के आक्रंद से सारा वन-प्रदेश व्याप्त हो गया। सभी ने राजधानी लौटने के बजाय मरना ही ठीक समझा। उनके करुणाजनक विलाप से सारा वातावरण ही शोकार्त हो गया था। पत्थर-से हृदय को भी पिघला देने की शक्ति थी—उस सामूहिक आर्त्तनाद मे। उस समय भगवे वस्त्र वाला एक ब्राह्मण वहाँ आया और उन रुदन करते हुए मनुष्यो से कहने लगा,—

"अरे, ओ विवेक-विकल मूर्खो! तुम इतने मूढ क्यो हो गए? क्या मरने वालों के साथ मर जाना भी समझदारी है? क्या कोई अमर हो कर आया है—ससार मे? मरना तो सभी को है। कोई पहले मरता है और कोई पीछे। कई एक साथ जन्मते है और आगे-पीछे मरते हैं, कई आगे-पीछे जन्मते है पर एक साथ मर जाते है। विभिन्न काल मे और विभिन्न स्थानो पर जन्मे हुए बहुत-से मनुष्य एक काल मे एक स्थान पर भी मरते हैं। यह

---

(२) कहा जाता है कि यह पर्वत शाश्वत है और उस पर्वत पर के चैत्य भी देव-सहाय्य से अब तक (कुछ कम एक करोड सागरोपम तक) सुरक्षित है, तब खाई खोदने की जरूरत ही क्यो हुई? वे देवता उस चैत्य की रक्षा करते ही थे?

(३) खाई एक हजार शाश्वत योजन खुद कर भवनपति के भवनो को भी तोड-फोड दिया, तो ऊपर के एक सौ योजन के बाद आठ सौ योजन तक के क्षेत्र मे व्यन्तर जाति के देवो के नगर हैं, उन नगरो पर उसका कुछ भी प्रभाव नही पडा? वे अछूते ही रह गए? यह कैसे हो सकता है?

(४) सगरकुमारो ने खाई खोदने की भूल की और उस भूल की क्षमा भी उसे नागराज ज्वलनप्रभ से मिल गई, तो बाद मे खाई मे पानी तो विचार कर के ही भरना था। किसी ने यह भी नही सोचा कि—'जब पृथ्वी फूट ही गई है, तो पानी भरने से वह पानी पहले नागकुमार के भवनो मे ही जायगा और पुन उपद्रव भडकेगा।' सुबुद्धि आदि प्रधानो और पुरोहितादि शान्ति-प्रवर्त्तक रत्नो तथा तेरह रत्न के अधिष्टाता देवो मे से किसी के भी मन मे यह बात क्यो नही आई?

(५) एक विचार यह भी होता है कि ऐसे अलौकिक एव अमृत के समान उपकारी तीर्थ को मनुष्यो की पहुँच के परे क्यो रखा गया? यदि वह मनुष्यो की पहुँच के भीतर होता, तो भावुक उपासक दर्शन-पूजन का लाभ ले कर अपने जीवन को सफल करने का सतोष तो मानते? तीर्थ भी बनाया और ओझल भी कर दिया? समझ मे नही आता कि भरतेश्वर ने भी उसे मनुष्यो द्वारा अस्पृश्य रखने का प्रयत्न क्यो किया?

(६) यदि अष्टापद का ओझल रखना उचित माना जाय, तो शत्रुजय सम्मेदशिखर आदि अन्य तीर्थों का क्यो नही?

ऐसे अनेकों विचार उत्पन्न होते हैं, अस्तु।

कोई अनहोनी बात नहीं है। महामारी और युद्धादि मे बहुत-से मनुष्य एक साथ मरते हैं। मृत्यु तो प्रत्येक ससारी जीव के साथ लगी ही हुई है। यदि ससार मे रह कर ही अमर होने का कोई उपाय होता, तो चक्रवर्ती आदि नरेन्द्र और देवेन्द्रादि कभी नही मरते। मृत्यु सभी के लिए अनिवार्य है, फिर विक्षिप्त के समान विलाप करना और मरने के लिए तत्पर होना तो मात्र मूर्खता ही है। इसलिए तुम धैर्य धारण करो और अपने स्थान पर जाओ। तुम्हारे स्वामी को सम्हालने के लिए मैं उनके पास जाता हूँ।"

माँगलिक अग्नि कहाँ है ?

इस प्रकार मन्त्री को समझा कर वह ब्राह्मण आगे बढा और मार्ग में से किसी मरे हुए मनुष्य का शव उठा कर विनिता नगरी मे प्रवेश किया। राजभवन के आँगन में जा कर वह ब्राह्मण जोर-जोर से चिल्लाने लगा,—

— "हे चक्रवर्ती महाराज ! हे न्यायावतार ! हे रक्षक-शिरोमणि ! आपके राज्य मे मुझ पर महान् अत्याचार हुआ है। आप जैसे महाबाहु राजेश्वर के राज्य मे मैं लूट गया हूँ। मेरी रक्षा करो देव ! मैं आपकी शरण में आया हूँ।"

ब्राह्मण के ऐसे अश्रुतपूर्व शब्द सुन कर सगर महाराज चिंतित हुए। उसके दुःख को अपना ही दुःख मानते हुए उन्होंने द्वारपाल को भेज कर ब्राह्मण को बुलाया। ब्राह्मण रुदन करता हुआ राजा के सामने आया। महाराज ने ब्राह्मण से पूछा, —

—"तुझे किसने लूटा है ? कौन है तुझे दुःख देने वाला ?"

—"पृथ्वीनाथ ! आपके राज्य मे सर्वत्र शाति है। कोई किसी को लूटता नहीं है, न चोरियाँ होती है, न छिनाझपटी होती है और न कोई धरोहर दबाता है। अधिकारीगण अपने कर्त्तव्य का सचाई के साथ पालन करते हैं। आरक्षक भी अपने स्वजनादि के समान प्रजा की रक्षा करते हैं। प्रजा भी सत्य और न्याय युक्त आचरण करती है। अन्याय, अनीति एव दुराचार का नाम ही नही है। न लड़ाई-झगडे हैं, न वैर-विरोध। सर्वत्र सुख-शाति और सतोष व्याप रहा है। कोई दुखी-दर्दी और दरिद्र नही है—आपके राज्य मे। किन्तु मुझ गरीब पर ही वज्रपात हुआ है—महाराज !"

"मैं अवतीदेश के अश्वभद्र नगर का रहने वाला अग्निहोत्री ब्राह्मण हूँ। मैं अपने एकमात्र पुत्र और पत्नी को छोड कर विशेष अध्ययन के लिए विदेश गया था। मेरा अध्ययन

सुखपूर्वक चल रहा था कि एक दिन मुझे अपने-आप ही उदासी आ गई और मन चिन्तामग्न हो गया। अनिष्ट की आशका से मैं उद्विग्न हो उठा। मैंने सोचा—मेरे कुटुम्ब पर अवश्य ही कोई सकट आया होगा। मैं उसी समय घर के लिए चल दिया। मेरी वायी आँख फडकने लगी थी। एक कौआ सूखे हुए झाड के ठूँठ पर बैठ कर कठोर शब्द बोल रहा था। मैं अपने घर के निकट पहुँचा, तो मेरा घर भी मुझे शोभाहीन दिखाई दिया। घर मे पहुँचा, तो मेरी पत्नी रुदन कर रही थी। मेरा पुत्र मरा हुआ पडा था। यह देख कर मैं मूर्च्छित हो कर गिर पडा। सचेत होने पर मालूम हुआ कि मेरा पुत्र, सर्पदश से मरा है। मेरे दुख का पार नही रहा। मैं रात को भी शव के पास बैठा रोता रहा। इतने मे मेरी कुलदेवी ने प्रकट हो कर कहा—

—"वत्स! रुदन क्यो करता है? मैं कहूँ वैसा करेगा, तो तेरा यह मृत पुत्र जीवित हो जायगा। तू कही से 'माँगलिक अग्नि' ले आ।"

—"माता! कहाँ मिलेगी माँगलिक अग्नि मुझे"—मैंने आशान्वित होते हुए पूछा।

—"जिस घर मे कभी कोई मरा नही हो, उस घर से अग्नि ले आ। वह 'मगल-अग्नि' होगी। जिस घर मे सदा आनद-मगल रहा हो, कभी शोक-संताप और मृत्यु नही हुए हो, वहाँ की अग्नि मगलमय होती है"—देवी ने कहा।

—"महाराज! देवी की बात सुन कर मैं उत्साहित हुआ और पुत्र को जीवित करने के लिए मैं उत्साहपूर्वक घर से निकल गया। मैं प्रत्येक गाँव और गाँव के प्रत्येक घर मे गया, किन्तु ऐसा एक भी घर नही मिला कि जहाँ कोई मरा नही हो। सभी ने कहा—"हमारे वश मे असख्य मनुष्य मर चुके है।" मैं माँगलिक अग्नि की खोज मे भटकता हुआ आपकी शरण मे आया हूँ। मुझे माँगलिक अग्नि दिलवाइये—महाराज! आप चक्रवर्ती सम्राट हैं। सम्पूर्ण छह खड मे आपका राज्य है। वैताढ्य पर्वत पर की दोनो श्रेणियो मे रहे हुए विद्याधर भी आपके आज्ञाकारी हैं और देव भी आपकी सेवा करते है तथा नव-निधान आपके सभी मनोरथ पूर्ण करते हैं। इसलिए किसी भी प्रकार से मेरा मनोरथ पूर्ण कराइये—दयालु"—ब्राह्मण अत्यन्त दीनतापूर्वक याचना करने लगा।

ब्राह्मण की याचना सुन कर नरेन्द्र विचार मे पड़ गए। यह अनहोनी माँग कैसे पूरी हो [illegible] ब्राह्मण को समझाते हुए कहा,—

[illegible] घर मे तीन लोक के स्वामी अरिहत भगवान् ऋषभदेवजी [illegible] रेन्द्र हुए, जिनका सौधर्मेन्द्र जैसे भी आदर करते थे और [illegible]। वीर-शि[illegible]मणि, महाबाहु बाहुबलीजी तथा आदित्ययश

आदि नरेन्द्र हुए । ये सभी आयु पूर्ण होने पर देह का त्याग कर गये । हमारे वश मे असख्य नरेन्द्र और उनके आत्मीयजन मर चुके, तब तुम्हारे लिए माँगलिक अग्नि कहाँ से लाई जाय ? काल तो दुरतिक्रम है भाई ! यह सर्वभक्षी और सर्वभेदी है । इसकी पहुँच से न कोई घर अछूता रहा और न कोई प्राणी बचा । इसलिए तू चाहता है वैसा मगल-गृह तो कही नही मिल सकता । अब तू शोक करना छोड दे । मृत्यु आने पर सभी मरते हैं, चाहे वृद्ध हो या युवा अथवा बालक ही हो । जब एक बार सभी को मरना है, तो फिर शोक और रुदन क्यो करना चाहिए ? ससार मे जो माता, पिता, पुत्र, भाई, बहन और पत्नी आदि का सम्बन्ध है, वह पारमार्थिक नही है । जिस प्रकार नगर की धर्मशाला मे विविध स्थानो और विभिन्न दिशाओ से आने वाले बहुत-से व्यक्ति ठहरते है और साथ रह कर रात्रि व्यतीत करते हैं, किन्तु प्रात काल होते ही सभी अपने-अपने गन्तव्य की ओर चले जाते है, उसी प्रकार इस ससार मे भी विभिन्न गतियो से आ कर जीव, एक घर मे एकत्रित होते है और समय पूर्ण होने पर अपने-अपने कर्म के अनुसार भिन्न-भिन्न गतियो मे चले जाते हैं । ऐसे अनादि सिद्ध एव अवश्यभावी तथा अनिवार्य विषय मे कौन बुद्धिमान शोक करता हैं । नही, नही, यह शोक करने का विषय नही है । इसलिए हे द्विजोत्तम ! तुम मोह का त्याग कर के स्वस्थ बनो और विवेक धारण करो ।"

—"महाराज ! आपका उपदेश सत्य है—यथार्थ है । मैं भी यह जानता हूँ, किंतु करूँ क्या ? मुझ से पुत्र-मोह नही छूटता । पुत्र-वियोग ने मेरा सारा विवेक हर लिया है । यह दु ख वही जानता है, जो भुगत चुका है । जब तक पुत्र-विरह की वेदना भुगती नही, तब तक सभी लोग ऐसी बाते करते है और धीरज रखने और विवेकी बनने का उपदेश देते है । फिर आप तो अरिहत भगवान् के वशज हैं । निर्ग्रंथ-प्रवचन से आप का हृदय निर्मल हो चुका है । आप जैसे शक्तिशाली धैर्यवान् पुरुष विरल ही होते हैं। हे स्वामिन् ! आपने जो उपदेश मुझे दिया और मेरा मोह दूर किया, यह बहुत ही अच्छा किया । किन्तु यदि कभी आप पर भी ऐसी बीते, तो आप भी धीरज रख सकेगे क्या ?"

"महाराज ! जिसके थोडे पुत्र होते है, उसके थोडे मरते हैं और अधिक पुत्र हैं, उसके अधिक मरते है । थोडे मरते है, तो उनके पितादि को भी दु ख होता है और बहुत पुत्रो के मरने पर उनके माता-पितादि को भी दु ख होता है । जिस प्रकार थोड़े प्रहार से कीडी-कुथू को और अधिक प्रहार से हाथी को समान पीडा होती है, उसी प्रकार पुत्रो के थोडे बहुत मरने पर माता-पितादि को भी समान दु ख होता है। दु ख मे न्यूनाधिकता नही होती । आपके उपदेश से मैं अपना मोह दूर करता हूँ । किन्तु राजेन्द्र ! आपको भी अपने

उपदेश को हृदयगम कर के अखण्ड धैर्य धारण करना चाहिए। आपके पुत्र जो देशाटन करने गये थे, वे सभी मृत्यु को प्राप्त हो चुके है। उनके साथ रहे हुए सेनापति, सामन्त आदि शोक सतप्त दशा मे आये हैं। आपने जो उपदेश मुझे दिया, उसका स्वय भी पालन करें और शोकमग्न परिवार को भी धीरज बँधावे।"

ब्राह्मण की बात पूरी होते ही वे सेनापति आदि जो कुमारो के साथ गये थे, अश्रुपात करते हुए सभा मे आये और राजा को प्रणाम कर नीचा मुख कर के बैठ गए।

ब्राह्मण की बात सुन कर और कुमार के साथ गये हुए सेनापति आदि को अश्रुपात करते हुए, बिना पुत्रो के ही आया हुआ देख कर, नरेन्द्र जडवत् स्तभित रह गए। उनके नेत्र स्थिर हो गए और वे मूर्च्छित हो गए। कुछ समय बाद स्वस्थ होने पर ब्राह्मण ने कहा,—

"राजन्! आप उन विश्ववद्य महापुरुष भगवान् आदिनाथजी के वशज और भगवान् अजितनाथजी के भाई हैं, जिन्होने विश्व की मोह-निद्रा का नाश किया है। एक साधारण मनुष्य के समान आपको मोहाधीन हो कर शोक करना शोभा नही देता। इस समय की आपकी दशा, उन महापुरुषो और उस कुल के लिए अशोभनीय है।"

नरेश, ब्राह्मण की बात सुन कर विचार मे पड गए। वे समझ गए कि ब्राह्मण अपने पुत्र की मृत्यु के बहाने मुझे मेरे पुत्रो की मृत्यु का सन्देश देने आया है। जब राजा को कुमारो के मृत्यु का कारण बताया गया, तो वे विशेष आक्रन्द करने लगे। उनके शोक का पार नही रहा। राजा के हृदय मे शान्ति उत्पन्न करने के लिए ब्राह्मण ने फिर कहा,—

"नरेन्द्र! आपको पृथ्वी का ही राज्य नही मिला है, वरन् प्रबोध का आध्यात्मिक अधिकार भी प्राप्त हुआ है—वशानुगत मिला है। आप दूसरो को बोध देने योग्य हैं, फिर आपको दूसरा कोई उपदेश दे, यह उलटी बात है। मोहनिद्रा का समूल नाश करने वाले ऐसे भगवान् अजितनाथ के भाई को दूसरे बोध दे, क्या यह लज्जा की बात नही है?"

'ब्राह्मण की बात सुन कर राजा को कुछ धैर्य बँधा। किन्तु मोह भी महाप्रबल था। वह रह-रह कर उमड आता और ज्ञान को दबा देता था। यह देख कर 'सुबुद्धि' नाम के प्रधान मन्त्री ने निवेदन किया,—

"महाराज! समुद्र मर्यादा नहीं छोडता, कुलपर्वत कम्पायमान नही होते और पृथ्वी चपल नही बनती। यदि कभी समुद्र, पर्वत और पृथ्वी भी मर्यादा छोड दे, तो भी आप जैसे महानुभाव को तो दुःख प्राप्त होने पर भी अपना संतुलन नही खोना चाहिए। ससार की तो लीला ही विचित्र है। क्षणभर पहले जिसे सुखपूर्वक विचरण करते देखते है,

वह क्षणभर बाद ही नष्ट होते दिखाई देता है। इसलिए विवेकी पुरुष को संसार की विचित्रता का विचार कर के विवेक को जाग्रत रखना चाहिए।

इन्द्रजालि को ।

महाराजा सगर चक्रवर्ती का शोक दूर करने के लिए सुबुद्धि प्रधानमन्त्री इस प्रकार कथा सुनाने लगा —

"जम्बूद्वीप के इसी भरत-क्षेत्र के किसी नगर मे एक राजा राज करता था। वह जैनधर्म रूपी सरोवर मे हस के समान था। सदाचारी और प्रजावत्सल था। न्याय-नीति-पूर्वक राज्य का सचालन करता था। एक समय वह सभा मे बैठा हुआ था कि उसके सामने एक व्यक्ति उपस्थित हुआ। उसने राजा को प्रणाम कर के अपना परिचय देते हुए कहा— "मैं वेदादि शास्त्र, शिल्पादि कला एवं अन्य कई विद्याओ मे पारगत हूँ। किन्तु इस समय मैं अपनी इन्द्रजालिक (जादुई) विद्या का परिचय देने के लिए आपकी सेवा मे उपस्थित हुआ हूँ। इस विद्या से मैं उद्यानो की रचना कर सकता हूँ, ऋतुओ का परिवर्तन और आकाश मे गन्धर्वो द्वारा सगीत प्रकट कर सकता हूँ। मैं अदृश्य हो सकता हूँ। आग चबा सकता हूँ। धधकते हुए लोहे को खा सकता हूँ। जलचर, स्थलचर और खेचर (आकाश मे उडने वाला पक्षी)वन सकता हूँ। इच्छित पदार्थ को दूर देश से मँगवा सकता हूँ। पदार्थो के रूप पलट सकता हूँ और अन्य अनेक प्रकार के आश्चर्यकारी दृश्य दिखा सकता हूँ। मेरी प्रार्थना है कि आप मेरी कला देखे।"

"हे कलाविद्"—नरेश ने इन्द्रजालिक को सम्बोध कर कहा—"अरे, तुमने वुद्धि को विगाडने वाली इस कला के पीछे अपना अनुपम मानवभव क्यो गँवाया ? इस जन्म से तो परमार्थ की ही साधना करनी थी। अव तुम आये हो, तो मैं तुम्हे तुम्हारी इच्छानुसार धन दे कर सनुष्ट करता हूँ, किन्तु ऐसे जादुई खेल देखने की मेरी रुचि नही है।"

—"राजन् ! मैं दया का पात्र नही हूँ। मैं कलाविद् हूँ। अपनी कला का परिचय दिये विना मैं किसी का दान ग्रहण नही करता। यदि आपको मेरी कला के प्रति आदर नही है, तो रहने दीजिए"—कह कर और नमस्कार कर के जादूगर चलता वना। राजा ने उसे मनाने का प्रयत्न किया, किन्तु वह नही रुका और चला ही गया।

वही जादूगर दूसरी वार एक ब्राह्मण का रूप वना कर राजा के सामने उपस्थित

हुआ और अपना परिचय देते हुए बोला—

"मैं भविष्यवेत्ता हूँ। भूत, भविष्य और वर्तमान के भाव यथातथ्य बता सकता हूँ। आप मेरे ज्ञान का परिचय पाइए।"

—"अच्छा, यह बताओ कि अभी निकट भविष्य मे क्या कुछ नई घटना घटने वाली है"—राजा ने पूछा।

—"महाराज! आज से सातवे दिन, समुद्र अपनी मर्यादा छोड कर ससार मे प्रलय मचा देगा। यह समस्त पृथ्वी जलमय हो जायगी"—ज्योतिषी ने भविष्यवाणी की।

राजा चकित हो कर अपनी सभा के ज्योतिषियो की ओर देखने लगा। ज्योतिषियो ने भविष्यवेत्ता की हँसी उडाते हुए कहा—"महाराज! यह कोई नया ही भविष्यवेत्ता है। इसके शास्त्र भी नये ही होगे। किन्तु नभमडल के ग्रह-नक्षत्रादि तो नये नही हो सकते। ज्योतिष-चक्र तो वही है स्वामिन्! उससे तो ऐसा कोई योग दिखाई नही देता। यह कोई विलक्षण महापुरुष है, जो उन्मत्त के समान व्यर्थ बकवाद कर रहा है। यह भूठा है—महाराज! इसकी बात कभी सत्य नही हो सकती।"

ज्योतिषियो की बात सुन कर भविष्यवेत्ता बोला—"महाराज! आपकी सभा मे या तो ये विद्वान् विदूषक (हँसोड) है, या गाँवडे के जंगली पंडित है। ऐसे नामधारी पडितो से आपकी सभा सुशोभित नही होती। राजन्! ये शास्त्र के रहस्य को नही जानते, किन्तु किसी प्रकार अपना स्वार्थ साधते रहते हैं। यदि इन्हे मेरे भविष्य-कथन पर विश्वास नही हो, तो बात तो सात दिन की ही है। ये सात दिन मुझे आप अटक मे रखिये। यदि मेरा भविष्य-कथन असत्य हो जाय, तो आप मुझे कठोरतम दण्ड दीजिए। मै अपने ज्ञान को प्रत्यक्ष सिद्ध कर के दिखा दूंगा।"

राजा ने उस ब्राह्मण को अपने अंग-रक्षको के रक्षण मे दिया। नगर मे इस बात के प्रसरने से जनता मे भी हलचल मच गई। इस भविष्यवाणी को व्यर्थ मानने वाले भी आशकित हो गए। छह दिन व्यतीत होने के बाद सातवे दिन राजा ने उस ब्राह्मण को बुलाया और कहा—

"विप्रवर! आज का दिन याद है? क्या आज ही प्रलय होगा? आकाश तो बिलकुल स्वच्छ दिखाई दे रहा है। समुद्र भी अब तक अपनी सीमा मे ही होगा। फिर वह प्रलय कहाँ से आएगा?"

"राजन्! थोड़ी देर धीरज धरे। मेरी भविष्यवाणी पूरी होने ही वाली है। मैंने

अपने ज्ञान और अनुभव के वल पर जो भविष्यवाणी की है, वह कदापि अन्यथा नही हो सकती। वस थोडी ही देर और है। आप, मैं, यह राज्य-सभा और यह हरी-भरी पृथ्वी, थोडी ही देर रहेगे। फिर सव नष्ट हो जाएगा"—ब्राह्मण ने हँसते हुए कहा।

यह वात हो ही रही थी कि इतने मे एक भयकर गर्जना हुई। सभी लोग इस गर्जना से चौंक उठे। ब्राह्मण ने कहा—

"महाराज! यह समुद्र की गभीर गर्जना है। यह प्रलय की सूचना है। अव सावधान हो जाइए। देखिए, वह आ रहा है। वह . वह वह .

ब्राह्मण प्रलय का वर्णन करता जा रहा था। सभी लोगो की दृष्टि दूर-दूर तक पहुँच रही थी। इतने मे सभी को दूर से ही, मृग-तृष्णा के समान सभी ओर से, पानी का प्रवाह अपनी ओर आता दिखाई दिया। ब्राह्मण राजा के निकट आ कर कहने लगा—

"देखिए, वह पहाड़ आधा डूव गया। वह विशाल वृक्ष देखिए, कितना डूव गया? अव तो वृक्षो की ऊपर की डालियें ही दिखाई दे रही है। वह गाँव जलमग्न हो गया। उधर देखो। वहाँ पानी के अतिरिक्त और है ही क्या? देखिए, यह प्रवाह इधर ही आ रहा है। ये वृक्ष, पशु और मनुष्यो के शव तैरते दिखाई दे रहे हैं। देखिये, अव तो आपके किले तक पानी आ गया है। ओह! अव तो भवन के आगन मे भी पानी आ गया। नरेन्द्र! कहाँ गया आपका नगर? अव तो आपके इस विशाल भवन के अतिरिक्त कुछ भी दिखाई नही देता। सभी जलमग्न हो गया महाराज! भवन का प्रथम खण्ड जलमग्न हो गया। अव दूसरा खण्ड भी भर रहा है। यह देखिये, अव तो तीसरे खण्ड मे भी पानी भरने लगा है।" होते-होते सारा भवन डूवता दिखाई दिया। "कहाँ गये महाराज! आपके वे मूर्ख ज्योतिषी?" ब्राह्मण वोलता जा रहा था। राजा भयभीत था। वचने की कोई आशा नही रही थी। वह दिग्मूढ हो कर कूद पड़ा—उस महासागर मे। किन्तु उसने अपने को सिंहासन पर सुरक्षित वैठा पाया। न सागर का पता, न पानी का। सव ज्यो का त्यो।

विप्र, कमर मे ढोल वाँध कर वजा रहा था और अपने ईष्टदेव की स्तुति करता हुआ हर्षोन्मत्त हो रहा था। राजा ने पूछा—"यह सव क्या है?"

"महाराज! मैं वही इन्द्रजालिक हूँ। पहले आपने मेरी कला की उपेक्षा की, तो दूसरी वार मैं भविष्यवेत्ता वन कर आया और अपनी कला दिखलाई। मैंने आपके सुयोग्य सभासदो का तिरस्कार किया और आपको भी कष्ट दिया, इसके लिए क्षमाप्रार्थी हूँ"—नम्रतापूर्वक जादूगर ने कहा।

"विप्र ! तुम्हें क्षमा माँगने की आवश्यकता नही है। तुमने मेरा उपकार ही किया है। इन्द्रजाल के समान इस संसार की असारता का प्रत्यक्ष बोध दे कर तुमने मुझे सावधान कर दिया।"

राजा ने उस जादूगर को बहुत-सा पारितोषिक दे कर विदा किया और अपने पुत्र को राज्य का भार दे कर निर्ग्रंथ अनगार बन गया।

कथा को पूर्ण करते हुए सुबुद्धि प्रधान ने कहा—

"स्वामिन् ! यह सारा ससार ही इस कथा के इन्द्रजाल के समान है। इसमे सयोग और वियोग होते ही रहते हैं। आप तो जिनेश्वर भगवान् के कुल मे चन्द्रमा के समान हैं और धर्मज्ञ हैं। आपको इस प्रकार शोक नही करना चाहिए।"

सुबुद्धि प्रधान के उद्बोधन से क्षणभर के लिए, राजा का मोह हलका हुआ, किन्तु रह-रह कर पुन. उभरने लगा, तब दूसरा मन्त्री कहने लगा।

मा ा की अद्भुत था

"राजन् ! ससार मे अनुकूल और प्रतिकूल सयोग तो मिलते ही रहते हैं। उदय-भाव से उत्पन्न परिस्थितियो मे हर्ष-शोक करना साधारण व्यक्ति के योग्य हो सकता है, परन्तु आप जैसे ज्ञानियो के लिए उचित नही है। ससार के सयोग नाटकीय दृश्यो के समान है। मैं आपको एक कथा सुनाता हूँ। जरा शान्ति से सुनिये—

एक राजा के पास उसके द्वारपाल ने आ कर कहा—

—"महाराज ! एक पुरुष आपके दर्शन करना चाहता है। वह अपने को उच्चकोटि का मायावी बतलाता है और अपने कर्तव्य दिखाने आया है। आज्ञा हो, तो उपस्थित करूँ।"

राजा ने इन्कार करते हुए कहा—"नही, यह ससार ही मायामय है। इन्द्रजाल के मैंने भी कई दृश्य देख लिए। अब विशेष देखने की इच्छा नही है। उसे मना कर दो।"

राजा की उपेक्षा से निराश एव उदास हुआ मायावी चला गया। किंतु उसकी इच्छा वैसी ही रही। थोडे दिनो के बाद वह अपना मायावी रूप ले कर राजा के सामने उपस्थित हुआ। वह एक हाथ मे तलवार और दूसरे हाथ मे भाला और साथ मे एक सुन्दर-तम स्त्री को लिये आकाश-मार्ग से राजा के सामने आ खडा हुआ। आश्चर्य के साथ राजा ने उससे पूछा—

"तुम कौन हो ? यह स्त्री कौन है ? यहाँ क्यो आये हो ?"

—"राजेन्द्र ! मैं विद्याधर हूँ। यह मेरी पत्नी है। एक दूसरे विद्याधर के साथ मेरा झगडा हो गया है। वह लम्पट मेरी इस स्त्री को हरण कर के ले गया था, किंतु मैं अपनी प्रिया को उससे छुडा कर ले आया। वह लम्पट फिर भी मेरे पीछे पडा हुआ है। मैं पत्नी को साथ रख कर उससे युद्ध नही कर सकता। इसलिए मैं आपकी शरण मे आया हूँ। आप न्यायी, सदाचारी, परदार-सहोदर, प्रवल पराक्रमी, धर्मात्मा एव शरणागत-रक्षक हैं। आप मेरी पत्नी को धरोहर के रूप मे रखे। मैं इसको आपके रक्षण मे रख कर उस दुष्टात्मा का दमन करने जाता हूँ। उसे यमद्वार पहुँचा कर फिर अपनी प्राणप्रिया को ले जाउँगा।"

"नरेन्द्र ! अर्थ-लिप्सा पर अंकुश रखने वाले तो मिल सकते हैं। किन्तु भोग-लिप्सा पर अकुश रखने वाले संसार मे खोज करने पर भी नही मिलते। मैंने सभी ओर देखा, किन्तु आप जैसा स्वदार-सतोषी एव परनारी-सहोदरवत् और कोई दिखाई नही दिया। आपकी यशध्वजा दिगन्त व्याप्त है। इसीलिए वैताढ्य पर्वत से चल कर मैं आपकी शरण मे आया हूँ। आप थोडे दिनो के लिए मेरी पत्नी की रक्षा कीजिए"—मायावी ने हृदय-स्पर्शी विनती की।

—"भद्र ! तुमने यह क्या तुच्छ याचना की। मैं तेरे शत्रु उस दुष्ट लम्पट को ही उसकी दुष्टता का कठोर दण्ड देने के लिए तत्पर हूँ। तू चिन्ता मत कर और यहाँ सुख से रह"—राजा ने अपने वीरत्व के अनुकूल उत्तर दिया।

—"कृपावतार ! आप केवल मेरी पत्नी की ही रक्षा कीजिए। यही उपकार वडा भारी है। क्योकि चन्द्रमुखी रूप-सुन्दरी का पवित्रतापूर्वक रक्षण करना ही दुष्कर है। आप यही कृपा कीजिए। उस दुप्ट को तो मैं थोडी ही देर मे मसल कर सदा के लिए सुला दूंगा"—आगत ने अपनी प्रार्थना पुन. दुहराई।

—"स्वीकार है वीर ! तुम निश्चित रहो। तुम्हारी पत्नी यहाँ अपने पितृगृह के समान सुरक्षित रहेगी"—राजा ने आश्वासन दिया।

राजा की स्वीकृति पाते ही वह मायावी उछला और पक्षी के समान आकाश मे उड गया। राजा ने उस सुन्दरी से कहा—

"जाओ वेटी ! तुम अन्त-पुर मे प्रसन्नतापूर्वक रहो। मैं वहां तुम्हारी सुविधा का सारा प्रवन्ध करवा दूंगा। तुम किसी भी प्रकार की चिन्ता मत करो और जिस वस्तु की आवश्यकता हो. ..

हठात् आकाश मे घोर गर्जना हुई। सिंहनाद हुआ। तलवार और भाले की टक्कर की आवाजे आने लगी। "मैं तुझे आज यमधाम पहुँचा कर ही रहूँगा। ठहर, जाता कहाँ है? आज तेरे जीवन का अतिम क्षण है," इत्यादि आवाजे आने लगी। नरेश एव सभासद् सभी अपने स्थान से उठ कर आकाश की ओर देखने लगे। इतने मे उनके सामने एक कटा हुआ मानव हाथ, आकाश से आ कर गिरा। हाथ को देखते ही वह स्त्री चौंकी और रोने लगी। इतने मे एक कटा हुआ पाँव आ कर गिरा। यह देख कर रोती हुई वह बोली—"यह हाथ और पाँव तो मेरे पति के ही हैं।" इसके बाद दूसरा हाथ, दूसरा पाँव, मस्तक और धड कटे हुए गिरे। स्त्री करुण क्रन्दन करती हुई कहने लगी—

"मेरा सर्वनाश हो चुका। उस दुष्ट ने मेरे पति को मार डाला। यह उन्ही के अंग हैं। अब मैं जीवित नही रह सकती। मैं भी अब पति के साथ ही परलोक जाना चाहती हूँ। महाराज! शीघ्रता कीजिए। मुझे पतिधाम जाने के लिए आज्ञा दीजिए। चितारूपी शीघ्र-गति वाला वाहन बनाइए। मैं उस पर आरूढ हो कर जाना चाहती हूँ।"

—"हे पति-परायणा पुत्री! धैर्य धर। विद्याधरी लीला मे अनेक प्रकार की मायावी रचना हो सकती है। कदाचित् उस दुष्ट लम्पट ने निराश हो कर तुझे भ्रमजाल मे फँसाने के लिए यह सभी प्रपञ्च किया हो। इसलिए शान्ति धारण कर और थोडी देर प्रतिक्षा कर"—राजा ने सान्त्वना देते हुए कहा।

—"नही, महाराज! यह मेरा पति ही है। मैं पूर्णरूप से पहिचानती हूँ। इसमे किसी प्रकार का भ्रम अथवा धोखा नही है। मैं अब क्षणभर भी जीवित रहना नही चाहती। अब मेरा जीवित रहना मेरे पितृकुल एव पतिकुल के लिए शोभनीय नही है। इसलिए अपने सेवको को आज्ञा दे कर मेरे लिए शीघ्र ही चिता रचाइए"—उस स्त्री ने कहा।

—"बहिन! तेरे दुःख को मैं जानता हूँ। फिर भी मेरा आग्रह है कि तू थोडा धीरज रख। बिना विचारे एकदम साहस कर डालना अच्छा नही होता। जो विद्याधर हैं, आकाश मे उड सकते हैं, वे विविध प्रकार के भ्रम की सृष्टि भी कर सकते हैं। कौन जाने यह भी कोई छल हो"—राजा ने सन्देह व्यक्त किया।

राजा की बात सुनते ही सुन्दरी क्रोधित हो कर बोली—

—"राजन्! आप मुझे क्यो रोकते हैं? आपका 'परस्त्री-सहोदर' बिरुद वास्तविक है या मात्र भुलावा देने के लिए ही है? यदि वास्तव मे आपकी दृष्टि शुद्ध है, तो कृपा कर शीघ्रता करिये और अपनी धर्मपुत्री को अपने कर्तव्य-मार्ग पर चलने दीजिए। मैं अब एक पल के लिए भी रुकना नही चाहती।"

राजा निराश हो गया और उसकी इच्छानुसार व्यवस्था करने की आज्ञा प्रदान कर दी। महिला ने स्नान-मजन किया। वस्त्राभूषण पहिने। वह सम्पूर्ण रूप से शृगारित हो कर रथ मे बैठ गई और पति के अगो को भी ले लिये। रथ श्मशान भूमि की ओर चलने लगा। पीछे राजा एव नागरिकजन पैदल चलने लगे। चिता रची गई। चिता मे प्रवेश होने के पूर्व उस महिला ने राजा के दिये हुए धन का मुक्त हस्त से दान किया और सभी लोगो को प्रणाम किया। उसके वाद चिना की प्रदक्षिणा कर के उसमे बैठ गई और पति के अगो के साथ जल गई। राजा और नागरिकजन शोकाकुल हृदय से घर लौटे।

राजा सभा मे बैठा था, तब वही मायावी पुरुष हाथ मे तलवार और भाला ले कर सभा मे उपस्थित हुआ। राजा और सभी लोग उसे देख कर चकित रह गए। वह पुरुष बोला—

"राजेन्द्र! ज्योही मैं आपके पास से गया, त्योही मेरा उस दुष्ट से साक्षात्कार हो गया। वह यही मेरे पीछे आ रहा था। मैने उसे ललकारा और घोर गर्जना के साथ हमारा युद्ध प्रारम्भ हो गया। लडते-लडते मैने कौशल से पहले उसका एक हाथ काट दिया, फिर पाँव, इस प्रकार लडते-लडते उसके छह टुकडे कर दिये और उसके सभी अग आपकी सभा मे ही गिरे। इम प्रकार आपकी कृपा से मैंने अपने शत्रु को समाप्त कर दिया। अव मैं बिलकुल निर्भय हूँ। अब मेरी पत्नी मुझे दे दीजिए, सो मैं अपने घर जा कर शान्ति से जीवन व्यतीत करूँ।"

मायावी के वचन सुन कर राजा चिंतामग्न हो कर कहने लगा—

"भद्र! तुम्हारी पत्नी मेरे पास थी। किन्तु तुम्हारे युद्ध के परिणाम स्वरूप कटे हुए शरीर को देख कर वह समझी कि मेरा पति मारा गया है और ये हाथ आदि अग उसी के हैं। वह शोकमागर मे डूव गई और उस शरीर के साथ जल मरने को आतुर हो गई। हमने उसे वहुत समझाया, किन्तु वह नही मानी और उस शरीर के साथ जल गई। हम सव अभी उसे जला कर आये है और उसी चिन्ता मे वैठे है। अव हम उसे कहाँ से लावे? मुझे आश्चर्य होता है कि वे शरीर के टुकडे तुम्हारे नही थे, अथवा पहले जो आया था, वह कोई दूमरा था और अव तुम दूसरे हो, क्या वात है?"

"राजन्! आप क्या कह रहे है? क्या आपकी मति पलट गई? आप भी मेरी पत्नी के रूप पर मोहित हो कर वदल रहे है? क्या यही आपका परनारी सहोदरपना है? क्या आप भी मेरे साथ शत्रुता करने लगे है? यदि आप सदाचारी और निर्लिप्त है, तो कृपा कर मेरी पत्नी मुझे अभी दीजिए और अपनी उज्ज्वल कीर्ति की रक्षा कीजिए।"

"भाई ! मैंने जो कुछ कहा, वह सत्य है । यह सारी सभा इसकी साक्षी है । अब मैं तुम्हारी स्त्री को कहाँ से लाऊं"—राजा अपनी विवशता बतलाने लगा ।

"राजन् ! क्या आप झूठ भी बोलने लग गये । मुझ जीते-जागते को मरा हुआ बता कर, मेरी स्त्री को दबाना चाहते हैं ? किन्तु ऐसा नही हो सकेगा । आप मेरी स्त्री को नही छुपा सकेगे । आपका पाप खुला हो चुका है । देखिए, आपके पीछे वह कौन बैठी है। इस प्रत्यक्ष सत्य को भी नही मानेगे आप ?"

राजा ने अपने पीछे देखा, तो वही स्त्री, उसी रूप मे साक्षात् बैठी दिखाई दी। राजा को लगा कि वह कलकित हुआ है । उस पर पराई स्त्री को दबाने का दोष लगा है। चिन्ता से उसका चेहरा म्लान हो गया । यह देख कर वह मायावी पुरुष हाथ जोड कर बोला—

"महाराज ! मैं वही पुरुष हूँ जिसे कुछ दिन पूर्व आपने निराश कर लौटा दिया था । किन्तु मैं बडे परिश्रम से प्राप्त अपनी विद्या का चमत्कार आपको दिखाना चाहता था । इसलिए यह सारा मायाजाल मैने खडा किया और आपको अपनी कला दिखा कर कृतार्थ हुआ हूँ । अब आज्ञा दीजिए, मैं अपने स्थान जाता हूँ ।"

राजा ने उसे पारितोषिक दे कर विदा किया और स्वयं ने विचार किया कि जिस प्रकार मायावी का मायाजाल व्यर्थ है, उसी प्रकार यह ससार भी नि सार एव नाशवान् है। इस प्रकार चिन्तन करता हुआ राजा, ससार से विरक्त हो कर प्रव्रजित हो गया ।

मन्त्री ने चक्रवर्ती महाराज सगर को उपरोक्त कथा सुना कर कहा—

"महाराज ! यह ससार उस माया-प्रयोग के समान है । इसलिए आप शोक का त्याग कर के धर्म की आराधना करने मे तत्पर बने ।"

सगर क्रवर्ती की दी

इस प्रकार दोनो मन्त्रियो के वचन सुन कर चक्रवर्ती महाराज को भव-निर्वेद (वैराग्य) उत्पन्न हो गया । वे मन्त्रियो से कहने लगे,—

"तुमने मुझे अच्छा उपदेश दिया । जीव अपने कर्मानुसार ही जन्म लेता है, जीता है और मरता है । इस विषय मे बालक, युवक और वृद्ध का कोई विचार या निर्धारित परिमाण नही होता । माता, पिता और बान्धवादि का सगम स्वप्नवत् है । सपत्ति, हाथी

के कान के समान चचल है। यौवन और लक्ष्मी, बरसाती नाले के समान बह जाने वाले है। जीवन, घास के अग्रभाग पर रहे हुए जलबिन्दु तुल्य है। वृद्धावस्था, आयुष्य का अत करने वाली राक्षसी के समान है। जब तक वृद्धावस्था नही आती और इन्द्रियाँ विकल नही होती, तब तक सामर्थ्य रहते ही ससार का त्याग कर के निर्ग्रंथ-प्रव्रज्या धारण कर, आत्महित साध लेना ही श्रेयस्कर है। जो मनुष्य, इस असार ससार का त्याग कर के मोक्ष प्राप्ति के पुरुषार्थ मे पराक्रमी बनता है, वह इस नश्वर शरीर रूपी तुच्छ कंकर से, शाश्वत सुख रूपी महान् रत्न का महालाभ प्राप्त करता है।"

महाराजाधिराज सगर इस प्रकार ससार की असारता बता कर आत्म-कल्याण के लिए प्रव्रजित होने का मनोभाव व्यक्त करने लगे। वे विरक्त हो गए। ससार मे रहना अब उन्हे नही सुहाता था। उनका वैराग्य भाव वर्द्धमान हो रहा था +। उन्होने अपने

+ ग्रथकार बतलाते हैं कि चक्रवर्ती महाराजा के सामने अष्टापद पर्वत के समीप रहने वाले बहुत-से लोगो का एक झुड आया और आर्त्त स्वर मे चिल्लाया—"महाराज! हमारी रक्षा कीजिए। हम दु खी हो गए हैं।" उन्होने आगे कहा—"आपके पुत्रो ने अष्टापद पर्वत के समीप जो खाई खोद कर गगा के जल से भरी, वह जल हमारा सर्वनाश कर रहा है। खाई भर जाने के बाद सारा जल हमारे प्रदेश मे फैल गया और आस-पास के गाँवो को डुबा कर नष्ट करने लगा। हम सभी जीवन बचाने के लिए वहाँ से भाग निकले। हमारे घर, सम्पत्ति और सभी साधन नष्ट हो रहे हैं। हमारी रक्षा करिये कृपालु! अब हम क्या करे? कहाँ रहे?" ग्राम्यजनो की करुण कहानी सुन कर सम्राट को खेद हुआ। उन्होने अपने पौत्र भगीरथ को बुलाया और कहा—"वत्स! तुम जाओ और दण्ड-रत्न से गगा के प्रवाह को आकर्षित कर के पूर्व के समुद्र मे मिला दो। जब तक पानी को रास्ता नही बताया जाता, तब तक वह अन्धे के समान इधर-उधर भटक कर जीवो के लिए दु खदायक बनता रहता है। जाओ, शीघ्र जाओ और इन दुखियो का दु ख दूर करो।" भगीरथ गया। उसने तेले का तप कर के 'ज्वलनप्रभ' नामक नागकुमारो के अधिपति का आराधन किया और उसकी आज्ञा ले कर दण्ड-रत्न के प्रयोग से गगा के लिए मार्ग करता हुआ चला। आगे-आगे भगीरथ और पीछे बहती हुई गगा। वह कुरुदेश के मध्य मे से ले कर हस्तिनापुर के दक्षिण से, कोशलदेश के पश्चिम से, प्रयाग के उत्तर से, काशी के दक्षिण मे, विन्ध्याचल के दक्षिण मे और अग तथा मगध देश के उत्तर की ओर हो कर गगा को ले चला। मार्ग मे आती हुई छोटी-बड़ी नदियाँ भी उसमे मिलती गई। अत मे उसे पूर्व के समुद्र मे मिला दी गई। उसी समय से वहाँ 'गगासागर' नामक तीर्थ हुआ। भगीरथ के द्वारा खिची जाने के कारण गगा का तीसरा नाम 'भागीरथी' हुआ।

गगा को समुद्र की ओर लाते हुए मार्ग मे सर्पों के निवास-स्थान टूटे, उन्हे त्रास हुआ। वहाँ भगीरथ ने नागदेव को बलिदान दिया। भगीरथ ने ज्वलनप्रभ के कोप से भस्म हुए सगरपुत्रो को

पौत्र भगीरथ का राज्याभिषेक किया। इतने मे उद्यान पालक ने तीर्थंकर भगवान् अजितनाथजी के शुभागमन की वधाई दी। महाराज, भगवंत को वंदन करने गये और भगवान् की धर्मदेशना सुन कर प्रव्रज्या प्रदान करने की प्रार्थना की। भगीरथ ने सगर महाराज का अभिनिष्क्रमण महोत्सव किया। सगर महाराज सर्वत्यागी निर्ग्रंथ हो गए। आपके साथ अनेक सामन्तो और मन्त्रियो ने भी दीक्षा ली। दीक्षा लेने के वाद सम्राट ज्ञानाभ्यास एव संयम की साधना मे तत्पर हो गए। ससार मे राज्य-साधना मे अग्रसर हुए थे, तो दीक्षा

अस्थियाँ भी गगा के साथ समुद्र मे प्रक्षिप्त की। भगीरथ ने अपने पितृओ की अस्थियाँ जल मे डाली। उसका अनुकरण लोग अब तक करते है।

(वैदिक सम्प्रदाय भी गगा को 'भागीरथी' के नाम से पुकारता है। उनका कहना है कि राजा दिलीप का पुत्र भगीरथ, घोर तपस्या कर के गगा को आकाश से उतार कर पृथ्वी पर लाये, इसी से यह 'भागीरथी' कहलाई)

भगीरथ वापिस लौट रहा था। रास्ते मे उसे केवलज्ञानी भगवंत के दर्शन हुए। उसने अपने पिता, काका आदि के एक साथ भस्म हो जाने का कारण पूछा। केवली भगवान् ने कहा—'एक सघ तीर्थयात्रा करने जा रहा था। वह चोरपल्ली के पास पहुँच कर वही ठहर गया। ऋद्धि-सम्पन्न सघ को देख कर ग्रामवासी चोर लोग खुश हुए। उन्होने उसे लूटने का विचार किया। किंतु एक कुभकार ने उन्हे समझाया कि यह तो धर्मसघ है। इसे सताना अच्छा नही है। कुम्हार के समझाने से सघ सुरक्षित रहा। कालान्तर मे राजा ने कुपित हो कर चोरपल्ली को ही जला डाला। वहाँ के निवासी सभी जल मरे, केवल वह कुभकार ही—अन्यत्र चला गया था, सो बच गया। कुभकार आयुष्य पूर्ण होने पर विराट देश मे एक धनाढ्य व्यापारी हुआ और ग्रामवासी चोर वहाँ के साधारण मनुष्य हुए। कुभकार का जीव वहाँ से मर कर उसी देश का राजा हुआ। वहाँ से मर कर ऋद्धिवत देव हुआ और देवभव पूर्ण कर के तुम भगीरथ के रूप मे जन्मे। वे ग्रामवासी भवान्तर मे तुम्हारे पिता और काका हुए। उन्होंने मन से ही सघ का विनाश चाहा था, उस पाप से वे सभी एक साथ भस्मीभूत हो गए। तुमने चोरो को समझा कर सघ को बचाया, इसलिए तुम वहाँ भी बचे और यहाँ भी उस विनाश से बचे। यह सुन कर भगीरथ विरक्त हुआ, किन्तु पितामह की शोक-सतप्त स्थिति देख कर—'उन्हे दुख नही हो'—यह सोच कर वह दीक्षित नही हो कर स्वस्थान चला आया।

× × × ×

साठ हजार पुत्रो की उत्पत्ति के विषय मे भी मतभेद है। एक मत तो यह है कि इनकी माता भिन्न-भिन्न थी, किंतु दूसरा मत है कि इन सभी की एक ही माता थी। 'भोजचरित्र' के अनुसार एक देव ने चक्रवर्ती को एक फल दिया। उस फल के टुकडे सभी रानियो मे वाँटे जाते, तो सभी को पुत्र होते, किन्तु पटरानी ने पाटवी पुत्र की माता बनने के लोभ मे पूरा फल खा लिया। उसे गर्भ रहा और कीडे-मकोड़े जैसे साठ हजार पुत्र उसके गर्भ से जन्मे। उन्हे घृत और रुई मे रख कर पालन किया गया।

लेते ही धर्मराज्य—आत्मलक्ष्मी साधने मे तत्पर हो गए और सयम तथा तप के प्रबल पराक्रम से घातिकर्मो को सर्वथा नष्ट कर के सर्वज्ञ-सर्वदर्शी भगवान् बन गए।

भग ान् का निर्वाण

भगवान् श्री अजितनाथजी के ९५ गणधर हुए। मुनिवर एक लाख, महासती मडल तीन लाख तीस हजार, ३०५० चौदह पूर्वधारी, १४५० मन पर्यवज्ञानी, ९४०० अवधि-ज्ञानी, २३००० केवलज्ञानी, ३२४०० वादी, २०४०० वैक्रिय लब्धिधारी, २९८००० श्रावक और ५४५००० श्राविकाएँ थी। दीक्षा के बाद एक पूर्वांग कम लाख पूर्व व्यतीत होते, अपना निर्वाण काल उपस्थित जान कर प्रभु समेदशिखर पर्वत पर चढे। उन्होने एक हजार श्रमणो के साथ पादपोपगमन अनशन किया। एक मास का अनशन पूर्ण कर के चैत्र-शुक्ला पञ्चमी के दिन मृगशिर नक्षत्र मे चन्द्रमा आने पर, पर्यङ्कासन से प्रभु अपना बहत्तर लाख पूर्व आयु पूर्ण होते मोक्ष पधारे। इन्द्रो ने प्रभु का निर्वाण उत्सव किया।

भगवान् श्री अजितनाथ स्वामी अठारह लाख पूर्व तक कुमार अवस्था मे रहे। तिरपन लाख पूर्व और एक पूर्वांग तक राज किया। बारह वर्ष छद्मस्थ रहे और एक पूर्वांग तथा बारह वर्ष कम एक पूर्व तक केवलज्ञानी तीर्थंकर पद का पालन कर मोक्ष पधारे।

दूसरे तीर्थंकर

भगवान्

अजितनाथजी का चरित्र सम्पूर्ण ॥

भ० संभवनाथजी

— ꕥ

त्रैलोक्यप्रभवे पुण्य, सभवाय भवच्छिदे ।
श्रीसभवजिनेन्द्राय मनोभवभिदे नम. ।।१।।

जो तीन लोक के नाथ है, जिनका जन्म पवित्र है, जो ससार का छेदन और कर्म का भेदन करने वाले हैं, ऐसे जिनेश्वर भगवान् श्री सभवनाथ को नमस्कार कर के भवचक्र का भेदन करने वाला भगवान् का जीवन-चरित्र प्रारम्भ किया जाता है।

धातकीखड द्वीप के ऐरावत क्षेत्र मे क्षेमपुरी नाम की एक प्रसिद्ध नगरी थी। वहाँ का विपुल वाहन नाम का तेजस्वी एव पराक्रमी राजा था। वह प्रजा का पुत्रवत् पालन करता था। वह राजा ऐसा नीतिवत था कि अपने खुद के किसी दोष को भी दूसरे के दोष की तरह सूक्ष्म दृष्टि से देखता और उसे दूर किये बिना चेन नही लेता था। वह अपराध का दण्ड और गुणो की पूजा उचित रूप से करता था। उसके मन मे जिनभक्ति का स्थायी निवास हो गया था। उसकी वाणी मे जिनेश्वर एव उनके शासन की प्रशसा होती रहती थी। वह झुकता था तो जिनेश्वर देव और निर्ग्रंथ गुरु के चरणो मे ही, शेष सभी उसके आगे झुकते थे। वह परम उदार था। उसके राज्य मे सभी सुखी और समृद्ध थे।

भयंकर दुष्काल में संघ-सेवा

राजा नीतिपूर्वक राज कर रहा था। कालान्तर मे अशुभ कर्म के उदय से राज्य,

। दुष्काल पड गया। वर्षा के अभाव मे वर्षाकाल भी दूसरा ग्रीष्मकाल वन गया था। नैऋत्यकोण के भयकर वायु से रहेसहे पानी का शोषण और वृक्षो का उच्छेद होने लगा। सूर्य काँसे की थाली जैसा लगता था और लोग धान्य के अभाव मे तापसो की तरह वृक्ष की छाल, कन्द, मूल और फल खा कर जीवन विताने लगे। उस समय लोगो की भूख भी भस्मक व्याधि के समान जोरदार हो गई थी। उनको पर्याप्त खुराक मिलने पर भी तृप्ति नही होती थी। जो लोग भीख माँगना लज्जाजनक मानते थे, वे भी दभपूर्वक साधु का वेश वना कर भिक्षा के लिए भ्रमण करने लगे। माता-पिता भूख के मारे अपने वच्चो को भी छोड कर इधर-उधर भटकने लगे। यदि कभी अन्न मिल जाता, तो अपना ही पेट भरने की रुचि रखते। माताएँ थोडे से—आधसेर धान के लिए अपने पुत्र-पुत्री वेचने लगी। धनवानो के द्वार पर विखरे हुए धान्य के दानो को गरीव मनुष्य पक्षी की तरह एक-एक दाना विन कर खाने लगे। यदि दिनभर मे उन्हे आधी रोटी जितना भी मिल जाता, तो वह दिन अच्छा माना जाता। मनुष्यो के भटकते हुए दुर्बल ककालो से नगर के प्रमुख वाजार और मार्ग भी श्मशान जैसे लग रहे थे। उनका कोलाहल कर्णशूल जैसा लग रहा था।

ऐसे भयकर दुष्काल को देख कर राजा वहुत चिंतित हुआ। उसे प्रजा को दुष्काल की भयकर ज्वाला से वचाने का कोई साधन दिखाई नही दिया। उसने सोचा—'यदि मेरे पास जितना धान्य है, वह सभी वाँट दूं, तो भी प्रजा की एक समय की भूख भी नही मिटा सकता। इसलिए इस सामग्री का सदुपयोग कैसे हो ? उसने विचार कर के निश्चय किया कि प्रजा मे भी साधर्मी, अधिक गुणवान् एव प्रशस्त होते है और साधर्मी से साधु विशेष रक्षणीय होते हैं। मेरी सामग्री से सघ रक्षा हो सकती है। उसने अपने रसोइये को वुला कर कहा—

"तुम मेरे लिए जो भोजन वनाते हो, वह साधु-साध्वियो को वहराया जावे और अन्य आहार, सघ के सदस्यो को दिया जावे। इसमे से वचा हुआ आहार मैं काम मे लूंगा।"

राजा इस प्रकार चतुर्विध सघ की वैयावृत्य करने लगा। वह स्वय उल्लासपूर्वक सेवा करने लगा। जव तक दुष्काल रहा, तव तक इसी प्रकार सेवा करता रहा। सघ की वैयावृत्य करते हुए भावो के उल्लास मे राजा ने तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन किया।

एक दिन राजा आकाश मे छाई हुई काली घटा देख रहा था। विजलियाँ चमक रही थी। लग रहा था कि घनघोर वर्षा होने ही वाली है, किन्तु अकस्मात् प्रचण्ड वायु चला और नभ-मण्डल मे छाये हुए वादल, टुकडे-टुकडे हो कर विखर गए। क्षणभर में

बादलो का नभ-मण्डल मे छा जाना और क्षणभर मे बिखर जाना देख कर राजा विचार मे पड गया। उसने सोचा—

"अहो! यह कैसी विडम्बना है? सघन मेघ को न तो व्यापक रूप से आकाश मण्डल पर अधिकार जमाते देर लगी और न बिखर कर छिन्न-भिन्न होते देर लगी। इसी प्रकार इस ससार मे सभी प्रकार की पौद्गलिक वस्तुएँ भी नष्ट होने वाली है। मनुष्य अनेक प्रकार की योजनाएँ बनाता है। अनेक प्रकार की सामग्री सग्रह करता है, हँसता है, खेलता है, भोगोपभोग करता है और वैभव के मोह मे रगा जाता है, किन्तु जब प्रतिकूल दशा आती है, तो सारा वैभव लुप्त हो जाता है और दु ख मे झुरता हुआ प्राणी, मृत्यु को प्राप्त हो जाता है।

कोई घोडे पर चढ कर घमण्डपूर्वक इधर-उधर फिरता है, किन्तु जब अशुभ कर्म का उदय होता है, तो वह घोडा ही उसको नीचे पटक कर ठण्डा कर देता है। कई वैभव मे रचे-मचे लोगो को चोर-डाकू, धन और प्राण लूट कर कुछ क्षणो मे ही सारा दृश्य बिगाड देते है। अग्नि से जल कर, पानी की बाढ मे बह कर, दिवाल गिरने पर उसके नीचे दब कर, इस प्रकार विविध निमित्तो से नष्ट होने और मरने मे देर ही कितनी लगती है। इस प्रकार नाशवान् ससार और प्रतिक्षण मृत्यु की ओर जाते हुए इस मानव जीवन पर मोह करना बडी भारी भूल है।

मनुष्य सोचता है—मैं भव्य भवन बनाऊँ। उच्चकोटि के वाहन, शयन, आसन और शृगार प्रसाधनो का सग्रह करूँ। मनोहर गान, वादिन्त्र, नृत्य, नाटक और रमणियो को प्राप्त कर सुखोपभोग करूँ। मैं महान् सत्ताधारी बनूँ। वह इस प्रकार की उधेडबुन मे ही रहता है और अचानक काल के झपाटे मे आ कर मर जाता है। इस प्रकार विडम्बना से भरे इस ससार मे तो क्षणभर भी नही रहना चाहिए।"

इस प्रकार सोचते हुए राजा विरक्त हो गया। अपने पुत्र विमलकीर्ति को राज्याधिकार सोप कर आचार्य श्रीस्वयभत्रस्वामी के समीप दीक्षित हो गया। प्रव्रज्या स्वीकार करने के बाद मुनिराज, पूर्ण उत्साह के साथ साधना करने लगे। परिणामो की उच्चता से तीर्थंकर नामकर्म को पुष्ट किया और समाधिपूर्वक आयुष्य पूर्ण कर के 'आनत' नामक नौवे स्वर्ग मे उत्पन्न हुए। स्वर्ग के सुख भोग कर, आयुष्य पूर्ण होने पर श्रावस्ति नगरी के 'जितारि' नाम के प्रतापी नरेश की 'सेनादेवी' नामकी महारानी की कुक्षि मे उत्पन्न हुए। महास्वप्न और उत्सवादि, तीर्थंकर के गर्भ एव जन्म-कल्याणक के अनुसार हुए +।

+ इसका वर्णन भ० आदिनाथ के चरित्र पृ ३६ मे हुआ है। वहाँ देखना चाहिए।

भगवान् का जन्म मार्गशीर्ष शुक्ला १४ को हुआ। प्रभु का शरीर चार सौ धनुष ऊँचा था। युवावस्था मे लग्न हुए। पन्द्रह लाख पूर्व तक कुमार, युवराज पद पर रहे। पिता ने प्रभु को राज्याधिकार दे कर प्रव्रज्या ले ली। प्रभु ने चार पूर्वांग और ४४ लाख पूर्व की उम्र होने पर वर्षीदान दे कर मार्गशीर्ष शुक्ला पूर्णिमा को प्रव्रज्या स्वीकार कर ली। प्रभु चौदह वर्ष तक छद्मस्थ रहे। कार्तिक कृष्णा पचमी के दिन बेले के तप युक्त प्रभु के घातिकर्म नष्ट हो गए और केवलज्ञान-केवलदर्शन उत्पन्न हो गया। प्रभु ने चतुर्विध तीर्थ की स्थापना की।

धर्मदेशना

अनित्य भावना

"इस ससार मे सभी वस्तुएँ अनित्य—नाशवान् है, फिर भी उनकी प्राथमिक मधुरता के कारण जीव उन वस्तुओ मे मूर्च्छित हो रहे हैं। संसार मे जीवो को अपने आप से, दूसरो की ओर से और चारो ओर से विपत्ति आती रहती है। जीव, यमराज के दांत रूप काल के जबडे मे रहे हुए, कितने कष्ट से जी रहे है, फिर भी नही समझते।

अनित्यता, वज्र जैसे दृढ और कठोर देह को भी जर्जरित कर के नष्ट कर देती है, तब कदली के गर्भ के समान कोमल देह का तो कहना ही क्या है ? यदि कोई व्यक्ति इस नि सार एवं नाशवान् शरीर को स्थिर करना चाहे, तो उसका प्रयत्न सडे हुए घास से वनाये हुए नकली मनुष्य ‡ जैसा है, जो हवा और वर्षा के वेग से नष्ट हो जाता है। काल रूपी सिंह के मुख के समान गुफा मे रहने वाले प्राणियो की रक्षा कौन कर सकता है ? मन्त्र-तन्त्र, औषधी, देव-दानव आदि सभी शक्तियाँ काल के सामने निष्क्रिय है—विवश है। मनुष्य ज्यो-ज्यो आयु से वढता जाता है, त्यो-त्यो उसे जरावस्था (बुढापा) घेरती रहती है और उसके लिए मौत की तय्यारी होती रहती है। अहो ! प्राणियो के जन्म को धिक्कार है। जिस जन्म के साथ ही मृत्यु का महा भय लगा हुआ है, वह प्रशमनीय नही होता।"

"मेरा शरीर कालरूपी विकराल यमराज के अधीन रहा हुआ है। न जाने कब वह इसे नष्ट कर दे"—इस प्रकार समझ लेने पर किसी भी प्राणी को खान-पान मे आनन्द नही रहता, फिर पाप-कर्म मे तो रुचि हो ही कैसे ? जिस प्रकार पानी मे परपोटा उत्पन्न

‡ खेती की रक्षा के हेतु पशु-पक्षी को डराने के लिए, किसान लोग ऐसा नकली मनुष्य बनाते हैं।

हो कर नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार प्राणियो के शरीर भी उत्पन्न हो कर नष्ट हो जाते हैं। काल का स्वभाव ही नष्ट करने का है। वह धनाढय या निर्धन, राजा या रक, समझदार या मूर्ख, ज्ञानी या अज्ञानी और सज्जन अथवा दुर्जन का भेद नही रखते हुए सब का समान रूप से सहार करता रहता है। काल का गुणी के प्रति अनुराग और दुर्गुणी के प्रति द्वेष नही है। जिस प्रकार दावानल, वडे भारी अरण्य को, हरे, सूखे, अच्छे, बुरे और सफल-निष्फल आदि का भेद रखे विना अपनी लपट मे आने वाले सभी को भस्म कर देता है, उसी प्रकार काल भी सभी प्राणियो का सहार किया करता है। किसी कुशास्त्र ने यह लिख भी दिया हो कि—'किसी उपाय से यह शरीर स्थायी—अमर रहता है,' तो ऐसी शका को मन मे स्थान ही नही देना चाहिए। जो देवेन्द्रादि सुमेरु पर्वत का दड और पृथ्वी का छत्र बनाने मे समर्थ है, वे भी मृत्यु से वचने मे असमर्थ हैं। उनका शक्तिशाली शरीर भी यथासमय अपने-आप काल के गाल मे चला जाता है। छोटे-से कीडे से लगा कर महान् इन्द्र पर यमराज का शासन समान रूप से चल रहा है। ऐसी स्थिति मे काल को भुलावा देने की वात, कोई सुज्ञ प्राणी तो सोच ही नही सकता। यदि किसी ने अपने पूर्वजो मे से किसी को भी अमर रूप मे जीवित देखा हो, तव तो काल को ठग लेने (भुलावा देने) की बात (न्याय मार्ग से विपरीत होते हुए भी) शकास्पद होती है, किंतु ऐसा तो दिखाई नही देता। अतएव सभी शरीरधारियो के लिए मृत्यु अनिवार्य है।

वृद्धावस्था, वल और रूप का हरण करती है और शिथिलता ला देती है। वल, सौन्दर्य और यौवन, ये सभी अनित्य है। जो कामिनियाँ, कामदेव की लीला के वश हो कर यौवनवय मे जिन पुरुषो की ओर आकर्षित होती थी और उनका सम्पर्क चाहती थी, वे ही उन्ही पुरुषो को वृद्धावस्था मे देख कर घृणा करती हुई त्याग देती है। फिर उनका अस्तित्व भी उन्हे नही सुहाता। तात्पर्य यह कि शारीरिक शक्ति, सामर्थ्य, रूप, सौन्दर्य और यौवन भी अनित्य है। वृद्धावस्था इन सव को विगाड देती है।

जिस धन को अनेक आपत्तियो, क्लेशो और कष्टो को सहन कर के जोडा गया और विना उपभोग किये सुरक्षित रखा गया, धनवानो का वह प्रिय धन भी अचानक क्षणभर मे नष्ट हो जाता है। इस प्रकार अग्नि, पानी आदि अनेक कारणो से, वर्षों के परिश्रम और दु खो से जोडा गया धन भी नष्ट हो जाता है। अतएव वह भी पानी के परपोटे और समुद्र के फेन के समान अनित्य है।

पत्नी पुत्र और वान्धवादि कुटुम्बियो तथा मित्रो का कितना ही उपकार किया

जाय, कितना ही गहरा सबध रखा जाय और उस सहयोग को कितना ही दृढ बनाया जाय, किंतु वह अवश्य ही टूटने वाला है। सभी प्रकार के कौटुम्बिक सयोगो का वियोग अवश्य होता है।

जो भव्यात्मा सदा अनित्यता का ध्यान करते रहते हैं, वे अपने परम प्रिय पुत्र के वियोग से भी शोक नही करते, और जो मोहमूढ प्राणी, नित्यता का आग्रह करते हैं, वे अपने घर की एक भीत के गिर जाने से भी रुदन करने लगते हैं। शरीर, यौवन, धन एव कुटुम्ब आदि ही अनित्य है—ऐसी बात नही है, यह समस्त सचराचर ससार ही अनित्य है।

इस प्रकार सभी को अनित्य जान कर, आत्मार्थीजनो को चाहिए कि परिग्रह का त्याग कर के नित्यानन्दमय परम पद (मोक्ष) प्राप्त करने का प्रयत्न करे।

"यत्प्रा न्न मध्यान्हे, यन्मध्यान्हे नतन्निशि।
निरीक्ष्यते भवेऽस्मिन् हा, पदार्थानामनित्यता ॥१॥
शरीरं देहिनां सर्व, पुरुषार्थनिबंधनम्।
प्रचंडपवनोद्धूत, घनाघन विनश्वरम् ॥२॥
कल्लोलचपला लक्ष्मीः, संगमाः स्वप्नसन्निभा।
वात्याव्यतिकरोत्क्षिप्त, तूलतुल्यं च यौवनम् ॥३॥
इत्यनित्यं जगद्वृत्तं, स्थिरचित्तः प्रतिक्षणम्।
तृष्णाकृष्णाहि मन्त्राय, निर्ममत्वाय चिन्तयेत् ॥४॥ *

—जिस वस्तु की जो स्थिति एव सुन्दरता प्रात काल मे होती है, वह मध्यान्ह मे नही रहती और जो मध्यान्ह मे होनी है, वह रात्रि मे नही दिखाई देती। इस प्रकार इस ससार मे सभी पदार्थो की अनित्यता दिखाई देती है। प्राणियो के लिए जो शरीर, सभी प्रकार के पुरुषार्थ की सिद्धि का कारण है, वह भी इस प्रकार छिन्न-भिन्न हो जाता है, जिस प्रकार प्रचड वायु से बादल बिखर कर विलय हो जाते है। लक्ष्मी, समुद्र की लहरो की भाँति चचल है। स्वजनो का सयोग भी स्वप्न के समान है और यौवन वायु के बहाव मे उडते हुए अर्कतुल (आक की रुई) के समान अस्थिर है। इस प्रकार चित्त की स्थिरतापूर्वक जगत् की अनित्यता के चिन्तन रूपी मन्त्र से, तृष्णा रूपी काले साँप को वश मे कर के निर्ममत्व होना चाहिए।

प्रभु के दो लाख साधु, तीन लाख छत्तीस हजार साध्वियें, २१५० चौदह पूर्वधर,

* योगशास्त्र से उद्धृत।

९६०० अवधिज्ञानी, १२१५० मन पर्यवज्ञानी, १५००० केवलज्ञानी, १९८०० वैक्रिय-लब्धि-धारी, १२००० वादी, २९३००० श्रावक तथा ६३६००० श्राविकाएँ हुई।

भगवान् ने केवलज्ञान होने के बाद चार पूर्वांग और चौदह वर्ष कम एक लाख पूर्व तक तीर्थंकर पद पालन कर के एक हजार मुनियो के साथ सम्मेदशिखर पर्वत पर, चैत्र-शुक्ला ५ के दिन मोक्ष प्राप्त किया। भगवान् का कुल आयुष्य साठ लाख पूर्व का रहा।

तीसरे तीर्थंकर

भगवान्

॥ संभवनाथजी का चरित्र पूर्ण ॥

प्रभु के गर्भ मे आने पर राज्य और नगर मे सर्वत्र अभिनन्द (आनन्द) व्याप्त हो गया, इससे आपका नाम 'अभिनन्दन' दिया गया। साढे बारह लाख पूर्व तक आप राजकुमार रहे। इसके बाद पिता ने आपका राज्याभिषेक कर के सर्वविरति स्वीकार कर ली। इस प्रकार आपने छत्तीस लाख पूर्व और आठ पूर्वांग व्यतीत किया। इसके बाद वर्षीदान दे कर माघ शु १२ के दिन अभिचि नक्षत्र मे, बेले के तप से ससार का त्याग कर दिया। प्रव्रज्या लेते ही आप को मन पर्यव ज्ञान उत्पन्न हो गया। आपके साथ अन्य एक हजार राजा भी दीक्षित हुए। प्रभु अठारह वर्ष छद्मस्थ अवस्था मे रहे और पौष-शुक्ला १४ को अभिचि नक्षत्र मे ही केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त कर के तीर्थ की स्थापना की। आपने प्रथम धर्म-देशना इस प्रकार दी।

धर्मदेशना

अशरण भावना

"यह ससार अनेक प्रकार के दुख, शोक, सकट एव विपत्ति की खान है। इस खान मे पडते हुए मनुष्य को बचाने मे कोई भी शक्ति समर्थ नही है। माता, पिता, बन्धु, पुत्र, पति, पत्नी और मित्रादि स्वजन-परिजन कोई भी रोग के आक्रमण से होते हुए कष्ट से भी नही बचा सकते, तब मौत से तो कैसे बचावेगे? इन्द्र और अहमेन्द्रादि जैसे महान् बलशाली भी मृत्यु के झपाटे मे पड जाते है। उन्हे मृत्यु के मुख से बचाने वाला—काल का भी काल ऐसा कौन-सा आश्रय है? अर्थात् कोई नही है।

मृत्यु के समय माता, पिता, भाई, भगिनी, पुत्र, पत्नी आदि सभी देखते ही रह जाते हैं। उसे बचाने की शक्ति किसी मे नही होती। उस निराधार प्राणी को कर्म के अधीन हो कर अकेला जाना ही पडता है। इस प्रकार मृत्यु पाते हुए जीव के मोहमूढ सम्बन्धीजन विलाप करते है। उन्हे स्वजन के मर जाने का दुख तो होता है, किन्तु वे यह विचार नही करते कि—'मैं स्वय भी अशरणभूत हूँ। मेरा रक्षक भी कोई नही है। मुझे भी इसी प्रकार मरना पडेगा।' जिस प्रकार महा भयकर वन मे चारो ओर उग्र दावानल जल रहा हो, उसकी लपटे बहुत ऊँची उठ रही हो, जिसमे गजराज जैसे बडे प्राणी भी नही बच सकते, तब बिचारे मृग के छोटे बच्चे की तो बात ही क्या है? उसी प्रकार मौत की महाज्वाला मे जलते हुए ससार मे, प्राणी का रक्षक कोई नही है।

मनुष्य के भयंकर रोगो को दूर करने की शक्ति धराने वाले, अष्टाग आयुर्वेद, सजीवनी औषधिये और महामृत्युजयादि मन्त्र भी मृत्यु से नही छुडा सकते। चारो ओर शस्त्रास्त्रो की वाड लगा दी गई हो और योद्धाओ की सेना, तत्परता के साथ अपने महाराजाधिराज की रक्षा के लिए जी-जान से जुट गई हो, ऐसे सुदृढ प्रवन्ध की भी उपेक्षा कर के विकराल काल, आत्मा को पकड़ कर ले जाता है और सारी व्यवस्था व्यर्थ हो जाती है।

जिस प्रकार पशु-वर्ग, मृत्यु से वचने का उपाय नही जानता, उसी प्रकार महान् वुद्धि का धनी मनुष्य-वर्ग भी नही जानता। यह कैसी मूर्खता है? जो एक खड्ग के साधन मात्र से पृथ्वी को निष्कटक करने की शक्ति रखते हैं, वे भी यमराज की भृकुटी से भयभीत हो कर दसो अगुलिये मुँह मे रखते है। यह कैसी विचित्र वात है?

पाप का सर्वथा त्याग कर के जिन्होने निष्पाप जीवन अपनाया, ऐसे मुनियो के, तलवार की धार पर चलने जैसे महान् व्रत भी मृत्यु को नही टाल सके, तो शरण-रहित, पालक एव नायक से रहित और निरुपाय ऐसा यह ससार, यमराज (मृत्यु) रूपी राक्षस के द्वारा भक्षण होते हुए कैसे वच सकता है? एक धर्म रूपी उपाय, जन्म को तो नष्ट कर सकता है, परन्तु मृत्यु को नही रोक सकता। जन्म की जड को नष्ट करने के वाद भी प्राप्त जन्म से तो मरण होता ही है। किन्तु वह मरण, अन्तिम होता है। इसके साथ ही आत्मा स्वय मृत्युजय वन जाता है। मौत की जड, जन्म के साथ ही लगी हुई है। यदि जन्म होना रुक जाय, तो मृत्यू अपने आप रुक जाती है। आयुष्य के वन्ध के साथ ही अन्त निश्चित् हो जाता है, इसलिए धर्म रूपी शुभ उपाय अवश्य करना चाहिए। जिससे मृत्यु हो, तो भी दुर्गति नही हो कर शुभ-गति हो।

मृत्युजय वनने के लिए प्रत्येक आत्मार्थी को निर्ग्रंथ-प्रव्रज्या रूपी प्रवल उपाय कर के, अक्षय सुख के भण्डार ऐसे मोक्ष को प्राप्त करना चाहिए। इस महा उपाय से वह स्वय अपना रक्षक वन जाता है और दूसरो के लिए भी अपना आदर्श रख कर शरणभूत वनता है।

"इन्द्रोपेन्द्रादयोऽप्येते यन्मृत्योर्याति गोचर। अहो तदतकातके क शरण्य शरीरिणा ॥१॥
पितुर्मातु स्वसुर्भ्रातुस्तनयाना च पश्यता। अत्राणो नीयते जंतु कर्मभिर्यम सद्मनि ॥२॥
शोचते स्वजनानन्त नीयमानान् स्वकर्मभि। नेष्यमाण तु शोचति नात्मान मूढबुद्धय ॥३॥
ससारे दुःखदावाग्निज्वलज्ज्वालाकरालिते। वने मृगार्भकस्येव शरण नास्ति देहिन ॥४॥"

—अहो ! इन्द्र और उपेन्द्र × वासुदेवादि भी मृत्यु के अधीन हो जाते हैं, तो मृत्यु रूपी महा भय के उत्पन्न होने पर इन पामर प्राणियो के लिए कौन शरणभूत होगा ? माता, पिता, बहिन, भ्राता एव पुत्रादि के देखते ही प्राणी को उसके कर्म, यमराज के घर की ओर (चारो गति मे) ले जाते है। अपने कर्मों से ही मृत्यु का ग्रास बनते हुए, अपने प्रिय सम्बन्धी को देख कर मोहमूढ प्राणी रोते हैं, शोक करते है। किन्तु यह नही सोचते कि थोड़े समय के बाद मेरी भी यही दशा होगी। मुझे भी मौत के मुँह मे जाना पडेगा।

दु ख रूपी दावानल की उठती हुई प्रबल ज्वालाओ से भयकर बने हुए इस संसार रूपी महा बन मे, मृग के बच्चो के समान प्राणियो के लिए धर्म के अतिरिक्त कोई भी शरणभूत नही है।"

भ० अभिनदन स्वामी के 'वज्रनाभ' आदि ११६ गणधर हुए। तीन लाख साधु, छ लाख तीस हजार साध्विये, ९८०० अवधिज्ञानी, १५०० चौदह पूर्वी, ११६५० मन पर्यवज्ञानी, ११००० वादलब्धि वाले, २८८००० श्रावक और ५२७००० श्राविकाएँ, प्रभु के धर्म-तीर्थ मे हुए। केवलज्ञान और तीर्थ स्थापना के वाद आठ पूर्वांग और अठारह वर्ष कम लाख पूर्व व्यतीत हुए, तव एक मास के अनशन से समेदशिखर पर्वत पर वैशाख-शुक्ला अष्टमी को पुष्य नक्षत्र मे सिद्ध हुए और शाश्वत स्थान को प्राप्त कर लिया। देवो और इन्द्रो ने प्रभु का निर्वाण उत्सव मनाया।

चौथे तीर्थंकर

भगवान्

॥ अभिनन्दनजी का चरित्र पूर्ण ॥

× जैन साहित्य मे 'उपेन्द्र' पद का उल्लेख अन्यत्र देखने मे नही आया। कोषकारों ने 'उपेन्द्र' शब्द का अर्थ 'वामन अवतारी विष्णु' किया है।

भ सुमतिनाथजी
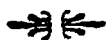
जम्बूद्वीप के पुष्कलावती विजय मे शखपुर नाम का नगर था। विजयसेन राजा और सुदर्शना रानी थी। एक वार किसी उत्सव के प्रसग पर सभी नगरजन उद्यान मे क्रीडा करने गये। रानी भी अपनी ऋद्धि सहित हथिनी पर सवार हो कर और छत्र-चँवरयुक्त उद्यान मे पहुँची। वहाँ उसने सुन्दर और अलंकृत आठ स्त्रियों के साथ आई हुई एक ऐसी स्त्री देखी, जो अप्सराओ के बीच इन्द्रानी जैसी सुशोभित हो रही थी। रानी उसे देख कर विस्मित हुई। उसे विचार हुआ—"यह स्त्री कौन है? इसके साथ ये आठ सुन्दरियाँ कौन है?" यह जानने के लिए उसने अपने नाजर को पता लगाने की आज्ञा दी। उसने लौट कर कहा—'वह भद्र महिला यहाँ के प्रतिष्ठित सेठ नन्दीषेण की सुलक्षणा नाम की पत्नी है और आठ स्त्रियाँ उसके दो पुत्रो की (प्रत्येक की चार-चार) पत्नियाँ है। ये अपनी सास की सेवा दासी के समान करती है।" यह सुन कर रानी को विचार हुआ—'यह स्त्री धन्य है, सौभाग्यवती है कि जिसे पुत्र और उसकी देवागना जैसी बहुएँ प्राप्त हुई है और वे इसकी सेवा मे रत हैं। मैं कितनी हतभागिनी हूँ कि मुझे न तो पुत्र है, न बहू। यद्यपि मैं अपने पति के हृदय के समान हूँ, फिर भी मैं पुत्र और पुत्रवधू के सुख से वंचित हूँ'—इस प्रकार चिन्तामग्न रानी भवन में लौट आई। उसकी चिन्ता का कारण जान कर राजा ने उसे सान्त्वना दी और कुलदेवी की आराधना की। कुलदेवी ने प्रकट हो कर कहा—"एक महान् ऋद्धिशाली देव, रानी की कुक्षी मे पुत्रपने आने वाला है।" राजा-रानी प्रसन्न हुए। रानी सिंह स्वप्न के साथ गर्भवती हुई। उसे सभी प्राणियों को अभयदान देने का दोहद हुआ। दोहद पूर्ण हुआ और यथावसर एक सुन्दर पुत्र का जन्म

हुआ। 'पुरुषसिंह' नाम दिया। यौवनवय मे आठ राजकन्याओ के साथ लग्न हुए। एक बार उद्यान मे क्रीडा करते हुए कुमार ने श्री विनयनन्दन मुनिराज को देखा और उनका उपदेश सुन कर विरक्त हुआ। माता-पिता की आज्ञा ले कर दीक्षित हुआ और उत्कृष्ट भावो से आराधना करते हुए तीर्थंकर नाम-कर्म का बन्ध, दृढीभूत कर लिया। फिर काल कर के वैजयत नाम के अनुत्तर विमान मे उत्पन्न हुए।

जम्बूद्वीप के भरत-क्षेत्र मे विनिता नगरी मे 'मेघरथ' राजा थे। उनकी रानी का नाम 'सुमगलादेवी' था। पुरुषसिंह का जीव, वैजयत विमान की ३३ सागरोपम की आयु पूर्ण कर के सुमगलादेवी की कुक्षी मे, श्रावण-शुक्ला द्वितीया को गर्भ रूप मे उत्पन्न हुआ।

महारानी का न्याय

उस समय एक धनाढ्य व्यापारी अपनी दो पत्नियो को साथ ले कर व्यापार करने के लिए विदेश गया था। वहाँ एक स्त्री के पुत्र उत्पन्न हुआ। पुत्र का पालन दोनो सपत्नियो ने किया। धनार्जन कर के वापिस घर आते समय रास्ते मे ही वह व्यापारी मर गया। उसके धन का मालिक उसका पुत्र था। नपूती स्त्री ने सोचा--' यह पुत्र वाली है, इसलिए मालकिन यह हो जायगी और मेरी दुर्दशा हो जायगी।'' उसने कहा- "पुत्र मेरा है, तेरा नही है।" दोनो झगडती हुई विनिता नगरी मे आई और नरेश के सामने अपना झगडा उपस्थित किया। राजा विचार मे पड गया।

दोनो स्त्रिये वर्ण एवं आकृति मे समान थी और पुत्र छोटा था। वह बोल भी नही सकता था। यदि आकृति मे विषमता होती, तो जिसकी आकृति से बच्चे की आकृति मिलती, या बच्चा स्वय बोल कर अपनी जननी का परिचय देता, तो निर्णय का कुछ आधार मिलता। बच्चे को दोनो ने पाला था, इसलिए वह दोनो के पास जाता था। अब निर्णय हो भी तो किस आधार पर ?

नरेश और सभासद सभी उलझन मे पड गए। समय हो जाने पर भी सभा विसर्जित नही हुई। भोजनादि का समय भी निकल गया। अत मे मन्त्रियो की सलाह से वाद को भविष्य मे विचार करने के लिए छोड कर सभा विसर्जित की गई। राजा अन्त पुर मे गया। रानी ने विलम्ब का कारण पूछा। राजा ने विवाद की उलझन बताई। रानी भी उस विवाद को सुन कर प्रभावित हुई। गर्भ के प्रभाव से उसकी मति प्रेरित हुई। रानी ने कहा--

"महाराज ! स्त्रियो के विवाद का निर्णय, स्त्री ही सरलता से कर सकती है। इसलिए यह विवाद आप मुझे सौंप दीजिए।"

दूसरी सभा मे रानी भी उपस्थित हुई। वादी-प्रतिवादी महिलाएँ बुलाई गई। दोनो पक्षो को सुन कर राजमहिषि ने कहा—

"तुम्हारा झगड़ा साधारण नही है। सामान्य ज्ञान वाले से इसका निर्णय होना सम्भव नही है। मेरे गर्भ मे तीर्थंकर होने वाली भव्यात्मा है। तुम कुछ महीने ठहरो। उनका जन्म हो जाने पर वे अवधिज्ञानी तीर्थंकर तुम्हारा निर्णय करेगे।"

रानी की आज्ञा विमाता ने तो स्वीकार कर ली, किन्तु खरी माता ने नही मानी और बोली,—

"महादेवी ! इतना विलम्ब मुझ से नही सहा जाता। इतने समय तक मैं अपने प्रिय पुत्र को इसके पास छोड भी नही सकती। मुझे इसके अनिष्ट की शका है। आप तीर्थंकर की माता है, तो आज ही इसका निर्णय करने की कृपा करे।"

महारानी ने यह वात सुन कर निर्णय कर दिया—"असल मे माता यही है। यह अपने पुत्र का हित चाहती है। इसका मातृहृदय पुत्र को पृथक् होने देना नही चाहता। दूसरी स्त्री तो धन और पुत्र की लोभिनी है। इसके हृदय मे माता के समान वास्तविक प्रेम नही है। इसीलिए यह इतने लम्बे काल तक अनिर्णित अवस्था मे रहना स्वीकार करती है।"

इस प्रकार निर्णय कर के रानी ने पुत्र वाली को पुत्र दिलवाया। सभा चकित रह गई।

गर्भकाल पूर्ण होने पर वैशाख-शुक्ला अष्टमी को मघा-नक्षत्र मे पुत्र का जन्म हुआ। गर्भकाल मे माता द्वारा सुमति (वाद निर्णय मे बुद्धिमत्ता) का परिचय मिलने पर प्रभु का "सुमति" नाम दिया गया। यौवन-वय मे सुन्दर राज कन्याओ के साथ लग्न हुआ। दस लाख पूर्व बीतने पर पिता ने अपना राज्यभार आपको दिया। उनतीस लाख पूर्व और बारह पूर्वांग तक राज्य का पालन किया और वैशाख-शुक्ला नौमी को मघा-नक्षत्र मे एक हजार राजाओ के साथ ससार का त्याग कर प्रव्रज्या स्वीकार की। बीस वर्ष तक छद्मस्थ अवस्था मे रहने के बाद चैत्र-शुक्ला एकादशी के दिन मघा-नक्षत्र मे केवलज्ञान केवलदर्शन उत्पन्न हुआ।

संदेशना

ए त्व भ ।

जिन भव्य प्राणियो मे हिताहित और कार्याकार्य को समझने की योग्यता है, उन्हें कर्तव्य-पालन मे उपेक्षा नही करनी चाहिए। यह बात ध्यान मे रखनी चाहिए कि पुत्र, मित्र तथा स्त्री आदि से सम्बन्धित तथा स्वय के शरीर सम्बन्धी जो भी क्रिया की जाती है, वह सब 'परक्रिया' है—दूसरो का कार्य है। स्वकार्य बिलकुल नही है। क्योकि अपनी आत्मा के अतिरिक्त सभी 'पर' हैं—दूसरे है। इन दूसरो का सयोग, उदय-भाव जन्य है, जिसका वियोग होता ही है जो वस्तु सदैव साथ रहे, वही स्व (अपनी) हो सकती है और जिसका कालान्तर मे भी वियोग होता है, वह अवश्य पर है।

यह जीव अकेला जन्म लेता है और अकेला ही मरता है। अपने सचित किये हुए कर्म का अनुभव भी अकेला ही करता है। एक द्वारा चोरी कर के लाया हुआ धन, सभी कुटुम्बी मिल कर खा जाते हैं, किन्तु चोरी का दण्ड तो चोरी करने वाला अकेला ही भुगतता है। उसे नरक गति मे अपनी करणी का दु खदायक फल भुगतना ही पडता है। उस समय खाने वाला कोई भी दु ख-भोग मे साथी नही रहता। दु ख रूपी दावानल से भयकर बने हुए और अत्यन्त विस्तार वाले, भव रूपी अरण्य मे कर्म के वशीभूत हुआ प्राणी अकेला ही भटकता रहता है। उस समय उसके कुटुम्बी और प्रियजनो मे से कोई एक भी सहायक नही होता।

यदि कोई अपने शरीर को ही सुख-दु ख का साथी मानता है, तो यह भी ठीक नही है। शरीर तो सुख-दु ख का अनुभव कराने वाला है। इसीके निमित्त से आत्मा दु ख भोगती है। रोग, जरा और मृत्यु शरीर मे ही होते है। यदि शरीर नही हो, तो ये दु ख भी नही होते।

यदि शरीर को ही सदा का साथी माना जाय, तो यह भी उचित नही है। औदारिक और वैक्रिय शरीर तो जन्म के साथ बनता है और मृत्यु के साथ छूट जाता है। यह पूर्वभव से साथ नही आता, न अगले भव मे साथ जाता है। पूर्वभव और पुनर्भव के मध्य के भव मे आई हुई काया को सदा की साथी कैसे मानी जा सकती है ?

यदि कहा जाय कि आत्मा के लिए धर्म अथवा अधर्म साथी है, तो यह भी सत्य नही है, क्योकि धर्म और अधर्म की सहायता मोक्ष मे कुछ भी नही है। इसलिए ससार मे शुभ और अशुभ कर्म करता हुआ जीव, अकेला ही भटकता रहता है और अपने शुभाशुभ

कर्म के योग्य शुभाशुभ फल का अनुभव करता है। इसी प्रकार मोक्ष रूपी महाफल भी जीव अकेला ही प्राप्त करता है। पर के सम्बन्धो का आत्यन्तिक वियोग ही मोक्ष है। मोक्ष मे मुक्त आत्मा अकेली ही अपने निज-स्वभाव मे रहती है।

जिस प्रकार हाथ, पाँव, मुख और मस्तक आदि रस्सी से बाँध कर समुद्र मे डाला हुआ मनुष्य, पार पहुँचने के योग्य नही रहता, किंतु खुले हाथ-पांव वाला व्यक्ति तैर कर किनारे लग जाता है, उसी प्रकार कुटुम्ब, धन और देवादि मे आसक्ति रूपी बन्धनो मे जकडी हुई आत्मा, संसार-समुद्र का पार नही पा सकती और उसी मे दु खपूर्वक डूबती-उतराती रहती है। इसके विपरीत पर की आसक्ति से रहित, अकेली स्वतन्त्र—बन्ध रहित बनी हुई आत्मा, भव-समुद्र से पार हो जाती है। इसलिए सभी सासारिक सम्बन्धो का त्याग कर के एकाकी भाव युक्त हो कर शाश्वत सुखमय मोक्ष के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

एक उत्पद्यते जंतुरेक एव विपद्यते।
कर्माण्यनुभवत्येकः प्रचितानि भवांतरे ॥१॥
अन्यैस्तेनार्जितं वित्तं, भूयः संभूय भुज्यते।
सत्वेको नरकक्रोडे, क्लिश्यते निजकर्मभिः ॥२॥

अर्थात्—यह जीव भवान्तर मे अकेला ही उत्पन्न होता है, अकेला ही मरता है और अपने किये हुए कर्मो का फल—इस भव मे या पर भव मे—अकेला ही अनुभव करता है।

एक व्यक्ति के उपार्जन किये हुए द्रव्य का दूसरे अनेक मिल कर उपभोग करते हैं, किन्तु पाप-कर्म कर के धन का उपार्जन करने वाला व्यक्ति, अपने कर्मों से नरक मे जा कर अकेला ही दु खी होता है। इसलिए एकत्व भावना का विचार कर के आत्महित साधना चाहिए।

प्रभु के 'चमर' आदि एक सौ गणधर हुए, ३२०००० साधु, ५३०००० साध्वियें, २४०० चौदहपूर्वी, ११००० अवधिज्ञानी, १०४५० मन पर्यवज्ञानी, १३००० केवल ज्ञानी, १८४०० वैक्रिय लब्धिधारी, १०६५० वाद लब्धिधारी, २८१००० श्रावक और ५१६००० श्राविकाएँ हुई।

केवलज्ञान होने के बाद भगवान् बीस वर्ष और बारह पूर्वांग कम एक लाख पूर्व तक भाव तीर्थंकरपने, इस पृथ्वी-तल पर विचरते रहे और एक मास के अनशन से समेदशिखर

पर्वत पर एक हजार मुनियो के साथ, कुल चालीस लाख पूर्व की आयु पूर्ण कर चैत्र-शुक्ला नौमी को पुनर्वसु नक्षत्र मे मोक्ष पधारे।

पाँचवें तीर्थंकर

भगवान्

॥ सुमतिनाथजी का चरित्र पूर्ण ॥
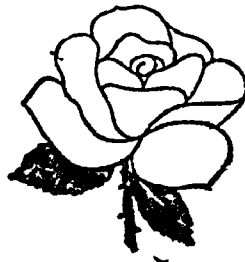
भ पद्मप्रभःजी

धातकीखण्ड द्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र के वत्स विजय मे 'सुसीमा' नामकी एक नगरी थी। 'अपराजित' नाम का वहाँ का राजा था। वह धर्मात्मा, न्यायी, प्रजापालक और पराक्रमी था। एक वार अरिहंत भगवान् की वाणी रूपी अमृत का पान किया हुआ नरेन्द्र अनित्यादि भावना मे विचरण करता हुआ मुनिमार्ग ग्रहण करने को तत्पर हो गया और अपने पुत्र को राज्य का भार सौप कर एक महान् त्यागी सयमी आचार्य भगवत के समीप प्रव्रज्या ग्रहण कर ली। निर्दोष सयम एव उग्र तप से आत्मा को उन्नत करते हुए, शुभ अध्यवसायो की तीव्रता मे तीर्थंकर नाम-कर्म का वन्ध कर लिया और आयुष्य पूर्ण कर के ऊपर के सर्वोच्च ग्रैवेयक मे महान् ऋद्धि सम्पन्न देव हुआ।

इस जम्बूद्वीप के भरत-क्षेत्र मे 'वत्स' नामका देश है। उसमे 'कौशावी' नामकी नगरी थी। 'धर' नाम का राजा वहाँ का शासक था। 'सुसीमा' नामकी उसकी रानी थी। अपराजित मुनिराज का जीव, सर्वोपरि ग्रैवेयक का ३१ सागरोपम का आयुष्य पूर्ण कर के चौदह महास्वप्न पूर्वक माघ-कृष्णा छठ की रात्रि मे चित्रा नक्षत्र मे महारानी 'सुसीमा' की कुक्षि मे उत्पन्न हुआ। कार्तिक कृष्णा द्वादशी को चित्रा नक्षत्र मे जन्म हुआ। जन्मोत्सव आदि तीर्थंकर-परपरा के अनुसार हुआ। गर्भ मे माता को पद्म की शय्या का दोहद होने से वालक का नाम 'पद्मप्रभ' दिया गया। विवाह हुआ। साडे सात लाख पूर्व तक युवराज रह कर राज्याभिषेक हुआ। साडे इक्कीस लाख पूर्व और सोलह पूर्वांग तक राज्य सचालन किया और वेले के तप के साथ कार्तिक कृष्णा १३ को चित्रा नक्षत्र मे प्रव्रज्या स्वीकार की। छ महीने तक छद्मस्थ अवस्था मे रह कर चैत्र-शुक्ला पूर्णिमा को चित्रा नक्षत्र मे घातीकर्मो

का क्षय कर के केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त किया ।

सर्वज्ञ-सर्वदर्शी भगवान् की प्रथम धर्मदेशना इस प्रकार हुई, —

र्मदेशना

ससार भावना

जिस प्रकार समुद्र मे अपार पानी भरा हुआ है, उसी प्रकार ससार रूपी समुद्र भी अपरम्पार है। महासागर जैसे अपार ससार मे चौरासी लाख जीव योनी मे यह जीव भटकता ही रहता है और नाटक के पात्र के समान विविध प्रकार के स्वाग धारण करता है। कभी यह श्रोत्रीय ब्राह्मण जैसे कुल मे जन्म लेता है, तो कभी चाण्डाल बन जाता है। कभी स्वामी तो कभी सेवक और कभी देव तो कभी क्षुद्र कीट भी हो जाता है। जिस प्रकार भाडे के मकान मे रहने वाला मनुष्य, विविध प्रकार के मकानो मे निवास करता रहता है। कभी भव्य भवन मे, तो कभी टूटे झोपडे मे। इसी प्रकार यह जीव भी शुभाशुभ कर्मों के अनुसार भिन्न-भिन्न योनियो मे उत्पन्न हुआ और मरा। ऐसी कौन-सी योनी है कि जिसमे यह जीव उत्पन्न नही हुआ‡ ? लोकाकाश के समस्त प्रदेशो मे ऐसा एक भी प्रदेश शेष नही रहा कि जहाँ इस जीव ने कर्म से प्रेरित हो कर, अनेक रूप धारण कर के स्पर्श नही किया हो और पृथ्वी का एक बालाग्र जितना अश भी शेष नही रहा कि जहाँ इस जीव ने जन्म-मरण नही किया हो। यह जीव समस्त लोकाकाश को विविध रूपो मे स्पर्श कर चुका है।

नारक की भयंकर वेदना

मोटे तोर पर ससार मे १ नारक २ तिर्यंच ३ मनुष्य और ४ देव, इस प्रकार चार प्रकार के प्राणी हैं। ये प्राय कर्म के सम्बन्ध से बाधित हो कर अनेक प्रकार के दुख भोगते रहते हैं। प्रथम तीन नरक मे मात्र उष्ण वेदना है और अत के तीन नरको मे शीत वेदना है। चोथी नरक मे उष्ण और शीत—दोनो प्रकार की क्षेत्र वेदना है। प्रत्येक नरक मे

‡ अनुत्तर विमान के देव, अपवाद रूप होने से आचार्यश्री ने बृहद् पक्ष की अपेक्षा से कथन किया है।

क्षेत्र के अनुसार वेदना होती रहती है। उन नारक क्षेत्रो की गर्मी और सर्दी इतनी अधिक है कि जहाँ लोहे का पर्वत भी यदि ले जाया जाय, तो उस क्षेत्र का स्पर्श करने के पूर्व ही वह गल जाता है, या बिखर कर छिन्न-भिन्न हो जाता है। इस प्रकार नरक की क्षेत्र-वेदना भी महान् भयंकर और असह्य है। इसके अतिरिक्त नारक जीवो के द्वारा एक दूसरे पर परस्पर किये जाने वाले प्रहारादि जन्य दु ख तथा परमाधामी● देवो द्वारा दिये जाने वाले दु ख भी महान् भयकर और सहन नही हो सकने योग्य होते है। इस प्रकार नारक जीवो को क्षेत्र सम्बन्धी, पारस्परिक मारकाट सम्बन्धी और परमाधामी देवो द्वारा दी हुई, यो तीन प्रकार की महादु खकारी वेदना होती रहती है।

नारक जीव, छोटे-सकडे मुँह वाली कुभी मे उत्पन्न होते हैं। जिस प्रकार सीसे आदि धातुओ की मोटी सलाइयो को यन्त्र मे से खीच कर पतले तार बनाये जाते है, उसी प्रकार सकडे मुंह वाली कुभी मे से परमाधामी देव, नारक जीवो को खीच कर बाहर निकालते है। कई परमाधामी देव नारको को इस प्रकार पछाडते हैं, जिस प्रकार धोबी वस्त्रो को शिला पर पछाडता है। कोई परमाधामी नेरिये को इस प्रकार चीरता है, जिस प्रकार बढई करवत से लकडी चीरता हो। कोई परमाधामी, नारक को घाने मे डाल कर पीलते है।

नारक जीव नित्य तृषातुर रहते है। उन बेचारो को परमाधामी देव, उस वैतरिणी नदी पर ले जाते हैं, जिसका पानी तप्त लोह रस और सीसे जैसा है। उसमे उन्हे धकेल देते है। उनको वह तप्त रस बरबस पिलाया जाता है। पाप के भीषण उदय से पीडित उन नरकात्माओ की पीडा कितनी दारुण होती है? असह्य गर्मी से पीडित वे नारक किसी वृक्ष की शीतल छाया मे बैठने की इच्छा करते है, तब परमाधामी उन्हे असिपत्र वन मे ले जाते है। उन वृक्षो के तलवार की धार के समान पत्र जब उन पर पडते है, तब उनके अग कट-कट कर छिन्न-भिन्न हो जाते है। नारको को दु खी करने मे ही सुख मानने वाले क्रूर परिणामी, महामिथ्यादृष्टि वे परमाधामी देव, उन नारको को वज्रशूल जैसे अत्यन्त तीक्ष्ण कांटो वाले शालमलि वृक्ष अथवा अत्यन्त तप्त वज्रागना से आलिगन करवाते है और उन्हे पर-स्त्री आलिगन की अपनी पापी मनोवृत्ति का स्मरण करवाते है। कही-कही नैरयिक की मास-भक्षण की लोलुपता का स्मरण कराते हुए उन्हे उन्ही के अगो का मास+ काट-काट

● परमाधामी (परम अधर्मी) पापकर्म मे ही रत रहने वाले। नारक जीवो को विविध प्रकार से दु ख दे कर अपना मनोरजन करने वाले क्रूर एव अधम देव।

+ यह मास और वृक्षादि औदारिक शरीर से नही, वैक्रिय के तदनुरूप परिणत पुद्गल है।

कर खिलाते हैं और पूर्व के मद्यपान का स्मरण करा कर, तप्त लोहरस का बरबस पान कराया जाता है। प्रबल पापोदय से दीन-हीन और अत्यन्त दुखी हुए उन दुर्भागियो के उस वैक्रिय-शरीर मे भी कोढ, खुजली, महाशूल और कुंभीपाक आदि की भयकर वेदना का निरंतर अनुभव होता रहता है। उन्हे मास की तरह आग मे जीवित सेका जाता है। उनकी आँख आदि अगो को काग, बक आदि पक्षियो के द्वारा खिचवाया जाता है। इतना भयकर दुख भोगते हुए और अगोपाग के टुकडे-टुकडे हो जाने पर भी वे बिना स्थिति क्षय हुए मरते नही। उनके छिन्न-भिन्न अग, पारे की तरह पुन मिल कर जुड जाते हैं और दुख-भोग चालू ही रहता है। इस प्रकार के दुख वे नारक जीव अपनी आयु के अनुसार—कम से कम दस हजार वर्ष और अधिक से अधिक तेतीस सागरोपम प्रमाण काल तक भोगते ही रहते हैं।

तिर्यंच गति के दुःख

तिर्यंच गति मे इतनी विविधता और विचित्रता है कि जितनी अन्य गतियो मे नही है। इसमे एकेन्द्रिय से लगा कर पचेन्द्रिय तक के जीव हैं। जो भारीकर्मा जीव हैं, वे एकेन्द्रिय मे और वह भी पृथ्वीकाय मे उत्पन्न हो कर हल आदि शस्त्रो से खोदे व फाडे जाते हैं। हाथी, घोडा आदि से रोदे जाते हैं। जल-प्रवाह से प्लावित होते हैं, दावानल से जलते हैं, कटु-तिक्षणादि रस और मूत्रादि से व्यथित होते हैं। कोई नमक के क्षार को प्राप्त होते हैं, तो कोई पानी मे उबाले जाते हैं। कुभकारादि पृथ्वीकाय के देह को खोद कर, कूट-पीस कर, घट एव ईंटादि बना कर पचाते हैं। घर की भीतो मे चुने जाते हैं। शिलाओ को टाँकी, छेनी आदि ओजारो से छिला जाता है और पर्वत-सरिता के प्रवाह से पृथ्वीकाय का भेदन हो कर विदारण होता है। इस प्रकार अनेक प्रकारो से पृथ्वीकाय की विराधना होती है।

अप्काय के रूप मे उत्पन्न हुए जीव को सूर्य की प्रचण्ड गर्मी से तप कर मरणान्तक दुख भोगना पडता है। वर्फ के रूप मे घनीभूत होना पडता है। रज के द्वारा शोषण किया जाता है और क्षार आदि रस के सम्पर्क से मृत्यु को प्राप्त होते है। प्यासे मनुष्यो और पशुपक्षियादि से पिये जा कर भी अप्काय के जीवो की विराधना होती है। इन जीवो की विराधना भी अनेक प्रकार से होती है।

तेजस्काय मे उत्पन्न जीव, पानी आदि से बुझा कर मारे जाते हैं, घन आदि से कूटे-पीटे जाते हैं, ईंधनादि से दग्ध किये जाते हैं।

वायुकाय के रूप मे उत्पन्न जीवो की पखा आदि से विराधना होती है और शीत

तथा उष्णादि द्रव्यो के योग मे मृत्यु को प्राप्त होते है। प्राचीन वायुकाय के जीवों का नवीन वायुकाय के द्वारा नाश होता है। मुख आदि से निकले हुए पवनो से बाधित होते हैं और सर्प आदि के द्वारा पान किये जाते हैं।

कद आदि दस प्रकार की वनस्पति मे उत्पन्न जीवों का तो सदैव छेदन-भेदन होता है। अग्नि पर चढा कर पकाये जाते हैं। पारस्परिक घर्षण से पीडित होते है। रस-लोलुप जीव, क्षार आदि लगा कर जलाते हैं और कदादि सभी अवस्था मे भक्षण किये जाते हैं। वायु के वेग से टूट कर नष्ट होते हैं। दावानल मे जल-जल कर भस्म होते है और नदी के प्रवाह से उखड कर गिर जाते हैं। इस तरह सभी प्रकार की बादर वनस्पति, सभी जीवो के लिए भक्ष्य हो कर सभी प्रकार के शस्त्रों से छेदन-भेदन को प्राप्त होती है। वनस्पतिकाय को प्राप्त हुआ जीव, सदा ही क्लेश की परम्परा में ही जीवन व्यतीत करता है।

बेइन्द्रियपने उत्पन्न जीव, पानी के साथ पिये जाते हैं। आग पर चढा कर उबाले जाते हैं। धान्य के साथ पकाये जाते हैं। पाँवों के नीचे कुचले जाते हैं और पक्षियो द्वारा भक्षण किये जाते है। शख—सीपादि रूप मे हो, तो फोडे जाते हैं, जौंक आदि हो, तो सूंते जाते है। गिडोला आदि को औषधी के द्वारा पेट में से बाहर निकाला जाता है।

तेइन्द्रियपने मे जीव, जूं और खटमल के रूप मे शरीर के साथ मसले जाते हैं। उबलता हुआ पानी डाल कर मारे जाते हैं। चिटियाँ पैरो तले कुचल कर मारी जाती हैं। झाडने-बुहारने मे भी मर जाती है और कुंथुआदि बारीक जीवों का अनेक प्रकार से मर्दन होता है।

चौरिन्द्रिय जीवो मे मधुमक्खी और भौंरो आदि का मधु-लोभियों द्वारा नाश किया जाता है। डास-मच्छरादि प्राणी पखे आदि से और धूम्र प्रयोग से मारे जाते हैं और छिपकली आदि द्वारा खाये जाते हैं।

पचेन्द्रियपने जलचर मे परस्पर एक दूसरे का भक्षण (मच्छ गलागल) करते हैं। मच्छीमारो द्वारा पकडे जा कर मारे जाते हैं। चर्बी के लिए भी जलचर जीवो की हिंसा होती है।

स्थलचर पचेन्द्रिय जीवों मे मृग आदि जीवो को सिंहादि क्रूर जीव खा जाते हैं। शिकारी मनुष्य, अपने व्यसन तथा मास-लोलुपता के कारण निरपराधी जीवो की अनेक प्रकार से घात करते हैं। कई प्राणी क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण और अतिभार वहन के कारण दु खी जीवन व्यतीत करते हैं। उन पर चाबुक की मार तथा अकुश एव शूल भोक

कर उत्पन्न की हुई असह्य वेदना सहन करते है।

-खेचर (उड़ने वाले) प्राणियो मे तीतर, पोपट, कपोत और चिडिया आदि पक्षियो का मास-लोलुप श्येन बाज और गिद्ध आदि पक्षी भक्षण करते है। मास-भक्षी मनुष्य भी अनेक प्रकार के जाल फैला कर या शस्त्रादि से मार कर विनाश करते हैं। तिर्यंच पक्षियो को वर्षा से दुखी हो कर मरने, अग्नि (दावानल आदि) मे जल कर भस्म होने और शस्त्र के आघात आदि सभी प्रकार का भय बना रहता है। तिर्यंच पचेन्द्रिय जीवो के विविध प्रकार के दुखो का वर्णन कितना किया जाय! उनके दुख भी वर्णनातीत है।

मनुष्य गति ` दुःख

मनुष्यत्व प्राप्त कर के भी यदि अनार्य देश मे उत्पन्न हुआ, तो वहाँ इतना पाप करता है कि जिसका वर्णन नही किया जा सकता। आर्य-देश मे भी चाडाल आदि जाति मे अनार्य के समान पाप की प्रचुरता होती है और महान् दुख का अनुभव करते हैं। आर्य-देश वासी कई मनुष्य, अनार्य-कृत्य करने वाले होते है। परिणाम स्वरूप दारिद्र एव दुर्भाग्य से दग्ध हो कर निरन्तर दुख भोगते हैं। कई मनुष्य दूसरो को सम्पत्तिशाली तथा अपने को दरिद्र देख कर, दुख एव सतापपूर्वक जीवन व्यतीत करते हैं। कई मनुष्य रोग, जरा और मरणाभिमुख हो कर और असाता-वेदनीय के उग्र उदय से दुखी हो कर ऐसी विडम्बना मे पडे हैं कि जिन्हे देख कर दया आती है।

मनुष्य के गर्भवास के दुख भी नरक के घोर दुख के समान है। गर्भवास ऐसे दुख का कारण है कि जैसे दुख, रोग, वृद्धावस्था, दासत्व एव मृत्यु के भी नही है। आग मे तपा कर गर्म की हुई सूइयो को मनुष्य के प्रत्येक रोम मे एक साथ भोकी जाने पर जितना दुख होता है, उससे आठ गुना अधिक दुख जीव को गर्भवास मे होता है और जन्म के समय जीव को जो दुख होता है, वह गर्भवास के दुख से भी अनन्त गुण है।

जन्म के बाद बाल अवस्था मे मूत्र एव विष्टा से, यौवनवय मे रति-विलास से और वृद्धावस्था मे श्वास, खासी आदि रोग से पीडित होता है, फिर भी वह लज्जारहित रहता है।

मनुष्य बालवय मे विष्टा का इच्छुक—भटसूर, युवावस्था मे कामदेव का गधा और वृद्धावस्था मे बूढा बैल बन जाता है। किन्तु वह पुरुष होते हुए भी पुरुष नही बनता (पशु जैसा रहता है) शिशु-वय मे मातृमुखो (माता के मुख को ताकने वाला) यौवन मे स्त्री-मुखी (स्त्री की गरज करनेवाला) और बुढापे मे पुत्र-मुखी (पुत्र के आश्रय मे जन्म

विताने वाला) रहता है, किन्तु वह कभी अन्तर्मुखी नही होता। धन की इच्छा से विव्हल वना हुआ मनुष्य, चाकरी, कृषि, व्यापार और पशुपालन आदि उद्योगो मे अपना जन्म निष्फल गँवाता है। कभी चोरी करता है, तो कभी जूआ खेलता है और कभी जार-कर्म कर के मनुष्य ससार-परिभ्रमण वहुत वढा लेता है। कई सुख-सामग्री प्राप्त मनुष्य, मोहान्ध हो कर काम-विलास से दु खी हो जाते हैं और दीनता तथा रुदन करते हुए मनुष्य-जन्म को खो देते है, किन्तु धर्म-कार्य नही करते। जिस मनुष्य-जन्म से अनन्त कर्मो के समूह का क्षय किया जा सकता है, उस मनुष्य-जन्म से पापी मनुष्य, पाप ही पाप किया करते है। मनुष्य-जन्म, ज्ञान, दर्शन और चारित्र, इन तीन रत्नो का पात्र रूप है। ऐसे उत्तमोत्तम जन्म मे पाप-कर्म करना तो स्वर्ण पात्र मे मदिरा (अथवा मूत्र) भरने जैसा है। मनुष्य जन्म की प्राप्ति 'शमिलायुग' * के समान महान् दुर्लभ है। मूर्ख मनुष्य, चिन्तामणी रत्न के समान इस मानव-भव को पाप-कर्म मे गँवा कर हार जाता है। मनुष्य-जन्म, स्वर्ग और मोक्ष प्राप्ति के कारण रूप है, किन्तु आश्चर्य है कि मनुष्य, पाप-कर्म के द्वारा इसे नरक प्राप्ति का साधन वना लेता है। मनुष्य-भव की अनुत्तर विमान के देवता भी आशा करते हैं। किन्तु पापी मनुष्य ऐसे दुर्लभ मानव-भव को पा कर भी पाप-कर्म मे ही आसक्त रहते हैं। यह कितने दु ख की वात है। नरक के दु ख तो परोक्ष है, किन्तु मनुष्य-भव के दु ख तो प्रत्यक्ष दिखाई दे रहे है। इसलिए मनुष्य-सम्वन्धी दु खो का विशेष वर्णन करना आवश्यक नही है।

देव-गति के दुःख

देव-गति में भी दु ख का साम्राज्य चल रहा है। शोक, अमर्ष, खेद, ईर्षा और दीनता से देवों की वुद्धि भी विगड़ी हुई रहती है। दूसरो के पास विशेष ऋद्धि देख कर देव भी अपनी हीन-दशा पर खेद करते हैं। उन्हे अपने पूर्व जन्म के उपार्जित शुभ-कर्म की कमी का शोक रहता है। दूसरे वलवान् और ऋद्धिशाली देवो द्वारा होते हुए अपमान एव अड-चनो और उसके प्रतिकार की असमर्थता के कारण अल्प-ऋद्धि वाले देव, चिन्ता एव शोक

---

* गाडी की धुरी अथवा जूआ और कीली, दोनो को स्वयभूरमण समुद्र मे एक-दूसरे की पूर्व-पश्चिम के समान विपरीत दिशा मे डाल दिया जाय, तो दोनो का परस्पर मिल कर जुड जाना महान् कठिन है। इसी प्रकार मनुष्य-जन्म की प्राप्ति भी महान् दुर्लभ है।

ग्रस्त रहा करते हैं। वे मन मे पश्चात्ताप करते रहते है कि मैने पूर्व-जन्म मे कुछ भी सुकृत्य नही किया, जिससे यहाँ देव भव पा कर भी सेवक—दास के रूप मे उत्पन्न हुआ ? इस प्रकार चिन्ता करते और अपने से अधिक सम्पत्तिशाली देवो के वैभव को देख कर खेद करते रहते हैं। वे अन्य देवो के विमान, देवागनाएँ एव उपवन सम्बन्धी सम्पत्ति देख देख कर जीवनपर्यंत ईर्षा रूपी अग्नि मे जलते रहते हैं। कई बलिष्ट देव, अल्प सत्व वाले देव की ऋद्धि, देवागना आदि छीन लेते है। इससे निराश्रित बने हुए देव, निरन्तर शोक करते रहते है। पुण्य-कर्म से देव-गति प्राप्त करने पर भी वे काम, क्रोध और भय से आतुर रहते हैं। वे कभी भी स्वस्थता एव शाति का अनुभव नही करते।

जब देव का आयुष्य पूर्ण होने वाला होता है, तब छह महीने पूर्व से ही मृत्यु के चिन्ह देख कर भयभीत हो जाते हैं और मृत्यु से बचने के लिए, छुपने का प्रयत्न करते है।

कल्पवृक्षो के पुष्पो की बनी हुई माला कभी मुरझाती नही है। वह सदैव विकसित ही रहती है, किन्तु जब देव के च्यवन (मृत्यु) का समय निकट आता है, तब उस देव का मुख-कमल भी म्लान हो जाता है और वह पुष्पमाला भी मुरझा जाती है। वहाँ के कल्प-वृक्ष इतने दृढ होते है कि बडे बलवान् मनुष्यो के हिलाने पर भी नही हिलते हैं, किंतु देवता का च्यवन समय निकट आने पर वे कल्पवृक्ष भी शिथिल हो जाते हैं। उत्पत्ति के साथ ही प्राप्त हुई और अत्यन्त प्रिय लगने वाली ऐसी लक्ष्मी और लज्जा भी उनसे रूठ जाती है। निरन्तर निर्मल एव सुशोभित रहने वाले उनके वस्त्र भी मलिन एव अशोभनीय हो जाते हैं। जब चीटियो की मृत्यु का समय निकट आता है, तब उनके पख निकल आते हैं, उसी प्रकार च्यवन समय निकट आने पर देवो मे, अदीन होते हुए भी दीनता और निद्रा रहित होते हुए भी निद्रा आती है। जिस प्रकार असह्य दुख से घबरा कर मृत्यु को चाहने वाला मनुष्य, विष-पान करता है, उसी प्रकार अज्ञानी देव, च्यवन समय आने पर न्याय एव धर्म को छोड कर विषयो के प्रति विशेष रागी बन जाता है। यद्यपि देवो को किसी प्रकार का रोग नही होता, किन्तु मृत्यु समय निकट आने पर वेदना से उनके अगोपाग और शरीर के जोड शिथिल हो कर दर्द करने लगते हैं और उन्हे आलस्य घेर लेता है। उनकी दृष्टि भी मद हो जाती है। 'भविष्य मे उन्हे गर्भवास मे रहना पडेगा'—इस विचार व उस घृणित एव दुखमय स्थिति का अनुभव कर के उनका शरीर ऐसा धूजने लगता और विकृत हो जाता है कि जिसे देखने वाला भी डर जाता है। इस प्रकार च्यवन के चिन्हो को देख कर और अपना मरणकाल निकट जान कर उन्हे वैसी बेचैनी होती है

कि जैसी किसी मनुष्य को अग्नि से जलने पर होती है। उस घबराहट को मिटाने मे न तो वे विमान सहायक हो सकते हैं, न वापिका और नन्दनवन आदि ही। उन्हे कही भी शाति नही मिलती। उस समय वे विलाप करते है और कहते है कि—

"हा, मेरी प्राणप्रिय देवागना! हाय मेरे विमान! हाय कल्पवृक्ष! हाय मेरी पुष्करणी वापिका! हाय, मैं इनसे बिछुड जाऊँगा। फिर इन्हे कब देख सकूँगा।

हाय! अमृत की बेल के समान और अमृतमय वाणी से आनन्दित करने वाली मेरी कान्ता, रत्न के स्तभ वाले विमान, मणिमय भूमि और रत्नमय वेदिकाएँ, अब तुम किसकी हो कर रहोगी?

हे रत्नमय पद-पक्ति युक्त एव श्रेणि-बन्ध कमलवाली पूर्ण वापिकाओ! अब तुम्हारा उपभोग कौन करेगा? हे पारिजात, सतान, हरिचन्दन और कल्पवृक्ष! क्या तुम अपने इस स्वामी को त्याग दोगे?

अरे, क्या स्त्री के गर्भ रूपी नर्क मे मुझे बरबस रहना पडेगा? और अशुचि रस का आस्वादन करते हुए उसीसे शरीर बनाना होगा?

हा, अपने कर्मो के बन्धन मे जकडा हुआ मुझे जठराग्नि रूपी अँगीठी मे पकने रूप दुःख भी सहन करना पडेगा। हाय, कहाँ तो रति-सुख की खान ऐसी ये मेरी देवागनाएँ और कहाँ अशुचि की खान एव बीभत्स ऐसी मानवी स्त्रियो का भोग?"

इस प्रकार स्वर्गीय सुखो का स्मरण करते हुए देवता, उस प्रकार वहाँ से च्यव जाते है, जिस प्रकार दीपक बुझ जाता है। इस प्रकार देवगति भी दुःख रूप है। इसलिए बुद्धिमानो का कर्त्तव्य है कि इस ससार को असार जान कर दीक्षा रूपी उपाय के द्वारा ससार का अन्त कर के मुक्ति को प्राप्त करे।

श्रोत्रियः श्वपचः स्वामी, पतिर्ब्रह्मा कृमिश्च सः।
संसारनाट्ये नटवत्, संसारी हंत चेष्टते ॥१॥
न याति कतमां योनिं कतमां वा न मुंचति।
ससारो कर्मसंबधादवक्रयकुटीमिव ॥२॥
समस्तलोकाकाशेऽपि, नानारूपैः स्वकर्मभिः।
बालाग्रमपि तन्नास्ति, यन्नस्पृष्ट शरीरिभिः ॥३॥

—इस ससार की अनेक योनियो मे परिभ्रमण करने रूप नाटक मे ससारस्थ जीव नट के समान चेष्टा करते रहते है। ऐसी ससार रूपी रगभूमि पर वेद-वेदाग का पारगामी

भी कर्मोदय से मर कर चाण्डालपने उत्पन्न हो जाता है। स्वामी मर कर सेवक और प्रजापति मर कर एक तुच्छ कीडा हो जाता है। ससारी जीव, कर्मोदय से भाडे की कुटिया के समान एक योनि छोड कर दूसरी, यो विभिन्न योनियो मे भटकते ही रहते है, एक योनि छोड कर दूसरी मे प्रवेश करते है। इस समस्त ससार मे, एक बाल के अग्रभाग पर आवे, उतना भी स्थान ऐसा नही है कि जिसे कर्म के वश हो कर इस जीव ने अनेक रूप धारण कर के, उस स्थल का स्पर्श नही किया हो। इस प्रकार ससार भावना का विचार करना चाहिये।

भगवान् ने सोलह पूर्वांग कम एक लाख पूर्व तक सयम पाला। इस प्रकार कुल तीस लाख पूर्व का आयुष्य भोग कर, मार्गशीर्ष-कृष्णा एकादशी को चित्रा-नक्षत्र मे, एक मास के सथारे से सम्मेदशिखर पर्वत पर ३०८ मुनियो के साथ सिद्ध गति को प्राप्त हुए।

प्रभु के 'सुव्रत' आदि १०७ गणधर हुए और ३३०००० साधु, ४२०००० साध्वी, २३००* चौदह पूर्वधर, १०००० अवधिज्ञानी, १०३०० मन पर्यवज्ञानी, १२००० केवलज्ञानी, १६८०० वैक्रिय लब्धिधारी, ९६०० वादलब्धि सम्पन्न, २७६००० श्रावक और ५०५००० श्राविकाएँ हुई।

---

* त्रि. श. पु च. मे चौदह पूर्वधर २२०० बताये हैं।

ठे तार्थंकर

भ न्

॥ पद् भ:जी का चरित्र सम्पू ॥

भ सुपार्श्वनाथजी

—: :—

धातकीखड के पूर्व-विदेह क्षेत्र मे क्षेमपुरी नगरी थी। नन्दीषेण उसका राजा था। उस धर्मात्मा राजा को संसार से वैराग्य हो गया और उसने अरिदमन नाम के आचार्य के समीप प्रव्रज्या स्वीकार की। सयम एव तप की उत्तम भावना मे रमण करते हुए नन्दीषेण मुनि ने तीर्थंकर नाम-कर्म को निकाचित कर लिया और आयुष्य पूर्ण कर के छठे ग्रैवेयक विमान मे देव हुए। उनका आयुष्य २८ सागरोपम का था।

काशी देश के वाराणसी नगरी मे 'प्रतिष्ठसेन' नाम का राजा राज करता था। उसकी रानी का नाम 'पृथ्वी' था। नन्दीषेण मुनि का जीव देवलोक से च्यव कर भाद्रपद-कृष्णा अष्टमी को, अनुराधा नक्षत्र मे महारानी पृथ्वी की कुक्षि मे, चौदह महास्वप्न पूर्वक उत्पन्न हुआ। ज्येष्ठ-शुक्ला द्वादशी को विशाखा-नक्षत्र मे पुत्र का जन्म हुआ। देवी-देवता और इन्द्रो ने जन्मोत्सव किया। गर्भकाल मे माता के पार्श्व (छाती और पेट के अगल-वगल का हिस्सा) वहुत ही उत्तम और सुशोभित हुए। इसलिए पुत्र का 'सुपार्श्व' नाम दिया गया। यौवनवय मे अनेक राजकुमारियो के साथ उनका विवाह हुआ। पाँच लाख पूर्व तक कुमार अवस्था मे रहने के वाद, पिता ने प्रभु को राज्य का भार दे दिया। चौदह लाख पूर्व और बीस पूर्वांग तक राज्य का सचालन करने के वाद ज्येष्ठ-कृष्णा त्रयोदशी को, अनुराधा नक्षत्र मे, वेले के तप सहित संसार का त्याग कर के पूर्ण सयमी वन गए। नौ मास तक सयम और तप की विशिष्ट प्रकार से आराधना करते हुए फाल्गुन-कृष्णा छठ को विशाखा नक्षत्र मे केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त किया। प्रभु की प्रथम धर्मदेशना इस प्रकार हुई;—

धर्मदेशना

अन्यत्व भावना

"स्त्री, पुत्र, माता, पिता, कुटुम्ब, परिवार, धन-धान्यादि और अपना शरीर, ये सब अपनी आत्मा से भिन्न एव अन्य वस्तुएँ है। मूर्ख मनुष्य, इन्हे अपना मान कर इन पर वस्तुओ के लिए पाप-कर्म करता है और भवसागर मे डूबता है। जब जीव, शरीर के साथ सलग्न होने पर भी भिन्नता रखता है, तो स्पष्ट रूप से एकदम भिन्न ऐसे कुटुम्ब और धन-धान्यादि की भिन्नता के विषय मे तो कहना ही क्या है?

जो सुज्ञ आत्मा, अपनी आत्मा को देह, कुटुम्ब और धनादि से भिन्न देखता है, उसे शोक रूपी शूल की वेदना नही होती। यह भिन्नता एक दूसरे के लक्षण की विलक्षणता से ही स्पष्ट ज्ञात होती है। आत्मा के स्वभाव और शरीर के पौदगलिक स्वभाव का विचार करने पर यह भेद 'साक्षात्' हो जाता है। देहादि पदार्थ, इन्द्रियो द्वारा ग्रहण किये जा सकते है, किन्तु आत्मा तो केवल अनुभव गोचर होती है। जब दोनो मे इस प्रकार की भिन्नता प्रत्यक्ष हो रही है, तब दोनो की अनन्यता = एकता कैसे मानी जाय?

शका—यदि आत्मा और देह भिन्न है, तो शरीर पर पडती हुई मार की पीडा आत्मा को क्यो होती है?

समाधान—शका उचित है, किन्तु पीडा उसी को होती है, जिसकी देह मे ममत्व बुद्धि है—अभेद भाव है। जिन महात्माओ को आत्मा और देह के भेद का भली प्रकार से अनुभव ज्ञान हो गया, उन्हे देह पर होते हुए प्रहारादि की वेदना नही होती+। जो ज्ञानवत आत्मा है, उसे पितृ-वियोग जन्य दुख होने पर भी पीडा नही होती, किंतु जिस अज्ञानी की पर मे ममत्व बुद्धि है, जिसे भेद-ज्ञान नही है, उसे तो एक नौकर सम्बन्धी दुख होने पर भी पीडा होती है। अनात्मीय—अन्यत्व रूप से ग्रहण किया हुआ पुत्र भी भिन्न है, किंतु आत्मीय—एकत्व रूप मे माना हुआ नौकर भी पुत्र से अधिक हो जाता है। आत्मा जितने संयोग सम्बन्धो को अपने आत्मीय रूप मे मान कर स्नेह करता है। उतने ही शोक रूपी शूल उसके हृदय मे पहुँच कर दुखदायक होते है। इसलिए जितने भी पदार्थ इस जगत् मे हैं, वे सभी आत्मा से भिन्न ही है—इस प्रकार की समझ से जिस आत्मा की अन्यत्व भेद

+ आत्मा शरीर मे कथचित् भिन्न कथचित् अभिन्न है। देह और आत्मा दूध-पानी के समान एकमेक है, अत्यत निकट है, इसलिये वेदना होती है। वेदना होने मे असातावेदनीय कर्म के उदय का योग है, इसलिये वेदना होती है।

वृद्धि हो जाती है, वह किसी भी वस्तु का वियोग होने पर तात्विक विषय मे मोह को प्राप्त नही होता। जिस प्रकार तुम्बी पर का लेप धुल जाने पर वह ऊपर उठ जाती है, उसी प्रकार अन्यत्व रूपी भेद ज्ञान से जिस आत्मा ने मोह-मल को धो डाला है, वह प्रव्रज्या को ग्रहण कर स्वल्प काल मे ही शुद्ध हो कर ससार से पार हो जाती है।

यत्रायत्वं शरीरस्य, वैसादृश्याच्छरीरिणः।
धनबन्धुसहायानां, तत्रान्यत्वं न दुर्वचम् ॥१॥
यो देहधनबन्धुभ्यो, भिन्नमात्मान मीक्षते।
क्व शोकशकुना तस्य हंतातंकः प्रतन्यते ॥२॥

—जहाँ मूर्त-अमूर्त, चेतन-जड और नित्य-अनित्यादि विसदृश्यता से, आत्मा से शरीर की भिन्नता स्वत सिद्ध है, वहाँ धन-बान्धवादि सहायको की भिन्नता बताना अत्युक्ति नही कहा जा सकता। जो सुज्ञ मनुष्य, देह, धन और बन्धुजनादि से आत्मा को भिन्न देखता है, उसे वियोगादि जन्य शोक रूपी शल्य कैसे पीडित कर सकता है ? इस प्रकार देह, गेह और स्वजनादि से आत्मा भिन्न है—ऐसा विचार करना चाहिए।

प्रभु के विदर्भ आदि ६५ गणधर हुए। तीन लाख साधु, चार लाख तीस हजार साध्वियाँ, २०३० चौदह पूर्वधर, ६००० अवधिज्ञानी, ९१५० मन पर्यवज्ञानी, ११००० केवलज्ञानी, १५३०० वैक्रिय-लब्धिधारी, ८४०० वाद-लब्धि सम्पन्न, २५७००० श्रावक और ४९३००० श्राविकाएँ हुईं।

भगवान् केवलज्ञान के बाद ग्रामानुग्राम विहार कर के भव्य जीवो को प्रतिबोध देते रहे। वे बीस पूर्वांग और नौ मास कम एक लाख पूर्व तक विचरते रहे। आयुष्यकाल निकट आने पर सम्मेदशिखर पर्वत पर पाँच सौ मुनियो के साथ, एक मास के अनशन से, फाल्गुन-कृष्णा सप्तमी को, मूल-नक्षत्र मे सिद्धगति को प्राप्त हुए। प्रभु का कुल आयु बीस लाख पूर्व का था।

।।तवें तीर्थंकर

भगवान्

॥ सुपार्श्वनाथजी का चरित्र सम्पूर्ण ॥

८ चन्द्रप्रभः स्वामी

धातकीखण्ड के प्राग्विदेह क्षेत्र मे मगलावती विजय मे 'रत्नसंचया' नाम की नगरी थी। 'पद्म' नाम के राजा वहाँ के शासक थे। वह परम प्रतापी राजा, श्रेष्ठ तत्त्ववेत्ता था और ससार मे रहते हुए भी वैराग्य युक्त था। उसने युगन्धर मुनिवर के पास दीक्षा ग्रहण की और साधना के सोपान पर चढते हुए, जिन नाम-कर्म को दृढीभूत किया और कालान्तर मे आयुष्य पूर्ण कर के वैजयत नाम के अनुत्तर विमान मे उत्पन्न हुए।

इस जम्बूद्वीप के भरत-क्षेत्र मे 'चन्द्रानना' नाम की नगरी थी। 'महासेन' नाम का नरेश वहाँ का अधिपति था। 'लक्ष्मणा' नाम की उसकी रानी थी। पद्म मुनिवर का जीव वैजयत विमान का तेतीस सागरोपम का आयु पूर्ण कर के चैत्र-कृष्णा पचमी को अनुराधा नक्षत्र मे महारानी लक्ष्मणा की कुक्षि मे उत्पन्न हुआ और पौष-कृष्णा द्वादशी को अनुराधा नक्षत्र मे जन्म हुआ। माता को चन्द्र-पान करने का दोहद होने और पुत्र की चन्द्र के समान कान्ति होने से 'चन्द्रप्रभ' नाम दिया गया। यौवन वय मे प्रभु ने राजकुमारियो के साथ विवाह किया। ढाई लाख पूर्व तक कुमार अवस्था मे रहने के बाद प्रभु का राज्याभिषेक हुआ। साढे छह लाख पूर्व और चौबीस पूर्वांग तक राज्य का सचालन किया। पौष-कृष्णा त्रयोदशी को अनुराधा नक्षत्र मे एक हजार राजाओ के साथ ससार त्याग कर पूर्ण सयमी बन गये। तीन महीने तक छद्मस्थ अवस्था मे रहने के बाद फाल्गुन-कृष्णा सप्तमी को अनुराधा नक्षत्र मे केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त किया।

भगवान् ने प्रथम समवसरण मे धर्मोपदेश दिया। यथा—

धर्मदेशना

अशुचि भावना

अनन्त क्लेश रूपी तरगो से भरा हुआ यह भवसागर, प्रति-क्षण सभी प्राणियो को ऊपर नीचे और तिरछे फेंकता रहता है। जिस प्रकार समुद्र की लहरे स्थिर नही रहती, उसी प्रकार प्राणियो का जीवन भी स्थिर नही रहता। किन्तु ऐसे अस्थिर जीवन मे भी प्राणी मूर्च्छित हो रहा है। जिस प्रकार विष्टादि अशुचि से कीड़े प्रीति करते हैं, उसी प्रकार मनुष्य भी अशुचिमय क्षणिक शरीर से स्नेह करता है। वह शरीर ही उसके लिए बन्धन रूप बन जाता है।

रस, रुधिर, मास, चर्बी, अस्थि, मज्जा, वीर्य, आँत और विष्टादि अशुचि के स्थान रूप देह मे पवित्रता कहाँ है ? नव द्वारो मे से झरते हुए दुर्गन्धमय झरनो से बिगडे हुए इस देह मे, पवित्रता का सकल्प करना, यही मोहराज की महा मस्ति है। वीर्य और रुधिर से उत्पन्न, मलिन रस से बढा हुआ और गर्भ मे जरायु से ढँका हुआ यह देह, कैसे पवित्र हो सकता है ?

माता के खाये हुए भोजनादि से उत्पन्न और रस नाडी मे हो कर आये हुए रस का पान कर के बढ़े हुए शरीर को कोई भी सुज्ञ पवित्र नही मान सकता।

दोष, धातु और मल से भरे हुए, कृमि और गिंडोले के स्थान रूप तथा रोग रूपी सर्पो ने डसे हुए शरीर को शुद्ध मानने की भूल कोई भी सुज्ञ नही कर सकता।

स्वादिष्ट अन्न-पान, क्षीर, इक्षु और घृतादि उत्तम पदार्थ भी इस शरीर मे जाने के बाद विष्टा जैसे घृणित रूप मे बदल जाते हैं। ऐसे अपवित्र शरीर को कौन शुचिभूत कहेगा ?

अनेक प्रकार के सुगन्धी द्रव्यो से किया हुआ विलेपन, तत्काल मल रूप हो जाता है। ऐसे शरीर को पवित्र कहना भूल है। मुँह मे सुगन्धित ताम्बुल चबा कर सोया हुआ मनुष्य, प्रात काल उठ कर अपने ही मुख की दुर्गन्ध से घृणा करता है। सुगन्धी पुष्प, पुष्प-माला और धूपादि भी जिस शरीर के द्वारा दुर्गन्धमय बन जाते हैं, उस शरीर को शुद्ध नही कहा जा सकता।

जिस प्रकार शराब का घड़ा दुर्गन्धमय रहता है, उसी प्रकार उच्च प्रकार के सुगन्धित तेल और उबटन से स्वच्छ कर के प्रचूर पानी मे धोया हुआ शरीर भी अपवित्र ही रहता है।

जो लोग कहते हैं कि यह शरीर मृतिका, जल, अग्नि, वायु और सूर्य की किरणो के स्नान से शुद्ध होता है, उन्होने शरीर की वास्तविकता नही समझी और चमडी को देख कर ही रीझे हुए हैं।

जिस प्रकार बुद्धिमान् मनुष्य, खारे पानी के समुद्र मे से रत्न ढूंढ कर निकालते हैं, उसी प्रकार बुद्धिमान् मनुष्यो को ऐसे दुर्गन्धमय देह से, केवल मोक्ष रूपी फल का उत्पादक ऐसा तप ही करना चाहिए। इसी से महान् सुख की प्राप्ति होती है।

रसासृग्मांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्रांत्रवर्चसां।
अशुचीनां पदं कायः, शुचित्वं तस्य तत्कुतः ॥१॥
नवस्रोतः स्रवद्विस्ररसनिःस्यंदपिच्छिले।
देहेऽपि शौचसंकल्पो, महन्मोहविजृंभितम् ॥२॥

—रस, रुधिर मास, मेद, हड्डी, मज्जा, वीर्य, अतडियाँ एव विष्ठादि अशुचि के घर रूप इस शरीर मे पवित्रता है ही कहाँ? देह के नौ द्वारो से बहता हुआ दुर्गन्धित रस और उससे लिप्त देह की पवित्रता की कल्पना करना या अभिमान करना, यह तो महामोह की चेष्टा है। इस प्रकार का विचार करने से मोह-ममत्व कम होता है।

भगवान् के 'दत्त' आदि ९३ गणधर हुए। २५०००० साधु, ३८०००० साध्वियाँ, २००० चौदह पूर्वधर, ८००० अवधिज्ञानी, ८००० मन पर्यवज्ञानी, १०००० केवली, १४००० वैक्रिय लब्धिधारी, ७६०० वादी, २५०००० श्रावक और ४९१००० श्राविकाएँ हुई।

प्रभु चौवीस पूर्वांग और तीन महिने कम एक लाख पूर्व तक तीर्थंकरपने विचरते हुए भव्य जीवो का उपकार करते रहे। फिर मोक्ष-काल निकट आने पर एक हजार मुनियो के साथ सम्मेदशिखर पर्वत पर एक मास के अनशन से भाद्रपद-कृष्णा सप्तमी को श्रवण-नक्षत्र मे सिद्ध गति को प्राप्त हुए। प्रभु का कुल आयु दस लाख पूर्व का था।

आठवें तीर्थंकर
भगवान्
॥ चन्द्रप्रभः स्वामी । चरित्र सम्पूर्ण ॥

भ सुविधिनाथजी

पुष्करवर दीपार्द्ध के पूर्व-विदेह मे पुष्कलावती विजय है। उस विजय में 'पुंडरिकिनी' नाम की नगरी थी। 'महापद्म' वहाँ का शासक था। वह बडा ही धर्मात्मा एव हलुकर्मी था। उसने ससार का त्याग कर के जगनन्द मुनिराज के पास सर्वविरति स्वीकार कर ली। साधना मे उन्नत होते हुए उन्होने जिन नामकर्म का बन्ध कर लिया और आयुष्य पूर्ण कर के वैजयंत नाम के अनुत्तर विमान मे देव रूप मे उत्पन्न हुए।

इस जम्बूद्वीप के दक्षिण भरत मे 'काकदी' नाम की नगरी थी। उस भव्य नगरी का शासन महाराजा 'सुग्रीव' करते थे। महारानी 'रामा' उनकी प्रिय पत्नी थी। वैजयत विमान मे ३३ सागरोपम का आयु पूर्ण कर के महापद्म देव, फाल्गुन-कृष्णा नौमी को मूल-नक्षत्र मे रामादेवी की कुक्षि मे उत्पन्न हुआ। चौदह महास्वप्न देखे। मार्गशीर्ष-कृष्णा पचमी को मूल-नक्षत्र मे पुत्र का जन्म हुआ। देव-देवियो और इन्द्रो ने जन्मोत्सव किया। गर्भावस्था मे, गर्भ के प्रभाव से रामादेवी सभी प्रकार के कार्यों को सम्पन्न करने की विधि मे कुशल हुई। इसलिए पुत्र का नाम 'सुविधि' रखा और पुष्प के दोहद से पुत्र के दांत आये, इसलिए दूसरा नाम 'पुष्पदत' हुआ। यौवन वय मे राजकुमारियो के साथ लग्न किया। पचास हजार पूर्व तक कुमार अवस्था मे रहे। फिर पिता ने आपको राज्याधिकार प्रदान किया। पचास हजार पूर्व और अट्ठाईस पूर्वांग तक राज्य का शासन किया। इसके बाद मार्गशीर्ष-षष्ठी के दिन मूल-नक्षत्र मे बेले के तप सहित सर्वत्यागी बन गए। आपके साथ एक हजार राजाओ ने भी प्रव्रज्या स्वीकार की। चार मास तक प्रभु छद्मस्थ रहे और कार्तिक-शुक्ला

तृतीया के दिन मूल-नक्षत्र मे सर्वज्ञ-सर्वदर्शी हो कर तीर्थंकर नाम-कर्म को पूर्ण रूप से सफल किया ।

धर्मदेशना

आस्रव वना

भगवान् का प्रथम उपदेश इस प्रकार हुआ—

यह ससार अनन्त दु खो के समूह का भण्डार है । जिस प्रकार विष की उत्पत्ति का स्थान विषधर (सर्प) है, उसी प्रकार दु खमय ससार की उत्पत्ति का कारण 'आस्रव' है ।

आस्रव का अर्थ है—कर्म पुदगलो का आत्मा मे प्रवेश करने का कारण । आत्मा मे कर्म के प्रवेश करने का मार्ग ।

जीवो के मन वचन और काया से जो क्रिया होती है, वह 'योग' कहलाता है । ये योग ही आत्मा मे शुभाशुभ कर्म को आस्रवते (लाते) है । इसी से यह 'आस्रव' कहलाता है । मैत्री आदि शुभ भावना से वासित जीव, शुभ कर्म का वन्ध करता है और कषाय तथा विपयो से आक्रान्त हुए चित्त से आत्मा, अशुभ कर्म बांधता है । श्रुतज्ञान के आश्रय से बोला हुआ सत्य वचन, शुभ कर्मो का कारण है । इसके विपरीत वचन अशुभ कर्मों का सर्जक है । बुरे कामो से रोक कर अच्छे कार्यों मे लगाये हुए शरीर से, शुभ कर्म की उत्पत्ति होती है और आरम्भ तथा हिंसादि सावद्य कार्यों मे लगी हुई शारीरिक प्रवृत्ति से बुरे—दु ख-दायक कर्मो का आस्रव होता है ।

विपय, कपाय, योग, प्रमाद, अविरति, मिथ्यात्व तथा आर्त्त और रौद्र ध्यान—ये अशुभ आस्रव के कारण हैं ।

आस्रव के द्वारा आत्मा मे प्रवेश करने वाले कर्मों के ज्ञानावरणादि, आठ भेद हैं ।

ज्ञान और दर्शन के विपय मे, ज्ञानी व दर्शनी के प्रति और ज्ञान दर्शन उत्पन्न करने के कारणो मे विघ्न (बाधा) खडी करना, निन्हता करना, पिशुनता एव आशातना करना, उनकी घात करना और मात्सर्यता करना—**ये ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय** कर्म बांधने के हेतुभूत आस्रव हैं ।

देव की आराधना, गुरुसेवा, पात्र-दान, दया, क्षमा, सरागसंयम, देशविरति, अकाम-निर्जरा, शौच (भावविशुद्धि, निरतिचार व्रत पालनादि) और बालतप—ये **सातावेदनीय** कर्म बाँधने के आस्रव हैं।

स्व, पर अथवा स्वपर (उभय) को दुःख, शोक, वध, ताप, आक्रन्द और विलाप अथवा पश्चात्ताप उत्पन्न करना या करवाना—ये **असातावेदनीय** कर्म बाँधने के कारण हैं।

वीतराग भगवंत के, शास्त्र के, संघ के, धर्म के और सभी देवताओं के अवर्णवाद बोलना (बुराई करना—निन्दा करना) मिथ्यात्व के तीव्र परिणाम करना, सर्वज्ञ भगवान् और सिद्ध भगवान् का निन्हव बनना (उनमे देवत्व नहीं मानना, उनके विपरीत बोलना, उनके गुणो का अपलाप करना आदि) धार्मिक मनुष्यों को दोष देना, उनकी निन्दा करना, उन्मार्ग का उपदेश करना, अनर्थ का आग्रह करना, असंयमी का आदर सत्कार एवं पूजा करना, बिना विचारे कार्य करना और गुरु आदि की अवज्ञा करना इत्यादि कुकृत्यों से **दर्शनमोहनीय-कर्म** का आस्रव होता है।

कषाय के उदय से आत्मा के तीव्र परिणाम होना—**चारित्र-मोहनीय** कर्म बाँधने का कारण है।

किसी की हँसी करना, सकाम उपहास (स्त्रियादि से कामोत्पादक हँसी करना) विशेष हँसने की आदत, वाचालता और दीनता बताने की प्रवृत्ति—यह **हास्य-मोहनीय** कर्म का आस्रव है।

देश-विदेश मे भ्रमण कर नये-नये दृश्य देखने की इच्छा, अनेक प्रकार के खेल खेलना और दूसरों के मन को अपनी ओर आकर्षित करना—वशीभूत करना, ये **रति-मोहनीय** कर्म का आस्रव है।

असूया=घृणा (गुणो को भी दोष रूप मे देखना) पाप करने की प्रकृति, दूसरे की सुख-शान्ति नष्ट करना और किसी का अनिष्ट होता हुआ देख कर खुश होना, यह **अरतिमोहनीय** के आस्रव हैं।

स्वयं अपने मन मे भय को स्थान देना, दूसरों को भयभीत करना, त्रास देना और निर्दय बनना—**भय-मोहनीय** कर्म का आस्रव है।

स्वयं शोक उत्पन्न कर के चिन्ता करना, दूसरों के हृदय मे शोक एवं चिन्ता उत्पन्न करना और रुदन करने मे अति आसक्ति रखना, ये **शोक-मोहनीय** कर्म के आस्रव हैं।

चतुर्विध सघ के अवर्णवाद बोलना, तिरस्कार करना और सदाचार की निंदा करना, यह—**जुगुप्सा-मोहनीय** के आस्रव हैं।

ईर्षा, विषयो मे लोलुपता, मृषावाद, अतिवक्रता और परस्त्री-गमन मे आसक्ति—ये **स्त्रीवेद** बन्ध के आस्रव हैं।

स्वस्त्री मे सतोष, ईर्षा रहित—भद्र स्वभाव, कपायो की मन्दता, प्रकृति की सरलता और सदाचार का पालन—ये **पुरुषवेद** के आस्रव है।

स्त्री और पुरुष, दोनो की चुम्बनादि अनग-सेवन, उग्र कषाय, तीव्र कामेच्छा, पाखडीपन और स्त्री के व्रत का भग करना—ये **नपुंसक वेद** बन्धन के आस्रव है।

साधुओ की निन्दा करना, धर्मिष्ठ लोगो के लिए बाधक बनना, जो मद्य-मासादि के सेवन करने वाले हैं, उनके सामने मद्य-मासादि भक्षण की प्रशसा करना, देश-विरत श्रावक के लिए वार-वार अन्तराय उत्पन्न करना, अविरत हो कर स्त्री आदि के गुणो का व्याख्यान करना, चारित्र को दूषित करना और दूसरो के कषाय तथा नोकषाय की उदीरणा करना—ये **चारित्र-मोहनीय** कर्म बाँधने के मुख्य आस्रव है।

पचेन्द्रिय जीवो का वध, महान् आरम्भ और महा परिग्रह, अनुकम्पा रहित होना, मास-भक्षण, स्थायी वैर-भाव, रौद्रध्यान, अनन्तानुबन्धी कषाय, कृष्ण, नील और कापोत लेश्या, असत्य-भाषण, परद्रव्य हरण, वार-वार मैथुन सेवन और इन्द्रियो के वशीभूत हो जाना, ये **नरक-गति के आयुष्य** कर्म के आस्रव है।

उन्मार्ग का उपदेश, सन्मार्ग का नाश गुप्ततापूर्वक धन का रक्षण, आर्त्तध्यान, शल्ययुक्त हृदय, माया (कपट) आरम्भ-परिग्रह, शील एव व्रत को दूषित करना, नील और कापोत लेश्या और अप्रत्याख्यानी कषाय—ये **तिर्यंच-गति का आयुष्य** बाँधने के आस्रव है।

अल्प परिग्रह तथा अल्प आरम्भ, स्वभाव की कोमलता और सरलता, कापोत और पीत लेश्या (तेजो लेश्या) धर्मध्यान मे अनुराग, प्रत्याख्यानी कषाय, मध्यम परिणाम, दान देने की रुचि, देव और गुरु की सेवा, पूर्वालाप (आने वाले का 'पधारो' आदि मे पहले से आदरयुक्त बोलना) प्रियालाप, प्रेमपूर्वक समझाना, लोक-समूह में मध्यस्थता—ये **मनुष्य-गति आयुष्य** बन्धन के आस्रव हैं।

सराग-सयम, देशसयम, अकामनिर्जरा, कल्याणमित्र (सुगुरु) का परिचय, धर्म

श्रवण करने की रुचि, पात्र-दान, तप, श्रद्धा, ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप तीन रत्नो की आराधना, मृत्यु के समय तेजो और पद्म लेश्या का परिणाम, बालतप, अग्नि, जल आदि साधनो से मृत्यु पाना, फाँसी खा कर मरना और अव्यक्त समभाव—ये **देवगति का आयुष्य** बाँधने के आस्रव हैं।

मन, वचन और काया की वक्रता, दूसरो को ठगना, कपटाई करना, मिथ्यात्व, पशुन्य, मानसिक चञ्चलता, नकली सिक्का, चांदी, सोना आदि बना कर ठगना, झूठी साक्षी देना, वस्तु के वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श को बदल कर धोखा देना, किसी जीव के अंग-उपाग काटना और कटवाना, यन्त्रादि की क्रिया, खोटे तोल-माप आदि का उपयोग कर के ठगाई करना, स्वात्म-प्रशसा, पर-निन्दा, हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य, महा आरम्भ, महा परिग्रह, कठोर-वचन, तुच्छ-भाषण, उज्ज्वल वेशादि का अभिमान करना, वाचालता, आक्रोश करना, किसी के सौभाग्य को मिटाने का प्रयत्न, कामण (किसी को हानि पहुँचाने, दुःखी करने या मारने के लिए मन्त्र-तन्त्रादि करना) त्यागीपन का दम्भ कर के उन्मार्ग गमन करना, साधु आदि हो कर दूसरो के मन मे कौतुक उत्पन्न करना, वेश्यादि को अलकारादि देना, दावानल सुलगाना, चोरी करना, तीव्र कषाय, अगारादि १५ कर्मादान की क्रिया करना—ये सभी **अशुभ नामकर्म** के आस्रव हैं। इनसे विपरीत क्रियाएँ—ससार से भीरुता, प्रमाद का नाश, सद्भाव की अर्पणता, क्षान्ति आदि गुण, धार्मिक पुरुषो के दर्शन, सेवा और सत्कार, ये **शुभ नाम** यावत् **तीर्थंकर नामकर्म** बन्ध के आस्रव हैं।

१ अरिहत २ सिद्ध ३ गुरु ४ स्थविर ५ बहुश्रुत ६ गच्छ ७ श्रुतज्ञान ८ तपस्वियो की भक्ति ९ आवश्यकादि क्रिया १० चारित्र ११ ब्रह्मचर्य पालन मे अप्रमाद १२ विनय १३ ज्ञानाभ्यास १४ तप १५ त्याग (दान) १६ शुभध्यान १७ प्रवचन-प्रभावना १८ चतुर्विध सघ मे समाधि उत्पन्न करना तथा साधुओ की वैयावृत्य करना १९ अपूर्वज्ञान का ग्रहण करना और २० सम्यग्दर्शन की शुद्धि, * इन बीस स्थानको का प्रथम और चरम तीर्थंकर ने स्पर्श किया है और अन्य तीर्थंकरो ने इनमे से एक, दो अथवा तीन स्थानको का स्पर्श किया है।

पर-निन्दा, अवज्ञा, उपहास, सद्गुणो का लोप, सत् अथवा असत् दोषो का आरोपण, स्वात्म-प्रशसा, अपने सत् असत् गुणो का प्रचार, अपने दोषो को ढकना और जाति आदि

* इन बीस स्थानको के क्रम मे भी अन्तर है और प्रकार भेद से नामो मे भी अन्तर है।

का मद (अभिमान) करना—ये **नीच-गोत्र कर्म** के आस्रव है। नीच गोत्र मे बताये हुए दोषो से विपरीत गुणो—गर्व रहितता और मन, वचन और काया से विनय करना—ये **उच्च गोत्र** के आस्रव हैं।

दान, लाभ, वीर्य, भोग तथा उपभोग मे किसी कारण से या विना कारण ही किसी को विघ्न करना—बाधक बनना, ये **अन्तराय** कर्म के आस्रव हैं।

इस प्रकार आस्रव से उत्पन्न, इस अपार ससार रूपी समुद्र को दीक्षा रूपी जहाज के द्वारा तिर कर पार हो जाना बुद्धिमानो का कर्तव्य है।

मनोवाक्काय कर्माणि, योगाः कर्म शुभाशुभं।
यदाश्रवंति जंतूनामाश्रवास्तेन कीर्तिताः ॥१॥
मैत्र्यादिवासित चेत, कर्म सूते शुभात्मकम्।
कषायविषयाक्रान्तं, वितनोत्यशुभं पुनः ॥२॥
शुभार्जनाय सुतथ्यं, श्रुतज्ञानाश्रितं वचः।
विपरीतं पुनर्ज्ञेयमशुभार्जन हेतवे ॥३॥
शरीरेण सुगुप्तेन, शरीरी चिनुते शुभम्।
सततारम्भिणा जतुघातकेनाशुभं पुनः ॥४॥
कषायविषयायोगाः प्रमादाविरति तथा।
मिथ्यात्वमार्त्तरौद्रे चेत्यशुभ प्रति हेतवः ॥५॥

—मन, वचन और काया का व्यापार, 'योग' कहलाता है। इन योगो के द्वारा प्राणियो मे शुभाशुभ कर्मो का आगमन होता है। शुभाशुभ कर्म के आगमन को ही 'आस्रव' कहते हैं।

जब मन, मैत्री प्रमोदादि भावना से शुभ परिणाम युक्त होता है, तब शुभ कर्म की उत्पत्ति करता है और क्रोधादि कषाय युक्त और इन्द्रियो के विषयो से आक्रान्त होता है, तब अशुभ कर्म का सञ्चय करता है।

श्रुतज्ञान के आश्रय से बोला हुआ सत्य वचन, शुभ कर्म के आस्रव का कारण होता है। इसके विपरीत वचन प्रवृत्ति से, अशुभ कर्म के आस्रव का कारण होता है।

शरीर को बुरी प्रवृत्ति मे भली प्रकार से रोक कर, धार्मिक प्रवृत्ति मे लगाने से आत्मा शुभकर्म का आस्रव करता है और जीव-घातादि अशुभ कार्यो मे निरन्तर लगाये

रहने से अशुभ कर्म का आगमन होता है।

क्रोधादि कषाय, इन्द्रियो के विषय, तीन योग, प्रमाद, अव्रत, मिथ्यात्व, आर्त्त और रौद्र ध्यान आदि अशुभ कर्मो के आस्रव के कारण हैं। इन अशुभ कर्मो से पीछे हटना, यह आस्रव भावना का हेतु है।

भगवान् के 'वराह' आदि ८८ गणधर हुए। २००००० साधु, १२०००० साध्वियें, ८४०० अवधिज्ञानी, १५०० चौदह पूर्वधर, ७५०० मन पर्यवज्ञानी, ७५०० केवलज्ञानी, १३००० वैक्रिय-लब्धि वाले, ६००० वादलब्धि वाले, २२९००० श्रावक और ४७२००० श्राविकाएँ हुई।

आयुष्य-काल निकट आने पर प्रभु सम्मेदशिखर पर्वत पर एक हजार मुनियो के साथ पधारे। एक मास का अनशन हुआ और कार्तिक-कृष्णा नौमी को मूल-नक्षत्र मे, अट्ठाइस पूर्वांग और चार मास कम एक लाख पूर्व तक तीर्थंकर पद भोग कर मोक्ष पधारे। प्रभु का कुल आयु दो लाख पूर्व का था।

धर्म-विच्छेद और असंयती-पूजा

प्रभु के निर्वाण के बाद कुछ काल तक तो धर्मशासन चलता रहा, किन्तु बाद मे हुडावसर्पिणी काल के दोष से श्रमण-धर्म का विच्छेद हो गया। एक भी साधु नही रहा। लोग, वृद्ध श्रावको से धर्म का स्वरूप जानने लगे। श्रावक ही धर्म सुनाते, तब श्रोतागण श्रावको की अर्थ-पूजा करने लगे। वे श्रावक भी अर्थ-पूजा के लोभी बन गए। उन्होने नये-नये शास्त्र रचे और दान के फल का महत्व बढा-चढा कर बताने लगे। फिर वे पृथ्वी-दान, लोहदान, तिलदान, स्वर्णदान, गृहदान, गोदान, अश्वदान, गजदान, शय्यादान और कन्यादान आदि का प्रचार कर के वैसा दान ग्रहण करने लगे। वे अपने को दान ग्रहण करने योग्य महापात्र बतला कर और दूसरो को कुपात्र कह कर निन्दा करने लगे। वे स्वय लोगो के गुरु बन गए। इस प्रकार भ० सुविधिनाथजी का तीर्थ विच्छेद हो कर असयत-अविरत की पूजा होने लगी।

नौवें तीर्थंकर
भगवान्
॥ सुविधिनाथजी का चरित्र सम्पूर्ण ॥

भ० शीतलनाथजी

पुष्करवर द्वीपार्द्ध के पूर्व महाविदेह के वज्र नाम के विजय मे सुसीमा नाम की नगरी थी। पद्मोत्तर नाम के नरेश वहाँ के स्वामी थे। उन्होने ससार से विरक्त हो कर त्रिस्ताध नाम के आचार्य के समीप दीक्षा अगीकार की और चारित्र की आराधना करते हुए तीर्थकर नाम-कर्म का उपार्जन किया। आयुष्य पूर्ण कर प्राणत नाम के दसवे स्वर्ग मे देव रूप मे उत्पन्न हुए।

इस जम्बूद्वीप के भरत-क्षेत्र मे 'भद्दिलपुर' नगर था। 'दृढरथ' नाम के महाराज वहाँ के शासक थे। उनकी महारानी का नाम 'नदादेवी' था। पद्मोत्तर मुनिराज का जीव, प्राणत देवलोक का बीस सागरोपम प्रमाण आयुष्य पूर्ण कर के वैशाख-कृष्णा छठ को पूर्वाषाढा नक्षत्र मे नन्दादेवी की कुक्षि मे उत्पन्न हुआ। माघ-कृष्णा द्वादशी को पूर्वाषाढा नक्षत्र मे उनका जन्म हुआ। गर्भकाल मे महाराजा का शरीर किसी रोग के कारण तप्त हो गया था, किन्तु महारानी के स्पर्श से सारी तपन मिट कर शीतलता व्याप गई। इसे गर्भस्थ जीव का प्रभाव मान कर पुत्र का नाम 'शीतलनाथ' रखा गया। यौवनवय मे कुमार का विवाह किया गया। श्री शीतलनाथजी पच्चीस हजार पूर्व तक कुमार अवस्था मे रहे। महाराजा दृढरथ ने अपना राज्य-भार शीतलनाथजी को दिया। आपने पचास हजार पूर्व तक राज्य-भार वहन किया। इसके बाद माघ-कृष्णा द्वादशी को पूर्वाषाढा नक्षत्र मे एक हजार राजाओं के साथ ससार का त्याग कर के सयम साधना मे तत्पर हो गए। तीन महीने तक प्रभु छद्मस्थ रह कर चारित्र का विशुद्ध रीति से पालन करते रहे। पौष मास के

कृष्ण-पक्ष की चतुर्दशी को पूर्वाषाढा नक्षत्र मे घातीकर्मों का क्षय कर के केवलज्ञान-केवल-दर्शन प्राप्त किया। इन्द्रादि देवो ने केवल-महोत्सव किया।

धर्मदेशना

संवर भावना

केवलज्ञान प्राप्त करने के बाद भगवान् ने प्रथम धर्मोपदेश मे फरमाया—

"इस ससार मे सभी पौद्गलिक पदार्थ, विविध प्रकार के दुख के कारण है और क्षणिक है। पौद्गलिक-रुचि ही आस्रव की मूल और दुख की सर्जक है और आस्रव का निरोध करना 'संवर' है। सवर अनन्त सुखो के भण्डार रूप मोक्ष को प्राप्त करने का साधन है।

सवर दो प्रकार का है—१ द्रव्य सवर और २ भाव सवर। जिससे कर्म-पुद्गलो का ग्रहण रुके, वह द्रव्य-सवर है और जिससे ससार की हेतु ऐसी परिणति और क्रिया का त्याग हो, वह भाव-सवर है। जिन-जिन उपायो से जिस-जिस आस्रव का निरोध हो, उस आस्रव की रोक के लिए बुद्धिमानो को वैसे ही उपाय करना चाहिये। सवर धर्म के वे उपाय इस प्रकार हैं—

क्षमा—सहनशीलता से क्रोध के आस्रव को रोकना चाहिए। कोमलता (नम्रता) से मान का, सरलता से माया का और निस्पृहता से लोभ का। इस प्रकार चार प्रकार की सवरमय साधना से, ससार के सब से बडे आस्रव रुक जाते है।

बुद्धिशाली मनुष्य का कर्तव्य है कि असयम से उन्मत्त बने हुए, विष के समान विषयो का, अखण्ड सयम के द्वारा निरोध करे। मन वचन और काया के योग जन्य आस्रव को, तीन गुप्तियो के अकुश से वश मे करना चाहिए।

मद्य एव विषय-कषायादि प्रमाद आस्रव का अप्रमत्त भाव से संवरण करना और सभी प्रकार के सावद्य-योग के त्याग के द्वारा अविरति को रोक कर विरति रूपी सवर की आराधना करनी चाहिए।

सवर की साधना करने वाले को सर्व-प्रथम सम्यग्दर्शन के द्वारा मिथ्यात्व के महान् आस्रव को बन्द कर देना चाहिए।

चित्त की उत्तमता, पवित्रता एव शुभ ध्यान मे स्थिरता के द्वारा आर्त्त और रौद्र ध्यान पर विजय पाना चाहिए।

जिस प्रकार अनेक द्वार वाले भवन के सभी द्वार खुले रहे, तो उसमें धूल अवश्य ही घुस जाती है और इस प्रकार घुसी हुई धूल, तेल आदि की चिकास के सयोग से चिपक कर तन्मय हो जाती है। यदि घर के सभी द्वार वन्द रहे, तो धूल घुसने का अवसर ही नही आवे। उसी प्रकार आत्मा मे कर्म-पुद्गल के प्रवेश करने के सभी द्वारो को बद कर दिया जाय, तो कर्म का आना ही रुक जाय।

जिस प्रकार किसी सरोवर मे पानी आने के सभी नाले खुल्ले रहे, तो उसमे चारो ओर से पानी आ कर इकट्ठा होता जाता है और नाले बन्द कर देने पर पानी आना बन्द हो जाता है। फिर उसमे वाहर का पानी नही आ सकता। उसी प्रकार अविरति रूपी आस्रव द्वार वन्द कर देने से आत्मा मे कर्मों की आवक रुक जाती है।

जिस प्रकार किसी जहाज के मध्य मे छिद्र हो गये हो, तो उन छिद्रो मे से जहाज मे पानी भरता रहता है और भरते-भरते जहाज के डूब जाने की सम्भावना रहती है और छिद्र वन्द कर देने से पानी का आगमन रुक जाता है। फिर जहाज को कोई खतरा नही रहता। इसी प्रकार योगादि आस्रव द्वारो को सभी प्रकार से वन्द कर दिया जाय, तो सवर से सुशोभित बने हुए चारित्रात्मा मे कर्म-द्रव्य का प्रवेश नही हो सकता।

आस्रव के निरोध के उपाय को ही 'सवर' कहते है और सवर के क्षमा आदि अनेक भेद हैं। गुणस्थानो मे चढते-चढते जिन आस्रव द्वारो का निरोध होता है, उन नामो वाले सवर की प्राप्ति होती है। अविरत सम्यग्दृष्टि मे मिथ्यात्व का उदय रुक जाने से सम्यक्त्व सवर की प्राप्ति होती है। देशविरति आदि गुणस्थानो मे अविरति का (विरति) सवर होता है। अप्रमत्तादि गुणस्थानो मे प्रमाद का सवरण होता है। उपशात-मोह और क्षीण मोह गुणस्थानो मे कषाय का सवरण होता है और अयोगी-केवली नाम के चौदहवे गुणस्थान मे पूर्णरूप से योग-सवर होता है।

जिस प्रकार जहाज का खिवैया, छिद्र-रहित जहाज के योग से, समुद्र को पार कर जाता है, उसी प्रकार पवित्र भावना और सुबुद्धि का स्वामी, उपरोक्त क्रम से पूर्ण सवरवान् हो कर ससार-समुद्र के पार पहुँच कर परम सुखी वन जाता है।

"सर्वेषामाश्रवाणां तु, निरोध. संवर. स्मृतः।
स पुनर्भिद्यते द्वेधा, द्रव्य-भावविभेदतः ॥१॥

य: कर्मपुद्गलादानच्छेद: स द्रव्य-संवर: ।
भवहेतु क्रियात्याग: स पुनर्भाव-संवर: ॥२॥
"येन-येनह्युपायेन रुध्यते यो य आश्रव: ।
तस्य-तस्य निरोधाय, स स योज्यो मनीषिभि: ॥३॥
क्षमया मृदुभावेन, ऋजुत्वेनाप्यनीहया ।
क्रोधं मानं तथां मायां, लोभं रुंध्याद्यथाक्रमम् ॥४॥
असंयमकृतोत्सेकान्, विषयान् विषसंनिभान् ।
निराकुर्यादखंडेन संयमेन महामति: ॥५॥
त्रिसृभिर्गुप्तिभिर्योगान् प्रमादं चाप्रमादत: ।
सावद्ययोगहानेनाविरतिं चापि साधयेत्: ॥६॥
सद्दर्शनेन मिथ्यात्वं, शुभस्थैर्येण चेतस: ।
विजयेत्तार्तरौद्रे च, संवरार्थं कृतोद्यम: ॥७॥

इन सात श्लोको मे इस देशना का सार आ गया है । संवर के द्वारा सभी प्रकार के अशुभ कर्मो के, आत्मा मे प्रवेश करने के द्वार बन्द किये जाते हैं । संवर उस फौलादी कवच का नाम है, जिसके द्वारा आत्म-सम्राट की पूर्ण रूप से रक्षा होती है । संवर रूपी रक्षक के सद्भाव मे विषय-कषायादि चोर, आत्मा के ज्ञानादि गुणो और सुख-शान्ति नही चुरा सकते ।

संवर के व्यवहार दृष्टि मे २० भेद इस प्रकार हैं—

१ मिथ्यात्व आस्रव को रोक कर 'सम्यक्त्व' गुण की रक्षा करना, इसी प्रकार २ विरति ३ अप्रमत्तता ४ कषाय त्याग ५ अशुभ योगो का त्याग ६ प्राणातिपात विरमण ७ मृषावाद विरमण ८ अदत्तादान विरमण ९ मैथुन त्याग १० परिग्रह त्याग ११ श्रोतेन्द्रिय संवर १२ चक्षुइन्द्रिय संवर १३ घ्राणेन्द्रिय संवर १४ रसनेन्द्रिय निरोध १५ स्पर्शनेन्द्रिय संवर १६ मन संवर १७ वचन संवर १८ काय संवर १९ भण्डोपकरण उठाते-रखने अयतना मे होने वाले आस्रव का निरोध और २० सूचि-कुशाग्र मात्र लेने रखने मे सावधानी रखना ।

दूसरी अपेक्षा से संवर के ५७ भेद इस प्रकार हैं—

५ पांच समिति ६–८ तीन गुप्ति ९–३० बाईस परीषह सहन करना ३१–४० क्षमादि दस प्रकार का यतिधर्म ४१–५२ अनित्यादि बारह भावना और ५३–५७ सामा-

यिकादि पाँच चारित्र ।

संवर का दूसरा नाम 'निवृत्ति' भी है। निवृत्ति के द्वारा आत्मा, अनन्त असीम पौद्गलिक रुचि को छोड़ कर—निवृत्त हो कर अपने-आप मे स्थिर होता है। स्थिरता की वृद्धि के साथ गुणस्थान की वृद्धि होती है और जब पूर्ण स्थिरता हो जाती है, तब आत्मा मुक्त हो कर शाश्वत पद को प्राप्त कर लेती है। धर्म का मूल आधार ही संवर है। संवर रूपी फौलादी रक्षा-कवच को धारण करने वाला आत्म-सम्राट, पूर्ण रूप से सुरक्षित रहता है। उस पर मोहरूपी महाशत्रु का आक्रमण सफल नही हो सकता। संवरवान् आत्मा, मोह महाशत्रु पर पूर्ण विजय प्राप्त कर के धर्म-चक्रवर्तीपद प्राप्त कर ईश्वर—जिनेश्वर बन जाता है। वह शाश्वत सुखो को प्राप्त कर लेता है।

प्रभु की प्रथम देशना मे अनेक भव्यात्माओ ने सर्वविरतिरूप श्रमण-धर्म स्वीकार किया और अनेक देश-विरत श्रावक बने। प्रभु के 'आनन्द' आदि ८१ गणधर हुए। प्रभु तीन मास कम पचीस हजार पूर्व तक पृथ्वीतल पर विचर कर और भव्य जीवो को प्रतिबोध दे कर मोक्षमार्ग मे लगाते रहे। प्रभु के धर्मोपदेश से प्रेरित हो कर एक लाख पुरुषो ने श्रमण-धर्म स्वीकार किया। १००००६ ‡ साध्वियाँ हुई। १४०० चौदह पूर्वधारी, ७२०० अवधिज्ञानी, ७५०० मनःपर्यवज्ञानी, ७००० केवलज्ञानी, १२००० वैक्रिय-लब्धि वाले, ५८०० वाद-लब्धि वाले, २८९००० श्रावक और ४५८००० श्राविकाएँ हुई।

मोक्ष-काल निकट आने पर प्रभु एक हजार मुनियो के साथ सम्मेदशिखर पर्वत पर पधारे और एक मास का संथारा किया। वैशाख-कृष्णा द्वितिया तिथि को पूर्वाषाढा नक्षत्र मे प्रभु परम सिद्धि को प्राप्त हुए। प्रभु का कुल आयुष्य एक लाख पूर्व का था।

---

‡ त्रि श पु च मे १०६००० लिखी है।

दसवें तीर्थंकर

भगवान्

शीतलनाथजी का चरित्र सम्पूर्ण

भ श्रेयांसनाथजी

पुष्करवर दीपार्द्ध के 'कच्छ' नाम के विजय मे 'क्षेमा' नाम की एक नगरी थी। 'नलिनिगुल्म' नाम का राजा वहाँ का अधिपति था। उसके मन्त्री वडे कुशल और योग्य थे। उसका धन-भण्डार भरपूर था। हाथी, घोडे और सेना विशाल तथा शक्तिशाली थी। इस प्रकार धन, सम्पत्ति, वल और प्रताप मे वढ-चढ कर होने पर भी नरेश, धन, यौवन और लक्ष्मी को असार मान कर अति लुब्ध नही हुआ था। कामभोग के प्रति उसकी उदासीनता वढ रही थी। अत मे उन्होने राजपाट छोड कर वज्रदत्त मुनि के समीप निर्ग्रंथ-प्रव्रज्या स्वीकार कर ली और उग्र साधना तथा तप मे आत्मा को पवित्र करते हुए तीर्थंकर नाम-कर्म का वन्ध कर लिया। प्रशस्त ध्यान युक्त काल कर के महाशुक्र नाम के सातवे देवलोक मे उत्पन्न हुए।

इस जम्बूद्वीप के भरत-क्षेत्र मे सिंहपुर नाम का एक समृद्ध नगर था। 'विष्णुराज' नरेश वहाँ के अधिपति थे। उनकी रानी का नाम भी 'विष्णु' था। देवलोक से नलिनि-गुल्म मुनि का जीव अपना उत्कृष्ट आयु पूर्ण कर के विष्णुदेवी की कुक्षि मे उत्पन्न हुआ। विष्णुदेवी ने चौदह महा स्वप्न देखे। भाद्रपद-कृष्णा द्वादशी को 'श्रवण' नक्षत्र मे पुत्र का जन्म हुआ। श्रेयस्कारी प्रभाव के कारण माता-पिता ने 'श्रेयांस' नाम दिया। यौवनवय मे राजकुमारियो के साथ लग्न किये। २१००००० वर्ष तक कुमार-पद पर रह कर, पिता द्वारा प्रदत्त राज्य के अधिकारी हुए। ४२००००० वर्षो तक राज किया। इसके वाद विरक्त हो कर वर्षीदान दिया और फाल्गुन-कृष्णा १३ के दिन श्रवण-नक्षत्र मे, बेले के तप के साथ प्रव्रज्या स्वीकार की। प्रभु का प्रथम पारणा सिद्धार्थ नगर के नन्द राजा के यहाँ परमान्न से हुआ। पाँच दिव्य प्रकट हुए।

भ० श्रेयासनाथजी दीक्षा लेने के दो माह तक छद्मस्थ अवस्था मे विचरे। फिर वे सहस्राम्र वन मे पधारे। वहाँ वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ रहे हुए और शुक्ल ध्यान के दूसरे चरण के अन्त मे वर्धमान परिणाम से रहे हुए प्रभु ने मोहनीय कर्म को समूल नष्ट कर दिया। उसके बाद एक साथ ही ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म को नष्ट किया। इन चारो घाती-कर्मों को नष्ट कर के माघ कृष्णा अमावस्या के दिन, चन्द्र के श्रवण नक्षत्र मे आने पर, बेले के तप के साथ प्रभु को केवल-ज्ञान और केवल-दर्शन की प्राप्ति हुई। वे सर्वज्ञ-सर्वदर्शी हो गए। इन्द्रादि देवो ने प्रभु का केवल महोत्सव किया।

धर्मदेशना

निर्जरा भावना

भगवान् ने अपनी देशना मे फरमाया कि—

"स्वयभूरमण समुद्र' सब से बडा है, किन्तु ससार-समुद्र तो उससे भी अधिक बडा है। इसमे कर्म रूपी उर्मियो के कारण जीव कभी ऊँचा उठ जाता है, तो कभी नीचे गिर जाता है और कभी तिरछा चला जाता है। कभी देव बन जाता है, कभी नारक और कभी निगोद का क्षुद्रतम प्राणी। इस प्रकार कर्म से प्रेरित जीव, विविध अवस्थाओ मे परिवर्तित होता रहता है। जिस प्रकार वायु से स्वेद-बिन्दु तथा औषधी से रस झर जाता है, उसी प्रकार निर्जरा के बल से, ससार-समुद्र मे डुबने के कारणभूत आठो कर्म झर जाते है—आत्मा से विलग हो जाते हैं। जिनमे ससार रूपी महावृक्ष के बीज भरे हुए है, ऐसे कर्मों का जिस शक्ति के द्वारा पृथक्करण होता है, उसे 'निर्जरा' कहते है।

निर्जरा के 'सकाम' और 'अकाम' ऐसे दो भेद है। जो यम-नियम के धारक हैं, उन्हें सकाम-निर्जरा होती है और अन्य प्राणियो को अकाम-निर्जरा होती है। फल के समान कर्मों की परिपक्वता अपने-आप भी होती है और प्रयत्न विशेष से भी होती है। जिस प्रकार दूषित स्वर्ण, अग्नि के द्वारा शुद्ध किया जाता है, उसी प्रकार तप रूपी अग्नि से आत्मा के दोष दूर हो कर शुद्धि हो जाती है। यह तप दो प्रकार का है—१ बाह्य और २ आभ्यन्तर।

बाह्य तप—१ अनशन २ ऊनोदरी ३ वृत्ति-संक्षेप ४ रस-त्याग ५ काय-क्लेश और ६ संलीनता। बाह्य तप के ये छह प्रकार हैं।

आभ्यन्तर तप के छह भेद इस प्रकार हैं—१ प्रायश्चित्त २ विनय ३ वैयावृत्य ४ स्वाध्याय ५ शुभध्यान और ६ व्युत्सर्ग।

बाह्य और आभ्यन्तर तप रूपी अग्नि को प्रज्वलित कर के व्रतधारी पुरुष, अपने दुर्जर कर्मों को भी जला कर भस्म कर देता है।

जिस प्रकार किसी सरोवर के, पानी आने के सभी द्वार बन्द कर देने से उसमे बाहर से पानी नही आ सकता, उसी प्रकार संवर से युक्त आत्मा के आस्रव द्वार बन्द होने पर नये कर्म का योग नही हो सकता। जिस प्रकार सूर्य के प्रचण्ड ताप से सरोवर मे रहा हुआ पानी सूख जाता है, उसी प्रकार आत्मा के पूर्व बँधे हुए कर्म, तपश्चर्या के ताप से तत्काल क्षय हो जाते हैं। बाह्य-तप से आभ्यन्तर तप श्रेष्ठ होता है। इससे निर्जरा विशेष होती है। मुनिजन कहते हैं कि आभ्यन्तर तप मे भी ध्यान का राज्य तो एकछत्र रहा हुआ है। ध्यानस्थ रहे हुए योगियो के चिरकाल से उपार्जन किये हुए प्रबल कर्म, तत्काल निर्जरीभूत हो जाते है। जिस प्रकार शरीर मे बढा हुआ दोष, लघन करने से नष्ट होता है, उसी प्रकार तप करने से, पूर्व के संचित किये हुए कर्म क्षय हो जाते हैं।

जिस प्रकार प्रचण्ड पवन के वेग से बादलो का समूह छिन्न-भिन्न हो जाता है, उसी प्रकार तपश्चर्या से कर्म-समूह विनष्ट हो जाता है। जब संवर और निर्जरा, प्रतिक्षण शक्ति के साथ उत्कर्ष को प्राप्त होते है, तब वे अवश्य ही मोक्ष की स्थिति उत्पन्न कर देते हैं।

बाह्य और आभ्यन्तर ऐसे दोनो प्रकार की तपस्या से कर्मों को जलाने वाला प्रभावक पुरुष, सभी कर्मों से मुक्त हो कर मोक्ष के परम उत्कृष्ट एवं शाश्वत सुख को प्राप्त करता है।

"संसारबीजभूतानां, कर्मणां जरणादिह।
निर्जरा सा स्मृता द्वेधा, सकामा कामवर्जिता ॥१॥
ज्ञेया सकामा यमिनामकामा त्वन्यदेहिनां।
कर्मणां फलवत्पाको, यदुपायात्स्वतोऽपि च ॥२॥
सदोषमपि दीप्तेन, सुवर्णं वह्निना यथा।
तपोग्निना तप्यमानस्तथा जीवो विशुध्यति ॥३॥
अनशनमौनोदर्यं वृत्तेः संक्षेपणं तथा।
रसत्यागस्तनुक्लेशो, लीनतेति बहिस्तपः ॥४॥

प्रायश्चित्तं वैयावृत्यं, स्वाध्यायो विनयोऽपि च ।
व्युत्सर्गोऽथ शुभं ध्यानं, षोढेत्याभ्यंतरं तपः ॥५॥
दीप्यमाने तपोवह्नौ, बाह्ये वाभ्यंतरेपि च ।
यमी जरति कर्माणि, दुर्जराण्यपि तत्क्षणात् ॥६॥

साधारणतया जहाँ संवर है वहाँ सकाम-निर्जरा होती रहती है, किंतु तप द्वारा की हुई निर्जरा विशेष रूप से होती है। उससे आत्मा की शुद्धि शीघ्रतापूर्वक होती है।

त्रिपृष्ट वासुदेव चरित्र

महाविदेह क्षेत्र मे 'पुडरिकिनी' नगरी थी। सुबल नाम का राजा वहाँ राज करता था। उनने वैराग्य प्राप्त कर 'मुनिवृषभ' नाम के आचार्य के पास दीक्षा ग्रहण की और संयम तथा तप का अप्रमत्तपने उत्कृष्ट रूप से पालन करते हुए काल कर के अनुत्तर विमान मे देव रूप मे उत्पन्न हुए।

भरत-क्षेत्र के राजगृह नगर मे 'विश्वनंदी' नाम का राजा था। उसकी 'प्रियगु' नाम की पत्नी से 'विशाखनन्दी' नाम का पुत्र हुआ। विश्वनन्दी राजा के 'विशाखभूति' नाम का छोटा भाई था। वह 'युवराज' पद का धारक था। वह बडा बुद्धिमान्, बलवान्, नीतिवान् और न्यायी था, साथ ही विनीत भी। विशाखभूति की 'धारिनी' नाम की रानी की उदर से, मरीचि का जीव (जो प्रथम चक्रवर्ती महाराज भरतेश्वर का पुत्र था और भ० आदिनाथ के पास से निकल कर पृथक् पथ चला रहा था) पुत्रपने उत्पन्न हुआ। उसका नाम 'विश्वभूति' रखा गया। वह सभी कलाओ मे प्रवीण हुआ। यौवन-वय आने पर अनेक सुन्दर कुमारियो के साथ उसका लग्न किया गया। वहाँ 'पुष्प-करंडक' नाम का उद्यान बडा सुन्दर और रमणीय था। उस नगरी मे सर्वोत्तम उद्यान यही

था। राजकुमार विश्वभूति अपनी स्त्रियो के साथ उसी उद्यान मे रह कर विषय-सुख मे लीन रहने लगा।

एक वार महाराज विश्वनन्दी के पुत्र राजकुमार विशाखनन्दी के मन मे, इस पुष्प-करडक उद्यान मे अपनी रानियो के साथ रह कर क्रीडा करने की इच्छा हुई। किंतु उस उद्यान मे तो पहले से ही विश्वभूति जमा हुआ था। इसलिए विशाखनन्दी वहाँ जा ही नही सकता था। वह मन मार कर रह गया। एक बार महारानी की दासियाँ उस उद्यान मे फूल लेने गईं। उन्होने विश्वभूति और उसकी रानियो को उन्मुक्त क्रीडा करते देखा। उनके मन मे डाह उत्पन्न हुई। उन्होने महारानी से कहा—

"महारानीजी ! इस समय वास्तविक राजकुमार तो मात्र विश्वभूति ही है। वही सर्वोत्तम ऐसे पुष्पकरण्डक उद्यान का उपभोग कर रहा है और अपने राजकुमार तो उससे वचित रह कर मामूली जगह रहते है। यह हमे तो वहुत बुरा लगता है। महाराजाधिराज एव राजमहिषी का पाटवी कुमार, साधारण ढग से रहे और छोटा भाई का लडका राजाधिराज के समान सुख-भोग करे, यह कितनी वुरी वात है ?"

महारानी को वात लग गई। उनके मन मे भी द्वेष की चिनगारी पैठ गई और सुलगने लगी। महाराज अन्त पुर मे आये। रानी को उदास देख कर पूछा। राजा ने रानी को समझाया—"प्रिये ! यह ऐसी वात नही है जिससे मन मैला किया जाय। कुछ दिन विश्वभूति रह ले, फिर वह अपने आप वहाँ से हट कर भवन मे आ जायगा और विशाख-नन्दी वहाँ चला जायगा। छोटी-सी वात मे कलह उत्पन्न करना उचित नही है।" किन्तु रानी को सतोष नही हुआ। अन्त मे महाराजा ने रानी की मनोकामना पूर्ण करने का आश्वासन दिया, तव सतोष हुआ।

राजा ने एक चाल चली। उसने युद्ध की तय्यारियाँ प्रारम्भ की। सर्वत्र हलचल मच गई। यह समाचार विश्वभूति तक पहुँचा, तो वह तुरन्त महाराज के पास आया और महाराज से युद्ध की तय्यारियो का कारण पूछा। महाराजा ने कहा,—

"वत्स ! अपना सामन्त पुरुषसिंह विद्रोही वन गया है। वह उपद्रव मचा कर राज्य को छिन्न-भिन्न करना चाहता है। उसे अनुशासन मे रखने के लिए युद्ध आवश्यक हो गया है।"

"पूज्यवर ! इसके लिये स्वय आपका पधारना आवश्यक नही है। मैं स्वय जा कर उसके विद्रोह को दवा दूंगा और उसकी उद्दडता का दण्ड दे कर सीधा कर दूंगा। आप

मुझे आज्ञा दीजिए ।"

राजा यही चाहता था । विश्वभूति सेना ले कर चल दिया । उसकी पत्नियाँ उद्यान मे से राज भवन मे आ गई । विश्वभूति की सेना उस सामत की सीमा मे पहुँची, तो वह स्वयं स्वागत के लिए आया और उसने कुमार का खूब आदर-सत्कार किया । कुमार ने देखा कि यहाँ तो उपद्रव का चिन्ह भी नही है । सामन्त, पूर्ण रूप से आज्ञाकारी है । उसके विरुद्ध युद्ध करने का कोई कारण नही है । कदाचित् किसी ने असत्य समाचार दिये होगे। वह सेना ले कर लौट आया और उसी पुष्पकरडक उद्यान मे गया । उद्यान मे प्रवेश करते उसे पहरेदार ने रोका और कहा—"यहाँ राजकुमार विशाखनन्दी अपनी रानियो के साथ रहते है । अतएव आपका उद्यान मे पधारना उचित नही होगा ।"

अब विश्वभूति समझा । उसने सोचा कि 'मुझे उद्यान मे से हटाने के लिए ही युद्ध की चाल चली गई ।' उसे क्रोध आया । अपने उग्र क्रोध के वश हो कर निकट ही रहे हुए एक फलो से लदे हुए सुदृढ वृक्ष पर मुक्का मारा । मुष्ठि-प्रहार से उसके सभी फल टूट कर गिर पडे और पृथ्वी पर ढेर लग गया । फलो के उस ढेर की ओर सकेत करते हुए विश्वभूति ने द्वारपाल से कहा,—

"यदि पूज्यवर्ग की आशातना का विचार मेरे मन मे नही होता, तो मैं अभी तुम सब के मस्तक इन फलो के समान क्षण-मात्र मे नीचे गिरा देता ।"

"धिक्कार है इस भोग-लालसा को । इसी के कारण कूड-कपट और ठगाई होती है । इसी के कारण पिता-पुत्र, भाई-भाई और अपने आत्मीय से छल-प्रपञ्च किये जाते हैं। मुझे पापो की खान ऐसे कामभोग को ही लात मार कर निकल जाना चाहिए"—इस प्रकार निश्चय कर के विश्वभूति वहाँ से चला गया और सभूति नाम के मुनि के पास पहुँच कर साधु बन गया । जब ये समाचार महाराज विश्वनन्दी ने सुने, तो वे अपने समस्त परिवार और अन्तःपुर के साथ विश्वभूति के पास आये और कहने लगे,—

"वत्स ! तैने यह क्या कर लिया ? अरे, तू सदैव हमारी आज्ञा मे चलने वाला रहा, फिर बिना हमको पूछे यह दुःसाहस क्यो किया ?"

महाराज ने आगे कहा—"पुत्र ! मुझे तुझ पर पूरा विश्वास था । मैं तुझे अपना कुमार और भविष्य मे राज्य की धुरा को धारण करने वाला पराक्रमी पुरुष के रूप मे देख रहा था । किन्तु तूने यह साहस कर के हमारी आशा को नष्ट कर दिया । अब भी संयम और साधना को छोड कर हमारे साथ चल । हम सब तेरी इच्छा का आदर करेंगे ।

पुष्पकरण्डक उद्यान सदा तेरे लिए ही रहेगा। छोड दे इस हठ को और शीघ्र ही हमारे साथ हो जा।"

राजा, अपने माता-पिता, पत्नियाँ और समस्त परिवार के आग्रह और स्नेह तथा करुणापूर्ण अनुरोध की उपेक्षा करते हुए मुनि विश्वभूतिजी ने कहा,—

"अव मैं समार के वन्धनो को तोड चुका हूँ। काम-भोग की ओर मेरी विल्कुल रुचि नही रही। जिस काम-भोग को मैं सुख का सागर मानता था और संसार के प्राणी भी यही मान रहे है, वास्तव मे वे दुख की खान रूप है। स्नेही-सम्वन्धी अपने मोह-पाश मे वाँध कर ससार रूपी कारागृह का वन्दी वनाये रखते हैं और मोही जीव अपनी मोहजाल का विस्तार करता हुआ उसी मे उलझ जाता है। मैं अनायास ही इस मोह-जाल को नष्ट कर के स्वतन्त्र हो चुका हूँ। यह मेरे लिए आनन्द का मार्ग है। अव आप लोग मुझे ससार मे नही ले जा सकते। मैं तो अव विशुद्ध सयम और उत्कृष्ट तप की आराधना करूँगा। यही मेरे लिए परम श्रेयकारी है।"

मुनिराज श्री विश्वभूतिजी का ऐसा दृढ निश्चय जान कर परिवार के लोग हताश हो गए और लौट कर चले गये। मुनिराज अपने तप-सयम मे मग्न हो कर अन्यत्र विचरने लगे।

मुनिराज ने ज्ञानाभ्यास के साथ वेला-तेला आदि तपस्या करते हुए वहुत वर्ष व्यतीत किये। इसके वाद गुरु की आज्ञा ले कर उन्होने 'एकल-विहार प्रतिमा' धारण की और विविध प्रकार के अभिग्रह धारण करते हुए वे मथुरा नगरी के निकट आये। उस समय मथुरा नगरी के राजा की पुत्री के लग्न हो रहे थे। विशाखनन्दी वरात ले कर आया था और नगर के वाहर विशाल छावनी मे वरात ठहरी थी। मुनिराजश्री विश्वभूतिजी, मासखमण के पारणे के लिए नगर की ओर चले। वे वरात की छावनी के निकट हो कर जा रहे थे कि वरात के लोगो ने मुनिश्री को पहिचान लिया और एक दूसरे से कहने लगे— "ये विश्वभूति कुमार है।" यह सुन कर विशाखनन्दी भी उनके पास आया। उसके मन मे पूर्व का द्वेष शेष था। उसी समय मुनिश्री के पास हो कर एक गाय निकली। उसके धक्के से मुनिराज गिर पडे। उनके गिरने पर विशाखनन्दी हँसा और व्यगपूर्वक वोला—

"वृक्ष पर मुक्का मार कर फल गिराने और उसी प्रकार क्षणभर मे योद्धाओ के मस्तक गिरा कर ढेर करने की अभिमानपूर्ण वाते करने वाले महावली! कहाँ गया तेरा वह वल, जो गाय की मामूली-सी टक्कर भी सहन नही कर सका और पृथ्वी पर गिर पड

धूल चाटने लगा ? वाह रे महाबली !"

तपस्वी मुनिजी, उसके मर्मान्तक व्यग को सहन नही कर सके। उनकी आत्मा मे सुप्तरूप से रहा हुआ क्रोध भडक उठा। उन्होने उसी समय उस गाय के दोनो सीग पकड कर उसे उठा ली और घास के पुले के समान चारो ओर घुमा कर रख दी। इसके बाद वे मन मे विचार करने लगे कि "यह विशाखनन्दी कितना दुष्ट है। मैं मुनि हो गया। अब इसके स्वार्थ मे मेरी ओर से कोई बाधा नही रही, फिर भी यह मेरे प्रति द्वेष रखता है और शत्रु के समान व्यवहार करता है।" इस प्रकार कषाय भाव मे रमते हुए उन्होने निदान किया कि—

"मेरे तप के प्रभाव से आगामी भव मे मैं महान् पराक्रमी बनूं।"

इस प्रकार निदान कर के और उसकी शुद्धि किये बिना ही काल कर के वे महाशुक्र नाम के सातवे स्वर्ग मे महान् प्रभावशाली एव उत्कृष्ट स्थिति वाले देव बने।

दक्षिण-भरत मे पोतनपुर नाम का एक नगर था। 'रिपुप्रतिशत्रु' नामक नरेश वहाँ के शासक थे। वे न्याय, नीति, बल, पराक्रम, रूप और ऐश्वर्य से सम्पन्न और शोभायमान थे। उनकी अग्रमहिषी का नाम भद्रा था। वह पतिभक्ता, शीलवती और सद्‌गुणो पात्र थी। वह सुखमय शय्या मे सो रही थी। उस समय 'सुबल' मुनि का जीव अनुत्तर विमान से च्यव कर महारानी की कुक्षि मे आया। महारानी ने हस्ति, वृषभ, चन्द्र और पूर्ण सरोवर ऐसे चार महास्वप्न देखे। गर्भकाल पूर्ण होने पर पुत्र का जन्म हुआ। जन्मोत्सवपूर्वक पुत्र का नाम 'अचल' रखा। कुछ काल के बाद भद्रा महारानी ने एक सुन्दर कन्या को जन्म दिया। वह कन्या मृग के बच्चे के समान आँखो वाली थी, इसलिए उसका 'मृगावती' नाम रखा गया। वह चन्द्रमुखी, यौवनावस्था मे आई, तब सर्वांग सुन्दरी दिखाई देने लगी। उसका एक-एक अग सुगठित और आकर्षक था। यह देख कर उसकी माता महारानी भद्रावती को उसके योग्य वर खोजने की चिन्ता हुई। उसने सोचा—"महाराज का ध्यान अभी पुत्री के लिए वर खोजने की ओर नही गया है। राजकुमारी यदि पिताश्री के सामने चली जाय, तो उन्हे भी वर के लिए चिन्ता होगी।" इस प्रकार सोच कर उसने राजकुमारी को महाराज के पास भेजी। दूर से एक अपूर्व सुन्दरी को आते देख कर राजा मोहाभिभूत हो गया। उसने सोचा—"यह तो कोई स्वर्ग लोक की अप्सरा है। कामदेव के अमोघ शस्त्र रूप मे यह अवतरी है। पृथ्वी और स्वर्ग का राज्य मिलना सुलभ है, किन्तु इन्द्रानी को भी पराजित करने वाली ऐसी अपूर्व सुन्दरी प्राप्त होना दुर्लभ है। मैं महान् भाग्यशाली हूँ जो मुझे ऐसा अलौकिक स्त्री-रत्न प्राप्त हुआ है।"

राजा इस प्रकार सोच ही रहा था कि राजकुमारी ने पिता को प्रणाम किया। राजा ने उसे अपने निकट विठाई और उसका आलिंगन और चुम्बन कर के साथ मे रहे हुए वृद्ध कचुकी के साथ पुन अन्त.पुर मे भेज दी। राजा उस पर मोहित हो चुका था। वह यह तो समझता ही था कि पुत्री पर पिता की कुबुद्धि होना महान् दुष्कृत्य है। यदि मैं अपनी दुर्वासना को पूरी करूँगा, तो ससार मे मेरी महान् निन्दा होगी। वह न तो अपनी वासना के वेग को दवा सकता था और न लोकापवाद की ही उपेक्षा कर सकता था। उसने वहुत सोच-विचार कर एक मार्ग निकाला।

राजा ने एक दिन राजसभा वुलाई। मत्री-मण्डल के अतिरिक्त प्रजा के प्रमुख व्यक्तियो को भी वुलाया। सभी के सामने उसने अपना यह प्रश्न उपस्थित किया,—

"मेरे इस राज मे, नगर मे, गाँव मे, घर मे या किसी भी स्थान पर कोई रत्न उत्पन्न हो, तो उस पर किसका अधिकार होना चाहिए ?"

—"महाराज! आपके राज मे जो रत्न उत्पन्न हो, उसके स्वामी तो आप ही हैं, दूसरा कोई भी नही"—मन्त्री-मण्डल और उपस्थित सभी सभाजनो ने एक मत से उत्तर दिया।

"आप पूरी तरह सोच ले और फिर अपना मत वतलावे यदि किसी का भिन्न मत हो, तो वह भी स्पष्ट वता सकता है"—स्पष्टता करते हुए राजा ने फिर पूछा। सभाजनो ने पुन अपना मत दुहराया। राजा ने फिर तीसरी वार पूछा,—

—"तो आप सभी का एक ही मत है कि—"मेरे राज, नगर, गाँव या घर मे उत्पन्न किसी भी रत्न का एकमात्र मैं ही स्वामी हूँ। दूसरा कोई भी उसका अधिकारी नही हो सकता।"

—"हा महाराज! हम सभी एक मत हैं। इस निश्चय मे किसी का भी मतभेद नही है"—सभा का अन्तिम उत्तर था।

इस प्रकार सभा का मत प्राप्त कर राजा ने सभा के समक्ष कहा,—

'राजकुमारी मृगावती इस ससार मे एक अद्वितीय 'स्त्री-रत्न' है। उसके समान सुन्दरी इस विश्व मे दूसरी कोई भी नही है। आप सभी ने इस रत्न पर मेरा अधिकार माना है। इस सभा के निर्णय के अनुसार मृगावती के साथ मैं लग्न करूँगा।"

राजा के ऐसे उद्गार सुन कर सभाजन अवाक् रह गए। उन्हे लज्जा का अनुभव हुआ। वे सभी अपने-अपने घर चले गए। राजा ने मायाचारिता से अपनी इच्छा के

अनुसार निर्णय करवा कर अपनी ही पुत्री मृगावती के साथ गन्धर्व-विवाह कर लिया। राजा के इस प्रकार के अकृत्य से लोगो ने उसका दूसरा नाम 'प्रजापति' रख दिया। राजा के इस दुष्कृत्य से महारानी भद्रा बहुत ही दुखी हुई। वह अपने पुत्र 'अचल' को ले कर दक्षिण देश मे चली गई। अचलकुमार ने दक्षिण मे अपनी माता के लिए 'माहेश्वरी' नामकी नगरी बसाई। उस नगरी को धन-धान्यादि से परिपूर्ण और योग्य अधिकारियो के सरक्षण मे छोड कर राजकुमार अचल, पोतनपुर नगर मे अपने पिता की सेवा मे आ गया।

राजा ने अपनी पुत्री मृगावती के साथ लग्न कर के उसे पटरानी के पद पर प्रतिष्ठित कर दी और उसके साथ भोग भोगने लगा। कालान्तर मे विश्वभूति मुनि का जीव, महाशुक्र देवलोक से च्यव कर मृगावती की कुक्षि मे आया। पिछली रात को मृगावती देवी ने सात महास्वप्न देखे। यथा—१ केसरीसिंह २ लक्ष्मीदेवी ३ सूर्य ४ कुभ ५ समुद्र ६ रत्नो का ढेर और ७ निर्धूम अग्नि। इन सातो स्वप्नो के फल का निर्णय करते हुए स्वप्न पाठको ने कहा—'देवी के गर्भ मे एक ऐसा जीव आया है, जो भविष्य मे 'वासुदेव' पद को धारण कर के तीन खण्ड का स्वामी—अर्द्ध चक्री होगा ‡।" यथा समय पुत्र का जन्म हुआ। बालक की पीठ पर तीन बाँस का चिन्ह देख कर 'त्रिपृष्ठ' नाम दिया। बालक दिन-प्रतिदिन बढने लगा। बडे भाई 'अचल' के ऊपर उसका स्नेह अधिक था। वह विशेषकर अचल के साथ ही रहता और खेलता। योग्य वय पा कर कला-कौशल मे शीघ्र ही निपुण हो गया। युवावस्था मे पहुँच कर तो वह अचल के समान—मित्र के समान दिखाई देने लगा। दोनो भाई महान् योद्धा, प्रचण्ड पराक्रमी, निर्भीक और वीर शिरोमणि थे। वे दुष्ट एव शत्रु को दमन करने तथा शरणागत का रक्षण करने मे तत्पर रहते थे। दोनो बन्धुओ मे इतना स्नेह था कि एक के बिना दूसरा रह नही सकता था। इस प्रकार दोनो का सुखमय काल व्यतीत हो रहा था।

रत्नपुर नगर मे मयूरग्रीव नाम का राजा था। नीलागना उसकी रानी थी। 'अश्वग्रीव' नाम का उसके पुत्र था। वह भी महान् योद्धा और वीर था। उसकी शक्ति भी त्रिपृष्ठ कुमार के लगभग मानी जाती थी। उसके पास 'चक्र' जैसा अमोघ एव सर्वोत्तम शस्त्र था। वह युद्धप्रिय और महान् साहसी था। उसने अपने पराक्रम से भरत-क्षेत्र के तीन खण्डो पर विजय प्राप्त कर ली और उन्हे अपने अधिकार मे कर लिया। सोलह हजार

‡ [illegible] पुरुष की उत्पत्ति, पिता पुत्री के एकात निन्दनीय सयोग से हो, यह [illegible] है और मानने मे हिचक होती है। किन्तु कर्म की गति भी विचित्र है।

"साम्राज्य के सामन्त, राजा, सेनापतियो और वीरो मे कोई असाधारण शक्ति-शाली, परम पराक्रमी, महाबाहु युवक कुमार आपके देखने मे आया है ?"

राजा के प्रश्न के उत्तर मे मन्त्रियो, सामन्तो और अन्य अधिकारियो ने कहा—

"नरेन्द्र ! आपकी तुलना मे ऐसा एक भी मनुष्य नही है। आज तक ऐसा कोई देखने मे नही आया और अब होने की सम्भावना भी नही है।"

राजा ने कहा,—

"आपका कथन मिष्टभाषीपन का है, वास्तविक नही। ससार मे एक से बढ कर दूसरा बलवान् होता ही है यह बहुरत्ना वसुन्धरा है। कोई न कोई महाबाहु होगा ही।"

राजा की बात सुन कर एक मन्त्री गम्भीरतापूर्वक बोला,—

"राजेन्द्र ! पोतनपुर के नरेश 'रिपुप्रतिशत्रु' अपर नाम 'प्रजापति' के देवकुमार के समान दो पुत्र है। वे अपने सामने अन्य सभी मनुष्यो को घास के तिनके के समान गिनते हैं।"

मन्त्री की बात सुन कर राजा ने सभा विसर्जित की और अपने चण्डवेग नाम के दूत को योग्य सूचना कर के, प्रजापति राजा के पास पोतनपुर भेजा। दूत अपने साथ बहुत से घुडसवार योद्धा और साज-सामग्री ले कर आडम्बरपूर्वक पोतनपुर पहुँचा। वहाँ प्रजापति की सभा जमी हुई थी। वह अपने सामत राजाओ, मन्त्रियो, अचल और त्रिपृष्ठ-कुमार, राजपुरोहित एव अन्य सभासदो के साथ बैठा था। संगीत नृत्य और वादिन्त्र से वातावरण मनोरञ्जक बना हुआ था। उसी समय बिना किसी सूचना के, द्वारपाल की अवगणना करता हुआ, चण्डवेग सभा मे पहुँच गया। राजदूत को इस प्रकार अचानक आया हुआ देख कर राजा और सभाजन स्तंभित रह गए। राजदूत का सन्मान करने के लिए राजा स्वय सिंहासन से उठा और सभाजन भी उठे। राजदूत को आदरपूर्वक आसन पर बिठाया गया और वहाँ के हालचाल पूछे। राजदूत के असमय मे अचानक आने से वातावरण एक-दम शात, उदासीन और गम्भीर बन गया। वादिन्त्र और नाच-गान बन्द हो गए। वादक गायिकाएँ और नृत्यागनाएँ चली गई। यह स्थिति राजकुमार त्रिपृष्ठ को अखरी। उसने अपने पास बैठे हुए पुरुष से पूछा,—

"कौन है यह असभ्य, मनुष्य के रूप मे पशु, जो समय-असमय का विचार किये बिना ही और अपने आगमन की सूचना दिये बिना ही अचानक सभा मे आ घुसा ? और इसका स्वागत करने के लिए पिताजी भी खडे हो गए ? इसे द्वारपाल ने क्यो नही रोका ?"

—"यह महाराजाधिराज अश्वग्रीव का दूत है। दक्षिण भरत के जितने भी राजा

हैं, वे सब अश्वग्रीव के आधीन है। वह सब का अधिनायक है। इसीलिए महाराज ने उसे आदर दिया और द्वारपाल ने भी नही रोका। स्वामी के कुत्ते को भी दुत्कारा नही जाता। उसका भी आदर होता है, तो यह तो महाराजाधिराज अश्वग्रीव का प्रिय राजदूत है। इनको प्रसन्न रखने से महाराजाधिराज भी प्रसन्न रहते हैं। यदि राजदूत को अप्रसन्न कर दिया जाय, तो राज एवं राजा पर भयकर सकट आ सकता है।"

राजकुमार त्रिपृष्ठ को यह वात नहीं रुचि। उसने कहा;—

"ससार मे ऐसा कोई नियम नही है कि जिससे अमुक व्यक्ति स्वामी ही रहे और अमुक सेवक ही। यह सब अपनी-अपनी शक्ति के आधीन है। मैं अभी कुछ नही कहता, किन्तु समय आने पर उस अश्वग्रीव को छिन्नग्रीव (गर्दन छेद) कर भूमि पर सुला दूंगा।" इसके वाद कुमार ने अपने सेवक से कहा,—

"जब यह राजदूत यहाँ से जाने लगे, तब मुझे कहना। मैं इससे वात करूँगा।"

राजदूत चडवेग ने प्रजापति को राज सम्बन्धी कुछ आज्ञाएँ इस प्रकार दी, जिस प्रकार एक सेवक को दी जाती है। प्रजापति ने उसकी सभी आज्ञाएँ शिरोधार्य की और योग्य भेंट दे कर सन्मानपूर्वक विदा किया। राजदूत भी संतुष्ट हो कर अपने साथियो के साथ पोतनपुर से रवाना हो गया। जब राजकुमार त्रिपृष्ठ को राजदूत के जाने का समाचार मिला, तो वे अपने बड़े भाई के साथ तत्काल चल दिये और रास्ते मे ही उसे रोक कर कहने लगे;—

"अरे, ओ धीठ पशु! तू स्वय दूत होते हुए भी महाराजाधिराज के समान घमण्ड करता है। तुझमे इतनी भी सभ्यता नही कि सूचना करवाने के वाद सभा मे प्रवेश करे। एक राजा भी अपनी प्रजा मे किसी गृहस्थ के यहाँ जाता है, तो पहले सूचना करवाता है और उसके वाद वहाँ जाता है। यह एक नीति है। किन्तु तू न जाने किस घमड मे चूर हो रहा है कि विना सूचना किये ही उन्मत्त की भाँति सभा मे आ गया। मेरे पिताश्री ने तेरी इस तुच्छता को सहन कर के तेरा सत्कार किया, यह उनकी सरलता है। किंतु मैं तेरी दुष्टता सहन नहीं कर सकता। वता तू किस शक्ति के घमण्ड पर ऐसा उद्धत वना है? वोल! नही, तो मै अभी तुझे तेरी दुष्टता का फल चखाता हूँ।" रोषपूर्वक इतना कह कर राजकुमार ने मुक्का ताना, किंतु पास ही खडे हुए वडे भाई राजकुमार अचल ने रोकते हुए कहा,—

"वस करो वन्धु! इस नर-कीट पर प्रहार मत करो। यह तो विचारा दूत है। दूत अवध्य होता है। इसकी दुष्टता को सहन कर के इसे जाने दो। यह तुम्हारा आघात

सहन नही कर सकेगा ।"

त्रिपृष्ठ ने अपना हाथ रोक लिया । किन्तु अपने साथ आये हुए सुभटो को आज्ञा दी कि—

"मै इस दुष्ट को जीवन-दान देता हूँ । किन्तु इसके पास की सभी वस्तुएँ छिन लो ।"

राजकुमार की आज्ञा पाते ही सुभट उस पर टूट पडे । उसके शस्त्र, आभूषण और प्राप्त भेट आदि वस्तुएँ छीन ली और मार-पीट कर चल दिये ।

जब यह समाचार नरेश के कानो तक पहुँचे, तो उन्हे बडी चिन्ता हुई । उन्होने सोचा—'राजदूत के पराभव का परिणाम भयकर होगा । अब अश्वग्रीव की कोपाग्नि भडकेगी और उसमे मै, मेरा वश और यह राज भस्म हो जायगा । इसलिये जब तक चण्डवेग मार्ग मे है और अश्वग्रीव के पास नही पहुँचा, तब तक उसको मना कर प्रसन्न कर लेना उचित है । इससे यह अग्नि जहाँ उत्पन्न हुई, वही बुझ जाएगी और सारा भय दूर हो जायगा । यह सोच कर प्रजापति ने अपने मन्त्रियो को भेज कर चण्डवेग का बडा अनुनय-विनय कराया और उसे पुन राज-प्रासाद मे बुलाया । उसके हाथ जोड कर बडे ही विनय के साथ पहले से चार गुना अधिक द्रव्य भेट मे दिया और नम्रतापूर्वक कहा,—

"आप जानते ही हैं कि युवावस्था दु साहसपूर्ण होती है । एक गरीब मनुष्य का युवक पुत्र भी युवावस्था मे उन्मत्त हो जाता है, तो महाराजाधिराज अश्वग्रीव की कृपा से, वृद्धि पाई सम्पत्ति मे पले मेरे ये कुमार, वृषभ के समान उच्छृखल हो जाय, तो आश्चर्य की बात नही है । इसलिए हे कृपालु मित्र ! इन कुमारो के अपराध को स्वप्न के समान भूल ही जाये । आप तो मेरे सगे भाई के समान हैं । अपना प्रेम सम्बन्ध अक्षुण्ण रखिएगा और महाराज अश्वग्रीव के सामने इस विषय मे एक शब्द भी नही कहे ।"

चण्डवेग का क्रोध, राजा के मीठे व्यवहार से शात हो गया । वह बोला,—

"राजन् ! आपके साथ मेरा चिरकाल का स्नेह सम्बन्ध है । मै इन छोकरो की भर्त्सना की उपेक्षा करता हूँ और इन कुमारो को भी मै अपना ही मानता हूँ । आपका हमारा सम्बन्ध वैसा ही अटूट रहेगा । आप विश्वास रखे । लडको के अपराध का उपालम्भ उनके पालक को ही दिया जाता है और यही दण्ड है । इसके अतिरिक्त कही अन्यत्र पुकार नही की जाती । अतएव आप विश्वास रखे । मै महाराज से नही कहूँगा । जिस प्रकार हाथी के मुह मे गिरा हुआ ग्रास, पुन निकाला नही जा सकता, उसी प्रकार महाराज के

सामने कह कर उन्हे भडकाया तो जा सकता है, किन्तु फिर पुन प्रसन्न कर पाना असभव होता है मै इस स्थिति को जानता हूँ । मै तो आपका मित्र हूँ, इसलिए मेरी ओर से आप ऐसी शका नही लावे ।"

इस प्रकार आश्वासन दे कर चण्डवेग चला गया । वह कई दिनो के बाद राजधानी मे पहुँचा । उसके पहुँचने के पूर्व ही उसके पराभव की कहानी महाराजा अश्वग्रीव तक पहुँच चुकी थी । त्रिपृष्ठ कुमार के प्रताप से भयभीत हो कर भागे हुए चण्डवेग के कुछ सेवको ने इस घटना का विवरण सुना दिया था । चण्डवेग ने आ कर राजा को प्रणाम कर के प्रजापति से प्राप्त भेट उपस्थित की । राजा के चेहरे का भाव देख कर वह समझ गया कि राजा को सब कुछ मालूम हो गया है । उसने निवेदन किया,—

"महाराजाधिराज की जय हो । प्रजापति ने भेट समर्पित की है । वह पूर्णरूपेण आज्ञाकारी है । श्रीमत के प्रति उसके मन मे पूर्ण भक्ति है । उसके पुत्र कुछ उद्दण्ड और उच्छृखल है, किन्तु वह तो शासन के प्रति भक्ति रखता है । अपने पुत्र की अभद्रता से उसको बडा खेद हुआ । वह दु खपूर्वक क्षमा याचना करता है ।"

अश्वग्रीव दूसरे ही विचारो मे लीन था । वह सोच रहा था —'भविष्यवेत्ता की एक बात तो सत्य निकली । यदि सिंह-वध की बात भी सत्य सिद्ध हो जाय, तो अवश्य ही वह भय का स्थान है—यह मानना ही होगा । उसने एक दूसरा दूत प्रजापति के पास भेज कर कहलाया कि—"तुम सिंह के उपद्रव से उस प्रदेश को निर्भय करो ।" दूत के आते ही प्रजापति ने कुमारो को बुला कर कहा,—

"यह तुम्हारी उद्दडता का फल है । यदि इस आज्ञा का पालन नही हुआ, तो अश्वग्रीव, यमराज बन कर नष्ट कर देगा, और आज्ञा का पालन करने गये, तो वह सिंह स्वय यमराज बन सकता है । इस प्रकार दोनो प्रकार से हम संकट ग्रस्त हो गए हैं । अभी तो मै सिंह के सम्मुख जाता हूँ । आगे जैसा होना होगा, वैसा होगा ।"

कुमारो ने कहा,—"पिताश्री आप निश्चित रहे । अश्वग्रीव का बल भी हमारे ध्यान मे है और सिंह तो विचारा पशु है । उसका तो भय ही क्या है ? अतएव आप किसी प्रकार की चिंता नही करे और हमे आज्ञा दे, तो हम उस सिंह के उपद्रव को शात कर के शीघ्र लौट आवे ।"

—"पुत्रो ! तुम अभी बच्चे हो । तुम्हे कार्याकार्य और फलाफल का ज्ञान नही है । तुमने बिना विचारे जो अकार्य कर डाला, उसी से यह विपत्ति आई । अब आगे तुम

क्या कर बैठो और उसका क्या परिणाम निकले ? अतएव तुम यही रहो और शाति से रहो। मैं स्वय सिंह से भिडने जाता हूँ।"

"पिताजी! अश्वग्रीव मूर्ख है। वह बच्चो को भूत से डराने के समान हमे सिंह से डराता है। आप प्रसन्नतापूर्वक आज्ञा दीजिए। हम शीघ्र ही सिह को मार कर आपके चरणो मे उपस्थित होगे।"

बडी कठिनाई से पिता की आज्ञा प्राप्त कर के अचल और त्रिपृष्ठ कुमार थोडे से सेवको के साथ उपद्रव-ग्रस्त क्षेत्र मे आये। उन्हे वहाँ सैनिको की अस्थियो के ढेर के ढेर देख कर आश्चर्य हुआ। ये सब विचारे सिंह की विकरालता की भेट चढ चुके थे।

सिंह-घात

कुमारो ने इधर-उधर देखा, तो उन्हे कोई भी मनुष्य दिखाई नही दिया। जब उन्होने वृक्षो पर देखा, तो उन्हे कही-कही कोई मनुष्य दिखाई दिया। उन्होने उन्हे निकट बुला कर पूछा—

—"यहाँ रक्षा करने के लिए आये हुए राजा लोग, किस प्रकार सिंह से इस क्षेत्र की रक्षा करते हैं ?"

—"वे अपने हाथी, घोडे, रथ और सुभटो का व्यूह बनाते हैं और अपने को व्यूह मे सुरक्षित कर लेते है। जब विकराल सिंह आता है, तो वह व्यूह के सैनिक आदि को मार कर फाड डालता है और खा कर लौट जाता है। इस प्रकार उस विकराल सिंह से राजाओ की और हमारी रक्षा तो हो जाती है, किन्तु सैनिक और घोडे आदि मारे जाते है। हम कृषक हैं। वृक्षो पर चढ कर यह सब देखते रहते है"—उनमे से एक बोला।

दोनो कुमार यह सुन कर प्रसन्न हुए। उन्होने अपनी सेना को तो वही रहने दिया और दोनो भाई रथ पर सवार हो कर सिह की गुफा की ओर चले। रथ के चलने से उत्पन्न ध्वनि से वन गूंज उठा। यह अश्रुतपूर्व ध्वनि सुन कर सिह चौंका। वह अपनी तीक्ष्ण दृष्टि से इधर-उधर देखने लगा। उसकी गर्दन तन गई और केशावलि के बाल चॅवर के समान इधर-उधर हो गए। उसने उबासी लेने के लिए मुंह खोला। वह मुंह मृत्यु के मुंह के समान भयकर था। उसने इधर-उधर देखा और रथ की उपेक्षा करता हुआ पुन. लेट गया। सिंह की उपेक्षा देख कर अचलकुमार ने कहा,—

"रक्षा के लिए आये हुए राजाओ ने अपने हाथी घोडे और सैनिको का भोग दे कर इस सिंह को घमण्डी बना दिया है।"

त्रिपृष्ठकुमार ने सिंह के निकट जा कर ललकारा। सिंह ने भी समझा कि यह कोई वीर है, निर्भीक है और साहस के साथ लडने आया है। वह उठा और रौद्र रूप धारण कर भयकर गर्जना करने लगा। फिर सावधान हो कर सामने आया। उसके दोनो कान खड़े हो गए। उसकी आँखें दो दीपक के समान थी। दाढे और दाँत सुदृढ और तीक्ष्ण थे तथा यमराज के शस्त्रागार के समान लगते थे। उसकी जिव्हा तक्षक नाग के समान बाहर निकली हुई थी। प्राणियो के प्राणो को खिचने वाले चिपिये के समान उसके नख थे और क्षुधातुर सर्पवत् उसकी पूँछ हिल रही थी। उसने आगे आ कर क्रोध से पृथ्वी पर पूँछ पछाडी, जिसे सुनते ही आस-पास रहे हुए प्राणी भयभीत हो कर भाग गए और पक्षी चिचियाटी करते हुए उड गये। वनराज को आक्रमण करने के लिए तत्पर देख कर अचलकुमार रथ से उतरने लगे, तब त्रिपृष्ठकुमार ने उन्हे रोकते हुए कहा—"हे आर्य ! यह अवसर मुझे लेने दीजिए। आप यही ठहरे और देखे। फिर वे रथ से नीचे उतरे। उन्होंने सोचा 'सिंह के पास तो कोई शस्त्र नही है, इस नि शस्त्र के साथ, शस्त्र से युद्ध करना उचित नही।' यह सोच कर उन्होने भी अपने शस्त्र रख दिए और सिंह को ललकारते हुए बोले—"हे वनराज ! यहाँ आ। मैं तेरी युद्ध की प्यास बुझाता हूँ।" इस गम्भीर घोष को सुनते ही सिंह ने भी उत्तर मे गर्जना की और रोषपूर्वक उछला। वह पहले तो आकाश मे ऊँचा गया और फिर राजकुमार पर मुँह फाड कर उतरा। त्रिपृष्ठकुमार सावधान ही थे। वे उसका उछलना और अपने पर उतरना देख रहे थे। अपने पर आते देख कर उन्होने अपने दोनो हाथ ऊपर उठाये और ऊपर आते हुए सिंह के ऊपर-नीचे के दोनो ओष्ठ दृढतापूर्वक पकड़ लिये और एक झटके मे ही कपडे की तरह चीर कर दो टुकडे कर के फेंक दिया। सिंह का मरना जान कर लोगो ने हर्षनाद और कुमार का जयजयकार किया। विद्याधरो और व्यन्तर देवो ने पुष्प-वृष्टि की। उधर सिंह के दोनो टुकडे तड़प रहे थे, अभी प्राण निकले नही थे। वह शोकपूर्वक सोच रहा था कि—

"शस्त्र एव कवचधारी और सैकडो सुभटो से घिरे हुए अनेक राजा भी मेरा कुछ नही बिगाड़ सके। वे मुझसे भयभीत रहते थे और इस छोकरे ने मुझे चीर डाला, यही मेरे लिए महान् खेद की बात है।" इस मानसिक दुःख से वह तडप रहा था। उसका यह खेद समझ कर रथ के सारथी ने कहा;—

"वनराज ! तू चिंता मत कर। तू किसी कायर की तरह नही मरा। तुझे मारने

वाला कोई सामान्य पुरुष नही है, किंतु इस अवसर्पिणी काल के होने वाले प्रथम वासुदेव हैं।'

सारथी के वचन सुन कर सिंह निश्चित हो कर मरा और नरक मे गया। मृत सिंह का चर्म उतरवा कर त्रिपृष्ठकुमार ने अश्वग्रीव के पास भेजते हुए दूत से कहा—"इस पशु से डरे हुए अश्वग्रीव को, उसके वध का सूचक यह सिंह-चर्म देना और कहना कि—

"आपकी स्वादिष्ट भोजन की इच्छा को तृप्त करने के लिए, शालि के खेत सुरक्षित हैं। आप खूब जी भर कर भोजन करे।"

इस प्रकार सिंह के उपद्रव को मिटा कर दोनो राजकुमार अपने नगर मे लौट आए। दोनो ने पिता को प्रणाम किया। प्रजापति दोनो पुत्रो को पा कर बडा ही प्रसन्न हुआ और बोला—"मैं तो यह मानता हूँ कि इन दोनो का यह पुनर्जन्म हुआ है।"

अश्वग्रीव ने जब सिंह की खाल और राजकुमार त्रिपृष्ठ का सन्देश सुना, तो उसे वज्रपात जैसा लगा।

त्रिपृष्ठकुमार के लग्न

वैताढ्य पर्वत की दक्षिण श्रेणि मे 'रथनूपुर चक्रवाल' नाम की अनुपम नगरी थी। विद्याधरराज 'ज्वलनजटी' वहाँ का प्रबल पराक्रमी नरेश था। उसकी अग्रमहिषी का नाम 'वायुवेगा' था। इसकी कुक्षि से सूर्य के स्वप्न से पुत्र उत्पन्न हुआ, उसका नाम 'अर्ककीर्ति' था। कालान्तर मे, अपनी प्रभा से सभी दिशाओ को उज्ज्वल करने वाली चन्द्रलेखा को स्वप्न मे देखने के बाद पुत्री का जन्म हुआ। उसका नाम 'स्वयंप्रभा' दिया गया। अर्ककीर्ति, युवावस्था मे बडा वीर योद्धा बन गया। राजा ने उसे युवराज पद पर स्थापित किया। स्वयंप्रभा भी युवावस्था पा कर अनुपम सुन्दरी हो गई। उसका प्रत्येक अग सुगठित, आकर्षक एव मनोहर था। वह अपने समय की अनुपम सुन्दरी थी। उसके समान दूसरी सुन्दरी पृथ्वी पर कहीं भी दिखाई नही देती थी। लोग कहते थे कि 'इतनी सुन्दर स्त्री तो देवांगना भी नहीं है।'

एक बार 'अभिनन्दन' और 'गजनन्दन' नाम के दो 'चारणमुनि'† उस नगर के बाहर उतरे। स्वयंप्रभा उन्हें वन्दन करने आई और उपदेशामृत का पान किया। धर्मोपदेश सुन कर स्वयंप्रभा बड़ी प्रभावित हुई। उसे दृढ़ सम्यक्त्व प्राप्त हुआ और धर्म के रग में

† आकाश में विचरने वाले।

रंग गई। एक वार वह राजा को प्रणाम करने गई। पुत्री के विकसित अंगो को देख कर राजा को चिंता हुई। उसने अपने मन्त्रियो को पुत्री के योग्य वर के विषय मे पूछा।

सुश्रुत नामक मन्त्री ने कहा—"महाराज ! इस समय तो महाराजाधिराज अश्वग्रीव ही सर्वोपरि है। वे अनुपम सुन्दर, अनुपम वीर और विद्याधरो के इन्द्र समान है। उनसे वढ कर कोई योग्य वर नही हो सकता।"

"नही महाराज ! अश्वग्रीव तो अव गत-यौवन हो गया है। ऐसा प्रौढ व्यक्ति राजकुमारी के योग्य नही हो सकता। उत्तर श्रेणि के विद्याधरो मे ऐसे अनेक युवक नरेश या राजकुमार मिल सकते हैं, जो भुजवल, पराक्रम एवं सभी प्रकार की योग्यता से परिपूर्ण हैं। उन्ही मे से किसी को चुनना ठीक होगा"—वहुश्रुत मन्त्री ने कहा।

"महाराज ! इन महानुभावो का कहना भी ठीक है, किन्तु मेरा तो निवेदन है कि उत्तर श्रेणि की प्रभकरा नगरी के पराक्रमी महाराजा मेघवाहन के सुपुत्र 'विद्युत्प्रभ' सभी दृष्टियो से योग्य एव समर्थ है। उसकी वहिन 'ज्योतिर्माला' भी देवकन्या के समान सुन्दर है। मेरी दृष्टि मे विद्युत्प्रभ और राजकुमारी स्वयप्रभा, तथा युवराज अर्ककीर्ति और ज्योतिर्माला की जोडी अच्छी रहेगी। आप इस पर विचार करे"—सुमति नामक मन्त्री ने कहा।

"स्वामिन् ! वहुत सोच समझ कर काम करना है"—मन्त्री श्रुतसागर कहने लगा—"लक्ष्मी के समान परमोत्तम स्त्री-रत्न की इच्छा कौन नही करता ? यदि राजकुमारी किसी एक को दी गई, तो दूसरे क्रुद्ध हो कर कही उपद्रव खडा नही कर दे। इसलिए स्वयंवर करना सव से ठीक होगा। इसमे राजकुमारी की इच्छा पर ही वर चुनने की बात रहेगी और आप पर कोई क्रुद्ध नही हो सकेगा।"

इस प्रकार राजा ने मन्त्रियो का मत जान कर सभा विसर्जित की और सभिन्नश्रोत नाम के भविष्यवेत्ता को बुला कर पूछा। भविष्यवेत्ता ने सोच-विचार कर कहा,—

"महाराज ! तीर्थंकर भगवतो के वचनानुसार यह समय प्रथम वासुदेव के अस्तित्व को वता रहा है। मेरे विचार से अश्वग्रीव की चढती के दिन बीत चुके है। उसके जीवन को समाप्त कर, वासुदेव पद पाने वाले परम वीर पुरुष उत्पन्न हो चुके हैं। मैं समझता हूँ कि प्रजापति के कनिष्ठपुत्र त्रिपृष्ठ कुमार जिन्होने महान् क्रुद्ध एव वलिष्ठ केसरीसिंह को कपडे के समान चीर कर फाड दिया, वही राजकुमारी के लिए सर्वथा योग्य है। उनके समान और कोई नही है।"

राजा ने भविष्यवेत्ता का कथन सहर्ष स्वीकार किया और एक विश्वस्त दूत को

प्रजापति के पास सन्देश ले कर भेजा। राजदूत ने प्रजापति से सम्बन्ध की बात कही और भविष्यवेत्ता द्वारा त्रिपृष्ठकुमार के वासुदेव होने की बात भी कही। राजा भी पत्नी को गर्भकाल मे आये सात स्वप्नो के फल की स्मृति रखता था। उसने ज्वलनजटी विद्याधर का आग्रह स्वीकार कर लिया। जब दूत ने रथनूपुर पहुँच कर स्वीकृति का सन्देश सुनाया, तो ज्वलनजटी बहुत प्रसन्न हुआ। किन्तु वह प्रसन्नता थोडी देर ही रही। उसने सोचा कि—'इस सम्बन्ध की बात अश्वग्रीव जानेगा, तो उपद्रव खडा होगा।' अन्त मे उसने यही निश्चित किया कि पुत्री को ले कर पोतनपुर जावे और वही लग्न कर दे। वह अपने चुने हुए सामन्तो, सरदारो और सैनिको के साथ कन्या को ले कर चल दिया और पोतनपुर नगर के बाहर पडाव लगा कर ठहर गया। प्रजापति उसका आदर करने के लिए सामने गया और सम्मानपूर्वक नगर मे लाया। राजा ने उनके निवास के लिए एक उत्तम स्थान दिया, जिसे विद्याधरो ने एक रमणीय एवं सुन्दर नगर बना दिया। इसके बाद विवाहोत्सव प्रारंभ हुआ और बडे आडम्बर के साथ लग्नविधि पूर्ण हुई।

पत्नी की माँग

त्रिखण्ड की अनुपम सुन्दरी विद्याधरपुत्री स्वयंप्रभा को सामने ले जा कर त्रिपृष्ठ कुमार से व्याहने का समाचार सुन कर, अश्वग्रीव आगबबूला हो गया। भविष्यवेत्ता के कथन और सिंह-वध की घटना के निमित्त से उसके हृदय मे द्वेष का प्रादुर्भाव तो हो ही गया था। उसने इस सम्बन्ध को अपना अपमान माना और सोचा—"मैं सार्वभौम सत्ताधीश हूँ। ज्वलनजटी मेरे अधीन आज्ञापालक है। मेरी उपेक्षा कर के अपनी पुत्री त्रिपृष्ठ को कैसे ब्याह दी ?" उसने अपने विश्वस्त दूत को बुलाया और समझा-बुझा कर ज्वलनवटी के पास पोतनपुर ही भेजा। भवितव्यता उसे विनाश की ओर धकेल रही थी और परिणति, पर-स्त्री की माँग करवा रही थी। विनाशकाल इसी प्रकार निकट आ रहा था। दूत पोतनपुर पहुँचा और ज्वलनजटी के समक्ष आ कर अश्वग्रीव का सन्देश सुनाया और कहा,—

"राजन् ! आपने अपने ही पैरो पर कुल्हाडा मारा है। आपको यह तो सोचना था कि रत्न तो रत्नाकर मे ही सुशोभित होना है, डाबरे—खड्डे मे उसके लिए स्थान नहीं हो सकता। महाराजाधिराज अश्वग्रीव जैसे महापराक्रमी स्वामी की उपेक्षा एवं अवज्ञा कर के आपने अपने विनाश को उपस्थित कर लिया है। अब भी यदि आप अपना हित

चाहते है, तो स्वयप्रभा को शीघ्र ही महाराजाधिराज के चरणो मे उपस्थित कीजिये। दक्षिण लोकार्द्ध के इन्द्र के समान, सम्राट अश्वग्रीव की आज्ञा से मैं आपको सूचना करता हूँ कि इसी समय अपनी पुत्री को ले कर चले।"

दूत के कर्ण-कटु वचन सुन कर भी ज्वलनजटी ने शान्ति के साथ कहा,—

"कोई भी वस्तु किसी को दे-देने के बाद, देने वाले का अधिकार उस वस्तु पर नही रहता। फिर कन्या तो एक वार ही दी जाती है। मैने अपनी पुत्री, त्रिपृष्ठकुमार को दे दी है। अव उसकी मांग करना, किसी प्रकार उचित एव शोभास्पद हो नही सकता। मैं ऐसी मांग को स्वीकार भी कैसे कर सकता हूँ ? यह अनहोनी वात है।"

ज्वलनजटी का उत्तर सुन कर, दूत वहाँ से चला गया। वह त्रिपृष्ठकुमार के पास आया और कहने लगा,—

"विश्वविजेता पृथ्वी पर साक्षात इन्द्र के समान महाराजाधिराज अश्वग्रीव ने आदेश दिया है कि "तुमने अनधिकारी होते हुए, चुपके से स्वयप्रभा नामक अनुपम स्त्री-रत्न को ग्रहण कर लिया। यह तुम्हारी धृष्टता है। मैं तुम्हारा, तुम्हारे पिता का और तुम्हारे वन्धु-बान्धवादि का नियन्ता एव स्वामी हूँ। मैने तुम्हारा बहुत दिनो रक्षण किया है। इसलिए इस सुन्दरी को तुम मेरे सम्मुख उपस्थित करो।" आपको इस आज्ञा का पालन करना चाहिए।"

दूत के ऐसे अप्रत्याशित एव क्रोध को भडकाने वाले वचन सुन कर, त्रिपृष्ठकुमार की भृकुटी चढ गई। आँखे लाल हो गई। वे व्यगपूर्वक कहने लगे,—

"दूत ! तेरा स्वामी ऐसा नीतिमान् है ? वह इस प्रकार का न्याय करता है ? लोकनायक कहलाने वाले की कुलीनता इस माँग मे स्पष्ट हो रही है। इस पर से लगता है कि तेरे स्वामी ने अनेक स्त्रियो का शील लूट कर भ्रष्ट किया होगा। कुलहीन, न्याय-नीति से दूर, लम्पट मनुष्य तो उस बिल्ले के समान है जिसके सामने दूध के कुडे भरे हुए हैं। उनकी रक्षा की आशा कोई भी समझदार नही कर सकता। उसका स्वामित्व हम पर तो क्या, परन्तु ऐसी दुष्ट नीति से अन्यत्र भी रहना कठिन है। कदाचित् वह अव इस जीवन से भी तृप्त हो गया हो। यदि उसके विनाश का समय आ गया हो, तो वह स्वयं, स्वयप्रभा को लेने के लिए यहाँ आवे। वस, अव तू शीघ्र ही यहाँ से चला जा। अब तेरा यहाँ ठहरना मैं सहन नही कर सकता।"

प्रथम पराजय

दूत मरीच वहाँ से लौटा। वह शीघ्रता से अश्वग्रीव के पास आया और सारा वृत्तांत कह सुनाया। अश्वग्रीव के हृदय में ज्वाला के समान क्रोध भभक उठा। उसने विद्याधरों के अधिनायक से कहा,—

"देखा! ज्वलनजटी को कैसी दुर्मति उत्पन्न हुई। वह एक कीड़े के समान होते हुए भी सूर्य से टक्कर लेने को तय्यार हुआ है। वह मूर्ख शिरोमणि है। उसने न तो अपना हित देखा, न अपनी पुत्री का। उसके विनाश का समय आ गया है और प्रजापति भी मूर्ख है। कुलीनता की बड़ी-बड़ी बातें करने वाला त्रिपृष्ठ नहीं जानता कि वह बाप-बेटी के भ्रष्टाचार से उत्पन्न हुआ है। यह त्रिपृष्ठ, अचल का भाई है, या भानजा (बहिन का पुत्र)? और अचल, प्रजापति का पुत्र है, या साला? ये कितने निर्लज्ज हैं? इन्हें बढ़-चढ़ कर बातें करते लज्जा नहीं आती। कदाचित् इनके विनाश के दिन ही आ गये हों? अतएव तुम सेना ले कर जाओ और उन्हें पद-दलित कर दो।"

विद्याधर लोग भी ज्वलनजटी पर क्रुद्ध थे वे स्वयं भी उससे युद्ध करना चाहते थे। इस उपयुक्त अवसर को पा कर वे प्रसन्न हुए और शस्त्र-सज्ज हो कर प्रस्थान कर दिया। ज्वलनजटी ने शत्रु-सेना को निकट आया जान कर स्वयं रणक्षेत्र में उपस्थित हुआ। उसने प्रजापति, राजकुमार अचल और त्रिपृष्ठ को रोक दिया था। घमासान युद्ध हुआ और अन्त में विद्याधरों की सेना हार कर पीछे हट गई और ज्वलनजटी की विजय हुई।

मंत्री का सत्परामर्श

अश्वग्रीव इस पराजय को सहन नहीं कर सका। वह विकराल बन गया। उसने अपने सेनापति और सामन्तों को शीघ्र ही युद्ध का डंका बजाने की आज्ञा दी। तय्यारियाँ होने लगीं। एकदम युद्ध की घोषणा सुन कर महामात्य ने अश्वग्रीव से निवेदन किया,—

"स्वामिन्! आप तो सर्व-विजेता सिद्ध हो ही चुके हैं। तीन खंड के सभी राजाओं को [illegible] आपने अपने आधीन बना लिया है। इस प्रकार आपके प्रबल प्रभाव से [illegible]। अब आप स्वयं एक छोटे-से राजा पर चढ़ाई कर के विशेष क्या प्राप्त कर [illegible]? आपके प्रताप में विशेषता कौन-सी आ जायगी? यदि उस छोटे राजा का भाग्य और [illegible], तो आपका प्रताप भी समस्त नष्ट हो जायगा और तीन खण्ड के राज्य पर आपका [illegible]। रण-क्षेत्र की गति विचित्र होती है। उसके अनिश्चित भविष्य का

के कथन और सिंह के वध से मन मे सन्देह भी उत्पन्न हो रहा है। इसलिए प्रभु ! इस समय सहनशील बनना ही उत्तम है। बिना विचारे अन्धाधुन्द दौडने से महाबली गजराज भी दलदल मे गढ जाता है और चतुराई से खरगोश भी सफल हो जाता है। अतएव मेरी तो यही प्रार्थना है कि आप इस बार सतोष धारण कर ले। यदि आप सर्वथा उपेक्षा नही कर सके, तो सेना भेज दे, परन्तु आप स्वय नही पधारे।

अपशकुन

महामात्य की बात अश्वग्रीव ने नही मानी। इतना ही नही, उसने वृद्ध मन्त्री का अपमान कर दिया। वह आवेश मे पूर्णरूप से भरा हुआ था। उसने प्रस्थान कर दिया। चलते-चलते अचानक ही उसके छत्र का दण्ड टूट गया और छत्र नीचे गिर गया। छत्र गिरने के साथ ही उसके सवारी के प्रधान गजराज का मद सूख गया। वह पेशाब करने लगा और विरस एव रुक्षतापूर्वक चिघाडता हुआ नतमस्तक हो गया। चारो ओर रजोवृष्टि होने लगी। दिन मे ही नक्षत्र दिखाई देने लगे। उल्कापात होने लगा और कई प्रकार के उत्पात होने लगे। कुत्ते ऊँचा मुँह कर के रोने लगे। खरगोश प्रकट होने लगे, आकाश मे चिले चक्कर काटने लगी। काकारव होने लगा, सिर पर ही गिद्ध एकत्रित हो कर मँडराने लगे और कपोत आ कर ध्वज पर बैठ गया। इस प्रकार अश्वग्रीव को अनेक प्रकार के अपशकुन होने लगे। किंतु उसने इन अनिष्टसूचक प्राकृतिक सकेतो की चाह कर उपेक्षा की और बढता ही गया। कुशकुनो को देख कर उसके साथ आये हुए विद्याधरो, राजाओ और योद्धाओ के मन मे भी सन्देह बैठ गया। वे भी उत्साह-रहित हो उदास मन से साथ चलने लगे और रथावर्त्त पर्वत के निकट पडाव कर दिया।

पोतनपुर मे भी हलचल मच गई। युद्ध की तय्यारियाँ होने लगी। विद्याधरो के राजा ज्वलनजटी ने अचलकुमार और त्रिपृष्ठकुमार से कहा,—

"आप दोनो महावीर है। आप से युद्ध कर के अश्वग्रीव अश्वय ही पराजित होगा। वह बल मे आप मे से किसी एक को भी पराजित नही कर सकना। किन्तु उसके पास विद्या है। वह विद्या के बल से कई प्रकार के सकट उपस्थित कर सकता है। इसलिए मैं आपसे आग्रह करता हूँ कि आप भी विद्या सिद्ध कर ले। इससे अश्वग्रीव की सभी चाले व्यर्थ की जा सकेगी।"

ज्वलनजटी की बात दोनों वीरों ने स्वीकार की और दोनों भाई विद्या सिद्ध करने के लिए तत्पर हो गए। ज्वलनजटी स्वयं विद्या सिखाने लगा। सात रात्रि तक यह साधना चलती रही। परिणामस्वरूप ये विद्याएँ सिद्ध हो गईं—

गारुडी, रोहिणी, भुवनक्षोभिणी, कृपाणस्तंभिनी, स्थामशुंभनी, व्योमचारिणी, तमिस्राकारिणी, सिंहत्रासिनी, वेगाभिगामिनी, वैरिमोहिनी, दिव्यकामिनी, रंध्रवासिनी, कृशानुवर्षिणी, नागवासिनी, वारिशोषणी, धरित्रीवारिणी, बन्धनमोचनी, विमुक्तकुंतला, नानारूपिणी, लोहशृंखला, कालराक्षसी, छत्रदशदिशा, क्षणशूलिनी, चन्द्रमौली, रक्षमालिनी, सिद्धताडनिका, पिंगनेत्रा, वनपेशला, ध्वनिता, अहिफणा, घोषिणी और भीरु-भीषणा। इन नामों वाली सभी विद्याएँ सिद्ध हो गईं। इन सब ने उपस्थित हो कर कहा— 'हम आपके वश में हैं।'

विद्या सिद्ध होने पर दोनों भाई ध्यान-मुक्त हुए। इसके बाद सेना ले कर दोनों भाई प्रजापति और ज्वलनजटी के साथ शुभ मुहूर्त में प्रयाण किया और चलते-चलते अपने सीमान्त पर रहे हुए रथावर्त पर्वत के निकट आ कर पड़ाव डाला। युद्ध के शौर्यपूर्ण बाजे बजने लगे। भाट-चारणादि सुभटों का उत्साह बढ़ाने लगे। दोनों ओर की सेना आमने-सामने डट गई। युद्ध आरम्भ हो गया। बाण-वर्षा इतनी अधिक और तीव्र होने लगी कि जिससे आकाश ही ढँक गया, जैसे पक्षियों का समूह सारे आकाश-मंडल पर छा गया हो। शस्त्रों की परस्पर की टक्कर से आग की चिनगारियाँ उड़ने लगी। सुभटों के शरीर कट-कट कर पृथ्वी पर गिरने लगे। थोड़े ही काल के युद्ध में महाबाहु त्रिपृष्ठकुमार की सेना ने अश्वग्रीव की सेना के छक्के छुड़ा दिये। उसका अग्रभाग छिन्न-भिन्न हो गया। अपनी सेना की दुर्दशा देख कर अश्वग्रीव के पक्ष के विद्याधर कुपित हुए। उन्होंने प्रचण्ड रूप धारण किये। कई विकराल राक्षस जैसे दिखाई देने लगे, तो कई केसरी-सिंह जैसे, कई मदमस्त गजराज, कई पशुराज अष्टापद, बहुत-से चिते, सिंह, वृषभ आदि रूप में त्रिपृष्ठ की सेना पर भयंकर आक्रमण करने लगे। इस अचिन्त्य एवं आकस्मिक पाशविक आक्रमण को देख कर त्रिपृष्ठ की सेना स्तंभित रह गई। सैनिक सोचने लगे कि—'यह क्या है? हमारे सामने राक्षसों और विकराल सिंहों की सेना कहाँ से आ गई? ये तो मनुष्य को फाड़ ही डालेंगे। पर्वत के समान हाथी, अपनी सूंडों में पकड़-पकड़ कर मनुष्यों को चीर डालेंगे। इनके पैरों के नीचे सैकड़ों-हजारों मनुष्यों का कच्चर घाण निकल जायगा, अहा! एक स्त्री के लिए इतना नरसंहार।"

सेना के मनोभाव जान कर ज्वलनजटी आगे आया और उसने त्रिपृष्ठकुमार से

कहा—'यह सब विद्याधरो का माया-जाल है। इसमे वास्तविकता कुछ भी नही है। जब इनकी सेना हारने लगी, और हमारी सेना पर इनका जोर नही चला, तो ये विद्या के बल से भयभीत करने को तत्पर हुए हैं। यह इनकी कमजोरी है। ये बच्चो को डराने जैसी कायरता पूर्ण चाल चल रहे हैं। इससे भयभीत होने की जरूरत नही है। अतएव हे महावीर! उठो और रथारूढ हो कर आगे आओ, तथा अपने शत्रुओ को मानरूपी हाथी पर से उतार कर नीचे पटको।"

ज्वलनजटी के वचन सुन कर त्रिपृष्ठकुमार उठे और अपने रथ पर आरूढ हुए। उन्हे सन्नद्ध देख कर सेना भी उत्साहित हुई। सेना मे उत्साह भरते हुए वे आगे आये। अचल बलदेव भी शस्त्रसज्ज रथारूढ हो कर युद्ध-क्षेत्र मे आ गये। इधर ज्वलनजटी आदि विद्याधर भी अपने-अपने वाहन पर चढ कर मैदान मे आ गए। उस समय वासुदेव के पुण्य से आकर्षित हो कर देवगण वहाँ आए और त्रिपृष्ठकुमार को वासुदेव के योग्य 'शार्ग' नामक दिव्य धनुष, 'कौमुदी' नाम की गदा, 'पाचजन्य' नामक शख, 'कौस्तुभ' नामक मणि, 'नन्द' नामक खड्ग और 'वनमाला' नाम की एक जयमाला अर्पण की। इसी प्रकार अचल-कुमार को बलदेव के योग्य—'सवर्तक' नामक हल, 'सौनन्द' नामक मुसल और 'चन्द्रिका' नाम की गदा भेट की। वासुदेव और बलदेव को दिव्य अस्त्र प्राप्त होते देख कर सैनिको के उत्साह मे भरपूर वृद्धि हुई। वे बढ-चढ कर युद्ध करने लगे। उस समय त्रिपृष्ठ वासुदेव ने पाचजन्य शख का नाद कर के दिशाओ को गुजायमान कर दिया। प्रलयकारी मेघ-गर्जना के समान शखनाद सुन कर अश्वग्रीव की सेना क्षुब्ध हो गई। कितने ही सुभटो के हाथो मे से शस्त्र छूट कर गिर गए। कितने ही स्वय पृथ्वी पर गिर गए। कई भाग गए। कई आँखें बन्द किए सकुचित हो कर बैठ गए, कई गुफाओ और खड्डो मे छुप गए और कई थरथर धूजने लगे।

अश्वग्रीव का भयंकर युद्ध और मृत्यु

अपनी सेना को हताश एवं छिन्न-भिन्न हुई देख कर अश्वग्रीव ने सैनिको से कहा—

"ओ, विद्याधरो! वीर सैनिको! एक शख-ध्वनि सुन कर ही तुम इतने भयभीत हो गए? कहाँ गई तुम्हारी वह अजेयता? कहाँ गई प्रतिष्ठा? तुम अपनी आज तक प्राप्त की हुई प्रतिष्ठा का विचार कर के, शीघ्र ही निर्भय बन कर मैदान मे आओ। आकाशचारी

विद्याधरगण ! तुम भी भूचर मनुष्यो से भयभीत हो गए ? यदि युद्ध करने का साहस नही हो, तो युद्ध-मण्डल के सदस्य के समान तो डटे रहो। मैं स्वय युद्ध करता हूँ। मुझे किसी की सहायता की आवश्यकता नही है।"

अश्वग्रीव के उपालम्भ पूर्ण शब्दो ने विद्याधरो के हृदय मे पुन साहस का सचार किया। वे पुन युद्ध-क्षेत्र मे आ गये। अश्वग्रीव स्वयं रथ मे बैठ कर, क्रूर ग्रह के समान शत्रुओ का ग्रास करने के लिए आकाश-मार्ग मे चला और बाणो से, शस्त्रो से और अस्त्रो से त्रिपृष्ठ की सेना पर मेघ के समान वर्षा करने लगा। इस प्रकार अस्त्र-वर्षा से त्रिपृष्ठ की सेना घबडाने लगी। यदि भूमि स्थित मनुष्य धीर, साहसी एव निडर हो, तो भी आकाश से होते हुए प्रहार के आगे वह क्या कर सकता है ?

सेना पर अश्वग्रीव के होते हुए प्रहार को देख कर अचल, त्रिपृष्ठ और ज्वलनजटी, रथारूढ हो कर अपने-अपने विद्याधरो के साथ आकाश मे उडे। अब दोनो ओर के विद्याधर आकाश मे ही विद्याशक्ति युक्त युद्ध करने लगे। इधर पृथ्वी पर भी दोनो ओर के सैनिक युद्ध करने लगे। थोडी ही देर मे आकाश मे लडते हुए विद्याधरो के रक्त से उत्पातकारी अपूर्व रक्त-वर्षा होने लगी। वीरो की हुँकार, शस्त्रो की झकार और घायलो की चित्कार से आकाश-मडल भयंकर हो गया। युद्ध-स्थल मे रक्त का प्रवाह बहने लगा। रक्त और मास, मिट्टी मे मिल कर कीचड हो गया। घायल सैनिको के तडपते हुए शरीरो और गत-प्राण हुए शरीरो को रौंदते हुए सैनिकगण युद्ध करने लगे।

इस प्रकार कल्पात काल के समान चलते हुए युद्ध मे त्रिपृष्ठकुमार ने अपना रथ अश्वग्रीव की ओर बढाया। उन्हे अश्वग्रीव की ओर जाते देख कर अचलकुमार ने भी अपना रथ उधर ही बढाया। अपने सामने दोनो शत्रुओ को देख कर अश्वग्रीव अत्यत क्रोधित हो कर बोला,—

"तुम दोनो मे से वह कौन है जिसने मेरे 'चण्डसिंह' दूत पर हमला किया था ? पश्चिम दिशा के वन मे रहे हुए केसरीसिंह को मारने वाला वह घमडी कौन है ? किसने ज्वलनजटी की कन्या स्वयंप्रभा को पत्नी बना कर अपने लिये विषकन्या के समान अपनाई ? वह कौन मूर्ख है जो मुझे स्वामी नही मानता और मेरे योग्य कन्या-रत्न को दबाये बैठा है ? किस साहस एव शक्ति के बल पर तुम मेरे सामने आये हो ? मैं उसे देखना चाहता हूँ। फिर तुम चाहो, तो किसी एक के साथ अथवा दोनो के साथ युद्ध करूँगा। बोलो, मेरी बात का उत्तर दो।"

अश्वग्रीव की बात सुन कर त्रिपृष्ठकुमार हँसते हुए बोले,—

"रे दुष्ट ! तेरे दूत को सभ्यता का पाठ पढाने वाला, सिह का मारक, स्वयंप्रभा का पति और तुझे स्वामी नही मानने वाला तथा अब तक तेरी उपेक्षा करने वाला मैं ही हूँ। और अपने बल से विशाल सेना को नष्ट करने वाले ये है—मेरे ज्येष्ठ बन्धु अचलदेव। इनके सामने ठहर सके, ऐमा मनुष्य ससार भर मे नही है। फिर तू है ही किस गिनती मे ? हे महावाहु ! यदि तेरी इच्छा हो, तो सेना का विनाश रोक कर अपन दोनो ही युद्ध कर ले। तू इस युद्ध-क्षेत्र मे मेरा अतिथि है। अपन दोनो का द्वद युद्ध हो और दोनो ओर की सेना मात्र दर्शक के रूप मे देखा करे।"

त्रिपृष्ठकुमार का प्रस्ताव अश्वग्रीव ने स्वीकार कर लिया और दोनो ओर की सेनाओ मे सन्देश प्रसारित कर के सैनिको का युद्ध रोक दिया गया। अब दोनो महावीरो का परस्पर युद्ध होने लगा। अश्वग्रीव ने धनुष पर बाण चढाया और उसे झकृत किया। त्रिपृष्ठकुमार ने भी अपना शार्ग धनुप उठाया और उसकी पणच बजा कर वज्र के समान लगने वाला और शत्रुपक्ष के हृदय को दहलाने वाला गम्भीर घोष किया। बाण-वर्षा होने लगी। अश्वग्रीव ने बाण-वर्षा करते हुए एक तीव्र प्रभाव वाला बाण त्रिपृष्ठ पर छोडा। त्रिपृष्ठ सावधान ही थे। उन्होने तत्काल ही बाणछेदक अस्त्र छोड कर उसके बाण को बीच मे ही काट दिया और तत्काल चतुराई से ऐसा बाण मारा कि जिससे अश्वग्रीव का धनुष ही टूट गया। इसके बाद अश्वग्रीव ने नया धनुप ग्रहण किया। त्रिपृष्ठ ने उसे भी काट दिया। एक बाण के प्रहार से अश्वग्रीव के रथ की ध्वजा गिरा दी और उसके बाद उसका रथ नष्ट कर दिया।

जब अश्वग्रीव का रथ टूट गया, तो वह दूसरे रथ मे बैठा और मेघ-वृष्टि के समान बाण-वर्षा करता हुआ आगे बढा। उसने इतने जोर से बाण-वर्षा की कि जिससे त्रिपृष्ठ और उनका रथ, सभी ढक गये। कुछ भी दिखाई नही देता था। किंतु जिस प्रकार सूर्य बादलो का भेदन कर के आगे आ जाता है, उसी प्रकार त्रिपृष्ठ ने अपनी बाण-वर्षा से समस्त आवरण हटा कर छिन्न-भिन्न कर दिये। अपनी प्रबल बाण-वर्षा को व्यर्थ जाती देख कर अश्वग्रीव के क्रोध मे भयंकर वृद्धि हुई। उसने मृत्यु की जननी के समान एक प्रचण्ड शक्ति ग्रहण की और मस्तक पर घुमाते हुए अपना सम्पूर्ण बल लगा कर त्रिपृष्ठ पर फेकी। शक्ति को अपनी ओर आती हुई देख कर त्रिपृष्ठ ने रथ मे से यमराज के दण्ड समान कौमुदी गदा उठाई और निकट आई हुई शक्ति पर इतने जोर से प्रहार किया कि जिससे अग्नि की चिनगारियो के सैकड़ो उल्कापात छोड़ती हुई चूर-चूर हो कर दूर जा गिरी। शक्ति

की विफलता देख कर अश्वग्रीव ने वडा परिघ (भाला) ग्रहण किया और त्रिपृष्ठ पर फेंका, किंतु उसकी भी शक्ति जैसी ही दशा हुई और वह भी कौमुदी गदा के प्रहार से टुकडे-टुकडे हो कर बिखर गया। इसके बाद अश्वग्रीव ने घुमा कर एक गदा फेंकी, किन्तु त्रिपृष्ठ ने आकाश मे ही गदा प्रहार से उसके टुकडे-टुकडे कर दिये।

इस प्रकार अश्वग्रीव के सभी अस्त्र निष्फल हो कर चूर-चूर हो गए, तो वह हताश एव निराश हो गया। 'अब वह क्या करे,' यह चिंता करने लगा। उसका 'नागास्त्र' की ओर ध्यान गया। उसने उसका स्मरण किया। स्मरण करते ही नागास्त्र उपस्थित हुआ। अश्वग्रीव ने उस अस्त्र को धनुष के साथ जोडा। तत्काल सर्प प्रकट होने लगे। जिस प्रकार बाँबी मे से सर्प निकलते है, उसी प्रकार नागास्त्र से सर्प निकल कर पृथ्वी पर दौडने लगे। ऊँचे फण किये हुए और फुंकार करते हुए लम्बे और काले वे सर्प, बडे भयानक लग रहे थे। पृथ्वी पर और आकाश मे जहाँ देखो, वहाँ भयकर सांप ही सांप दिखाई दे रहे थे। त्रिपृष्ठ की सेना, सर्पो के भयकर आक्रमण को देख कर विचलित हो गई। इतने मे त्रिपृष्ठ ने गरुडास्त्र उठा कर छोडा, तो उसमे से बहुत-से गरुड प्रकट हुए। गरुडो को देखते ही सर्प-सेना भाग खडी हुई।

नागास्त्र की दुर्दशा देख कर अश्वग्रीव ने अग्न्यस्त्र का स्मरण किया और प्राप्त कर छोडा, तो उससे चारो ओर उल्कापात होने लगा और त्रिपृष्ठ की सेना चारो ओर से दावानल मे घिरी हो— ऐसा दिखाई देने लगा। सेना अपने को पूर्ण रूप से अग्नि से व्याप्त मान कर घबडा गई। सैनिक इधर-उधर दुबकने लगे। यह देख कर अश्वग्रीव की सेना के सैनिक उत्साहित हो कर हँसने लगे, उछलने और खिल्ली उडाने लगे तथा तालियाँ पीट-पीट कर जिव्हा से व्यग बाण छोडने लगे। यह देख कर त्रिपृष्ठ ने रुष्ट हो कर वरुणास्त्र उठा कर छोडा। तत्काल आकाश मेघ से आच्छादित हो गया और वर्षा होने लगी। अश्वग्रीव की फैलाई हुई अग्नि शात हो गई। जब अश्वग्रीव के सभी प्रयत्न व्यर्थ गये, तब उसने अपने अतिम अस्त्र, अमोघ चक्र का स्मरण किया। सैकडो आरो से निकलती हुई सैकडो ज्वालाओ से प्रकाशित, सूर्य-मण्डल के समान दिखाई देने वाला वह चक्र, स्मरण करते ही अश्वग्रीव के सम्मुख उपस्थित हुआ। चक्र को ग्रहण कर के अश्वग्रीव ने त्रिपृष्ठ से कहा,—

"अरे, ओ त्रिपृष्ठ ! तू अभी बालक है। तेरा वध करने से मुझे बाल-हत्या का पाप लगेगा। इसलिए मैं कहता हूँ कि तू अब भी मेरे सामने से हट जा और युद्ध-क्षेत्र से बाहर चला जा। मेरे हृदय मे रही हुई दया, तेरा वध करना नही चाहती। देख, मेरा

यह चक्र, इन्द्र के वज्र के समान अमोघ है। यह न तो पीछे हटता है और न व्यर्थ ही जाता है। मेरे हाथ से यह चक्र छुटा कि तेरे शरीर से प्राण छुटे। इसमे किसी प्रकार का सन्देह नही है। इसलिए क्षत्रियत्व एवं वीरत्व के अभिमान को छोड कर, मेरे अनुशासन को स्वीकार कर ले। मैं तेरे पिछले सभी अपराध क्षमा कर दूंगा। मेरे मन मे अनुकम्पा उत्पन्न हुई है। यह तेरे सद्भाग्य का सूचक है। इसलिए दुराग्रह छोड़ कर सीधे मार्ग पर आजा।"

अश्वग्रीव की वात सुन कर त्रिपृष्ठ हँसते हुए वोले,—

"अश्वग्रीव! वास्तव मे तू वृद्ध एव शिथिल हो गया है। इसीसे उन्मत्त के समान दुर्वचन वोल रहा है। तुझे विचार करना चाहिए कि वाल केसरीसिंह, वडे गजराज को देख कर डरता नही, गरुड का छोटा वच्चा भी वडे भुजग को देख कर विचलित नही होता और वाल सूर्य भी सध्याकाल रूप राक्षस से भयभीत नही होता। मैं बालक हूँ, फिर भी तेरे सामने युद्ध करने आया हूँ। मैंने तेरे अव तक के सारे अस्त्र व्यर्थ कर दिये, अव फिर एक अस्त्र और छोड कर, उसका भी उपयोग कर ले। पहले से इतना घमण्ड क्यो करता है?"

त्रिपृष्ठ के वचन से अश्वग्रीव भडका। उसके हृदय मे क्रोध की ज्वाला सुलग उठी। उसने चक्र को ऊँचा उठा कर अपने सिर पर खूब घुमाया और सम्पूर्ण बल से उसे त्रिपृष्ठ पर फेंका। चक्र ने त्रिपृष्ठ के वज्रमय एव शिला के समान वक्षस्थल पर आघात किया और टकरा कर वापिस लौटा। चक्र के अग्रभाग के दृढतम आघात से त्रिपृष्ठ मूर्च्छित हो कर नीचे गिर गये और चक्र भी स्थिर हो गया। त्रिपृष्ठ की यह दशा देख कर उसकी सेना मे हाहाकार मच गया। अपने लघुवन्धु को मूर्च्छित देख कर अचलकुमार को मानसिक आघात लगा और वे भी मूर्च्छित हो गए। दोनो को मूर्च्छित देख कर अश्वग्रीव ने सिंहनाद किया और उसके सैनिक जयजयकार करते हुए हर्षोन्मत्त हो कर किलकारी करने लगे।

कुछ समय बीतने पर अचलकुमार की मूर्च्छा दूर हुई। वे सावधान हुए। जब उनका ध्यान हर्षनाद की ओर गया, तो उन्होने इसका कारण पूछा। सेनाधिकारियो ने कहा—"त्रिपृष्ठकुमार के मूर्च्छित हो जाने पर शत्रु-सेना प्रसन्नता से उन्मत्त हो उठी है। यह उसी की ध्वनि है।" अचलकुमार को यह सुन कर क्रोध चढा। उन्होने गर्जना करते हुए अश्वग्रीव से कहा—

"रे दुष्ट! ठहर, मैं तेरे हर्षोन्माद की दवा करता हूँ।" उन्होने गदा उठाई और अश्वग्रीव पर झपटने ही वाले थे कि त्रिपृष्ठ सावधान हो गए। उन्होने ज्येष्ठ वन्धु को

रोकते हुए कहा, —

"आर्य ! ठहरिये, ठहरिये, मुझे ही अश्वग्रीव की करणी का फल चखाने दीजिए। वह मुख्यत मेरा अपराधी है। आप उसके घमण्ड का अंतिम परिणाम देखिये।"

राजकुमार अचल, छोटे बन्धु को सावधान देख कर प्रसन्न हुए और उसको अपनी भुजाओं मे बाँध कर आलिंगन करने लगे। सेना मे भी विषाद के स्थान पर प्रसन्नता व्याप गई। हर्षनाद होने लगा। त्रिपृष्ठ ने देखा कि अश्वग्रीव का फेंका हुआ चक्र पास ही निस्तब्ध पडा है। उन्होने चक्र को उठाया और गर्जनापूर्वक अश्वग्रीव से कहने लगे, —

"ऐ अभिमानी वृद्ध ! अपने परम अस्त्र का परिणाम देख लिया ? यदि जीवन प्रिय है, तो हट जा यहाँ से। मैं भी एक वृद्ध की हत्या करना नही चाहता। यदि अब भी तू नही, मानेगा और अभिमान से अडा ही रहेगा, तो तू समझले कि तेरा जीवन अब कुछ क्षणो का ही है।"

अश्वग्रीव इन वचनो को सहन नही कर सका। वह भ्रकुटी चढा कर बोला—

"छोकरे ! वाचालता क्यो करता है। जीवन प्यारा हो, तो चला जा यहाँ से। नही, तो अब तू नही बच सकेगा। तेरा कोई भी अस्त्र और यह चक्र मेरे सामने कुछ भी नही है। मेरे पास आते ही मैं इसे चूर-चूर कर दूंगा।"

अश्वग्रीव की बात सुनते ही त्रिपृष्ठ ने क्रोधपूर्वक उसी चक्र को ग्रहण किया और बलपूर्वक घुमा कर अश्वग्रीव पर फेंका। चक्र सीधा अश्वग्रीव की गर्दन काटता हुआ आगे निकल गया। त्रिपृष्ठ की जीत हो गई। खेचरो ने त्रिपृष्ठ वासुदेव की जयकार से आकाश गुँजा दिया और पुष्प-वर्षा की। अश्वग्रीव की सेना मे रुदन मच गया। अश्वग्रीव के सबधी और पुत्र एकत्रित हुए और अश्रुपात करने लगे। अश्वग्रीव के शरीर का वही अग्नि-सस्कार किया। वह मृत्यु पा कर सातवी नरक मे, ३३ सागरोपम की स्थिति वाला नारक हुआ।

उस समय देवो ने आकाश मे रह कर उच्च स्वर से उद्घोषणा करते हुए कहा, —

"राजाओ ! अब तुम मान छोड कर भक्तिपूर्वक त्रिपृष्ठ वासुदेव की शरण मे आओ। इस भरत-क्षेत्र मे इस अवसर्पिणी काल के ये प्रथम वासुदेव हैं। ये महाभुज त्रिखड भरत-क्षेत्र की पृथ्वी के स्वामी होगे।"

यह देववाणी सुन कर अश्वग्रीव के पक्ष के सभी राजाओ ने श्री त्रिपृष्ठ वासुदेव के समीप आ कर प्रणाम किया और हाथ जोड कर विनति करते हुए इस प्रकार बोले, —

"हे नाथ ! हमने अज्ञानवश एवं परतन्त्रता से अब तक आपका जो अपराध किया, उसे क्षमा करें। अब आज से हम आपके अनुचर के समान रहेंगे और आपकी सभी आज्ञाओं का पालन करेंगे।"

वासुदेव ने कहा—"नहीं, नहीं, तुम्हारा कोई अपराध नहीं है। स्वामी की आज्ञा में युद्ध करना, यह क्षत्रियों का कर्त्तव्य है। तुम भय छोड़ कर मेरी आज्ञा से अपने-अपने राज्य में निर्भय हो कर राज करते रहो।"

इस प्रकार सभी राजाओं को आश्वस्त कर के त्रिपृष्ठ वासुदेव, इन्द्र के समान अपने अधिकारियों और सेना के साथ पोतनपुर आये। उसके बाद वासुदेव, अपने ज्येष्ठ-बन्धु अचल बलदेव के साथ सातों रत्नों + को ले कर दिग्विजय करने चल निकले।

उन्होंने पूर्व में मागधपति, दक्षिण में वरदाम देव और पश्चिम में प्रभास देव को आज्ञाधीन कर के वैताढ्य पर्वत पर की विद्याधरों की दोनों श्रेणियों को विजय किया और दोनों श्रेणियों का राज, ज्वलनजटी को दे दिया। इस प्रकार दक्षिण भरतार्द्ध को साध कर वासुदेव, अपने नगर की ओर चलने लगे। चलते-चलते वे मगधदेश में आये। वहाँ उन्होंने एक महाशिला, जो कोटि पुरुषों से उठ सकती थी और जिसे 'कोटिशिला' कहते थे, देखी। उन्होंने उस कोटिशिला को बायें हाथ से उठा कर मस्तक से भी ऊपर छत्रवत् रखी। उनके ऐसे महान् बल को देख कर साथ के राजाओं और अन्य लोगों ने उनकी प्रशंसा की। कोटिशिला को योग्य स्थान पर रख कर आगे बढ़े और चलते-चलते पोतनपुर के निकट आये। उनका नगर-प्रवेश बड़ी धूमधाम से हुआ। शुभ मुहूर्त में प्रजापति, ज्वलनजटी, अचल-बलदेव आदि ने त्रिपृष्ठ का 'वासुदेव' पद का अभिषेक किया। बड़े भारी महोत्सव से यह अभिषेक सम्पन्न हुआ।

भगवान् श्रेयांसनाथजी ग्रामानुग्राम विचरते हुए पोतनपुर नगर के उद्यान में पधारे। समवसरण की रचना हुई। वनपाल ने वासुदेव को प्रभु के पधारने की बधाई दी। वासुदेव, सिंहासन त्याग कर उस दिशा में कुछ चरण गये और जा कर प्रभु को वन्दन-नमस्कार किया। फिर सिंहासन पर बैठ कर बधाई देने वाले को साढ़े बारह कोटि स्वर्ण-मुद्रा का पारितोषिक दिया। इसके बाद वे आडम्बरपूर्वक भगवान् को वन्दने के लिए निकले। विधिपूर्वक भगवान् की वन्दना की और भगवान् की धर्मदेशना सुनने में तन्मय

+ १ चक्र २ धनुष ३ गदा ४ शंख ५ कौस्तुभमणि ६ खड्ग और ७ वनमाला। ये वासुदेव के सात रत्न हैं।

हो गए। देशना सुन कर कितने ही लोगो ने सर्वविरति प्रव्रज्या स्वीकार की, कितनो ही ने देशविरति ग्रहण की और वासुदेव-वलदेव आदि बहुत-से लोगो ने सम्यग्दर्शन रूपी महा-रत्न ग्रहण किया।

भगवान् केवलज्ञान होने के दो मास कम इक्कीस लाख वर्ष तक इस अवनीतल पर विचरते रहे। आपके गोशुभ आदि ७६ गणधर ८४००० साधु, १०३००० साध्वियें, १३०० चौदह पूर्वधर, ६००० अवधिज्ञानी, ६००० मन पर्यवज्ञानी, ६५०० केवलज्ञानी, ११००० वैक्रिय लब्धि वाले, ५००० वाद-लब्धि वाले, २७९००० श्रावक और ४४८००० श्राविकाएँ हुई। मोक्ष समय निकट जान कर भगवान् समेदशिखर पर्वत पर चढे और एक हजार मुनियो के साथ अनशन किया। एक मास के अनशन से श्रावण-कृष्णा तृतीया के दिन धनिष्ठा नक्षत्र मे चन्द्रमा के आने पर प्रभु का निर्वाण कल्याणक हुआ। प्रभु, अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य और अनन्त आनन्दमय स्वरूप वाले परमपद को प्राप्त हुए।

भगवान् कुमार अवस्था मे २१००००० वर्ष, राज्याधिपति रूप मे ४२००००० वर्ष और संयम-पर्याय मे २१००००० वर्ष, यो कुल ८४००००० वर्ष की कुल आयु भोग कर मोक्ष पधारे। इन्द्रो ने प्रभु का निर्वाण महोत्सव किया।

त्रिपृष्ठ की क्रूर ा और मृत्

त्रिपृष्ठ वासुदेव ३२००० रानियो के साथ भोग भोगते हुए काल व्यतीत करने लगे। महारानी स्वयप्रभा से 'श्रीविजय और विजय' नाम के दो पुत्र हुए। एक बार रति सागर मे लीन वासुदेव के पास कुछ गायक आये। वे संगीत मे निपुण थे। विविध प्रकार के श्रुति-मधुर संगीत से उन्होने वासुदेव को मुग्ध कर लिया। वासुदेव ने उन्हे अपनी सगीत मण्डली मे रख लिया। एक बार वासुदेव उन कलाकारो के सुरीले सगीत मे गृद्ध हो कर शय्या मे सो रहे थे। वे उनके सगीत पर अत्यंत मुग्ध थे। उन्होने शय्यापालक को आज्ञा दी कि "मुझे नीद आते ही सगीत वन्द करवा देना।" नरेन्द्र को नीद आ गई, किन्तु शय्यापालक ने संगीत वन्द नही करवाया। वह स्वय राग मे अत्यंत गृद्ध हो गया था। रातभर सगीत होता रहा। पिछली रात को जव वासुदेव की आंख खुली, तो उन्होने शय्यापालक से पूछा,—

"मुझे नीद आने के वाद सगीत-मण्डली को विदा क्यो नही किया ?"

—"महाराज ! मैं स्वयं उनके रसीले राग और सुरीली तान में मुग्ध हो गया था--इतना कि रात बीत जाने का भी भान नहीं रहा"—शय्यापालक ने निवेदन किया।

यह सुनते ही वासुदेव के हृदय में क्रोध उत्पन्न हो गया। उस समय तो उन्होंने कुछ भी नहीं कहा, किन्तु दूसरे ही दिन सभा में शय्यापालक को बुलवाया और अनुचरों को आज्ञा दी कि "इस संगीत-प्रिय शय्यापालक के कानों में उबलता हुआ रांगा भर दो। यह कर्त्तव्य भ्रष्ट है। इसने राग-लुब्ध हो कर राजाज्ञा का उल्लंघन किया और संगीतज्ञों को रातभर नहीं छोड़ा।"

नरेश की आज्ञा का उसी समय पालन हुआ। बिचारे शय्यापालक को एकान्त में ले जा कर, उबलता हुआ रांगा कानों में भर दिया। वह उसी समय तीव्रतम वेदना भोगता हुआ मर गया। इस निमित्त से वासुदेव ने भी क्रूर परिणामों के चलते अशुभतम कर्मों का बन्ध कर लिया।

नित्य विषयासक्त, राज्यमूर्च्छा में लीनतम, बाहुबल के गर्व से जगत् को तृणवत् तुच्छ गिनने वाले, हिंसा में निःशंक, महान् आरम्भ और महापरिग्रह तथा क्रूर अध्यवसाय से सम्यक्त्व रूप रत्न का नाश करने वाले वासुदेव, नारकी का आयु बांध कर और ८४००००० वर्ष का आयु पूर्ण कर के सातवीं नरक में गया। वहाँ वे तेतीस सागरोपम काल तक महान् दुःखों को भोगते रहेंगे। प्रथम वासुदेव ने कुमारवय में २५००० वर्ष, माण्डलिक राजा के रूप में २५००० वर्ष, दिग्विजय में एक हजार वर्ष और वासुदेव (सार्वभौम नरेन्द्र) के रूप में ८३४९००० वर्ष, इस प्रकार कुल आयु चौरासी लाख वर्ष का भोगा।

अपने छोटे भाई की मृत्यु होने से अचल बलदेव को भारी शोक हुआ। वे विक्षिप्त के समान हो गए। उच्च स्वर से रोते हुए वे अपने भाई को—नींद से जगाते हो, उस प्रकार झँझोड़ कर सावधान करने का व्यर्थ प्रयत्न करने लगे। इस प्रकार करते-करते वे मूर्च्छित हो गए। मूर्च्छा हटने पर वृद्धों के उपदेश से उनका मोह कम हुआ। वासुदेव की मृत-देह का अग्नि-संस्कार किया गया। किन्तु बलदेव को भाई के बिना नहीं सुहाता। वे घर-बाहर इधर-उधर भटकने लगे। अंत में धर्मघोष आचार्य के उपदेश से विरक्त हो कर दीक्षित हुए और विशुद्ध रीति से संयम का पालन करते हुए, केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त किया और आयु पूर्ण होने पर मोक्ष प्राप्त कर लिया। उनकी कुल आयु ८५००००० वर्ष की थी।

॥ भगवान् श्रेयांसनाथजी का चरित्र सम्पूर्ण ॥

भ० वासुपूज्यजी

पुष्करवर द्वीपार्द्ध के पूर्व विदेह क्षेत्र मे, 'मगलावती' नाम के विजय मे 'रत्नसंचया' नाम की एक विशाल एव समृद्ध नगरी थी। 'पद्मोत्तर' नरेश वहाँ का शासन करते थे। वे जिनेश्वर भगवान् की उपासना करने वाले थे। उनका राज्य, समुद्र पर्यन्त फैला हुआ था।

एक बार अनित्य भावना मे लीन बने हुए महाराजा पद्मोत्तर के हृदय मे वैराग्य बस गया। उन्होने वज्रनाभ मुनिवर के समीप प्रव्रज्या ग्रहण कर ली। साधना मे उत्तरोत्तर वृद्धि करते हुए आपने तीर्थंकर नाम-कर्म का बध कर लिया और बहुत वर्षों तक सयम का पालन करते हुए, आयु पूर्ण कर के प्राणत नाम के दसवे देवलोक मे महर्द्धिक देव हुए।

जबूद्वीप के दक्षिण भरतार्द्ध मे 'चपा' नाम की एक नगरी थी। उस विशाल मनोहर एव समृद्ध नगरी के स्वामी महाराजा 'वसुपूज्य' थे। वे दानेश्वरियो मे अग्रगण्य थे। उनका शासन न्याय-नीति एवं सदाचारपूर्वक चल रहा था। नरेश जिनेश्वर भगवान् के सेवक थे। उनकी पटरानी का नाम 'जयादेवी' था। वह सुलक्षणी, सद्‌गुणो की पात्र और लक्ष्मी के समान सौभाग्यशालिनी थी। पद्मोत्तर राजा का जीव, देवलोक का सुखमय जीवन व्यतीत कर के, आयुष्य पूर्ण होने पर ज्येष्ठ-शुक्ला नौमी के दिन शतभिषा नक्षत्र के साथ चन्द्रमा का योग होने पर, जयादेवी की कुक्षि मे उत्पन्न हुआ। जयादेवी ने तीर्थंकर के योग्य चौदह महास्वप्न देखे। फाल्गुन मास के कृष्ण-पक्ष की चतुर्दशी को शतभिषा नक्षत्र मे पुत्र का जन्म हुआ। देव-देवियो और इन्द्रो ने जन्मोत्सव किया। पिता के नाम पर ही पुत्र का 'वासुपूज्य' नाम दिया। कुमार क्रमश वृद्धि पाने लगे।

वि ाह नहीं करूँगा

यौवन वय प्राप्त होने पर अनेक देश के राजाओ ने राजकुमार वासुपूज्य के साथ अपनी राजकुमारियो का वैवाहिक सम्बन्ध जोडने के सन्देश भेजे। माता-पिता ने युवराज वासुपूज्य को विवाह करने और राज्य का भार वहन करने की प्रेरणा की। किन्तु ससार से विरक्त प्रभु ने अपनी हार्दिक इच्छा व्यक्त करते हुए कहा,—

"पिताश्री ! आपका पुत्र-स्नेह मैं जानता हूँ। किन्तु मैं चतुर्गति रूप संसार मे भ्रमण करते हुए ऐसे सम्बन्ध अनन्त बार कर चुका हूँ। ससार-सागर मे भटकते हुए मैंने जन्म-मरणादि के अनन्त दु ख भोगे। अब मैं ससार से उद्विग्न हो गया हूँ। इसलिए अब मेरी इच्छा एकमात्र मोक्ष साधने की है। आप लग्न की बात छोड कर प्रव्रज्या ग्रहण करने की अनुमति दीजिए।"

पुत्र की बात सुन कर पिता ने गद्गद् स्वर से कहा,—

"पुत्र! मै जानता हूँ कि तुम भोगार्थी नही हो। तुम्हारे मोक्षार्थी एव जगदुद्धारक होने की बात मैं तभी जान गया था, जब तुम गर्भ मे आये थे। देवो ने तुम्हारा जन्मोत्सव किया था। किन्तु विवाह करने से और राज्य का सचालन करने से तुम्हारी मुक्ति नही रुकेगी। कुछ काल तक अर्थ और काम पुरुषार्थ का सेवन करने के बाद धर्म और मोक्ष पुरुषार्थ मे प्रवृत्ति हो सकेगी। तुम्हारे पूर्व हुए आदि तीर्थंकर भ० ऋषभदेवजी और अन्य तीर्थंकरो ने भी विवाह किया था और राज्य-भार भी उठाया था। उसके बाद वे मोक्षमार्ग मे प्रवृत्त हुए थे। इसी प्रकार तुम भी विवाह करो और राज्य का भार सम्हाल कर हमे मोक्ष-साधना मे लगने दो।"

—"पिताश्री! आपने कहा वह ठीक है। मैं गत महापुरुषो के चरित्र जानता हूँ। सभी मनुष्यो और महापुरुषो का जीवन, समग्र दृष्टि से समान नही होता। जिनके भोग-फल-दायक कर्मो का उदय हो, उन्हे विवाह भी करना पडता है और राज्य सचालन भी करना पडता है। जिनके ऐसे कर्मो का उदय नही होता, वे अविवाहित एवं कुमार अवस्था मे ही त्याग-मार्ग पर चल देते हैं। भावी तीर्थंकर श्री मल्लिनाथजी और श्री अरिष्टनेमिजी भी अविवाहित रह कर ही प्रव्रजित हो जावेगे। चरम तीर्थंकर भ० महावीर के भोग-कर्म स्वल्प होने से विवाह तो करेगे, किन्तु थोडे काल के बाद, कुमार अवस्था मे ही प्रव्रजित हो जावेगे। वे राज्य का सचालन नही करेगे। विवाह करने और भोग-भोगने तथा राज्याधिपति बनने मे वैसे भोग योग्य कर्मों का उदय कारणभूत होता है। जिनके वैसे कर्म उदय मे आते हैं, वे वैसी प्रवृत्ति करते है। मेरी इनमे रुचि नही है। आप अपने मोह को त्याग कर मुझे निर्ग्रंथ दीक्षा लेने की अनुमति प्रदान करे।"

भ० वासुपूज्यजी

पुष्करवर द्वीपार्द्ध के पूर्व विदेह क्षेत्र मे, 'मगलावती' नाम के विजय मे 'रत्नसचया' नाम की एक विशाल एव समृद्ध नगरी थी। 'पद्मोत्तर' नरेश वहाँ का शासन करते थे। वे जिनेश्वर भगवान् की उपासना करने वाले थे। उनका राज्य, समुद्र पर्यन्त फैला हुआ था।

एक बार अनित्य भावना मे लीन बने हुए महाराजा पद्मोत्तर के हृदय मे वैराग्य बस गया। उन्होने वज्रनाभ मुनिवर के समीप प्रव्रज्या ग्रहण कर ली। साधना मे उत्तरोत्तर वृद्धि करते हुए आपने तीर्थंकर नाम-कर्म का बध कर लिया और बहुत वर्षों तक सयम का पालन करते हुए, आयु पूर्ण कर के प्राणत नाम के दसवे देवलोक मे महर्द्धिक देव हुए।

जबूद्वीप के दक्षिण भरतार्द्ध मे 'चपा' नाम की एक नगरी थी। उस विशाल मनोहर एव समृद्ध नगरी के स्वामी महाराजा 'वसुपूज्य' थे। वे दानेश्वरियो मे अग्रगण्य थे। उनका शासन न्याय-नीति एवं सदाचारपूर्वक चल रहा था। नरेश जिनेश्वर भगवान् के सेवक थे। उनकी पटरानी का नाम 'जयादेवी' था। वह सुलक्षणी, सद्गुणो की पात्र और लक्ष्मी के समान सौभाग्यशालिनी थी। पद्मोत्तर राजा का जीव, देवलोक का सुखमय जीवन व्यतीत कर के, आयुष्य पूर्ण होने पर ज्येष्ठ-शुक्ला नौमी के दिन शतभिषा नक्षत्र के साथ चन्द्रमा का योग होने पर, जयादेवी की कुक्षि मे उत्पन्न हुआ। जयादेवी ने तीर्थंकर के योग्य चौदह महास्वप्न देखे। फाल्गुन मास के कृष्ण-पक्ष की चतुर्दशी को शतभिषा नक्षत्र मे पुत्र का जन्म हुआ। देव-देवियो और इन्द्रो ने जन्मोत्सव किया। पिता के नाम पर ही पुत्र का 'वासुपूज्य' नाम दिया। कुमार क्रमश वृद्धि पाने लगे।

इस पर योग्य विचार करना चाहिए ।"

तारक को गुप्तचरो की बात लग गई । वह उत्तेजित हो गया । उसने अपने सेनापति को बुला कर आज्ञा दी, —

"सेनापति ! तुम अपने सामत राजाओ के साथ, सेना ले कर द्वारिका जाओ और ब्रह्म राजा को उसके पुत्रो सहित मार डालो । उनको उठते ही कुचल देना ठीक होगा। उपेक्षा करने से व्याधि के समान शत्रु भी असाध्य हो जाता है।

राजा की आज्ञा सुन कर वृद्ध मन्त्री ने निवेदन किया—

"महाराज ! जरा शाति से विचार करो । ब्रह्म राजा के विषय मे यह पहली ही शिकायत है । वह आज तक आपका आज्ञाकारी सामन्त रहा है । किसी खास कारण के बिना चढाई कर देना अन्याय होगा । इससे दूसरे सामन्तो के मन मे सन्देह उत्पन्न होगा और सन्देह होने पर वे भी विश्वास के योग्य नही रह सकेगे । जिनमे विश्वास नही होगा, वे आज्ञा का पालन कैसे कर सकेगे और आज्ञा का पालन नही हुआ, तो स्वामित्व कैसे रहेगा ? इसलिए पहले उस पर किसी अपराध का आरोप लगा कर, उसके पास अपना दूत भेजना चाहिए और दण्ड स्वरूप श्रेष्ठ हाथी, घोडे और रत्नो की माग करनी चाहिए । यदि वह माग अस्वीकार कर दे, तो फिर उसी अपराध मे उन्हे मार देना ठीक होगा । नियमपूर्वक काम करने मे अनीति का आरोप नही लगता और दूसरो के मन मे सन्देह उत्पन्न नही होता ।"

तारक नरेश ने मन्त्री की सलाह मानी और अपना विश्वस्त दूत द्वारिका, ब्रह्म राजा के पास भेजा । राजा ने दूत को समानपूर्वक अपने पास बिठाया और प्रेमालाप करने के वाद आने का कारण पूछा । दूत ने कहा, —

"हे द्वारकेश ! स्वामी की आज्ञा है कि आपके पास जो भी सर्वश्रेष्ठ हाथी, घोडा और रत्नादि उत्तम सामग्री हो, वह हमारी सेवा मे प्रस्तुत करो । इस अर्ध भरत-क्षेत्र मे जो भी सर्वश्रेष्ठ वस्तु हो, उसका भोग भरताधिपति ही कर सकते हैं । मैं यही सन्देश ले कर आया हूँ ।"

राजकुमार भी यह वात सुन रहे थे । राजा के बोलने के पूर्व ही द्विपृष्ट कुमार क्रुद्ध हो कर गर्जना करते हुए वोले, —

"तुम्हारा स्वामी तारक राजा, न तो हमारे वश का ज्येष्ठ पुरुष है और न हमारा स्वामी ही है । यह राज, तारक ने हमे या हमारे वश को दान मे नही दिया और न वह

इस राज्य का रक्षक ही है। फिर वह हमारा स्वामी कैसे बन गया ? जिस प्रकार वह अपने भुज-बल से, हम से हाथी-घोडे और रत्न माँगता है, उसी प्रकार हम भी अपने भुज-बल से, तुम्हारे राजा से ये ही वस्तुएँ माँगते है। इसलिए हे दूत ! तुम यहाँ से चले जाओ। हम स्वय तुम्हारे राजा से, उसके मस्तक के साथ ये वस्तुएँ हस्तगत करने के लिए वहाँ आवेगे।"

दूत ने जा कर सारी बात तारक नरेश से कही। तारक की क्रोधाग्नि भडकी। उसने उसी समय युद्ध की घोषणा कर दी। अधिनस्थ राजागण, सामन्तगण, सेनापति और विशाल सेना सज्ज हो कर युद्ध के लिए तत्पर हो गई। प्रयाण के प्रारम्भ मे ही भूकम्प, विद्युत्पात, कौओ की कर्राहट आदि अशुभ परिणाम सूचक लक्षण प्रकट हुए। किंतु तारक नरेश ने क्रोधावेश मे इन सभी अशुभ सूचक प्राकृतिक लक्षणो की उपेक्षा कर के प्रयाण कर ही दिया और शीघ्रता से आगे बढने लगे।

इधर ब्रह्म राजा और दोनो कुमार भी अपनी सेना ले कर आ गये। महान् संहारक युद्ध होने लगा। लाखो मनुष्य मारे गये। चारो ओर रक्त का समुद्र जैसा बन गया। उसमे कटे हुए हाथ, पाँव, मस्तक आदि तैरने लगे। मनुष्यो, घोड़ो और हाथियो के शव के ढेर हो गये। द्विपृष्ट कुमार ने विजय-रथ पर आरूढ हो कर पांचजन्य शख का नाद किया। इस शखनाद से तारक की सेना त्रस्त हो उठी। अपनी सेना को भयभीत देख कर तारक भी रथारूढ हो कर द्विपृष्ट कुमार के सामने आया। तारक की ओर से भयंकर शस्त्र प्रहार होने लगे। द्विपृष्ट ने तारक के सभी अस्त्रो को अपने पास आते ही नष्ट कर दिये। अन्त मे तारक ने चक्र उठाया और अपने सम्पूर्ण बल के साथ द्विपृष्ट कुमार पर फेंका। चक्र के आघात से द्विपृष्ट कुमार मूर्च्छित हो गये। किन्तु थोडी ही देर मे सावधान हो कर उसी चक्र को ग्रहण किया और तारक को अतिम चेतावनी देते हुए कहा,—

"ऐ मृत्यु के ग्रास वृद्ध तारक ! जीवन प्रिय हो, तो अब भी हट जा मेरे सामने से। अन्यथा यह तेरा सर्वश्रेष्ठ अस्त्र ही तुझे चिर निद्रा मे सुला देगा।"

तारक की मृत्यु आ गई थी। वह नही माना और द्विपृष्ट द्वारा फेंके हुए चक्र से ही वह मृत्यु पा कर नरक मे गया। तारक-पक्ष के सभी राजा और सामत, द्विपृष्ट के आधीन हो गए। द्विपृष्ट ने उसी स्थान से दिग्विजय प्रारम्भ कर दिया और दक्षिण भरत-क्षेत्र को जीत कर उसका अधिपति हो गया। द्विपृष्ट का अर्द्धचक्री—वासुदेवपन का अभि-

षेक भी बडे आडम्बर के साथ हो गया।

× × × ×

एक मास पर्यंत छद्मस्थ अवस्था मे विचरने के बाद महाश्रमण श्री वासुपूज्य स्वामी, विहारगृह नामक उद्यान मे (जहाँ दीक्षित हुए थे) पधारे और माघ मास की शुक्ल द्वितीया के दिन, शतभिषा नक्षत्र मे, उपवास के तप से, पाटल वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ रहे हुए प्रभु ने शुक्लध्यान के दूसरे चरण मे प्रवेश कर के घातिकर्मो का क्षय कर दिया और केवलज्ञान, केवलदर्शन प्राप्त कर लिया। देवो ने समवसरण की रचना की। प्रभु ने धर्मोपदेश दिया।

धर्मदेशना

धर्म-दुर्लभ भावना

इस अपार संसार रूपी समुद्र मे मनुष्य-भव की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है। जिस प्रकार स्वयम्भूरमण समुद्र के एक किनारे पर, पानी मे डाला हुआ जूआ और दूसरे किनारे पर डाली हुई शमिला का सयोग मिलना बहुत ही कठिन है, उसी प्रकार मनुष्य-भव की प्राप्ति भी महान् दुर्लभ है। इस प्रकार बडी कठिनाई से प्राप्त हुआ मनुष्य-भव व्यर्थ अथवा पाप सञ्चय मे नही गँवाना चाहिए। किन्तु धर्म की आराधना कर के सार्थक करना चाहिए।

यो तो ससार मे अनेक धर्म है, किन्तु जिनेश्वर भगवंत का बताया हुआ धर्म ही सर्व-श्रेष्ठ है। इस धर्म का अवलम्बन करने वाला, कभी ससार-सागर मे नही डूबता, नरक-निगोद मे जा कर दुखी नही होता। यह धर्म, सयम (सभी प्रकार की अहिंसा) सत्य-वचन शौच (अचौर्य रूपी पवित्रता) ब्रह्मचर्य, निष्परिग्रहता, तप और क्षमा, मृदुता, सरलता निर्लोभता आदि दस प्रकार का कहलाता है।

धर्म के प्रभाव से कल्पवृक्षादि ऐसी वस्तुएँ प्राप्त होती है, कि जो अधर्मियो की दृष्टि मे भी नही आती। यह धर्म, सदैव साथ रहने वाला और अत्यन्त वात्सल्यता को धारण करने वाला है। दु ख-सागर मे डूबते हुए प्राणी को धर्म ही बचाता है।

धर्म के प्रभाव से समुद्र, पृथ्वी मे प्रलय नहीं मचाता और वर्षा, पृथ्वी के प्राणियो के हृदय मे आश्वासन एवं शान्ति उत्पन्न करती है। धर्म की शक्ति से अग्नि की लपटें

तिरछी नही जाती और वायु की गति ऊर्ध्व नही होती। यदि धर्म सहायक नही होता और अग्नि की लपटे तिरछी जाती, तो पृथ्वी पर के सभी प्राणी जल कर भस्म हो जाते। वायु की गति ऊर्ध्व होती, तो पृथ्वी पर के जीव और अन्य वस्तुएँ उड कर आकाश मे चली जाती। बिना किसी आधार और अवलम्बन के यह पृथ्वी ठहरी हुई है और अनन्त जीव-अजीव को धारण कर रही है। यह भी धर्म के ही प्रभाव से है। धर्म के शासन से ही विश्व के उपकार के लिए सूर्य और चन्द्रमा का उदय होना है।

जिसके कोई बन्धु नही है, उसका यह विश्व-वत्सल धर्म ही बन्धु है। जिसके कोई मित्र नही, उसका मित्र धर्म है। यह अनाथो का नाथ और रक्षक-विहीन जीवो का रक्षक है। यह नरक मे पडते हुए प्राणियो की रक्षा करने वाला है। इसकी कृपा से जीव, उन्नत होता हुआ सर्वज्ञ-सर्वदर्शी होता है और परम सुख को प्राप्त कर लेता है।

मिथ्यादृष्टि लोगो ने दस प्रकार के धर्म को तात्विक दृष्टि से कभी नही देखा, नही जाना। यदि किसी ने कही इनका उल्लेख किया हो, तो वह केवल वाणी का नृत्य ही है। वाणी मे तो तत्व, प्राय सभी के रह सकता है और किसी-किसी के मन मे भी तत्त्वार्थ रह सकता है, (अविरत सम्यग्दृष्टियो के ?) किन्तु जिन-धर्म को स्पर्श करने वाले पुरुषो के तो वाणी, मन और क्रिया मे—सभी मे तत्वार्थ होता है। जिनकी बुद्धि कुशास्त्रो के आधीन हो गई है, वे धर्म-रत्न को बिलकुल नही जानते। गोमेघ, नरमेघ और अश्वमेघादि करने वाले प्राणी-घातक जीवो को धर्म की प्राप्ति कैसे हो सकती है ? असत्यत, परस्पर विरोधी, अस्तित्व-हीन और जिनमे सुज्ञ पुरुषो को श्रद्धा नही हो सके, ऐसी कल्पित बातो को बताने वाले शास्त्र-रचयिताओ मे धर्म मिले ही कैसे ? धर्म को नही जानने वाले पुरुषो से अधार्मिक व्यवस्था होती है। जैसे—परद्रव्य को हरण करने के नियम और मिट्टी तथा पानी से आत्मा की शुद्धि होने का विधान।

"स्त्री सेवन नही कर के ऋतुकाल का उल्लघन करने वाले को गर्भहत्या का पाप लगे"—इस प्रकार कह कर, ब्रह्मचर्य का नाश करने वालो मे धर्म की सम्भावना भी कैसे हो सकती है ? यजमान का सर्वस्व लेने की इच्छा करने वाले और द्रव्य के लिए प्राण-त्याग करने वालो मे 'निष्परिग्रहता' नही हो सकती। स्वल्प अपराध होने पर क्षणमात्र मे शाप देने वाले लौकिक ऋषियो मे क्षमा का लेश भी दिखाई नही देता। जाति आदि के मद से और दुराचरण से जिनके हृदय सराबोर रहते है, ऐसे चतुर्थ आश्रम वाले सन्यासियो मे कोमलता-सरलता नही हो सकती। हृदय मे दंभ रखने वाले और ऊपर से बुगला-भक्त बनने

वाले ऐसे पाखड व्रत वालो मे सरलता नही होती। गृह और पुत्रादि के परिग्रह वाले और लोभ के कुलग्रह रूप जीवो मे निर्लोभिता नही हो सकती। इस प्रकार के अनेक दोषो से युक्त लोगो का बताया हुआ मार्ग, कदापि धर्म नही हो सकना। वास्तविक और सर्वथा निर्दोष धर्म तो राग-द्वेष और मोह से रहित तथा केवलज्ञान से सुशोभित ऐसे अरिहत भगवतो का ही है। इस प्रकार के विशुद्ध धर्म से जिनेश्वर भगवतो की महानता और निर्दोषता सिद्ध होती है।

मनुष्य राग-द्वेष के कारण असत्यवादी बनता है, किन्तु जिनेश्वर भगवत मे राग-द्वेष का लेश भी नही है, फिर उनमे असत्यवादिता कैसे आ सकती है? जिनके चित्त रागादि दोषो से कलुषित होते हैं, उनके मुँह से सत्य वाणी नही निकलती। जो याग-हवन आदि कर्म करते हैं, वापी, कूप, तालाब, नदी आदि मे स्नान करने से पुण्य होना मानते है, पशु का घात कर के स्वर्ग सुख की आशा करते हैं, ब्राह्मण-भोजन से पितरो को तृप्त होना मानते हैं, 'घृतयोनि'* आदि कर के प्रायश्चित्त करते है। पाँच प्रकार की आपत्तियाँ आने पर स्त्रियो का पुनर्विवाह करवाते है। यदि स्त्री मे पुत्र को जन्म देने की शक्ति हो, तो उसमे 'क्षेत्रज पुत्र'‡ की उत्पत्ति करवाने का निरूपण करते है। दूषित स्त्रियाँ रजस्राव से शुद्ध होती है—ऐसा मानते है। कल्याण की बुद्धि से यज्ञ मे बकरो को मार कर उनके लिग से आजीविका करते हैं, सौत्रामणि और सप्ततंतु यज्ञ मे मदिरा का पान करते हैं। विष्टा खाने वाली गायो का स्पर्श कर के पवित्र होना मानते हैं। जल आदि के स्नान मात्र से पापो की शुद्धि होना कहते हैं। बड, पीपल, आँवली आदि वृक्षो की पूजन करते है। अग्नि मे किये हुए हव्य से देवो की तृप्ति होना मानते हैं। पृथ्वी पर गाय दूहने से अरिष्ट (दु ख) की शान्ति होना कहते है। ऐसे व्रत और धर्म का उपदेश करते है कि जिससे स्त्रियो को मात्र विडम्बना ही होती है। लम्बी जटा, भस्म, अगराग और कोपिन धारण करते हैं। आक, धतूरे और मालूर के फूलो से देव की पूजा करते हैं। गीत नृत्य करते हुए वार-वार अप-शब्द वोलते हैं। मुख बिगाड कर गीत नाद करते हैं। असभ्य भाषा पूर्वक देव, मुनि और लोगो को सम्बोधन करते हैं। व्रत का भग कर के दासी-दासपना करना चाहते हैं। कन्दादि अनन्तकाय और फल-मूल तथा पत्र का भक्षण करते है। स्त्री

---

* यदि कोई पुरुष पर-स्त्री सग करे, तो घृत की योनि बना कर दान देने से प्रायश्चित्त हो कर शुद्धि होना माना जाता है।

‡ पति के अभाव मे अन्य पुरुष के सग से जो स्त्री, पुत्र उत्पन्न करती है, वह पुत्र 'क्षेत्रज' कहलाता है।

और पुत्र के साथ वन मे जा कर बसते हैं। भक्षाभक्ष, पेयापेय और गम्यागम्य का विवेक छोड कर समान रूप से आचरण करते हैं, तथा 'योगी' के नाम से प्रसिद्ध होते हैं। कई कौलाचार्य के शिष्य होते हैं। इनके तथा अन्य कई मतावलम्बियो के मन मे जैन धर्म का स्पर्श भी नही हुआ है। उन्हे यह भी मालूम नही है कि धर्म क्या है ? धर्म का फल क्या है ? और उनके धर्म मे प्रामाणिकता कितनी है ?

श्री जिनेश्वर भगवंत के बताये हुए धर्म की आराधना से इस लोक तथा परलोक मे जो सुखदायक फल होता है, वह तो आनुसागिक (गोण रूप) है। मुख्य फल तो मोक्ष ही है। जिस प्रकार खेती करने का मुख्य फल धान्य की प्राप्ति है। इसके साथ जो पलाल—भूमा आदि की प्राप्ति होती है, वह गोण रूप है। उसी प्रकार धर्म-करणी का मुख्य फल मोक्ष ही है। सासारिक सुख होता है, वह गोण रूप है।

जैन-धर्म अलौकिक धर्म है। इसका उद्देश्य आत्मा की दबी हुई अनन्त शक्तियो का विकास कर के परमात्म-पद प्राप्त कराना है। इस धर्म की आराधना से आत्मा, अपने भीतर रहे हुए अनन्त सहज सुखो को प्रकट कर के आत्मानन्द मे लीन रहती है।

> स्व ातः ु धर्मोऽयं, वद्भिर्जिनोत्तमैः।
> यं समालंबमानो हि, न मज्जेद् भवसागरे ॥१॥
> मः सुनृतं शौचं, ब्रह्माकि तपः।
> क्षंतिर्मार्दवमृजुता, मुक्तिश्च दशधा स तु ॥२॥

केवलज्ञान-केवलदर्शन के धारक जिनेश्वर भगवत ने, आत्म-कल्याणकारी धर्म का स्वरूप बहुत ही स्पष्टता से बतलाया है। जो भव्यात्माएँ इस शक्तिशाली धर्म का अवलम्बन करती है, वे ससार भ्रमण रूपी भव-सागर मे नही डूबती, किन्तु शाश्वत सुखो की भोक्ता बन जाती है। जिनेश्वरोपदेशित धर्म, संयम (अहिंसा) सत्य, शौच (अदत्त त्याग) ब्रह्मचर्य, अकिंचनता, तप, क्षमा, नम्रता, सरलता और निर्लोभता रूप दस प्रकार का है।

आगे धर्म का महात्म्य बतलाते हुए कहा है कि—

> धर्म-प्रभावतः कल्पद्रुमाद्या ददतिप्सितम्।
> गोचरेपि न ते यत्स्युर धर्माधिष्टितात्मनाम् ॥३॥
> अपारे व्यसनांभोधो पततं पाति देहिनम्।
> सदा सविधवर्त्येको बंधुर्धर्मोऽतिवत्सलः ॥४॥

अप्लावयति नांभोधिराश्वासयति चांबुदः ।
यन्महीं स प्रभावोयं ध्रुवं धर्मस्य केवलः ॥५॥
न ज्वलत्यनलस्तिर्यग् यदूर्ध्वं वाति नानिलः ।
अचिंत्य महिमा तत्र, धर्म एव निबंधनम् ॥६॥
निरालंबा निराधारा, विश्वाधारा वसुन्धरा ।
यच्चावतिष्ठते तत्र, दिन्यन्न कारणम् ॥७॥
सूर्याचन्द्रमसावेतौ विश्वोपकृतिहेतवे ।
उदयेते जगत्यस्मिन्, नून धर्मस्य शासनात् ॥८॥

—कल्पवृक्ष जो इच्छित फल देता है, कामधेनु जो मनोकामना पूर्ण करती है और चिन्तामणि रत्न जो सभी प्रकार की चिन्ताओ को दूर कर के वैभवशाली बनाता है, वह धर्म के फल स्वरूप ही मिलता है । अधर्मी—पापी मनुष्यो को तो इन उत्तम वस्तुओ का दर्शन भी नही होता ।

कल्पवृक्ष का योग उन भाग्यशाली मनुष्यो को मिलता है, जिनके शुभ-कर्मो का उदय हो, जिनकी मनोवृत्ति प्रशस्त हो, जिनमे बुरी भावनाएँ नही उभडती हो, ऐसे युगलिक जीवो को कल्पवृक्ष का योग मिलता है । इन वृक्षो से उनकी सभी प्रकार की इच्छाओ की पूर्ति हो जाती है ।

कामधेनु गाय जो देवाधिष्ठित कही जाती है और चिन्तामणि रत्न भी उन्ही भाग्यशाली को मिलता है जो धर्मसाधना कर के शुभ-कर्मो का सग्रह करते है ।

महान् दुखो से भरपूर ऐसे अपार ससार रूपी सागर मे पडते हुए जीवो का, परम वत्सल एव बान्धव के समान रक्षा करने वाला एकमात्र धर्म ही है ।

जिसमे सारा ससार डूब कर नष्ट हो सकता है, ऐसा महासागर भी पृथ्वी को नही डुबाता, और जो मेघ, सूर्य के प्रखर ताप से तप्त बनी हुई पृथ्वी को जल-सिंचन से शीतल कर के फलद्रुप बनाता है, यह भी धर्म का ही प्रभाव है ।

अग्नि का स्वभाव ऊर्ध्वगामी है, यह भी धर्म का प्रताप मानना चाहिए, अन्यथा वह तिरछी चाल चलने लगे, तो सभी को जला कर भस्म कर दे । जिनके पाप-कर्मो का उदय होता है, वहाँ जलती हुई आग, हवा के जोर से तिरछी गति कर के गाँव के गाँव भस्म कर देती है ।

वायु की गति ऊर्ध्व नही हो कर तिरछी गति है, यह भी धर्म के ही प्रताप से है। यदि वायु की गति ऊर्ध्व होती, तो सभी वस्तुएँ उड कर आकाश मे चली जाती और हम पृथ्वी पर सुखपूर्वक नही रह सकते। वायु-प्रकोप से कभी मकान आदि उड जाते है, यह स्थिति पापोदय वालो के लिए कारणभूत होती है। यदि वायु का स्वभाव ही उस प्रकार वेगपूर्वक ऊर्ध्व गमन का होता, तो जीवो की क्या दशा होती ? वास्तव मे यह धर्म का ही प्रभाव है कि जिससे महावायु और प्रतिकूल वायु पर अकुश रहता है।

विश्वभर के लिए आधारभूत यह पृथ्वी, किसके आधार पर है ? यह घनोदधि आदि तथा आकाश पर आधारित पृथ्वी, नीचे चली जा कर सभी को नष्ट क्यो नही कर देती ? क्या इसे कोई ईश्वर जैसी महाशक्ति उठाये हुए है ? नही, यह स्वभाव से है और धर्म के प्रताप से इसमे विभाव पैदा नही होता। जहाँ पापोदय विशेष हो, वहाँ भूकम्प आदि विभाव उत्पन्न हो कर विनाश होता है। अतएव पृथ्वी की स्वाभाविक स्थिति भी धर्म के प्रभाव से प्रभावित है।

जीवो को सूर्य का प्रकाश और चन्द्र की ज्योति मिलती है और उससे विश्व का उपकार होता है, वह भी धर्माज्ञा से प्रभावित है। जहाँ व जब सूर्य का प्रकाश न्यूनाधिक होता है, तब लोगो के कष्ट बढते हैं।

अबन्धूनामसौ बन्धु—रसखीनामसौ सखा।
अनाथानामसौ नाथो, धर्मो विश्वैकवत्सलः ॥९॥
रक्षोयक्षोरगव्याघ्र—व्यालानलगरादयः।
नापकर्त्तुमलं तेषां, यै ˘ ˘: शरणं श्रितः ॥१०॥
धर्मो नरक पाताल—पातादवति देहिनः।
[illegible] निरुपमं यच्छत्यपि सर्वज्ञवैभवम् ॥११॥

जिसके कोई भाई नही, उसका सच्चे अर्थ मे धर्म ही भाई है। धर्म अमित्र का मित्र और अनाथ का नाथ है। यह सभी का हित करने वाला है। जिसने धर्म का शरण लिया है, उसे यक्ष-राक्षस आदि नही सता सकते, सांप नही काटता, सिंह वार नही करता, और अग्नि तथा विष आदि कष्ट उत्पन्न नही कर सकते। धर्म प्राणी को नरक एव अधोलोक मे नही गिरने देता। यह धर्म की ही महिमा है कि जिससे जीव, सर्वज्ञता रूपी अनुपम आत्म-लक्ष्मी को प्राप्त कर परम ऐश्वर्यशाली परमात्मा बन जाता है।

जिन्हे सद्भाग्य से ऐसे विश्वोत्तम धर्म की प्राप्ति हुई है, उन्हे इससे अधिकाधिक लाभ प्राप्त कर जीवन सफल बनाना चाहिए।"

भगवान् ने तीर्थ स्थापना की। 'सूक्ष्म' आदि ६६ गणधर हुए। ग्रामानुग्राम विचरते हुए प्रभु, द्वारिका नगरी के उद्यान मे पधारे। द्विपृष्ट वासुदेव, भगवान् को वन्दना करते आये। भगवान् की अमोघ देशना सुन कर कई भव्यात्माओ ने ससार का त्याग कर, निर्ग्रंथ-प्रव्रज्या स्वीकार की। कई ने देशविरति ग्रहण की और वासुदेव-बलदेव आदि बहुतजनों ने सम्यक्त्व स्वीकार कर मिथ्यात्व का त्याग किया।

भगवान् वासुपूज्य स्वामी के ७२००० साधु, एक लाख साध्वियें, १२०० चौदह पूर्वधर, ५४०० अवधिज्ञानी, ६१०० मन.पर्यवज्ञानी, ६००० केवलज्ञानी, १०००० वैक्रेय-लब्धिधारी, ४७०० वादी, २१५००० श्रावक और ४३६००० श्राविकाएँ हुई। भगवान् एक मास कम ५४००००० वर्ष तक केवल-पर्याय युक्त तीर्थंकर रहे। आयुष्य समाप्ति का समय निकट आने पर भगवान् चम्पा नगरी पधारे। ६०० मुनियो के साथ अनशन स्वीकार किया और एक मास के बाद मोक्ष प्राप्त किया।

प्रभु १८००००० वर्ष कुमार अवस्था मे और ५४००००० वर्ष श्रमण-पर्याय मे, यो कुल ७२००००० वर्ष का आयु भोगा। देवो ने प्रभु का निर्वाण महोत्सव किया।

दूसरे वासुदेव, महा आरम्भ और महा परिग्रह युक्त और देव जैसे भोग भोग कर, आयु पूर्ण होने पर, छठी नरकभूमि मे उत्पन्न हुए। कुमारपन मे ७५००० वर्ष, ७५००० मंडलिक राजापने, १०० वर्ष दिग्विजय मे और ७२४९९०० वर्ष वासुदेवपने रहे। कुल आयु ७४००००० वर्ष का भोगा। वासुदेव की मृत्यु के बाद, संसार से विरक्त हो कर विजय बलदेव, श्री विजयसिंह आचार्य के समीप दीक्षित हुए और कर्म क्षय कर के मोक्ष प्राप्त किया।

बारहवें तीर्थ

गवान्

॥ वासुपूज्यजी । रि ॥

भ विमलनाथजी

धातकी-खड द्वीप के पूर्व-विदेह क्षेत्र की भरत नामक विजय मे महापुरी नाम की नगरी थी। पद्मसेन महाराज उस नगरी के शासक थे। वे गुणो के भडार और बलवानो मे सर्वोपरि थे। जैनधर्म पर उनकी प्रगाढ श्रद्धा थी। वे राज्य का सचालन अनासक्ति पूर्वक कर रहे थे। उनके हृदय मे वैराग्य बसा हुआ था। श्री सर्वगुप्त आचार्य का योग पा कर वे दीक्षित हो गए और चारित्र तथा तप की उत्कट आराधना करते हुए तीर्थंकर नाम-कर्म का बन्ध कर लिया। बहुत वर्षों तक विशुद्ध चारित्र पालते एव उग्र तप करते हुए आयु पूर्ण कर के वे सहस्रार देवलोक मे महान् ऋद्धिशाली देव हुए।

इस जम्बूद्वीप के भरत-क्षेत्र मे 'कम्पिलपुर' नामक नगर था। वह नगर धन, जन, वैभव और सुख-समृद्धि से भरपूर था। 'कृतवर्मा' नाम के नरेश वहाँ के अधिपति थे। वे धीर, वीर, नीतिवान् और सद्गुणी थे। महारानी श्यामादेवी उनकी अग्रमहिषी थी। महारानी भी कुल, शील, लक्षण एव वर्णादि मे सुशोभित तथा श्री-सम्पन्न थी।

पद्मसेन मुनिराज का जीव, वैशाख-शुक्ला द्वादशी को उत्तराभाद्रपद नक्षत्र मे सहस्रार देवलोक से च्यव कर महारानी श्यामादेवी की कुक्षि मे उत्पन्न हुआ। महारानी ने चौदह महास्वप्न देखे। गर्भकाल पूर्ण होने पर माघ-शुक्ला तृतीया की मध्यरात्रि को उत्तराभाद्रपद नक्षत्र मे महारानी ने एक परम तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया। उस समय सभी ग्रह अपने-अपने उच्च स्थान पर थे। जन्म होते ही छप्पन कुमारिका देवियें, सूतिका कर्म करने

के लिए आ गई और अन्य देव तथा इन्द्र भी जन्मोत्सव करने आये। मेरु-पर्वत पर देवो ने जन्मोत्सव किया। प्रात काल होने पर महाराज कृतवर्मा नरेश ने भी जन्मोत्सव प्रारभ किया। गर्भकाल मे माता, विशेष विमल (निर्मल) हो गई थी, इसलिए पुत्र का नाम 'विमलकुमार' रखा गया। यौवन-वय प्राप्न होने पर राजकुमारियो के साथ विमलकुमार का विवाह हुआ। पन्द्रह लाख वर्ष पर्यन्त कुमार अवस्था मे रहने के बाद पिता ने कुमार का राज्याभिषेक कर दिया। तीस लाख वर्ष तक आप राज्य का संचालन करते रहे। इसके बाद आपने वर्षीदान दे कर संसार का त्याग कर दिया और माघ-शुक्ला चतुर्थी के दिन जन्म-नक्षत्र मे ही, बेले के तप से, एक हजार राजाओ के साथ दीक्षा ग्रहण की। फिर आप ग्रामानुग्राम विचरने लगे।

स्वयंभू सुदेव चरित्र

इस जम्बूद्वीप के पश्चिम महाविदेह क्षेत्र की आनन्दकरी नगरी मे 'नन्दीसुमित्र' नाम का राजा राज करता था। वह महाबलवान् और विवेकवान् था। ससार की असारता पर उसके मन मे उद्वेग था। राज का संचालन करते हुए भी वह अलिप्त रहता था और सर्वत्यागी बनने का मनोरथ कर रहा था। श्री सुव्रताचार्य मुनिराज का योग मिलते ही वह प्रव्रजित हो गया और संयम तथा विविध अभिग्रह युक्त तप करता हुआ आयु पूर्ण कर के अनुत्तर विमान मे देव हुआ।

भरत-क्षेत्र की श्रावस्ति नगरी मे धनमित्र नाम का राजा राज करता था। धनमित्र की मित्रता के वश हो कर 'बलि' नाम का एक दूसरा राजा भी श्रावस्ति मे ही आ कर धनमित्र के साथ रहने लगा। वे दोनो द्युतक्रीडा मे आसक्त हो कर पासा फेंक कर खेलने लगे। वे दोनो इस खेल मे इतने लुब्ध रहते कि हिताहित का भी विचार नहीं करते। वे युद्ध के समान एक दूसरे को हरा कर विजय प्राप्त करने के लिए सम्पत्ति को दाँव पर लगाने लगे। होते-होते धनमित्र ने अपना सारा राज्य दाँव पर लगा दिया और हार गया। वह कगाल के समान राज्य छोड कर चला गया और विक्षिप्त के समान भटकने लगा। भटकते हुए उसे निर्ग्रंथ अनगार श्री सुदर्शन मुनि के दर्शन हुए। धर्मदेशना सुन कर वह दीक्षित हो गया और सयम तथा तप की आराधना करता हुआ विचरने लगा। वह चारित्र की आराधना तो करता था, किन्तु 'बलि' राजा के द्वारा हुए अपने अपमान को

अपने हृदय से निकाल नही सका। उसे रह-रह कर मित्र द्वारा हुआ विश्वासघात और अपमान खटकने लगा। अत मे उसने निदान (दृढ सकल्प) कर ही लिया कि—'यदि मेरे तप का फल हो, तो मैं भवान्तर मे उस मित्र-द्रोही 'वलिराजा' का वध कर के उसके पाप का बदला लूं," इस प्रकार तप से प्राप्त आत्मवल को दाँव पर लगा दिया और अनशन कर के मृत्यु पा कर वह वारहवे स्वर्ग मे उत्पन्न हुआ।

वलि राजा भी कालान्तर मे राज का त्याग कर के साधु हो गया और संयम पाल कर देवलोक मे गया। वहाँ से आयु पूर्ण कर के भरत-क्षेत्र के नन्दनपुर नगर के 'समर-केसरी' राजा की सुन्दरी रानी की कुक्षि से पुत्र के रूप मे उत्पन्न हुआ। वह बडा प्रतापी, योद्धा और महत्वाकाक्षी हुआ। उसने वैताढ्य पर्वत तक के आधे भरत-क्षेत्र को जीत लिया और अर्द्ध चक्रवर्ती 'मेरक' नामक 'प्रतिवासुदेव' हुआ। उसकी समानता करने वाला उस समय दूसरा कोई भी राजा नही था। उसकी आज्ञा का उल्लंघन करने की शक्ति किसी मे नही थी।

द्वारिका नगरी मे रुद्र नाम का राजा था। उसके 'सुप्रभा' और 'पृथिवी' नाम की दो रानियाँ थी। 'नन्दीसुमित्र' का जीव, अनुत्तर विमान से च्यव कर सुप्रभादेवी की कुक्षि मे उत्पन्न हुआ। माता ने वलदेवपद को सूचित करने वाले चार महास्वप्न देखे। जन्म होने पर पुत्र का 'भद्र' नाम रखा गया। वह अनुक्रम से बढता हुआ एक महा वलवान् योद्धा हुआ।

धनमित्र का जीव, अच्युत स्वर्ग से च्यव कर पृथिवीदेवी की कुक्षि मे उत्पन्न हुआ और सात महास्वप्न से, वासुदेव पद के धारक विशिष्ट शक्तिशाली महापुरुष के आगमन का सन्देश मिला। जन्म होने पर पुत्र का 'स्वयंभू' नाम दिया गया। कुमार दिन-प्रति-दिन वढने लगा। वडे भाई भद्र का स्वयंभू पर अत्यंत स्नेह था। स्वयंभू भी अद्वितीय बलवान् और सभी कलाओ मे प्रवीण हो गया।

एक वार दोनो राजकुमार, मन्त्री-पुत्र और अन्य साथियो के साथ नगर के समीप के उपवन मे क्रीडा करने गये। उन्होने देखा कि वहुत-से हाथी-घोडे और धन से भरपूर तथा वहुत-से सैनिको से युक्त एक पडाव जमा हुआ है। उन्होने मन्त्री से पूछा। पता लगाने पर मालूम हुआ कि—

'शशिसौम्य राजा पर, महाराजाधिराज 'मेरक' क्रुद्ध हो गया और दण्ड-स्वरूप उसकी सम्पत्ति की मांग की। शशिसौम्य, अपने जीवन की रक्षा के लिए यह सव सम्पत्ति

दण्ड-स्वरूप भेज रहा है।'

यह बात सुनते ही स्वयभू कुमार का कोप जाग्रत हुआ। उसने गर्वपूर्वक कहा—

"तो यह रत्न-भडार और हाथी-घोड़े, शशिसौम्य से दण्ड मे लिये जा रहे है? अब इनका स्वामी शशिसौम्य नही रहा? हम चाहते है कि यह सम्पत्ति मेरक की भी नही बने यह सब हमारा है। हमारे सामने से—हमारे देखते, यह मेरक के पास नही जा सकती। यदि बलवान् ही सब सम्पत्ति का स्वामी हो सकता है, तो हम भी इसे प्राप्त कर सकते हैं।"

उन्होने अपने सैनिको को आज्ञा दी,—"तुम जाओ और उपवन के समीप लगे हुए पडाव मे से सभी हाथी-घोडे, रत्न-भण्डार और शस्त्रादि लूट लाओ।"

सैनिक गये और धावा कर दिया। रक्षक-दल स्तब्ध रह गया। वह इस अचानक आक्रमण के लिए तय्यार नही था। सभी भाग गये और सारी सम्पत्ति सरलता से प्राप्त हो गई। उन भागे हुए सैनिको ने नन्दनपुर जा कर मेरक नरेश के सामने अपनी दुर्दशा और लूट का वर्णन किया। मेरक नरेश का कोप भड़का। उन्होने चढाई करने की आज्ञा दी, किंतु मन्त्री ने रोकते हुए कहा,—

"महाराज! यह दुर्घटना बालको की उद्दडता से हुई है। इसका दण्ड रुद्र को नहीं मिलना चाहिए। रुद्र राजा आपका आज्ञाकारी रहा है। वह सारी सम्पत्ति लौटा देगा और विशेष मे कुछ भेट भेज कर क्षमा याचना करेगा। हमे उसके पास दूत भेज कर उपालभ देना चाहिए। इस प्रकार शाति से काम हो जाय, तो अच्छा है। अन्यथा बाद मे भी आप शक्ति का प्रयोग कर के उसे दण्ड दे सकेगे।"

मन्त्री का परामर्श मान्य हुआ और उसी को दूत बना कर द्वारिका भेजा गया। मन्त्री ने रुद्र राजा को समझाया,—

"नरेश! तुम्हारे पुत्रो ने यह अनर्थ क्यो कर डाला? आप तो इसके परिणाम को जानते ही हैं। स्वामी का मान रखने के लिए उसके कुत्ते का भी अनादर नही होता, तब इन कुमारो ने कैसा भयकर दुसाहस कर डाला। अब सारी सामग्री और अपनी ओर से विशेष भेंट भेज कर इस कलुष को धो डालिये। इससे शाति हो जायगी और कुमारो के अविनय को अज्ञानता का आवरण ढँक देगा।"

मन्त्री की बात सुन कर राजा विचार मे पड गया। इतने मे राजकुमार स्वयभू कहने लगे,—

—"आपकी स्वामी-भक्ति और पिताश्री के प्रति पूज्य-भाव से आपने जो परामर्श

दिया, वह सत्य एव उचित है। किन्तु आप भी सोचिये कि हमने जो सम्पत्ति प्राप्त की, वह मेरक की तो नही थी ? यदि आपका स्वामी, अपने बल के अधिकार से दूसरो की सम्पत्ति का स्वामी हो सकता है, तो हम क्यो नही हो सकते ? हम भी अपने भुज-बल से उसका सारा राज्य छीन सकते हैं। 'वीर-भोग्या वसुन्धरा'—जब पृथ्वी का राज्य, वीर पुरुष ही कर सकते है, तो अकेला मेरक ही वीर नही है। मेरे ज्येष्ठ-बन्धु महाबाहु भद्रजी और मैं अपनी शक्ति से यह समस्त भूमि, आपके राजा से छीन लेगे और दक्षिण-भरत मे निष्कटक राज्य करेगे। मेरक ने भी दूसरे राजाओ को जीत कर राज्य प्राप्त किया है, तो हम उस अकेले को जीत कर पूरा राज्य अपने अधिकार मे कर लेगे।"

स्वयभू कुमार की बाते सुन कर मन्त्री को आश्चर्य हुआ और उनकी सामर्थ्य का अनुमान कर के भय भी लगा। वे वहाँ से लौट गये और मेरक नरेश से सभी बाते स्पष्ट रूप से कह दी। मेरक की कषायाग्नि प्रज्वलित हो गई। वह विशाल सेना ले कर द्वारिका की ओर चल दिया। इधर राजकुमार स्वयंभू भी अपने पिता, ज्येष्ठ-भ्राता और सेना ले कर राज्य की सीमा की ओर चल दिए। दोनो सेनाओ का सामना होते ही युद्ध प्रारम्भ हो गया। भयकर नरसंहार मच गया। फिर दोनो ओर से विविध प्रकार के भयकर अस्त्रो का प्रहार होने लगा। अत मे मेरक द्वारा छोड़े हुए चक्र के आघात से स्वयभू कुमार मूच्छित हो कर रथ मे गिर गए। थोडी देर मे सावधान हो कर उसी चक्र के प्रहार से राजकुमार स्वयभू ने मेरक का वध कर के युद्ध का अत कर दिया। मेरक के अत के साथ ही स्वयभू, मेरक के राज्य के स्वामी बन गये। वे दक्षिण-भरत को पूर्ण रूप से विजय कर के तीसरे वासुदेव पद पर प्रतिष्ठित हुए। बडे आडम्बर पूर्ण उत्सव के साथ उनका राज्याभिषेक हुआ।

× × × ×

दो वर्ष पर्यन्त छद्मस्थ अवस्था मे रह कर भ० श्री विमलनाथ स्वामी को पौष-शुक्ला छठ के दिन वेले के तप से उत्तराभाद्रपद नक्षत्र मे केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त हो गया। देवो और इन्द्रो ने केवल-महोत्सव किया। भगवान् ने प्रथम धर्मदेशना देते हुए फरमाया,—

धर्मदेशना

बोधि-दुर्लभ भावना

अकाम-निर्जरा रूपी पुण्य से बढते-बढते जीव, स्थावरकाय से छूट कर त्रसकाय मे

आता है। फिर बेइन्द्रिय से तेइन्द्रिय, यो बढते-बढते पचेन्द्रिय अवस्था, बडी कठिनाई से और वहुत लम्बे काल के बाद मिलती है। पचेन्द्रिय अवस्था प्राप्त करने के बाद भी जब कर्म बहुत हल्के हो जाते है, तभी मनुष्य-जन्म की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार आर्यदेश, उत्तमकुल, सभी इन्द्रियो की पटुता और दीर्घ आयु की कथचित् प्राप्ति होती है। इससे भी अधिक पुण्य का उदय होता है, तभी सद्धर्मकथक सद्गुरु का सुयोग मिलता है और शास्त्र-श्रवण करने की अनुकूलता प्राप्त होती है। पुण्य का अत्यधिक उदय होता है, तब धर्म मे श्रद्धा होती है। इस प्रकार सभी प्रकार की अनुकूलता हो, तो भी तत्त्वनिर्णय रूप 'वोधि-रत्न' की प्राप्ति होना तो महान् दुर्लभ है। श्रद्धा के बाद प्रतीति और उसके बाद रुचि हो जाना महानतम पुण्य उदय एवं कर्म-निर्जरा हो तभी होता है।

बोधि-रत्न की प्राप्ति जितनी दुर्लभ है, उतनी राज-सत्ता और चक्रवर्तीपन की प्राप्ति दुर्लभ नही है। सभी जीवो ने, ऐसे सभी भाव, पहले अनन्तबार प्राप्त किये होगे, किन्तु जब इस ससार मे जीवो का परिभ्रमण देखने मे आवे, तो विचार होता है कि जीवोने वोधि-रत्न की प्राप्ति पहले कभी नही की। इस ससार मे परिभ्रमण करते हुए सभी प्राणियो को पुद्गल-परावर्तन अनन्त हो गए। जब अन्त का अर्धपुद्गल परावर्तन शेष रहता है, तब सभी कर्मों की स्थिति एक कोटाकोटी सागरोपम से कम होती है और तभी 'यथाप्रवृत्तिकरण' से आगे वढ कर कोई प्राणी ग्रथी-भेद कर के उत्तम 'बोधि-रत्न' को प्राप्त करता है।

कुछ जीव ऐसे भी होते है कि यथाप्रवृत्तिकरण कर के ग्रथी-भेद की सीमा तक तो आते हैं, किन्तु यहाँ आ कर रुक जाते हैं और आगे नही बढ कर उलटे पीछे लौट आते हैं और फिर ससार मे भटकते रहते हैं।

सम्यक्त्व-रत्न प्राप्त होने मे अनेक प्रकार की वाधाएँ रही हुई है। उत्थान के इस मार्ग मे कुशास्त्रो का श्रवण, मिथ्यादृष्टि का समागम, बुरी वासनाएँ और प्रमाद ऐसे शत्रु हैं, जो आगे नही वढने दे कर पीछे धकेलते हैं। यद्यपि चारित्र-रत्न की प्राप्ति भी दुर्लभ है, किन्तु वोधि-रत्न की प्राप्ति के वाद चारित्र-रत्न की प्राप्ति की दुर्लभता बहुत कम हो जाती है, और चारित्र की सफलता भी वोधि के अस्तित्व मे ही होती है। अन्यथा प्राप्त चारित्र भी निष्फल हो जाता है। अभव्य प्राणी भी चारित्र ग्रहण कर के नौवे ग्रैवेयक तक उत्पन्न हो सकता है, किन्तु वोधि-रत्न के अभाव मे वे मुक्ति प्राप्त नही कर सकते।

चक्रवर्ती महाराजाधिराज के पास अपार सम्पत्ति होती है, किन्तु वोधि-रत्न नही हो, तो वे एक प्रकार से रंक (दरिद्र) है और वोधि-रत्न को जिसने प्राप्त कर लिया—

ऐसा रंक भी उस चक्रवर्ती सम्राट से अधिक सम्पत्तिशाली है।

जिसे बोधि-रत्न प्राप्त हो गया, वह इस संसार के प्रति कभी राग नहीं करता और ममत्व रहित हो कर मुक्ति-मार्ग की आराधना करता है।

अकामनिर्जरारूपात्पुण्याज्जतोः प्रजायते ।
स्थावरत्वात्त्रसत्व वा तिर्यक्त्व वा कथंचन ॥१॥
मनुष्यमार्यदेशश्च, जातिः सर्वाक्षपाटवम् ।
आयुश्च प्राप्यते तत्र, कथचित् कर्मलाघवात् ॥२॥
प्राप्तेषु पुण्यतः श्रद्धा, कथक श्रवणेष्वपि ।
तत्त्वनिश्चयरूप तद् बोधिरत्न सुदुर्लभम् ॥३॥

वास्तव मे बोधि-रत्न=तत्त्व की विशुद्ध समझ, उस पर श्रद्धा, रुचि और प्रतीति होना महान् दुर्लभ है—"सद्धा परमदुल्लहा" इस आगम-वाणी को ध्यान मे रख कर मिथ्यात्व रूपी आकर्षक डाकू से इस महारत्न की रक्षा करनी चाहिये।

भगवान् का उपदेश सुन कर अनेक भव्यात्माएँ, मोक्षमार्ग की पथिक बनी। 'मदर' आदि ५६ गणधर हुए*। ग्रामानुग्राम विहार करते हुए भगवान् द्वारिका पधारे। समवसरण की रचना हुई। वासुदेव और बलदेव, भगवान् को वन्दना करने आये। भगवान् का धर्मोपदेश सुन कर स्वयभू वासुदेव ने सम्यक्त्व लाभ किया और भद्र बलदेव ने श्रावकपन स्वीकार किया।

भगवान् विमलनाथ प्रभु के ६८००० साधु, १००८०० साध्वियें, ११०० चौदह पूर्वधर, ४८०० अवधिज्ञानी, ५५०० मन पर्यवज्ञानी, ५५०० केवलज्ञानी, ९००० वैक्रिय-लब्धिधारी, २०८००० श्रावक और ४२४००० श्राविकाएँ हुईं।

केवलज्ञान होने के बाद दो वर्ष कम पन्द्रह लाख वर्ष तक भगवान् पृथ्वी पर विहार करते हुए विचरते रहे। फिर निर्वाण-काल निकट आने पर समेदशिखर पर पधारे और छह हजार साधुओ के साथ अनशन किया। एक मास का अनशन पूर्ण कर आषाढ-कृष्णा सप्तमी को पुष्य-नक्षत्र मे मोक्ष पधारे।

भगवान् पन्द्रह लाख वर्ष कुमार अवस्था मे, तीस लाख वर्ष तक राज्याधिपति और पन्द्रह लाख वर्ष का त्यागी जीवन व्यतीत कर, कुल साठ लाख वर्ष का पूर्ण आयु भोग

* ग्रथकार ५७ गणधर बतलाते हैं।

कर सिद्ध पद को प्राप्त हुए ।

स्वयभू वासुदेव महा आरम्भ, महा परिग्रह तथा भोग मे लुब्ध हो कर और क्रूर कर्म करते हुए अपनी साठ लाख वर्ष की आयु पूर्ण कर के छठी नरक मे गये । इनकी मृत्यु के बाद भद्र बलदेव विरक्त हो कर मुनिचन्द्र अनगार के पास प्रव्रजित हो गए । सयम और तप का उत्कृष्ट रूप मे पालन कर के और अपनी पैसठ लाख वर्ष की आयु पूर्ण कर के मोक्ष पधारे ।

तेरहवें तीर्थंकर
भगवान्
॥ वि लनाथजी का रि ॥

भ० अनंतनाथजी

धातकीखंड द्वीप के पूर्व-विदेह क्षेत्र के ऐरावत विजय मे अरिष्टा नामकी एक महानगरी थी। पद्मरथ नाम के महाराजा वहाँ के अधिपति थे। उन्होने अपने सभी शत्रुओ को जीत कर विजय तथा राज्य-लक्ष्मी प्राप्त कर ली थी और अव मोक्ष-लक्ष्मी साधने मे उत्सुक हो गये थे। अव वे राज्य-लक्ष्मी को तृणवत् तुच्छ मानने लगे थे। उनके भवनो, उपवनो और नगर मे अनेक प्रकार के उत्सव, नाटक, नृत्य और खेल-तमाशे हो कर मनो-रंजन हो रहा था, किंतु पद्मरथ महाराज की उनमे रुचि नही रही। वे निर्लिप्त रह कर लोक-रीति का निर्वाह करते थे। कुछ समय के बाद वे 'चित्तरक्ष' नाम के मुनिराज के पास प्रव्रजित हो गए और रत्नत्रय का विशुद्ध रीति से पालन करते हुए, तीर्थंकर नाम-कर्म का वन्ध कर लिया तथा मृत्यु पा कर प्राणत देवलोक के पुष्पोत्तर विमान मे देव रूप से उत्पन्न हुए।

जम्बूद्वीप के दक्षिण-भरत मे अयोध्या नाम की नगरी थी। सिंहसेन नरेश अयोध्या के स्वामी थे। वे वलवान्, प्रतापी एव सद्‌गुणी थे। राज्य की सीमा के समीप रहे हुए बहुत-से राज्यो के राजा उनकी प्रसन्नता एवं कृपा पाने के लिए उत्तम वस्तुओ की भेंट करते रहते थे। महाराजा सिंहसेन के 'सुयशादेवी' नाम की महारानी थी। वह रूप, लावण्य, कला, कुल और शील से सम्पन्न थी। उसमे उत्तम गुणो का निवास था।

प्राणत देवलोक मे रहे हुए पद्मरथ देव ने अपना उत्कृष्ट आयु पूर्ण कर के श्रावण-कृष्णा सप्तमी को रेवती-नक्षत्र मे च्यव कर सुयशा महारानी की कुक्षि मे उत्पन्न हुआ।

महारानी ने चौदह महास्वप्न देखे । वैशाख-कृष्णा त्रयोदशी की रात्रि मे पुष्य-नक्षत्र मे पुत्र का जन्म हुआ । नियमानुसार देव-देवियो और इन्द्रो ने तीर्थंकर का जन्मोत्सव किया। जब पुत्र गर्भ मे थे, तब महाराजा सिंहसेन ने शत्रुओ के अनन्त बलयुक्त मानी जाने वाली सेना को भी जीत लिया था । इसे गर्भ का प्रताप मान कर पुत्र का नाम 'अनन्तजित' दिया । यौवनवय मे विवाह हुआ और साढे सात लाख वर्ष बीतने पर पिता ने राज्य का भार दे दिया । पन्द्रह लाख वर्ष तक राज्य का सचालन किया । इसके बाद आपके मन मे ससार का त्याग कर मोक्ष के महामार्ग पर चलने की इच्छा हुई । लोकान्तिक देवो ने आ कर, ससार का त्याग कर धर्म-तीर्थ प्रवर्त्तन करने की प्रार्थना की । वर्षीदान दिया। वैशाख-कृष्णा चतुर्दशी को रेवती-नक्षत्र मे बेले के तप से एक हजार राजाओ के साथ, महाराजा अनतनाथ ने सामायिक चारित्र ग्रहण किया ।

ासुदे चरित्र

जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह मे नन्दपुरी नाम की एक नगरी थी । 'महाबल' नाम का महाबली राजा था । कालान्तर मे वह ससार के प्रपच से विरक्त हो गया और 'ऋषभ' नाम के मुनिवर के चरणो मे दीक्षित हो गया । शुद्धता एव भावपूर्वक सयम की आराधना करते हुए महाबल मुनि, आयु पूर्ण कर 'सहस्रार' देवलोक मे देव हुए ।

जम्बूद्वीप के भरत-क्षेत्र मे 'कौसम्बी' नाम की नगरी थी । 'समुद्रदत्त' वहाँ का प्रतापशाली नरेश था । 'नन्दा' नाम की अनुपम रूप सुन्दरी उसकी रानी थी । एक समय समुद्रदत्त का मित्र , मलयभूमि का राजा चण्डशासन वहाँ आया । समुद्रदत्त ने उसका सगे भाई के समान बडे हर्ष और उत्साहपूर्वक स्वागत किया । वहाँ रूपसुन्दरी नन्दा रानी, चण्डशासन की दृष्टि मे आ गई । वह उसे देखते ही चकित रह गया । उसके मन मे विकार जाग्रत हो गया—इतना अधिक कि उसकी दशा ही बदल गई । वह चिंतित, स्तब्ध एव विक्षुब्ध हो गया । उसके शरीर मे पसीना आ गया और घबडाहट उत्पन्न हो गई । वह नन्दा रानी को अकशायिनी बनाने के लिए व्यग्र हो गया । वह रात को सोया, परन्तु उसे नींद नहीं आई । वह तडपता ही रहा । अब वह वही रह कर नन्दारानी को प्राप्त करने के उपाय सोचने लगा । वह मित्र के रूप मे शत्रु बन कर समुद्रदत्त के विरुद्ध योजना बनाने लगा और एक दिन समुद्रदत्त की अनुपस्थिति मे छल कर के वह दुष्ट, नन्दा का हरण कर के

ले गया। समुद्रदत्त को इस मित्र-घातक कृत्य से वडा दुख हुआ। उसने नन्दा की वहुत खोज कराई, किन्तु पता नहीं लगा। वह ससार से विरक्त हो कर श्री श्रेयास मुनिराज के समीप दीक्षित हो गया और चारित्र तथा तप की उग्र आराधना करने लगा। सयमी साधु वन जाने पर भी उसके मन मे से मित्र द्वारा हुए विश्वासघात और अपमान का शूल नही निकल सका। उसने भविष्य मे चण्डशासन का वध करने का निदान कर लिया। इस प्रकार अपरिमित फलदायक तप का दुरुपयोग कर, परिमित कुफल वाला वना दिया और मृत्यु पा कर सहस्रार देवलोक मे देव हुआ।

चडशासन भी मृत्यु पा कर भव-भ्रमण करता हुआ और भीषण दुख भोगता हुआ मनुष्य-भव पाया और भरत-क्षेत्र मे पृथ्वीपुर नगर के विलास राजा की गुणवती रानी की कुक्षि मे उत्पन्न हुआ। उसका नाम 'मधु' रहा। वह उस समय का अद्वितीय महावली योद्धा हुआ। उसने अपने वाहुवल से दक्षिण भरत के सभी राज्यो को जीत कर अपने अधिकार मे कर लिया। वह चौथा प्रतिवासुदेव हुआ। उसके 'कैटभ' नाम का भाई भी था। वह भी योद्धा और प्रचण्ड शक्तिशाली था।

द्वारिका नगरी मे 'सोम' नाम का गुणवान् राजा था। उसके 'सुदर्शना' और 'सीता' नाम की दो रानियाँ थी। महावल मुनिराज का जीव, सहस्रार देवलोक से च्यव कर सुदर्शना रानी की कुक्षि मे आया। रानी ने चार महास्वप्न देखे। जन्म होने पर पुत्र का 'सुप्रभ' नाम दिया। कालान्तर मे समुद्रदत्त मुनि का जीव भी सहस्रार देव का आयु पूर्ण कर सीतादेवी की कुक्षि मे उत्पन्न हुआ। रानी ने वासुदेव के आगमन को सूचित करने वाले सात महास्वप्न देखे। जन्म होने के वाद विधिपूर्वक पुत्र का 'पुरुषोत्तम' नाम दिया। दोनो भाइयो मे अपार स्नेह था। वे समवयस्क मित्र के समान साथ ही खेलते और साथ ही रहते। उन्होने सभी प्रकार की कला सीख ली। दोनो भाई युद्ध-कला मे प्रवीण हो गए और महान् वलशाली हुए। देवो ने वडे भाई सुप्रभ को हल और पुरुषोत्तम को सारंग धनुष आदि प्रभावशाली आयुध भेंट किये।

कलह एव कौतुक करने मे कुशल ऐसे नारदजी, इन युगल-बन्धुओ का वल और पराक्रम देख कर चकित हुए। वे भ्रमण करते हुए प्रति वासुदेव मधु के पास आये। महाराजा मधु ने नारदजी का आदर सहित स्वागत किया और कहने लगा,—

"मैं इस दक्षिण भरत-क्षेत्र का एकमात्र स्वामी हूँ। मैंने यहाँ के सभी राजाओ को जीत कर अपने आधीन कर लिया। मागध, वरदाम और प्रभास, ये तीर्थ भी मेरे शासन

मे है। मैं देवोपम उत्कृष्ट सुखो को भोग रहा हूँ। आपको जिस दुर्लभ वस्तु की आवश्यकता हो, वह नि सकोच मुझ से लीजिए। मैं आपको वह वस्तु दूंगा।"

नारदजी बोले—"राजन्! मुझे किसी भी वस्तु की आवश्यकता नही है, न मैं कुछ लेने के लिए यहाँ आया हूँ। मैं तो वैसे ही क्रीडा करता हुआ यहाँ चला आया। किंतु तुम्हे अपने प्रभुत्व का अभिमान नही करना चाहिए। कुछ चाटुकारो की प्रशंसा सुन कर और निर्बल राजाओ को वश मे कर लेने मात्र से तुम सर्वजीत नही हो जाते। इस पृथ्वी पर एक से एक बढ कर रत्न होते है।"

—"नारदजी! तुम क्या कहते हो"—जरा उत्तेजित हो कर मधु नरेश बोला—"इस दक्षिण-भरत मे क्या, गंगा से बढ कर भी कोई नदी है और वैताढ्य से बढ कर भी कोई पर्वत है? आप बताइए कि मुझ से बढ कर कौन योद्धा आपके देखने मे आया?"

—"द्वारिका नगरी के सोम राजा के सुप्रभ और पुरुषोत्तम नाम के दो पुत्र ऐसे युद्धवीर, पराक्रमी और रिपुदमी हैं कि जिनके सामने दूसरा कोई योद्धा टिक नही सकता। वे युगल भ्राता ऐसे लगते हैं कि जैसे स्वर्ग से शक्र और ईशान इन्द्र उतर आये हो। वे अपने भुजबल से सागर सहित पृथ्वी पर अधिकार करने योग्य हैं। जब तक वे विद्यमान हैं, तब तक तुम्हारा यह दावा निरर्थक है कि—"मैं दक्षिण-भरत का अधिपति हूँ"—नारद ने कहा।

—"यदि आपका कहना सही है, तो मैं आज ही सोम, सुप्रभ और पुरुषोत्तम को युद्ध के लिए आमन्त्रण देता हूँ और इनसे द्वारिका का राज्य अपने अधिकार मे कर लेता हूँ। आप यही रह कर तटस्थतापूर्वक अवलोकन करे।"

इस प्रकार कह कर मधु नरेश ने अपने एक विश्वस्त दूत को समझा कर सोम राजा के पास द्वारिका भेजा। दूत ने राज-सभा मे पहुँच कर और चेहरे पर विशेष रूप से दर्प धारण कर गर्वोक्तिपूर्वक बोला,—

—"राजन्! अहकारियो के गर्व को गलाने वाले, विनीत पर वात्सल्य भाव रखने वाले और प्रचण्ड भुजबल से सभी पर विजय प्राप्त करने वाले, त्रिखण्डाधिपति महाराजाधिराज मधुकरजी का आदेश है कि पहले तो तुम भक्तिपूर्वक हमारी आज्ञा मे रहते थे, किन्तु सुना है कि तुम्हारे दोनो पुत्र बडे दुर्धर्ष हो गए और तुम भी पुत्र के पराक्रम से प्रभावित हो कर बदल गए हो। इसलिए यदि तुम्हारी भक्ति पूर्ववत् हो, तो तुम्हारे पास जो कुछ सार एव मूल्यवान् वस्तु हो, वह दण्ड स्वरूप अर्पण करो। ऐसा करने पर तुम्हें

पारितोषिक रूप मे उससे भी अधिक प्राप्त होगा। यदि तुमने ऐसा नही किया, तो सर्वस्व हरण कर लिया जायगा।"

राजदूत के ऐसे असह्य वचन सुन कर राजकुमार पुरुषोत्तम ने तत्काल कहा—

"दूत! तुम तो सन्देश-वाहक हो, इसलिए तुम्हे मुक्त ही रखा जाता है, किन्तु इस प्रकार निर्लज्जतापूर्वक कटुतम शब्द कहलाने वाला तेरा स्वामी उन्मत्त तो नही हो गया है? उसे कोई भूत-प्रेत तो नही लग गया है? कौन मानता है उस घमण्डी दुर्मद को अपना स्वामी? हमने कभी उसे अपना अधिकारी नही माना, न अब मानते हैं। इसलिए हे दूत! तू चला जा यहाँ से, और अपने स्वामी को भेज। हम उसके घमण्ड का उपाय करेंगे। कदाचित् उसके जीवन के दिन पूरे होने आये हो? उसकी राज्य-लक्ष्मी उससे रूठने ही वाली है और वह हमारी होगी। हम मधु का विनाश कर के उसके समस्त ऐश्वर्य के स्वामी बनेंगे।"

दोनो के बीच युद्ध हुआ। मधु प्रतिवासुदेव मारा गया और पुरुषोत्तम वासुदेव विजयी हुए। उनका सार्वभौम अर्ध भरताधिपति के रूप मे राज्याभिषेक हुआ।

× × × ×

तीन वर्ष तक छद्मस्थ अवस्था मे रहने के बाद भगवान् श्री अनतनाथ स्वामी को सहस्राम्रवन उद्यान मे अशोकवृक्ष के नीचे बेले के तप से रहे हुए, वैशाख-कृष्णा चतुर्दशी को रेवती-नक्षत्र मे केवलज्ञान-केवलदर्शन उत्पन्न हुआ। भगवान् का समवसरण हुआ। भगवान् ने धर्मदेशना दी। यथा—

र्मदेशना

तत्त्व निरूपण

भगवान् ने अपनी प्रथम धर्मदेशना मे फरमाया कि—

"हे भव्य जीवो! तत्त्व को नही समझने वाले जीव, द्रव्य से सूझते हुए भी भाव से अन्धे है। जिस प्रकार मार्ग के नही जानने वाले, अटवी मे भटकते रहते हैं, उसी प्रकार तात्त्विक ज्ञान के अभाव मे जीव, संसार रूपी महा भयकर अटवी मे भटकते रहते है।

मे है । मैं देवोपम उत्कृष्ट सुखो को भोग रहा हूँ । आपको जिस दुर्लभ वस्तु की आवश्यकता हो, वह नि सकोच मुझ से लीजिए । मैं आपको वह वस्तु दूँगा ।"

नारदजी बोले—"राजन् ! मुझे किसी भी वस्तु की आवश्यकता नही है, न मैं कुछ लेने के लिए यहाँ आया हूँ । मैं तो वैसे ही क्रीडा करता हुआ यहाँ चला आया । किंतु तुम्हे अपने प्रभुत्व का अभिमान नही करना चाहिए । कुछ चाटुकारो की प्रशसा सुन कर और निर्बल राजाओ को वश मे कर लेने मात्र से तुम सर्वजीत नही हो जाते । इस पृथ्वी पर एक से एक बढ कर रत्न होते हैं ।"

—"नारदजी ! तुम क्या कहते हो"—जरा उत्तेजित हो कर मधु नरेश बोला—"इस दक्षिण-भरत मे क्या, गगा से बढ कर भी कोई नदी है और वैताढ्य से बढ कर भी कोई पर्वत है ? आप बताइए कि मुझ से बढ कर कौन योद्धा आपके देखने मे आया ?"

—"द्वारिका नगरी के सोम राजा के सुप्रभ और पुरुषोत्तम नाम के दो पुत्र ऐसे युद्धवीर, पराक्रमी और रिपुदमी हैं कि जिनके सामने दूसरा कोई योद्धा टिक नही सकता । वे युगल भ्राता ऐसे लगते है कि जैसे स्वर्ग से शक्र और ईशान इन्द्र उतर आये हो । वे अपने भुजवल से सागर सहित पृथ्वी पर अधिकार करने योग्य हैं । जब तक वे विद्यमान हैं, तब तक तुम्हारा यह दावा निरर्थक है कि—"मैं दक्षिण-भरत का अधिपति हूँ"—नारद ने कहा ।

—"यदि आपका कहना सही है, तो मैं आज ही सोम, सुप्रभ और पुरुषोत्तम को युद्ध के लिए आमन्त्रण देता हूँ और इनसे द्वारिका का राज्य अपने अधिकार मे कर लेता हूँ । आप यही रह कर तटस्थतापूर्वक अवलोकन करे ।"

इस प्रकार कह कर मधु नरेश ने अपने एक विश्वस्त दूत को समझा कर सोम राजा के पास द्वारिका भेजा । दूत ने राज-सभा मे पहुँच कर और चेहरे पर विशेष रूप से दर्प धारण कर गर्वोक्तिपूर्वक बोला,—

—"राजन् ! अहकारियो के गर्व को गलाने वाले, विनीत पर वात्सल्य भाव रखने वाले और प्रचण्ड भुजबल से सभी पर विजय प्राप्त करने वाले, त्रिखण्डाधिपति महाराजाधिराज मधुकरजी का आदेश है कि पहले तो तुम भक्तिपूर्वक हमारी आज्ञा मे रहते थे, किन्तु सुना है कि तुम्हारे दोनो पुत्र वडे दुर्धर्ष हो गए और तुम भी पुत्र के पराक्रम से प्रभावित हो कर बदल गए हो । इसलिए यदि तुम्हारी भक्ति पूर्ववत् हो, तो तुम्हारे पास जो कुछ सार एव मूल्यवान् वस्तु हो, वह दण्ड स्वरूप अर्पण करो । ऐसा करने पर तुम्हे

४ स्पर्शनेन्द्रिय, ये चार प्राण तो सभी संसारी जीवो के होते है। (एकेन्द्रिय जीवो मे ये चार प्राण ही है) बेइन्द्रिय मे १ रसेन्द्रिय और २ वचन मिल कर ६ प्राण होते है। तेइन्द्रिय मे घ्राण विशेप होने से ७, चौरीन्द्रिय मे रसनाइन्द्रिय सहित ८, असंज्ञी पचेन्द्रिय तिर्यञ्च मे श्रोतेन्द्रिय सहित ९ प्राण होते है। ये सभी असज्ञो जीव है। सज्ञी जीवो के विशेष मे 'मन' भी होता है। इस प्रकार उनके पूर्ण रूप से १० प्राण होते हैं।

नारको का कुंभी से और देवो का शय्या मे से उपपात के रूप मे उत्पत्ति होती है। मनुष्यो की उत्पत्ति माता के गर्भ से होती है। तिर्यंच, जरायु और अडे से उत्पन्न होते हैं और शेष असज्ञी पचेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय और एकेन्द्रिय जीव, समूच्छिम रूप से उत्पन्न होते हैं। सभी समूच्छिम जीव और नारक जीव, नपुसक ही होते हैं। देव, पुरुष तथा स्त्री-वेदी होते है और मनुष्य तथा तिर्यंच, पुरुष स्त्री और नपुंसकवेदी होते है।

सभी जीव व्यवहारी और अव्यवहारी—ऐसे दो प्रकार के हैं। अनादि सूक्ष्म-निगोद के जीव अव्यवहारी (अव्यवहार राशि वाले, जो अनादि काल से उसी रूप मे जन्म-मरण करते रहते है। वे उस दशा को छोड कर किसी दूसरे स्थान गये ही नही) है। शेष सभी व्यवहारी (व्यवहार राशि वाले—विभिन्न गतियो मे जाने वाले) है।

जीवो की उत्पत्ति नौ प्रकार की योनियो से होती है। १ सचित्त (जीव वाली) २ अचित्त ३ मिश्र ४ सवृत्त (ढँकी हुई) ५ असवृत्त ६ सवृत्तासंवृत्त ७ शीत ८ उष्ण और ९ शीतोष्ण।

पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय और वायुकाय, इन चार स्थावर मे प्रत्येक की सात लाख योनि है। प्रत्येक वनस्पतिकाय की दस लाख और अनन्तकाय की चौदह लाख है। विकलेन्द्रिय की छह लाख (प्रत्येक की दो-दो लाख) मनुष्य की चौदह लाख तथा नारक, देव और तिर्यच पचेन्द्रिय की चार-चार लाख योनि हैं। इस प्रकार सभी जीवो को मिल कर कुल चोरासी लाख योनियां है। इन्हे केवलज्ञानियो ने ज्ञान मे देखा है।

जीवो के भेद—१ एकेन्द्रिय सूक्ष्म और २ बादर ३ बेइन्द्रिय ४ तेइन्द्रिय ५ चौरीन्द्रिय ६ पचेन्द्रिय असज्ञी और ७ सज्ञी। इन सात के प्रर्याप्त और अपर्याप्त—ऐसे मूल चोदह भेद है। इनकी मार्गणा भी चौदह है। जैसे—१ गति २ इन्द्रिय ३ काय ४ योग ५ वेद ६ ज्ञान ७ कषाय ८ सयम ९ आहार १० दृष्टि ११ लेश्या १२ भव्य १३ सम्यक्त्व और १४ संज्ञी। इसी प्रकार सभी जीवो के गुणस्थान भी चौदह ही हैं। यथा—

१ मिथ्यात्व गुणस्थान २ सास्वादन गुणस्थान ३ मिश्र ४ अविरत सम्यग्दृष्टि ५ देश-

जिनेश्वरो ने जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष, ऐसे नौ तत्त्व कहे हैं।

सब से प्रथम तत्त्व जीव है। इसके सिद्ध और ससारी ऐसे दो भेद हैं। ये सभी अनादि निधन और ज्ञान-दर्शन लक्षण वाले है। इनमे जो मुक्त जीव है, वे सभी एक ही स्वभाव वाले, जन्म-मरणादि क्लेशो से रहित और अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आत्म-शक्ति और अनन्त आनन्द से व्याप्त है। ससारी जीव, स्थावर और त्रस ऐसे दो भेदो से युक्त है। ये दोनो पर्याप्त और अपर्याप्त हैं। पर्याप्त दशा की कारणभूत छह पर्याप्तिये है। यथा—

१ आहार पर्याप्ति २ शरीर पर्याप्ति ३ इन्द्रिय पर्याप्ति ४ श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति ५ भाषा पर्याप्ति और ६ मन पर्याप्ति।

इन छह मे से एकेन्द्रियो को चार पर्याप्ति, विकलेन्द्रिय जीवो (असज्ञी पचेन्द्रिय सहित) को पाँच और सज्ञी पचेद्रिय को छ पर्याप्ति अनुक्रम से होती है।

पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय, ये एकेन्द्रिय जीव, स्थावर होते है। इनमे से पृथ्वीकाय से लगा कर वायुकाय तक के चार, सूक्ष्म और बादर ऐसे दो भेद वाले हैं और वनस्पतिकाय, प्रत्येक और साधारण ऐसे दो भेद वाली है। इसमे प्रत्येक तो बादर ही है और जो साधारण है, वह सूक्ष्म भी है और बादर भी।

त्रस जीव चार प्रकार के हैं— १ बेइन्द्रिय २ तेइन्द्रिय ३ चौरीन्द्रिय और ४ पचेद्रिय। इनमे से बेइन्द्रिय से चौरीन्द्रिय तक के जीव तो असज्ञी हैं और पचेद्रिय जीव असज्ञी भी है और सज्ञी भी है। संज्ञी वही है—जो शिक्षा, उपदेश और आलाप को जानता है और मानसिक प्रवृत्ति से युक्त है। इसके विपरीत बिना मन के जीव असज्ञी हैं।

इन्द्रियाँ पाँच है—१ स्पर्श २ रसना ३ नासिका ४ नेत्र और ५ श्रवण। इनके विषय अनुक्रम मे १ स्पर्श २ रस ३ गध ४ रूप और ५ शब्द हैं।

बेइन्द्रिय जीव—कृमि, शख, गडीपद, जोक और शीप आदि।

तेइन्द्रिय जीव—युका, खटमल, मकोडे और लीख आदि।

चौरीन्द्रिय—पतंग, मक्षिका, भ्रमर और डाँस आदि।

पचेद्रिय—जल, स्थल और आकाशचारी, ये तीन प्रकार के तिर्यञ्च जीव है और नारकी, मनुष्य और देवता भी पञ्चेन्द्रिय है।

प्राण— १-५ श्रोतेन्द्रियादि पाँच इन्द्रिय ६ श्वासोच्छ्वास ७ आयुष्य ८ मनोबल ९ वचनबल और १० कायबल। ये दस प्राण है। १ कायबल २ आयुष्य ३ उच्छ्वास और

स्थान के स्वामी होते है। इस स्थान पर सूक्ष्मतम प्रमाद भी नही होता।

छठे और सातवे गुणस्थान की परस्पर परावृत्ति से अन्तर्मुहूर्त की स्थिति है +।

(८) अपूर्वकरण गुणस्थान—इस गुणस्थान को प्राप्त करने वाली ऊर्ध्वमुखी आत्मा के कर्मो का स्थितिघात आदि अपूर्व होता है। इस प्रकार की अवस्था आत्मा ने पहले कभी प्राप्त नही की थी। इस स्थिति को प्राप्त होने वाली आत्मा, अपने कर्म-शत्रुओ का संहार करती हुई आगे बढने की तय्यारी करती है●।

इस गुणस्थान मे आत्मा, श्रेणी का आरोहण करने की तय्यारी करती है। कोई 'उपशम श्रेणी' के लिए तत्पर होती है, तो कोई 'क्षपक श्रेणी' के लिए *। इस स्थिति पर पहुँचने वालो की बादर-कषाय निवृत्त हो जाती है। इसलिए इस गुणस्थान का नाम "निवृत्ति-बादर" भी है।

(९) जिस परिणाम पर एक साथ पहुँचे हुए मुनिवरो के बादर-कषाय के निवृत्त परिणाम मे अन्तर या परिवर्तन नही होता, सभी के परिणाम समान ही होते है, उसे "निवृत्ति-बादर" गुणस्थान कहते है। इस गुणस्थान पर पहुँचे हुए महात्मा या तो उपशमक होते हैं या क्षपक। इस गुणस्थान मे मोहनीय कर्म की एक संज्वलन के लोभ की सूक्ष्म प्रकृति के अतिरिक्त कोई भी प्रकृति उदय मे नही रहती।

+ यो तो छठे गुणस्थान की उत्कृष्ट स्थिति देशोन पूर्वकोटि तक की है, किन्तु अप्रमत्त महर्षि सातवे गुणस्थान मे अन्तर्मुहूर्त तक ही रह सकते हैं, क्योकि इसकी स्थिति ही इतनी है। इसके बाद वे प्रमत्त गुणस्थान मे आते हैं, किन्तु भावो की उच्चता के कारण छठे गुणस्थान मे अन्तर्मुहूर्त रह कर पुन सातवे मे पहुँच जाते हैं। इस प्रकार चढ़ाव-उतार की दृष्टि से दोनो गुणस्थान अन्तर्मुहूर्त के बताये गये हैं।

● अपूर्वकरण, प्रथम गुणस्थान मे भी होता है, किन्तु उससे दर्शन-मोहनीय कर्म और अनन्तानुबन्धी कषाय चोक का ही सम्बन्ध है। इसके बाद भी मोहनीय कर्म की २१ प्रकृतियाँ शेष रहती है। आठवे गुणस्थान मे मोहनीय का समूल नाश करने की तत्परता होती है। आयुष्य का बन्ध हो जाने के बाद भी प्रथम गुणस्थान वाले जीव को व आठवे के उपशमक को अपूर्वकरण हो सकता है, किन्तु जो जीव क्षपक-श्रेणी का आरम्भ करता है, वह तो अबद्धायु ही होता है। वह समस्त कर्मों से मुक्त हो कर सिद्ध ही होता है।

* क्षपक-श्रेणी प्राप्त आत्मा, कर्मों को क्षय करती जाती है और उपशम-श्रेणी वाली आत्मा मोह कर्म को दबाती जाती है। क्षपक-श्रेणी तो एक ही बार होती है, किन्तु उपशम-श्रेणी किसी आत्मा को पूरे भवचक्र मे पांच बार तक हो जाती है। क्षपक-श्रेणी वालो की अपेक्षा इस गुणस्थान को 'अपूर्वकरण' कहना ठीक ही है, किन्तु उपशम-श्रेणी की अपेक्षा 'अपूर्वकरण' कहने मे मतभेद है।

(१०) नौवें गुणस्थान मे जो लोभ की सूक्ष्म प्रकृति शेष रह गई थी, उसका वेदन इस गुणस्थान मे होता है। इसके अत मे लोभ को या तो सर्वथा उपशान्त कर दिया जाता है या क्षय होता है।

(११) उपशान्त-मोह वीतराग गुणस्थान। इस परिणति वाली आत्मा का मोह कर्म पूर्ण रूप से दब जाता है।

(१२) जिसने दसवें गुणस्थान के अतिम समय मे लोभ (मोह) का सर्वथा क्षय कर दिया, वह दसवे से सीधा इस गुणस्थान मे पहुँच कर 'क्षीण-मोह वीतराग' हो जाता है।

(१३) क्षीण-मोह गुणस्थान के अतिम समय मे शेष तीन घाती-कर्मों का क्षय कर के केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त कर आत्मा सयोगी-केवली अवस्था प्राप्त कर लेती है। इस उत्तम स्थिति मे आत्मा सर्वज्ञ सर्वदर्शी भगवान् हो जाती है।

(१४) अयोगी-केवली गुणस्थान—सयोगी केवली भगवान्, मन वचन और काया के योगो का निरोध कर के नष्ट करने के बाद अयोगी केवली हो जाते हैं और शैलेशीकरण कर के सिद्ध भगवान् बन जाते है।

इस प्रकार निम्नतम दशा से उत्थान हो कर गुणस्थान बढते-बढते आत्मा, परमात्म दशा को प्राप्त कर लेती है।

अजीव तत्त्व—द्रव्य छह है। इनमे से जीव-द्रव्य का निरूपण हो चुका। शेष पाँच द्रव्य 'अजीव'—जड है। यथा—१ धर्मास्तिकाय २ अधर्मास्तिकाय ३ आकाशास्तिकाय ४ पुद्गलास्तिकाय और ५ काल। इन छह द्रव्यो मे से काल को छोड कर शेष पाँच द्रव्य तो प्रदेशो (सूक्ष्म-विभागो) के समूह रूप है और काल प्रदेश-रहित है। इनमे से केवल जीव ही चैतन्य (उपयोग) युक्त और कर्त्ता है, शेष पाँच द्रव्य अचेतन तथा अकर्त्ता हैं। काल को छोड कर शेप पाँच द्रव्य अस्तिकाय (प्रदेशो के समूह रूप) है। इनमे से एक पुद्गल द्रव्य ही रूपी है, शेप पाँच द्रव्य अरूपी हैं। ये छहो द्रव्य उत्पाद (नवीन अवस्था की उत्पत्ति) व्यय (भूत पर्याय का नाश) और ध्रौव्य (द्रव्य रूप से सदाकाल विद्यमान) रूप है।

सभी प्रकार के पुद्गल स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण युक्त हैं। इनके परमाणु और स्कन्ध ऐसे दो भेद हैं। जो परमाणु रूप है, वे तो अबद्ध हैं और जो स्कन्ध रूप हैं, वे बद्ध (परस्पर बँधे हुए) हैं।

पुद्गल के जो बँधे हुए स्कन्ध है, वे वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, शब्द, सूक्ष्म, स्थूल,

सस्थान, अन्धकार, आतप, उद्योत, प्रभा और छाया के रूप मे परिणत हो जाते है। वे ज्ञानावरणीय आदि आठ प्रकार के कर्म, औदारिक आदि पाँच प्रकार के शरीर, मन, भाषा, गमनादि चेष्टा और श्वासोच्छ्वास रूप बनते है। ये सुख, दु ख, जीवित और मृत्यु रूप उपग्रह करने वाला है।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय, ये तीनो एक-एक द्रव्य है। ये सदा सर्वदा अमूर्त, निष्क्रिय और स्थिर हैं। धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय के प्रदेश, एक जीव के आत्म-प्रदेश जितने असख्यात है और समस्त लोक मे व्याप्त हैं।

धर्मास्तिकाय मे गमन सहायक गुण है। जो जीव या अजीव, अपने आप गमन करते हैं, उन्हे धर्मास्तिकाय सहायक बनती है। जिस प्रकार मत्स्य आदि जीवो को गमन करने मे पानी सहायक बनता है। वे पानी के आधार से चलते है, उसी प्रकार धर्मास्तिकाय भी गति करने मे सहायक बनती है।

अधर्मास्तिकाय स्थिर होने मे सहायक बनती है। जिस प्रकार थका हुआ पथिक, वृक्ष की शीतल छाया मे ठहर कर विश्राम लेता है, उसी प्रकार स्थिर होने की इच्छा वाले जीवो और गमन क्रिया से रहित अजीवो को ठहरने मे सहायक होना, अधर्मास्तिकाय नामक अरूपी द्रव्य का गुण है।

आकाशास्तिकाय तो पूर्वोक्त दोनो द्रव्यो से अत्यन्त विशाल है। धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय तो लोक मे ही व्याप्त है, किन्तु आकाशास्तिकाय तो लोक से भी अनन्तगुण अधिक ऐसे अलोक मे भी सर्व-व्यापक है। इसके अनन्त प्रदेश हैं। यह आकाशास्तिकाय सभी द्रव्यो के लिए आधार रूप है और अपने निज स्वरूप मे रहा हुआ है।

लोकाकाश के प्रदेशो मे अभिन्न रूप से रहे हुए जो काल के अणु (समय रूपी सूक्ष्म भेद) हैं, वे भावो का परिवर्त्तन करते हैं। इसलिए मुख्य रूप से काल तो यही है, क्योकि पर्याय-परिवर्त्तन (भविष्य का वर्त्तमान होना और वर्त्तमान का भूत बन जाना) ही काल है और ज्योतिष-शास्त्र मे समय आदि से जो मान (क्षण, पल, घडी, मुहूर्त आदि) बताया जाता है, वह व्यवहार काल है। ससार मे सभी पदार्थ नवीन और जीर्ण अवस्था को प्राप्त करते हैं। यह काल का ही प्रभाव है। काल-क्रीडा की विडम्बना से ही सभी पदार्थ वर्त्तमान अवस्था से गिर कर भूत अवस्था को प्राप्त हो जाते है, और भविष्य से खिच कर वर्त्तमान मे आ जाते हैं।

आस्रव—जीव के मन, वचन और काया की प्रवृत्ति ही आस्रव है। क्योंकि इसीसे

भ धर्मनाथजी

—:✿:—

धातकीखंड द्वीप के पूर्व महाविदेह मे भरत नाम के विजय मे भद्दिल नाम का एक नगर था। दृढरथ नाम का राजा वहाँ का अधिपति था। वह अन्य सभी राजाओ मे प्रभावशाली था और सभी पर अपना अधिपत्य रखता था। इस प्रकार विशाल अधिपत्य एव विशिष्ट सम्पदा युक्त होते हुए भी वह लुब्ध नही था। वह सम्पत्ति और अधिकार के गर्व से रहित था। उच्च कोटि की भोग-सामग्री प्राप्त होते हुए भी वह विरक्त-सा हो गया था। उसकी विरक्ति बढ रही थी। सयोग पा कर उसने विमलवाहन मुनिराज के समीप, मुनि-दीक्षा ग्रहण कर ली। चारित्र और तप की उत्तम आचरणा से तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन कर लिया और धर्म आराधना करता हुआ अनशनपूर्वक आयु पूर्ण कर के वैजयत नाम के अनुत्तर विमान मे महान् ऋद्धि सम्पन्न देव हुआ।

इस जम्बूद्वीप के भरत-क्षेत्र मे रत्नपुर नाम का एक नगर था। वह अत्यत ऋद्धि सम्पन्न और भव्यता युक्त था। 'भानु' नाम के महाराजा का उस पर शासन था। महाराजा भानु नरेश सदाचारी थे। वे अनेक उत्तम गुणो के पात्र थे। दूर-दूर तक के अनेक राजागण उनकी आज्ञा मे थे। उनका शासन सभी के लिए हितकारी, सुखकारी और सतोषप्रद था। महारानी सुव्रतादेवी उनकी अर्द्धांगना थी। वह भी नारी के समस्त उत्तम गुणो से युक्त थी।

दृढरथ मुनिराज का जीव, वैजयंत विमान से वैशाख-शुक्ला सप्तमी को पुष्य-नक्षत्र मे च्यव कर महारानी सुव्रता देवी की कुक्षि मे उत्पन्न हुआ और माघ-शुक्ला तृतीया को

पुष्य-नक्षत्र के योग मे पुत्र का जन्म हुआ। देवी-देवता और इन्द्रो ने द्रव्य तीर्थंकर भगवान् का जन्मोत्सव किया। यौवन-वय प्राप्त होने पर माता-पिता ने आपका विवाह किया। जन्म से ढाई लाख वर्ष व्यतीत होने के बाद पिता के आग्रह से आपका राज्याभिषेक हुआ। पाँच लाख वर्ष तक राज्य का सचालन किया और उसके बाद आपने ससार त्याग कर मोक्ष साधना का विचार किया। अपने कल्प के अनुसार लोकान्तिक देवो ने प्रभु के समीप आ कर धर्म-प्रवर्त्तन का निवेदन किया। वार्षिक दान दे कर प्रभु ने माघ शुक्ला त्रयोदशी के दिन चौथे प्रहर मे पुष्य-नक्षत्र के साथ चन्द्र का योग होते, बेले के तप से प्रव्रज्या स्वीकार की।

वासुदे रित्र

जम्बूद्वीप के पश्चिम विदेह मे अशोका नाम की नगरी थी। पुरुषवृषभ नाम का राजा वहाँ राज करता था। उसने संसार से विरक्त हो कर प्रजापालक नाम के मुनिराज के समीप प्रव्रज्या स्वीकार कर ली और चारित्र के साथ उग्र तप करते हुए आयु पूर्ण कर के सहस्रार देवलोक मे देवरूप मे उत्पन्न हुआ। उसकी आयु अठारह सागरोपम प्रमाण थी। जब उस देव ने अपनी आयु के सोलह सागरोपम पूर्ण कर लिये और दो सागरोपम आयु शेष रही, तब पोतनपुर नगर मे विकट नाम का राजा राज करता था। उसे राजसिंह नाम के दूसरे राजा नें युद्ध मे हरा दिया। अपनी हार से लज्जित हुए विकट राजा ने अपने पुत्र को राज्याधिकार दे कर अतिभूति नाम के मुनि के पास चारित्र ग्रहण कर लिया और तप-सयम की कठोर साधना करने लगा। वह संयम और तप की उत्कट आराधना तो करता था, किन्तु अपनी पराजय का शूल उसकी आत्मा मे चुभ रहा था। उस शूल से प्रेरित हो कर उसने निदान कर लिया कि "मेरे उग्र तप के प्रभाव से मैं अगले भव मे उस दुष्ट राजसिंह का घातक बनूं।" इस प्रकार अपने उत्तम तप के उच्च फल को, वैर लेने के पापपूर्ण दाँव पर लगा दिया और उसी शल्य को लिये हुए मृत्यु पा कर दूसरे देवलोक मे दो सागर की स्थिति वाला देव हुआ। उधर राजसिंह भी चिरकाल तक संसार-परिभ्रमण करता हुआ और पाप का फल भोगता हुआ भरत-क्षेत्र के हरीपुर नगर मे जन्म ले कर 'निशुभ' नाम का राजा हुआ। वह अपने क्रूरतापूर्ण उग्र पराक्रम से दूसरे राजाओ का राज्य जीतता हुआ दक्षिण भरत का स्वामी बन गया।

भरतखंड के अश्वपुर नाम के नगर मे 'शिव' नाम के राजा राज करते थे। उनके

'विजया' और 'अम्बिका' नाम की दो रानियाँ थी। वे दोनो रूप, उत्तम लक्षण और सद्‌गुणो से युक्त थी। विजया रानी की कुक्षि मे पुरुषवृषभ मुनि का जीव, सहस्रार देवलोक मे आ कर पुत्रपने उत्पन्न हुआ। रानी ने चार महास्वप्न देखे। गर्भकाल पूर्ण होने पर उत्तम लक्षण वाले पुत्र का जन्म हुआ। उसका 'सुदर्शन' नाम रखा। कालान्तर मे 'विकट' का जीव दूसरे स्वर्ग की अपनी स्थिति पूर्ण कर के अम्बिका रानी के गर्भ मे आया। रानी ने वासुदेव के फल को सूचित करने वाले सात महास्वप्न देखे। जन्म होने पर अतिशय पराक्रम दर्शक लक्षणो को देख कर 'पुरुषसिंह' नाम दिया गया। दोनो भ्राता राजकुमारो मे अत्यंत स्नेह था। वे सभी कलाओ मे पारंगत हुए और महाबली के रूप मे विख्यात हुए।

शिव नरेश का पडोस के एक राजा से वैमनस्य हो गया। दोनो मे शत्रुता चरम सीमा पर पहुँच गई। शिव नरेश ने अपने ज्येष्ठ पुत्र सुदर्शनकुमार को सेना ले कर युद्ध करने भेजा। राजकुमार पुरुषसिंह भी साथ ही युद्ध मे जाना चाहते थे, किंतु उन्होने रोक दिया। जव ज्येष्ठ बन्धु प्रयाण कर गए, तो पीछे से पुरुषसिंह भी चल दिये और मार्ग मे सेना के साथ हो लिए। जव ज्येष्ठ बन्धु को ज्ञात हुआ, तो उन्होने उन्हे मार्ग मे ही रुक जाने की आज्ञा दी। वे वही रुक गये और सेना आगे बढ गई। थोडी देर बाद राजधानी से शीघ्रतापूवक दूत ने आ कर राजकुमार पुरुषसिंह को एक पत्र दिया। पत्र मे पिता की ओर मे राजकुमार को शीघ्र ही वापिस आने का उल्लेख था। कारण पूछने पर दूत ने कहा—"स्वामी को दाह-ज्वर रोग के कारण अत्यत पीडा हो रही है।" पिता की पीडा के समाचार जान कर राजकुमार चिंतित हुए और उसी समय लौट गए और शीघ्रतापूर्वक विना कही रुके, दो दिन मे ही पिता की सेवा मे उपस्थित हो गए। जब उन्होने पिता को भयानक रोग से अत्यंत पीडित देखा, तो उनका धैर्य जाता रहा। वे खाना-पीना भी भूल गए। राजा ने उन्हे आदेश दे कर वडी कठिनाई से भोजन करने भेजा। जैसे-तैसे थोडा खा-पी कर पिता की सेवा मे आ ही रहे थे कि दासियाँ दौड़ती हुई आईं और कहने लगी,—

"कुमार साहव! आप पहले अन्त पुर मे पधारे। महारानी अनर्थ करने जा रही है। चलिए, जल्दी चलिए।" राजकुमार, माता के पास गये, तो क्या देखते है कि माता वस्त्राभूषण से सज्जित है और हीरे-मोती, रत्न, आभूषणादि दान कर रही है। उन्होंने माता से पूछा —

"मातेश्वरी! आप क्या कर रही हैं? इधर पिताश्री रोगग्रस्त हैं और आपको यह क्या सूझा? क्या आप भी मुझे त्याग कर जाना चाहती हैं?"

—"मैं वही कर रही हूँ जो मुझे करना चाहिए। मैं 'विधवा' बनना नही चाहती। तुम्हारे पिताश्री अब बचने वाले नही है। उनका रोग उन्हे उठाने ही आया है। मुझ मे इतनी शक्ति नही कि मैं एक क्षण के लिए भी उनका वियोग सहन कर सकूं। यदि उनके स्वर्ग सिधार जाने के बाद, एक पलभर भी मैं जीवित रही, तो विधवा हो ही जाउँगी। इसलिए मैं अग्नि प्रवेश कर के स्वामी की उपस्थिति मे ही प्रस्थान करना चाहती हूँ। तुम सयाने हो, समझदार हो, तुम पर ज्येष्ठ बन्धु की कृपा है। हमारे दिन तो अब बीत ही चुके है। आखिर हमे जाना तो है ही। मृत्यु मुझे पकड कर ले जावे, इसके पूर्व ही मैं मौत का पल्ला पकड लूं, तो यह अच्छा ही होगा। अब तुम जाओ। एक शब्द भी मत बोलो। तुम्हारे पिताश्री की भी तय्यारी हो रही है।"

इस प्रकार कहते ही वह झपाटे से निकल गई और पहले से तय्यार कराई हुई जाज्वल्यमान चिता मे कूद कर प्राणान्त कर गई।

राजकुमार, माता को जाते देखते ही रहे, न तो उनके मुँह से एक शब्द ही निकला और न वे वहाँ से हिल ही सके। सेवक ने उन्हे चलने का कहा, तब वे आगे बढे और एक अशक्त के समान कठिनाई से पिता के पास आ कर भूमि पर गिर पडे। रोगग्रस्त राजा ने कुमार से कहा—

"वत्स! ऐसी कायरता मत लाओ। तुम वीर हो। तुम्हारा इस प्रकार भूमि पर ढल जाना शोभा नही देता। तुम तो इस भूमि के एक-छत्र स्वामी होने योग्य हो। कायरता लाने से तुम्हारा पुरुषसिंह नाम कलकित होगा। उठो! ससार मे मरना-जीना तो लगा ही रहता है।" इस प्रकार आश्वासन देते हुए शुभ भाव वाले शिव नरेश ने देह त्याग दिया। राजकुमार मूच्छित हो गए। कुछ समय बीतने पर उनकी मूर्च्छा दूर हुई। पिता की अग्नि-सस्कारादि उत्तर-क्रिया की गई। बडे भाई सुदर्शनजी को पिता की मृत्यु का समाचार दिया गया। वे भी सुन कर दुखी हुए और शीघ्रतापूर्वक शत्रु को जीत कर लौट आये। सुदर्शनजी को देखते ही पुरुषसिंह उठ कर उनके गले लग गये और दोनो भाई खूब रोये। धीरे-धीरे शोक का प्रभाव हटने लगा।

एक दिन महाराजाधिराज निशुभ का दूत आया और दोनो राजकुमारों से कहने लगा,—

"आपके पिताजी के देहावसान के समाचार सुन कर सम्राट निशुभदेव को बहुत शोक हुआ। आपके पिताजी की स्वामी-भक्ति का स्मरण कर के आपके हित के लिए

उन्होने कहलाया कि—'अभी तुम दोनो बालक हो। कोई शत्रु तुम्हे सतावे और पराभव कर दे, तो यह भी दु खद होगा। मैने तुम्हारे पिता को उच्च पद दिया है। तुम्हे उसका निर्वाह करने के योग्य बनाना है। इसलिए तुम दोनो यहाँ मेरे पास आ कर रहो। वहाँ के प्रबन्ध की उचित व्यवस्था हो जायगी।"

दूत की बात सुन कर क्रोधाभिभूत हो, राजकुमार पुरुषसिंह ने कहा—

"इक्ष्वाकु वंश मे चन्द्र समान एव सर्वोपकारी ऐसे हमारे पिताश्री के स्वर्गवास से अनेक मित्र राजाओ को दु ख हुआ है। निशुभ को भी दु ख हुआ—तुम कहते हो, किंतु हम भी सिंह के बच्चे है। सिंह किसी का दिया हुआ दान नही लेता। यह राज हमारा है। हम इसको सम्भाल लेगे। यदि किसी की इस पर कुदृष्टि होगी, तो हम इसकी रक्षा का उपाय कर लेगे। इसकी चिंता आपके राजा को नही करनी चाहिए।"

दूत ने कहा—"तुम बच्चे हो। तुम्हे अपने स्वामी की आज्ञा का पालन करना चाहिए। इसी मे तुम्हारा हित है। यदि तुम उनकी इच्छा का आदर नही करोगे, तो परिणाम बहुत बुरा होगा।"

—"दूत! विशेष बात करना उचित नही है। तुम अपने स्वामी से कह दो कि हम उनकी इच्छा के आधीन नही है। हमे अपनी शक्ति का भरोसा है। इसी के बल पर हम स्थिर रह कर आगे बढते जावेगे।"

दूत की बात सुन कर निशुभ क्रोधायमान हुआ और सेना ले कर अश्वपुर पर चढाई कर दी। इधर दोनो बन्धु भी अपनी सेना ले कर अपने राज्य की सीमा पर आ पहुँचे। भयानक युद्ध हुआ। अत मे निशुभ के छोडे हुए अतिम अस्त्र (चक्र) के प्रहार से ही पुरुषसिंह द्वारा निशुभ मारा गया। वह पाँचवाँ प्रतिवासुदेव कहलाया और पुरुषसिंह ने उसके समस्त राज को अपने आधीन कर लिया। उनका पाँचवे वासुदेव पद का अभिषेक हुआ। सुदर्शनजी बलदेव पद पाये।

× × × ×

दो वर्ष तक छद्मस्थ पर्याय मे रहने के बाद भगवान् श्री धर्मनाथ स्वामी को पौष-शुक्ला पूर्णिमा को पुष्य-नक्षत्र मे केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त हुआ। देवो ने समवसरण रचा। तीर्थ स्थापना हुई। 'अरिष्ट' आदि ४३ गणधर हुए। भगवान् ग्रामानुग्राम विहार करते हुए अश्वपुर पधारे। वासुदेव और बलदेव भी भगवान् को वन्दन करने आये। भगवान् ने धर्मोपदेश दिया,—

धर्मदेशना

क्रोध कषाय को नष्ट करने की प्रेरणा

ससार मे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, इस चतुर्वर्ग मे मोक्ष वर्ग का स्थान सर्वोपरि है। इस मोक्ष-वर्ग की प्राप्ति ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूपी तीन रत्नो से होती है। वही ज्ञान मोक्षवर्ग को साधने मे समर्थ है जो तत्त्वानुसारी मति—बुद्धि से युक्त है। उस तत्त्वानुसारी मति मे श्रद्धा रूपी शक्ति का नाम 'दर्शन-रत्न' है और ज्ञान तथा दर्शन युक्त हेय का त्याग कर उपादेय का सेवन करना अर्थात् सावद्य प्रवृत्ति का त्याग करना चारित्र है। आत्मा स्वय ही ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप है अथवा इसी रूप मे शरीर मे रहता है। मोह के त्याग से अपनी आत्मा के द्वारा ही जो अपने-आप को (आत्मा को) जानता है, वही उसके ज्ञान, दर्शन और चारित्र है। आत्मा ने अज्ञान के द्वारा जिन दुखो को उत्पन्न किया, उनका निवारण आत्म-ज्ञान के द्वारा ही होता है। जो आत्मज्ञान से रहित है, वह तप करते हुए भी अज्ञान-जनित दुख का छेदन नही कर सकता।

आत्मा, चैतन्य (ज्ञान) रूप है, किन्तु कर्म के योग से शरीरधारी होता है और जब ध्यान रूपी अग्नि से कर्म रूपी कचरा जल कर नष्ट हो जाता है, तब आत्मा निरंजन—दोष रहित, परम विशुद्ध—सिद्ध हो जाती है।

यह ससार, कषाय और इन्द्रियो से हारे हुए आत्मा के लिए ही है। जिस आत्मा ने कषाय और इन्द्रियो को जीत लिया, वही मुक्त है।

आत्मा को ससार मे भटका कर दुखी करने वाली कषायें चार हैं—१ क्रोध २ मान ३ माया और ४ लोभ। इन चारो के चार-चार भेद हैं। यथा—१ सज्वलन २ प्रत्याख्यानी ३ अप्रत्याख्यानी और ४ अनन्तानुबन्धी। इनमे से सज्वलन एक पक्ष तक रहती है, प्रत्याख्यानी चार मास तक, अप्रत्याख्यानी वर्ष पर्यन्त और अनन्तानुबन्धी जीवन पर्यन्त रहती है•।

सज्वलन कषाय, वीतरागता मे बाधक होती है। प्रत्याख्यानी कषाय, साधुता को रोकती है, अप्रत्याख्यानी कषाय, श्रावकपन मे रुकावट डालती है और अनन्तानुबन्धी कषाय, सम्यग्दृष्टि का घात करती है। इनमे से सज्वलन कषाय देवत्व, प्रत्याख्यानी तिर्यञ्चपन

• यह कथन व्यवहार दृष्टि से है। अन्यथा प्रज्ञापना पद १८ मे चारो कषाय के उदय की स्थिति अन्तर्मुहूर्त की बताई है। सज्वलन की स्थिति देशोनपूर्व कोटि भी होती है—जितनी छठे गुणस्थान की स्थिति है।

और अनन्तानुबन्धी कषाय नरक भव प्रदान करती है + ।

क्रोध कषाय, आत्मा को तप्त कर देती है । वैर एव शत्रुता इसी कषाय से होती है । यह दुर्गति मे धकेलने वाली है और समता रूपी सुख को रोकने वाली है। क्रोध कषाय उत्पन्न होते ही आग की तरह सब से पहले अपने आश्रय-स्थल को जलाती है । इसके बाद दूसरो को जलाती है । कभी वह दूसरो को नही भी जलाती, किन्तु अपने आश्रय-स्थल को तो जलाती ही रहती है ।

यह क्रोध रूपी आग, आठ वर्ष कम क्रोडपूर्व तक पाले हुए संयम और आचरे हुए तप रूपी धन को क्षण भर मे जला कर भस्म कर देती है । पूर्व के पुण्य-भण्डार मे सचित किया हुआ समता रूपी यश, इस क्रोध रूपी विषय के सम्पर्क से तत्काल अछूत—असेव्य हो जाता है । विचित्र गुणो की धारक ऐसी चारित्र रूपी चित्रशाला को क्रोध रूपी धुम्र, अत्यन्त मलिन कर देता है। वैराग्य रूपी शमीपत्र के दोने (पात्र) मे जो समता रूपी रस भरा है, वह क्रोध के द्वारा बने हुए छिद्र मे से निकल जाता है ।

वृद्धि पाया हुआ क्रोध, इतना विकराल हो जाता है कि वह बडे भारी अनर्थ कर डालता है । भविष्य काल मे द्वैपायन की क्रोध रूपी आग मे, अमरापुरी के समान भव्य ऐसी द्वारिका नगरी, ईंधन के समान जल कर नष्ट हो जायगी ।

क्रोधी को अपने क्रोध के निमित्त से जो कार्य-सिद्धि होती दिखाई देती है, वह फल-सिद्धि, क्रोध से सम्बन्धित नही है, किन्तु पूर्व-जन्म मे प्राप्त की हुई पुण्य रूपी लता के फल है ।

जो प्राणी, इस लोक और परलोक तथा स्वार्थ और परार्थ का नाश करने वाले क्रोध को अपने शरीर मे स्थान देते हैं, उन्हे बार-बार धिक्कार है ।

क्रोधान्ध पुरुष, माता, पिता, गुरु, सुहृद मित्र, सहोदर और स्त्री की तथा अपनी खुद की आत्मा की भी निर्दयतापूर्वक घात कर देता है । उत्तम पुरुष को ऐसी क्रोध रूपी आग को बुझाने के लिए, सयम रूपी बगीचे मे क्षमा रूपी जलधारा का सिंचन करना चाहिए । अपकार करने वाले पुरुष पर उत्पन्न हुए क्रोध को रोकने की दूसरी कोई विधि नही है । यह तो सत्त्व के माहात्म्य (आत्म-शक्ति) से ही रोकी जा सकती है । अथवा तथा प्रकार की भावना के सहारे मे क्रोध के मार्ग को अवरुद्ध किया जा सकता है ।

+ यह कथन भी अपेक्षापूर्वक है । अन्यथा अनन्तानुबन्धी कषाय वाले देव भी होते हैं । अभव्य के अनन्तानुबन्धी होती है, परन्तु वह चारो गति मे जाता है । उसके परिवर्तित रूप में अन्य भी [illegible] ।

"जो व्यक्ति स्वय पाप स्वीकार कर के मेरे लिए वाधक बनना चाहता है, वह तो अपने दुष्कृत्य से अशुभ कर्म कर के खुद अपनी ही आत्मा की हिंसा कर रहा है। ऐसे व्यक्ति पर मैं क्यो क्रोध करूँ ? वह तो स्वय दया का पात्र है।"

"हे आत्मन् ! यदि तू चाहती है कि मेरा वुरा चाहने वाले—मुझे दु ख देने वाले पर मैं क्रोध करूँ, तो तेरे वास्तविक शत्रु तो खुद के किये हुए कर्म ही हैं। इन्ही के कारण तुझे दु ख होता है। यदि तुझे क्रोध करना ही है, तो अपने कर्म-वन्धन पर ही कर। तू कुत्ते जैसा स्वभाव छोड कर सिंह के समान मूल को ही पकड। कुत्ता, पत्थर मारने वाले को नही पकडता, किन्तु पत्थर को काटता है, और सिंह वाण को नही पकड कर वाण मारने वाले की ही खवर लेना चाहता है। तुझे जो कष्ट या वाधा उत्पन्न करते है, वे गुप्त-शत्रु तेरे कर्म ही हैं। दूसरे तो कर्म-प्रेरित वाण के समान हैं। इसलिए तुझे कर्म की ही ओर ध्यान दे कर, इस अन्तर्शत्रु को नष्ट करने का प्रयत्न करना चाहिए।"

भविष्य काल मे होने वाले अतिम शासनपति भगवान् महावीर, अपने को उपसर्ग करने वाले पापियो को क्षमा प्रदान करेंगे। जो उत्तम पुरुष होते हैं, वे तो ऐसे अवसर के लिए तत्पर रहते हैं। विना प्रयास के ही स्वयमेव प्राप्त हुई क्षमा को सफल करने के लिए तत्पर रहते हैं।

महाप्रलय के भयंकर उपसर्ग से तीन लोक की रक्षा करने मे समर्थ— ऐसे महापुरुष भी जव क्षमा को धारण करते है, तो तू कदलि के पेड के समान अल्प सत्व वाला हो कर भी क्षमा नही करता, यह तेरी कैसी वुद्धि है ? यदि तुने पूर्व-जन्म मे दुष्कृत्य नही किये होते, और शुभ कृत्यो के द्वारा पुण्य का सचय किया होता, तो तुझे आज दु खी होने का अवसर ही नही आता—कोई भी तुझे दु खी नही करता। इसलिए हे प्राणी ! तू अपने प्रमाद की आलोचना कर के क्षमा करने के लिए तत्पर हो जा। तू समझ ले कि क्रोध मे अन्ध वने हुए मुनि और प्रचण्ड चाण्डाल मे कोई अन्तर नही है। इसलिए क्रोध का त्याग कर के शुभ एवं उज्ज्वल वुद्धि को ग्रहण कर। एक महर्षि क्रोधी थे, किन्तु कुरगडु क्रोधी नही था, तो देवता ने ऋषि को नमस्कार नही किया, किन्तु कुरगडु को नमस्कार किया और स्तुति की।

यदि कोई मर्म पीडक वचन कहे, तो विचार करना चाहिए कि—यदि इसके वचन असत्य हैं, तो क्रोध करने की आवश्यकता ही नही, क्योकि उसकी वात ही झूठी एवं पागल-प्रलाप है। यदि उसकी वात सही है, तो उन दुर्गुणो को निकाल देना चाहिए। यदि कोई क्रोधित हो कर मारने के लिए आवे, तो हँसना चाहिए और मन मे सोचना चाहिए कि—'मेरा मरना तो मेरे कर्मो के आधीन है। यह मूर्ख व्यर्थ ही कारण वन रहा है।' यदि कोई

प्राण रहित करने के लिए ही उद्यत हो जाय, तो सोचना चाहिए कि—'मेरा आयुष्य ही पूरा होने आया होगा, इसलिए यह दुष्ट निर्भय हो कर पाप-कर्म बाध रहा है और मरे हुए को ही मार+ रहा है।

समस्त पुरुषार्थ का अपहरण करने वाले क्रोध रूपी चोर पर ही तुझे क्रोध नहीं आता, तो अल्प अपराध करने वाले ऐसे दूसरे निमित्त पर क्रोध कर के तू खुद धिक्कार का पात्र बन रहा है।

जो बुद्धिमान् पुरुष हैं, वे समस्त इन्द्रियो को क्षीण करने वाले और चारो ओर फैले हुए क्रोध रूपी विषधर को, क्षमा रूपी गारुडी मन्त्र के द्वारा जीत लेते हैं।

मान-कषाय का स्वरूप

मान कषाय, विनय, श्रुत, शील तथा धर्म-अर्थ एव मोक्ष रूप त्रिवर्ग का घात करने वाला है और प्राणियो के विवेक रूपी नेत्रो को बन्द कर देता है। जहाँ मान की प्रबलता होती है, वहाँ विवेक दृष्टि बन्द हो कर अन्धता आ जाती है। जाति, कुल, लाभ, ऐश्वर्य, बल, रूप, तप और श्रुत का मद करने वाला मानव, अभिमान के चलते ऐसे कर्मो का सचय कर लेता है कि जिससे उसे उसी प्रकार की हीनता प्राप्त होती है, जिसके कारण अभिमान किया।

प्रत्यक्ष मे जाति के ऊँच, नीच और मध्यम ऐसे अनेक भेद देख कर कौन बुद्धिमान जाति-मद को अपना कर अपने लिए भविष्य मे नीच जाति प्राप्त करने वाले कर्मो का संचय करेगा? जाति की हीनता अथवा उत्तमता कर्मो के फलस्वरूप मिलती है और जीव की जाति सदा एक नही रहती, किन्तु कर्मानुसार बदलती रहती है, फिर थोडे दिनो के लिए ऊँच जाति पा कर कौन समझदार ऐसा होगा जो अशाश्वत और नाशवान् जाति का अहंकार करेगा?

लाभ जो होता है, वह अन्तराय कर्म के क्षय से होता है। विना अन्तराय कर्म क्षय हुए लाभ नही हो सकता। जो पुरुष इस वस्तुतत्त्व को जान लेता है, वह तो लाभ का मद कभी नही करता। राज्याधिपति या सत्ताधारियो की प्रसन्नता और किसी प्रकार की

+ क्योंकि उसका आयुष्कर्म तो पूर्ण होने वाला है, इसलिए वह तो मरा हुआ है और मारने वाला उसे मार कर स्वयं ही पाप-भार से अपनी आत्मा को भारी बना रहा है।

शक्ति आदि का विशेष लाभ पा कर भी महात्मा पुरुष मद नही करते।

कई मनुष्य नीच कुल के हो कर भी बुद्धि, लक्ष्मी और शील से सुशोभित हैं। उन्हे देख कर उत्तम कुल वालो को कुल का मद नही करना चाहिए। (नीच कुल का अर्थ है—हीनाचार प्रधान वर्ग। जिसे लोग नीच कुल का कहते है, उनमे से भी कई उत्तम आचार का पालन करते हैं, तब उत्तम कुल के लिए मद करने का अवकाश ही कहाँ रहा?) और जिस मनुष्य ने उत्तम कुल मे जन्म ले लिया, परन्तु उत्तम आचार का पालन नही कर के दुराचार का सेवन करता है, तो उसके लिए उत्तम कुल मे जन्म होने मात्र से क्या लाभ हुआ? (वह खुद तो दुराचार के कारण नीच बन चुका, उसके लिए कुल का मद, लज्जा की बात है) और जो स्वयं ही सुशील एव सदाचारी है, उसे कुल की अपेक्षा ही क्या? वह तो अपने सदाचार के कारण आप ही उच्च है। इस प्रकार प्रशस्त विचार से कुल-मद का निवारण करना चाहिए।

अपने सामान्य धन के कारण मद करने वाला मनुष्य यह नही सोचता कि मेरे पास कितना धन है? स्वर्ग के अधिपति वज्रधारी इन्द्र के यहाँ रहे हुए त्रिभुवन के ऐश्वर्य के आगे मनुष्य का धन किस गिनती मे है? किसी नगर, ग्राम और धन आदि का मद करना क्षुद्रता ही तो है? सम्पत्ति कुलटा स्त्री के समान है। वह कभी उत्तम गुणवान् पुरुष के पास से निकल कर दुर्गुणी—दुराचारी के पास भी चली जाती है और वहाँ रह जाती है। इसलिए जो विवेकशील हैं, उन्हे ऐश्वर्य की प्राप्ति से मद कभी नही होता।

बलवान् योद्धा को भी जब रोग लग जाता है, तो वह निर्बल हो जाता है। इससे प्रत्यक्ष सिद्ध होता है कि बलवान् व्यक्ति भी रोग, जरा, मृत्यु और कर्म-फल के सामने निर्बल ही है। बल अनित्य एवं अस्थायी है। ऐसे नाशवान् शारीरिक बल का मद करना भी अविवेकी और अनसमझ का काम है।

सात घृणित धातुओ से बने हुए शरीर मे हानि और वृद्धि होती रहती है। पुद्गल मय शरीर हानि-वृद्धि धर्म से युक्त है। जरा और रोग से शरीर का पराभव होना भी प्रत्यक्ष है। जो आज सुन्दर दिखाई देता है, वह रोग-जरा आदि से असुन्दर—कुरूप भी हो जाता है। इस प्रकार विद्रूप बनने वाले रूप का मद कौन बुद्धिमान करेगा? भविष्य मे सनत्कुमार नाम के एक चक्रवर्ती होगे। वे मनुष्यो मे बडे सुन्दर रूप वाले माने जावेगे। किन्तु उनके उस रूप का क्षण मात्र मे परिवर्तन हो जायगा। इस प्रकार सुन्दर रूप की विडम्बना सुन कर, रूप का मद नही करना चाहिए।

भूतकाल मे प्रथम जिनेश्वर श्री ऋषभदेवजी ने घोर तप किया था और भविष्य मे चरम तीर्थाधिपति श्री वीरप्रभु घोर तप करेगे। उनके तप की उग्रता को जानने वाले को अपने मामूली तप का मद नही करना चाहिये। मद-रहित विशुद्ध भाव से तप करने से कर्म टूटते है। किन्तु तप का मद करने से तो उल्टा कर्म का विशेष संचय और वृद्धि ही होती है।

पूर्व के महापुरुषो ने अपने बुद्धि-बल से जिन शास्त्रो की रचना की, उन्हे पढ कर जो "मैं सर्वज्ञ हूँ"—इस प्रकार मद करता है, वह तो अपने अंग को ही खाता है•। श्री गणधरो की शास्त्र निर्माण और धारण करने की शक्ति को सुन कर ऐसा कौन श्रवण (कान) और हृदय वाला मनुष्य है, जो अपने किंचित् शास्त्र का मद करे?

दोप रूपी शाखाओ का विस्तार करने वाले और गुणरूपी मूल को नीचे दबाने वाले—ऐसे मान रूपी वृक्ष को मृदुता रूपी नदी की वेगदार बाढ से उखेड कर फेंक देना चाहिए। उद्धतता (अक्खडपन) का निषेध, मृदुता अथवा मार्दवता का स्वरूप है और उद्धतता, मान का स्पष्ट स्वरूप है।

जिस समय जाति आदि का उद्धतपन मन मे आने लगे, उस समय उसे हटाने के लिए मृदुता का अवलम्बन लेना चाहिए और मृदुता को सर्वत्र बनाए रखना चाहिए, उसमे भी जो पूज्य वर्ग है, उसके प्रति विशेप रूप से मृदुता रहनी चाहिए, क्योकि पूज्य की पूजा से पाप से मुक्ति होती है। मान के कारण ही बाहुबलिजी, पाप रूपी लता से बन्ध गये थे। वे मृदुता का अवलम्बन कर के पाप से मुक्त भी हो गये और केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त कर लिया। चक्रवर्ती महाराजाधिराज भी चारित्र ले कर और निःसंग हो कर, शत्रुओ के घर भिक्षा मांगने जाते हैं। मान को मूल से उखाड फेकने की उनकी कैसी कठोर मृदुता है? चक्रवर्ती सम्राट जैसे भी मान का त्याग कर तत्काल के दीक्षित एक रंक साधु को नमन करते हैं और चिरकाल तक उसकी सेवा करते हैं। इस प्रकार मान और उसे दूर करने के विपय को समझ कर, मान को हृदय से निकालने के लिए सदैव मृदुता को धारण करना चाहिए। इसी मे बुद्धिमानी है।

माया-कषाय का स्वरूप

माया, असत्य की माता है। शील (सदाचार) रूपी कल्पवृक्ष को काटने वाली कुल्हाड़ी है और अविद्या की आधार-भूमि है। यह दुर्गति मे ले जाने वाली है। कुटिलता

• गणधर महाराज, मात्र त्रिपदी सुन कर ही समस्त श्रुत-सागर के पारगामी हो जाते हैं।

मे चतुर और कापट्ययुक्त वकवृत्ति वाले पापी मनुष्य, जगत् को ठगने के लिये माया का सेवन करते हैं। किन्तु वे स्वय अपनी आत्मा को ही ठगते है।

राज्यकर्त्ता, अर्थ-लोभ के लिए खोटे षड्गुण + के योग से, छल-प्रपञ्च और विश्वासघात कर के ससार को ठगते हैं। ब्राह्मण वर्ग, अन्तर से सद्गुण-शून्य किन्तु ऊपर से गुणवान् होने का ढोग कर के और तिलक-मुद्रा, मन्त्र और दीनता बता कर ठगाई करता है। वैश्य वर्ग तो माया का भाजन बन गया है। वह खोटे तोल-नाप से और राज्य-कर की चोरी आदि से लोगो को ठगता है। पाखण्डी और नास्तिक लोग जटा, मौजी,● शिखा, भस्म, वल्कल और अग्नि (धुनी) आदि धारण कर के श्रद्धालु मुग्धजनो को ठगते है*। गणिकाएँ, बिना स्नेह के ही हाव-भाव दिखा कर, लीला, गति और कटाक्ष के द्वारा कामी-जनो को मुग्ध कर के ठगती है। धूर्त लोग और जिनकी आजीविका सुखपूर्वक नही चलती ऐसे लोग, झूठी शपथ खा कर और खोटे तथा जाली सिक्के से धनवानो को ठगते है। स्त्री-पुरुष, पिता-पुत्र, भाई-भाई, मित्र, स्वामी, सेवक और अन्य सभी लोग, एक दूसरे को माया के द्वारा ठगते रहते है।

चोर लोग, धन के लिए दिन-रात चौकन्ने रह कर, असावधान लोगो को निर्दयता पूर्वक लूटते हैं। शिल्पी और किसी भी प्रकार की कला के सहारे से आजीविका करने वाले, सीधे और सरल जीवो को भी ठगते रहते हैं।

व्यन्तर जैसी हलकी योनि के क्रूर देव, अनेक प्रकार के छल कर के प्राय प्रमादी पुरुषो तथा पशुओ को दु खी करते हैं। मत्स्यादि जलचर जीव भी छल से अपने बच्चो का ही भक्षण कर लेते है। धीवर लोग, उन्हे छलपूर्वक अपनी जाल मे फँसा लेते हैं और उनका प्राण हरण कर लेते हैं। शिकारी लोग, अनेक प्रकार के छल से थलचर पशुओ को मार डालते हैं। मास-लोलुप जीव, लावक आदि कितने ही प्रकार के पक्षियो को पकड कर मार डालते है और खा जाते है।

इस प्रकार मायाचारी जीव, मायाचार से अपनी आत्मा को ही ठग कर स्वधर्म और सद्गति का नाश करते हैं। यह माया, तिर्यञ्च जाति मे उत्पन्न होने का बीज, मोक्षपुरी

+ १ सधि २ विग्रह ३ यान ४ आसन ५ द्विधाभाव और ६ समाश्रय---ये राज्यनीति के षड्गुण है।

● मुज की रस्सी का कदोरा।

* इसी प्रकार ढोगी साधु भी सुसाधु का स्वाग धर कर ठगते हैं। जो जिस रूप मे अपने को प्रसिद्ध करता है, वह उसके विपरीत आचरण करे, तो ठग ही हैं।

के द्वार को दृढता से वन्द करने वाली अर्गला और विश्वास रूपी वृक्ष के लिए दावानल के समान है। विद्वानो के लिए यह त्याग करने योग्य है।

भविष्य मे होने वाले मल्लिनाथ तीर्थङ्कर, पूर्व-भव की सूक्ष्म माया के शल्य के कारण स्त्री-भाव को प्राप्त होगे। इसलिए जगत् का द्रोह करने वाली माया रूपी नागिन को सरलता रूपी औषधी से जीत लेना चाहिए। इससे आनन्द की प्राप्ति होती है।

सरलता, मुक्तिपुरी का सरल एव सीधा मार्ग है। इसके अतिरिक्त तप, दान आदि लक्षण वाला जो मार्ग है, वह तो अवशेष मार्ग है— सरलता रूपी धोरी-मार्ग के साथ रहने वाले हैं। जो सरलता का सेवन करते है, वे लोक मे भी प्रीति-पात्र बनते हैं और जो मायाचारी कुटिल पुरुष हैं, उनसे तो सभी लोग डरते हैं। जिनकी मनोवृत्ति सरल है, उन महात्माओ को भव-वास मे रहते हुए भी स्वत के अनुभव मे आवे—ऐसा अकृत्रिम मुक्ति-सुख मिलता है?

जिनके मन मे कुटिलता रूपी काँटा (खीला) खटक कर क्लेश किया करता है और जो दूसरो को हानि पहुँचाने में ही तत्पर रहते हैं, उन वञ्चक पुरुषो को सुख-शांति कहाँ से मिलेगी?

सभी विद्याएँ प्राप्त करने पर और सभी कलाओ की उपलब्धि होने पर भी, बालक जैसी सरलता तो किसी विरले भाग्यशाली पुरुष को ही प्राप्त होती है। अज्ञ होते हुए भी बालको की सरलता सभी के मन मे प्रीति उत्पन्न करती है, तो जिस भव्यात्मा का चित्त सभी शास्त्रो के अर्थ मे आसक्त है, उनकी सरलता जन-मन मे प्रीति उत्पन्न करे, उसमें तो आश्चर्य ही क्या है?

सरलता स्वाभाविक होती है और कुटिलता मे कृत्रिमता होती है। इसलिए स्वभाव-धर्म को छोड कर कृत्रिम (बनावटी) धर्म को कौन ग्रहण करेगा?

संसार मे प्राय सभी जन छल, पिशुनता, वक्रोक्ति और पर-वञ्चन मे तत्पर रहते हैं। ऐसे लोक-समूह में रहते हुए भी शुद्ध स्वर्ण के समान निर्मल एवं निर्विकार रहने वाला तो कोई धन्य पुरुष ही होगा।

जितने भी गणधर होते हैं, वे सभी श्रुत-समुद्र के पारगामी होते हैं, तथापि वे शिक्षा प्राप्त करने के लिए तीर्थङ्कर भगवान् की वाणी को सरलतापूर्वक सुनते हैं।

जो सरलतापूर्वक अपने दोषो की आलोचना करते हैं, वे सभी प्रकार के दुष्कर्मों का क्षय कर देते हैं और जो कुटिलतापूर्वक आलोचना करते हैं, वे अपने छोटे दुष्कर्म को

भी मायाचार के कारण बढा कर बडा कर देते । जो मन से भी कुटिल है और वचन तथा काया से भी कुटिल हैं, उस जीव की मुक्ति नही हो सकती । मुक्त वे ही होते है, जो मन, वचन और काया से सरल हो ।

इस प्रकार मायाचारी कुटिल मनुष्यो को प्राप्त होने वाली उग्र कर्मों की कुटिलता का विचार कर के जो बुद्धिमान् हैं, वे तो मुक्ति प्राप्त करने के लिए सरलता का ही आश्रय लेते हैं ।

लोभ- षाय का स्वरूप

लोभ, समस्त दोषों की खान है, गुणों को भक्षण करने वाला राक्षस है । यह व्यसन रूपी लता का मूल है और सभी प्रकार के अर्थ की प्राप्ति में बाधक होने वाला है । निर्धन व्यक्ति, सौ सिक्को का लोभी है, तो सौ वाला हजार चाहता है । हजार वाला लाख, लखपति, कोट्याधिपति होना चाहता है, तो कोट्याधिपति, राज्याधिपति होने की आकाक्षा रखता है और राज्याधिपति चक्रवर्ती सम्राट बनने का लोभ करता है । चक्रवर्ती हो जाने पर भी लोभ नही रुकता । फिर वह देव और देव से बढ कर देवेन्द्र बनने की तृष्णा रखता है । इन्द्र हो जाने पर भी इच्छा की पूर्ति नही होती । लोभ की संतति उत्तरोत्तर बढती ही रहती है ।

जिस प्रकार समस्त पापो मे हिंसा, समस्त कर्मों मे मिथ्यात्व और सभी रोगो मे राज्यक्ष्मा (क्षय) बडे हैं, उसी प्रकार सभी कषायो मे लोभ-कषाय बडी है । इस पृथ्वी पर लोभ का एक छत्र साम्राज्य है । यहाँ तक कि जिस वृक्ष के नीचे धन होता है, उस धन को वृक्ष की जडें आदि लिपट कर आच्छादित कर देती है (ढक देती है) धन के लोभ से वेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौरीन्द्रिय प्राणी, अपने पूर्व-भव मे जमीन मे गाडे हुए धन पर मूर्च्छित हो कर बैठते हैं । साँप और छिपकली जैसे पचेन्द्रिय जीव भी लोभ से, अपने पूर्व-भव के अथवा दूसरे के रखे हुए धन वाली भूमि पर आ कर लीन हो जाते हैं ।

पिशाच, मुद्गल (व्यन्तर विशेष) भूत, प्रेत और यक्षादि देव भी लोभ के वश हो कर अपने या दूसरो के निधान (पृथ्वी मे डटे हुए धन) पर स्थान जमा कर अधिकार करते हैं । आभूषण उद्यान और वापिकादि जलाशयो मे मूर्च्छित देव भी वहाँ से च्यव कर पृथ्वीकाय; अप्काय और वनस्पतीकाय मे उत्पन्न होते हैं । जो मुनि महात्मा, क्रोधादि कषाय पर विजय पा कर "उपशान्त-मोह" नाम के ग्यारहवे गुणस्थान पर आरूढ हो जाते

हैं, वे भी एक लोभ के अश मात्र से पतित हो जाते हैं× । थोडे से धन के लोभ से दो सहोदर भाई, कुत्ते के समान आपस मे लडते है । ग्राम्यजन, अधिकारी वर्ग और राजा, खेत गांव और राज्य की सीमा के लोभ से पारस्परिक सौहार्द भाव को छोड कर एक दूसरे से वैर रखते हैं ।

लोभी मनुष्य, नाटक करने मे भी बडे ही कुशल होते हैं । स्वामी या अधिकारी को प्रसन्न करने के लिए, मन मे हर्ष, शोक, द्वेष एव हास्य का कारण नही होने पर भी, उनके सामने नट के समान हर्ष-शोकादि बतलाते है ।

दूसरे खड्डे तो पूरने से भर जाते है, किन्तु लोभ का खड्डा इतना गहरा और विचित्र है कि इसे जितना भरा जाय, उतना ही अधिक गहरा होता जाता है । ऊपर से समुद्र मे जल डालने से वह परिपूर्ण नही होना । यदि देवयोग या अन्य कारण से समुद्र भी परिपूर्ण रूप से भर जाय, किन्तु लोभ रूपी महासागर तो ऐसा है कि तीन लोक का राज्य मिल जाय, तो भी पूरा नही होता । क्या इस जीव ने कभी भोजन नही किया ? बढिया वस्त्र नही पहने ? विपयो का सेवन नही किया और धन-सम्पत्ति का सचय नही किया ? किया, अनन्त वार किया, किन्तु लोभ का अश कम नही किया । वह तो बढता ही रहा । यदि लोभ का त्याग कर दिया, तो फिर तप करने की आवश्यकता नही रहनी (क्योकि लोभ का त्याग कर देने वाला तो स्वय पवित्र आत्मा है । उसकी मुक्ति तो होती ही है) और जिसने लोभ का त्याग नही किया, तो उसे भी तप करने की आवश्यकता नहीं (क्योकि उसका तप भी तृष्णा की पूर्ति के लिए ही होता है । उस तप से निदानादि द्वारा ऐसी स्थिति प्राप्त होती है कि जिसके कारण भविष्य मे वह नरकादि दु खो का निर्माण कर लेना है)।

समस्त शास्त्रो का सार यही है कि—"बुद्धिमान् मनुष्य, लोभ को त्यागने का ही प्रयत्न करे ।" जिसके हृदय मे सुमति का निवास होता है, वह लोभ रूपी महासागर की चारो ओर फैलती हुई प्रचण्ड तरगो पर, सतोप का सेतु बाँध कर रोक देता है । जिस प्रकार मनुष्यो मे चक्रवर्ती और देवो मे इन्द्र सर्वश्रेष्ठ है, उसी प्रकार समस्त गुणो मे सन्तोष महान् गुण है ।

सन्तोषी मुनि और असन्तोषी चक्रवर्ती के सुख-दु ख की तुलना की जाय, तो दोनों

× ग्यारहवें गुणस्थान की स्थिति पूर्ण होते ही दबे हुए मोह मे से सब से पहले सूक्ष्म लोभ का उदय होता है ।

के सुख-दुःख का उत्कर्ष समान होता है, अर्थात् सन्तोषी मुनिवर जितने अंशो मे सुखी है, उतने ही अंशो मे असन्तोषी चक्रवर्ती दुःखी हैं। इसलिए चक्रवर्ती सम्राट भी अपने राज्य का त्याग कर के तृष्णा का त्याग करते है और निर्ममता के द्वारा सन्तोष रूपी अमृत को प्राप्त करते हैं।

जिस प्रकार कानो को बन्द किया जाता है, तो भीतर से शब्दाद्वैत अपनेआप बढता है, उसी प्रकार जब धन की इच्छा का त्याग किया जाता है, तब सम्पत्ति अपनेआप आ कर उपस्थित होती है। जिस प्रकार आँखे बन्द कर लेने से सारा विश्व ढक जाता है (दिखाई नही देता) उसी प्रकार एक सन्तोष को ही धारण कर लिया जाय, तो प्रत्येक वस्तु मे विरक्ति आ जाती है। फिर इन्द्रिय-दमन और काय-क्लेश तप की क्या आवश्यकता रहती है? मात्र सन्तोष धारण कर लिया जाय, तो ऐसे महापुरुष की ओर मोक्ष-लक्ष्मी अपनेआप आकर्षित होती है। जो भव्यात्मा सन्तोष के द्वारा तुष्ट है और मुक्ति जैसा सुख भोगते हैं, वे जीवित रहते हुए भी मुक्त हैं।

राग-द्वेष से युक्त और विषयो से उत्पन्न हुआ सुख किस काम का? मुक्ति तो सन्तोष से उत्पन्न सुख से ही मिल सकती है। उन शास्त्रो के वे सुभाषित किस काम के जो दूसरो को तृप्त करने का विधान करते हैं। जिनकी इन्द्रियाँ मलिन है, जो विषयों को मन मे बसाये हुए है, उन्हे मन को स्वच्छ कर के सन्तोष के स्वाद से उत्पन्न सुख की ही खोज करनी चाहिए।

हे प्राणी! यदि तेरा यह विश्वास हो कि "जो कार्य होते हैं, वे कारण के अनुसार ही होते है," इस प्रकार सन्तोष के आनन्द से ही मोक्ष के अपार आनन्द की प्राप्ति होती है। इस सिद्धान्त की भी मान्यता करनी चाहिए।

जो उग्र तप, कर्म को निर्मूल करने मे समर्थ है, वही तप यदि सन्तोष से रहित हो, तो निष्फल जाता है। सन्तोषी आत्मा को न तो कृषि करने की आवश्यकता रहती है, न नौकरी, पशु-पालन और व्यापार करने की ही जरूरत है। क्योकि सन्तोषामृत का पान करने से उसकी आत्मा निवृत्ति के महान् सुख को प्राप्त कर लेती है। सन्तोषामृत का पान करने वाले मुनियो को तृण पर सोते हुए भी जो आनन्द आता है, वह रुई के बडे-बडे गद्दो पर सोने वाले असन्तोषी धनवान् को नही होता। असन्तोषी धनवान्, सन्तोषी समर्थ पुरुषो के आगे तृण के समान लगते हैं। चक्रवर्ती और इन्द्रादि की ऋद्धि तो प्रयासजन्य और नश्वर है, परन्तु सन्तोष से प्राप्त हुआ सुख, अनायास और नित्य होता है। इसलिए बुद्धि-

मान् पुरुषो का कर्त्तव्य है कि समस्त दोष के स्थान रूप लोभ को दूर करने के लिए अद्वैत सुख के धाम रूप सन्तोष का आश्रय करना चाहिए ।

इस प्रकार कषायो को जीतने वाली आत्मा, इस भव मे भी मोक्ष-सुख का आनन्द लेती है और परलोक मे अवश्य ही अक्षय आनन्द को प्राप्त कर लेती है ।"

प्रभु की धर्मदेशना सुन कर बहुतो ने दीक्षा ली । बलदेव आदि बहुत-से व्रतधारी श्रावक हुए और वासुदेव आदि सम्यग्दृष्टि बने । केवलज्ञान प्राप्त करने के बाद दो वर्ष कम ढाई लाख वर्ष तक तीर्थंकर देवाधिदेवपने विचरते रहे । उनके ६४००० साधु, ६२४०० साध्वियाँ, ९०० चौदह पूर्वधर, ३६०० अवधिज्ञानी, ४५०० मन पर्यवज्ञानी, ४५०० केवलज्ञानी, ७००० वैक्रिय-लब्धि वाले, २८०० वाद-लब्धि वाले, २४०००० श्रावक और ४१२००० श्राविकाएँ हुईं । मोक्ष समय निकट आने पर भगवान् समेदशिखर पर्वत पर पधारे और १०८ मुनियो के साथ अनशन किया । ज्येष्ठ-शुक्ला पंचमी को पुष्य-नक्षत्र मे एक मास का अनशन पूर्ण कर उन मुनियो के साथ भगवान् मोक्ष पधारे ।

भगवान् कुमार अवस्था मे ढाई लाख, राज्य संचालन मे पाँच लाख और चारित्र अवस्था मे ढाई लाख, यो कुल दस लाख वर्ष का आयु भोग कर मोक्ष प्राप्त हुए ।

पांचवे पुरुषसिंह वासुदेव भी महान् क्रूर-कर्म करते हुए आयु पूर्ण कर के छठे नरक मे गए । सुदर्शन, बलदेव ने भ्रातृ-वियोग से दुःखी हो कर सयम स्वीकार किया और विशुद्ध आराधना से समस्त कर्मों का क्षय कर के मोक्ष पधारे ।

पन्द्रहवें तीर्थंकर

भगवान्

॥ धर्मनाथजी का चरित्र सम्पूर्ण ॥

र्त्ती

भगवान् श्री वासुपूज्य स्वामी के तीर्थं मे, भरत-क्षेत्र के महिमंडल नामक नगर मे नरपति नामक राजा राज करता था। वह सदाचारी, न्यायी और अनाथो का नाथ था। वह किसी भी जीव का अनिष्ट नही करता था और सभी का उचित र ति से पालन करता था। वह महानुभाव अर्थ और काम-पुरुषार्थ मे अरुचि रखता हुआ धर्म-पुरुषार्थ का सेवन करने वाला था। वह देव-गुरु और धर्म की आराधना करने मे तत्पर रहता था। धर्म-भावना मे विशेष वृद्धि होने पर नरेश ने संसार त्याग कर सर्व-सयम स्वीकार कर लिया और चिरकाल तक उत्तम रीति से आराधना कर के मृत्यु पा कर मध्य ग्रैवेयक मे अहमिन्द्र हुआ।

इसी भरत-क्षेत्र मे श्रावस्ती नाम की एक श्रेष्ठ नगरी थी। 'समुद्रविजय' नाम का राजा वहाँ राज करता था। वह प्रतापी, विजयी और सदाचारी था। 'भद्रा' नाम की सुलक्षणी एव उत्तम शील-सम्पन्न महारानी थी। नरपति मुनिराज का जीव ग्रैवेयक की अपनी आयु पूर्ण कर के महारानी भद्रा के गर्भ मे उत्पन्न हुआ। महारानी ने चौदह महा-स्वप्न देखे। जन्म होने पर मघवा (इन्द्र) के समान पराक्रम वाले लक्षण देख कर पिता ने पुत्र का 'मघवा' नाम रखा। वय प्राप्त होने पर राजकुमार महान् योद्धा एवं परा-क्रमवान् हुआ। महाराजा समुद्रविजय के बाद वह राज्य का सचालन करने लगा। कालान्तर मे राज्य के शस्त्रागार मे 'चक्ररत्न' प्रकट हुआ, तथा अनुक्रम से 'पुरोहित रत्न' आदि चक्रवर्ती महाराजा के योग्य सभी रत्न अपने-अपने स्थान पर उत्पन्न हुए और सभी नरेश के अनुशासन मे आ गये। इसके बाद चक्ररत्न आयुधशाला मे से निकल कर चलने लगा। उसके पीछे महाराजा मघवा भी चलने लगे। उन्होने पूर्व के भरत और सगर चक्र-वर्ती के समान छह खंड का विजय किया और राज्याभिषेक कर के 'तीसरे चक्रवर्ती महाराजाधिराज' के रूप मे प्रसिद्ध हुए।

चक्रवर्ती सम्राट के सामने मनुष्य सम्बन्धी सभी प्रकार की देवोपम उत्कृष्ट भोग-सामग्री विद्यमान थी, किन्तु आप भोग मे अत्यंत लुब्ध नही हुए और धर्म-भावना वृद्धिगत करते रहे। अंत में राज्य-सम्पदा और सभी प्रकार के काम-भोगो का त्याग कर के आपने श्रमण धर्म स्वीकार कर लिया और चारित्र का पालन करते हुए समस्त कर्मों को क्षय कर के मोक्षगामी हुए+।

+ ग्रथकार लिखते हैं कि ये तीसरे देवलोक मे गये। पू० श्री घासीलालजी म. सा भी उत्तरा-ध्ययन की अपनी टीका—भाग ३ पृ. १८० मे ऐसा ही उल्लेख करते हैं, परन्तु उत्तराध्ययन सूत्र अ०

करता हुआ, आयु पूर्ण कर, उसी देवलोक मे आभियोगिक देव के रूप मे उत्पन्न हुआ और हाथी के रूप मे उस इन्द्र की सवारी के काम मे आने लगा। वहाँ का आयु पूर्ण कर अग्नि-शर्मा का जीव, जन्म-मरण करता हुआ असित नामक यक्ष हुआ।

इस जम्बूद्वीप के भरत-क्षेत्र मे हस्तिनापुर नाम का नगर था। वहाँ अश्व की विशाल सेना से पृथ्वी को प्रभावित करने वाला व शत्रुओ पर विजय प्राप्त करने वाला 'अश्वसेन' नाम का राजा था। वह सदाचारी, सद्‌गुणी और ऋद्धि-सम्पन्न था। याचको के मनोरथ पूर्ण करने मे वह तत्पर रहता था। उसके सहदेवी नाम की महारानी थी। रूप एव लावण्य मे वह स्वर्ग की देवी के समान थी। जिनधर्म का जीव, प्रथम स्वर्ग की इन्द्र सम्बन्धी ऋद्धि भोग कर, आयु पूर्ण होने पर महारानी सहदेवी की कुक्षि मे उत्पन्न हुआ। महारानी ने चौदह महास्वप्न देखे। गर्भकाल पूर्ण होने पर एक स्वर्ण-सी काति वाला एव अनुपम रूप-सम्पन्न पुत्र का जन्म हुआ। उस बालक का 'सनत्‌कुमार' नाम दिया गया। वह विना विशेष प्रयत्न के ही समस्त विद्याओ और कलाओ मे पारगत हो गया। अनुक्रम मे वह यौवन वय को प्राप्त हुआ।

सनत्‌कुमार के महेन्द्रसिंह नाम का एक मित्र था। वह योद्धा, बलवान्‌ और अपने विशिष्ट पराक्रम मे विख्यात था। सनत्‌कुमार अपने मित्र महेन्द्रसिंह और अन्य कुमारो के साथ मकरन्द नामक उद्यान मे क्रीडा करने गया। वहाँ उसे कुछ घोडे दिखाई दिये। किसी राजा ने ये उत्तम घोडे महाराज अश्वसेन को भेंट के रूप मे भेजे थे। वे घोडे पचधारा मे चतुर और उत्तम लक्षण वाले थे। सनत्‌कुमार ने उन घोडो का अवलोकन किया। उनमे से 'जलधिकल्लोल' नाम का एक घोडा, जल-तरग के समान चपल और सभी अश्वो मे उत्तम था। सनत्‌कुमार को उस अश्व ने आकर्षित कर लिया। वह उसी समय उसकी लगाम पकड कर, उस पर सवार हो गया। उसके सवार होते ही घोडा एकदम भागा और आकाश मे उड रहा हो—इस प्रकार शीघ्र-गति से दौडा। राजकुमार लगाम खिच कर अश्व को रोकने का प्रयत्न करने लगा, किन्तु ज्यो-ज्यो लगाम खिचता, त्यो-त्यो अश्व की गति विशेष तीव्र बनती। सनतकुमार के साथ महेन्द्रसिंह और अन्य राजकुमार भी घोडो पर सवार हो कर चले थे। किन्तु सभी साथी पीछे रह गए और सनत्‌कुमार उन सभी की आँखो से ओझल हो गया। सनतकुमार का एकाकी अदृश्य होना सुन कर महाराज अश्वसेन चिन्तित हुए और स्वय सेना ले कर खोज करने निकल गए। वे घोडे के चरण-चिन्ह और मुँह से झरते हुए फेन (झाग) का अनुसरण करते हुए खोज करने लगे। अचानक आँधी

चली और धूल उडी । खोज करने वालो का आगे वढना रुक गया। उनकी आँखें, धूल उड कर गिरने के कारण वन्द हो गई थी । जव आँधी थमी और धूल उडनी वन्द हुई, तो उन्होने देखा कि घोडे के पाँवो के चिन्ह मिट चुके थे । उडी हुई धूल ने सभी चिन्ह मिटा दिये । अव उनकी खोज का मार्ग विशेष कठिन हो गया। सभी इधर-उधर विखर कर खोज करने लगे । महेन्द्रसिंह ने महाराजा अश्वसेन को समझा कर लौटा दिया और स्वय खोज करने के लिए आगे वढा । उसमे मित्र को खोजने की एक-मात्र धुन थी । अन्य खोज करने वाले तो इधर-उधर भटक कर लौट गए, किन्तु महेन्द्रसिंह आगे वढता ही गया। भूख लगती, तो वृक्षो के फल खा लेता, पानी पी लेता, कही कुछ विश्राम करता और आगे वढता । वह आस-पास की झाड़ी, गुफाएँ, टेकरे, वनवासियो के झोपडे आदि मे खोज करता और विशाल वृक्षो पर चढ कर इधर-उधर देखता हुआ आगे वढने लगा। सघन अटवी मे भयानक हिंस्र-पशुओ से वचता और आक्रमणकारी पशुओ को खदेडता हुआ, वह आगे वढता ही रहा । उसे न गर्मी का भय रोक सका, न सर्दी का । वह सभी प्रकार के कष्टो को सहता हुआ मित्र की खोज निकालने की ही धुन लिए भटकने लगा । उसकी दशा विगड गई । कांटो और कंकरो ने पाँवो मे छेद कर दिये, चलना दुभर हो गया, कपडे फट गये, वाल वढ गए, फिर भी वह चलता ही रहा। इस प्रकार भटकते हुए उसे एक वर्ष वीत गया ।

एक वार वह एक वन मे भटक रहा था कि उसे हस, सारस आदि पक्षियो का स्वर सुनाई दिया, कमल के पुष्पो की गंध आने लगी और उसके मन मे भी प्रसन्नता उत्पन्न होने लगी और साथ ही मित्र के शीघ्र मिलने की आशा जोर पकडने लगी । वह उसी दिशा मे आगे वढा । थोडी दूर चलने पर उसे गान्धार राग मे गाया जाता हुआ मधुर गीत और वीणा का स्वर सुनाई दिया । उसके हृदय की आशा-लता हरी हो गई। वह शीघ्रता से आगे वढा। दूर से उसने देखा कि विचित्र वेश धारण करने वाली कुछ रमणियो के वीच एक पुरुष वैठा है । उसका हर्ष उमडने लगा । निकट आने पर उसने अपने प्रिय मित्र को पहिचान लिया । उसका मनोरथ पूर्णरूप से सफल हो गया । वह दौड़ता हुआ सनत्कुमार के पास पहुँचा और तत्काल उनके चरणो मे गिर गया। अचानक महेन्द्रसिंह को आया जान कर सनत्कुमार भी प्रसन्न हुआ और मित्र को छाती से लगा लिया । दोनो के हर्षाश्रु वहने लगे ।

जव दोनो मित्रो का हर्षावेग कम हुआ, आनन्दाश्रु थमे, तव सनत्कुमार ने महेन्द्रसिंह

से यहाँ तक पहुँचने मे उत्पन्न कठिनाइयो का हाल पूछा, तो महेन्द्रसिंह ने विस्तारपूर्वक अपनी कष्ट-कहानी सुनाई। मित्र के भीषण कष्टो और आपदाओ को सुन कर बहुत खेद हुआ। विद्याधरी ललनाओ ने महेन्द्र को स्नानादि करा कर भोजन कराया। इसके बाद महेन्द्र ने सनत्कुमार का हाल पूछा। सनत्कुमार ने सोचा—'मेरी इस अवस्था की बात मैं स्वयं कहूँ—यह शोभनीय नही होगी।' उसने अपनी बायी ओर बैठी हुई विद्याधर सुन्दरी बकुलमति से सारा वृत्तान्त सुनाने का कह कर शयन करने के बहाने वहाँ से हट गया। उसके जाने के बाद बकुलमति ने सनत्कुमार का वृत्तान्त बताते हुए कहा,—

"महानुभाव ! तुम सभी के देखते ही देखते अश्व द्वारा तुम्हारे मित्र का हरण होने के बाद, अश्व ने एक भयानक अटवी मे प्रवेश किया। वह दौडता ही रहा। दूसरे दिन मध्यान्ह काल मे वह क्षुधा-पिपासा और गंभीर थाक से अकड कर खडा रह गया। उसके खडे रहते ही कुमार घोडे पर से नीचे उतरे और साथ ही घोडा भीत के समान नीचे गिर कर प्राण-रहित हो गया।

आपके मित्र भी प्यास से व्याकुल हो रहे थे। वे पानी की खोज मे इधर-उधर भटकने लगे। उन्हे पानी मिलना कठिन हो गया। वे व्याकुल हो गए और एक सप्तपर्ण वृक्ष के नीचे जा कर उसकी शीतल छाया मे लेट गए। वे पुण्यवान् एवं भाग्यशाली हैं। सद्भागी पर आपत्ति के बादल अधिक समय तक नही ठहर सकते। उनके लिए जंगल मे भी मंगल का वातावरण बन सकता है। पुण्ययोग से उस वन के अधिष्ठायक यक्ष को कुमार की विपत्ति का भान हुआ। तत्काल यक्ष ने शीतल जल से आर्य-पुत्र के शरीर का सिंचन किया। शरीर मे शीतलता पहुँचते ही वे सचेत हो गए और यक्ष द्वारा दिया हुआ पानी पी कर तृप्त हुए। उन्होने यक्ष से पूछा—"तुम कौन हो और यह स्वादिष्ट एवं सुगन्धित जल कहाँ से लाये ?" यक्ष ने कहा—

"मैं इस वन मे रहने वाला यक्ष हूँ। यह उत्तम जल तुम्हारे लिए मानसरोवर से लाया हूँ।"

—"यदि आप मुझे मानसरोवर ले चले और मैं उसमे स्नान कर लूं, तो मेरा शरीर स्वस्थ और स्फूर्तिदायक हो सकता है। मेरी सभी पीडाएँ दूर हो सकती हैं"—कुमार ने यक्ष से अनुरोध किया।

यक्ष ने आर्य-पुत्र का अनुरोध स्वीकार किया और उन्हें उठा कर बात-की-बात में मानसरोवर ले गया। आर्य-पुत्र ने वहाँ जी भर कर जलक्रीडा की।

वे जलक्रीडा कर ही रहे थे कि उनका पूर्वभव का शत्रु "असिताक्ष" नामक यक्ष वहाँ आ पहुँचा। आर्यपुत्र को देखते ही उसका वैर जाग्रत हुआ। उसने उन पर आक्रमण कर दिया, किन्तु आर्यपुत्र ने साहस के साथ उसका सामना किया और उसे परास्त कर के भगा दिया। उसकी सभी चाले व्यर्थ हुईं। उनके युद्ध-कौशल को देखने के लिए मानसरोवर मे क्रीडा करने को आई हुई देवियाँ और विद्याधरियाँ एकत्रित हो गई थी। आर्यपुत्र की विजय पर वे प्रसन्न हुईं और उन्होने आर्यपुत्र पर पुष्प-वर्षा की। इसके बाद आर्यपुत्र वहाँ से चले। उधर से ये विद्याधर-कन्याएँ नन्दन वन मे से मानसरोवर की ओर आ रही थी। ये सुन्दरिये आर्यपुत्र को देख कर मोहित हो गई और कामदेव के अवतार समान आर्यपुत्र को एकटक निरखने लगी। आर्यपुत्र ने इनके निकट आ कर परिचय पूछा। उन्होने अपना परिचय देते हुए कहा,—

"विद्याधरो के राजा भानुवेग की हम आठो पुत्रियाँ हैं। हम सब वन-विहार एवं जलक्रीडा करने आई हैं। हमारी नगरी निकट ही है। हम पर अनुग्रह कर के आप वहाँ पधारने का कष्ट करे।"

उनके साथ आर्यपुत्र नगरी मे आये। विद्याधराधिपति महाराज भानुवेग, अपनी इन पुत्रियो के लिए वर प्राप्त करने की चिंता मे ही थे। राजकुमार को देख कर वे अत्यंत प्रसन्न हुए। उनका सत्कार किया। राजा ने समझ लिया कि यह पुरुष महान् भाग्यशाली, पराक्रमी और वीर है। ऐसा उत्तम वर दूसरा कोई हो ही नही सकता। राजा ने अपनी आठो पुत्रियो का विवाह उसके साथ कर दिया। वे वही रह कर अपनी पत्नियो के साथ सुख भोग मे समय बिताने लगे।

वह मार खाया हुआ असिताक्ष यक्ष, वैर का डक लिए हुए अवसर की ताक मे लगा हुआ था। जब उसने देखा कि उस पर विजय पाने वाला सुख की नीद सोया हुआ है, तो उसने निद्रित अवस्था मे ही आर्यपुत्र का हरण किया और अटवी मे जा कर फेंक दिया। जब वे जागे, तो अपने को वन मे एकाकी देख कर विस्मित हुए। उन्हे विचार हुआ कि यह परिवर्तन कैसे हुआ? वे अटवी मे इधर-उधर भटकने लगे। थोडी देर के बाद उन्हे एक सतखण्डा भव्य भवन दिखाई दिया। उन्होने सोचा—"क्या यह भी किसी मायावी का कौतुक है?" वे साहस कर के उस भवन के निकट पहुँचे। उनके कानो मे किसी स्त्री के रुदन का करुण स्वर सुनाई दिया। आर्यपुत्र के मन मे दया का संचार हुआ। वे उस भवन मे चले गये। जब वे ऊपरी मंजिल पर पहुँचे, तो उन्हे देखते ही एक स्त्री बोल उठी;—

"हे कुरुवश के तिलक सनत्कुमार ! आप ही मेरे पति होवे," इस प्रकार कहती हुई वह अश्रुपात करती थी। उसका अनुपम रूप और लावण्य देख कर आर्यपुत्र चकित हुए। उन्हे विचार हुआ कि 'यह सुन्दरी मुझे कब से व कैसे पहिचानती है ?' वे उसके निकट गएऔर पूछा—

"भद्रे ! तुम कौन हो ? यहाँ क्यो आई ? तुम्हे किस बात का दुख है और वह सनत्कुमार कौन है, जिसे तुम याद कर रही हो ?"

"महानुभाव ! मैं साकेतपुर के अधिपति महाराजा सुराष्ट्र की पुत्री हूँ। मेरा नाम 'सुनन्दा' है। कुरुवंश रूपी आकाश मे सूर्य के समान और कामदेव से भी अत्यत रूप-सम्पन्न महाभुज सनत्कुमार, महाराजा अश्वसेन के पुत्र हैं। मैंने उन्हे मन से ही अपना पति वनाया है और मेरे माता-पिता ने भी मेरा सकल्प स्वीकार किया है। एक विद्याधर मुझे देख कर मोहित हो गया और उसने मेरा हरण कर लिया। उसने इस भवन की विकुर्वणा कर के मुझे इसमे विठा कर चला गया है। आगे क्या होगा, यह मैं नही जानती।"

—"मुन्दरी ! तू जिसका स्मरण कर रही है, वह सनत्कुमार मैं ही हूँ। तू अब प्रसन्न हो कर स्वस्थ हो जा। अव तुझे किसी का भय नही रखना चाहिए।"

रमणी प्रसन्न हो गई। इतने मे वज्रवेग नाम का विद्याधर वहाँ आया और आर्य-पुत्र को देख कर क्रोधान्ध वन गया। उसने तत्काल उन्हे पकड कर आकाश मे उछाल दिया। यह देख कर वह महिला भयभीत हुई और मूच्छित हो कर भूमि पर गिर गई। उधर आर्यपुत्र ने नीचे उतर कर वज्रवेग पर ऐसा मुष्टि प्रहार किया कि वह प्राण रहित हो गया। विघ्न टल जाने के वाद उस रमणी को सावधान कर के आर्यपुत्र ने वहीं उसका पाणिग्रहण कर लिया। यही मुनन्दा मनत्कुमार चक्रवर्ती का 'स्त्री-रत्न' वनी।

वज्रवेग की मृत्यु का हाल जान कर उसकी वध्यावली बहिन, क्रोध एवं शोक से व्याप्त हो कर वहाँ आई। किन्तु वह ज्ञानियो के इस कथन का स्मरण कर के शांत हो गई कि—"तेरे भाई का वध करने वाला ही तेरा पति होगा।" वह आर्यपुत्र को देखते ही मोहित हो गई। सुनन्दा के अनुरोध पर सनत्कुमार ने उसका भी पाणिग्रहण कर लिया।

आर्यपुत्र अपनी दोनो पत्नियो के साथ वार्तालाप कर ही रहे थे कि इतने मे दो विद्याधरो ने वहाँ आ कर, आर्यपुत्र को कवचयुक्त महारथ दे कर कहा—

हमे ये शस्त्र और रथ ले कर आपको देने के लिए, हमारे पिता श्री चन्द्रवेग और भानुवेग ने भेजा है। हम आपके श्वसुरपक्ष के हैं। हमारे पिता भी सेना सज्ज कर के आपकी सहायता के लिए आ रहे हैं।" आर्यपुत्र शस्त्र-सज्ज होने लगे। इतने मे ही शत्रु-सेना आ गई। दूसरी ओर चन्द्रवेग और भानुवेग भी सेना ले कर आ गये। आर्यपुत्र को रानी वन्ध्यावली ने 'प्रज्ञप्ति' नाम की विद्या दी। यद्यपि आर्यपुत्र उसके भाई को मारने वाले थे और उसके पिता तथा समस्त पितृकुल के विरुद्ध युद्ध करने जा रहे थे, तथापि 'स्त्रियाँ स्वभाव से ही पति के वश मे होती है, उनका सर्वस्व पति ही होता है।' तदनुसार वन्ध्यावली ने भी आर्यपुत्र की सहायता मे प्रज्ञप्ति विद्या दी। प्रियतम शस्त्र-सज्ज हो कर शत्रु-सैन्य की प्रतीक्षा करने लगे। इतने मे सहायक-सेना आ पहुँची और शत्रु-सेना भी आ गई। युद्ध छिड गया। दोनो पक्ष जम कर लडने लगे। जब दोनो ओर की सेना क्षत-विक्षत हो गई, तब अशनिवेग और सनत्कुमार स्वय भिड गये। विविध प्रकार के शस्त्रो से दोनो का युद्ध होने लगा। अन्त मे आर्यपुत्र के शस्त्र-प्रहार से अशनिवेग मारा गया और उसका राज्य आर्यपुत्र के अधिकार मे आ गया। ये विद्याधरो के अधिपति बने। इसके बाद विद्याधरो के सिरोमणि ऐसे मेरे पिता चन्द्रवेग ने आर्यपुत्र से कहा—"मुझे ज्ञानी मुनिराज ने कहा था कि तुम्हारी पुत्रियो का पति सनत्कुमार होगा।" यह भविष्यवाणी सफल करे और मेरी बकुलमति आदि सौ पुत्रियो को स्वीकार करे। उसी समय मेरा और मेरी बहिनो का विवाह आपके मित्र के साथ हुआ। हम सभी आर्यपुत्र के साथ विविध प्रकार के भोग भोगती रही। आज हम सभी यहाँ क्रीडा करने आये थे। सद्भाग्य से आपका यहाँ शुभागमन हो गया।"

बकुलमति से मित्र के पराक्रम और सद्भाग्य की कथा सुन कर महेन्द्रसिंह प्रसन्न हुआ। इतने मे सनत्कुमार भी रतिगृह से निकल कर मित्र के समीप आये। कुछ काल व्यतीत होने के बाद महेन्द्र ने सनत्कुमार से निवेदन किया कि 'अब अपने नगर को चल कर माता-पिता के वियोग-दुःख को मिटाना चाहिए।' राजकुमार ने मित्र की सलाह मान कर तत्काल प्रस्थान की तय्यारी कर दी। रानियो, अनेक विद्याधराधिपतियो, अनुचरो और साज-सामान के साथ, विमान द्वारा चल कर हस्तिनापुर आये। माता-पिता के हर्ष का पार नही रहा। नगर भर मे उत्सव मनाया गया। महाराज अश्वसेन ने पुत्र के प्रबल पराक्रम को देख कर, अपने राज्य का भार कुमार सनत्कुमार को दिया और महेन्द्रसिंह को उनका सेनापति बनाया। इसके बाद वे स्थविर मुनिराज के पास दीक्षित हो गए।

इन्द्र की यह बात विजय और वैजयंत नाम के दो देवो को नही रुची। उन्होने सोचा—'इन्द्र अतिशयोक्ति कर रहे हैं। कही औदारिक-शरीरधारी मनुष्य का भी इतना उत्तम रूप हो सकता है ?' वे दोनो देव सनत्कुमार का रूप देखने के लिए पृथ्वी पर आये और ब्राह्मण के वेश मे द्वारपाल के पास आ कर राजा के दर्शन करने की इच्छा व्यक्त की। उस समय महाराजाधिराज शरीर पर से वस्त्र उतार कर, मर्दन एव स्नान करने की तय्यारी कर रहे थे। जब सम्राट को ब्राह्मणो के आगमन की सूचना मिली, तो उन्होने उन्हे शीघ्र उपस्थित करने की आज्ञा दी। दोनो ब्राह्मणो ने जब महाराजा सनत्कुमार का रूप देखा, तो चकित रह गए। उनके मन मे विचार हुआ कि—"अहो ! कितना सुन्दर रूप है। इनका सुन्दर ललाट, अष्टमी के चन्द्रमा का तिरस्कार करता है। इनके नेत्र कान तक खिचे हुए नील-कमल की कान्ति को भी जीत लेते है। ओष्ठ लाल रग के पक्व बिंवफल की कान्ति का पराभव करते हैं, कान शीप की शोभा को लज्जित करते हैं। गर्दन पात्रजन्य शंख को जीत लेती है, भुजाएँ गजराज की सूंड से भी अधिक सुशोभित है। वक्षस्थल स्वर्णमय शिला से भी अधिक महत्वपूर्ण है। इस प्रकार उनके शरीर के प्रत्येक अंग और उपाग अनुपम, आकर्षक एव सुन्दरतम है। इस अपूर्व स्वरूप का वर्णन करने मे वाणी भी असमर्थ है। वास्तव मे सम्राट सनत्कुमार का रूप उत्कृष्ट एवं अलौकिक है। देवेन्द्र ने जो प्रशंसा की, वह यथार्थ ही थी।"

ब्राह्मणो को विचारमग्न देख कर सम्राट ने पूछा—

"हे द्विजोत्तम ! तुम्हारे आगमन का क्या प्रयोजन है ?"

—"नरेन्द्र ! हम बहुत दूर देश से आये हैं। जनता मे आपके रूप की अत्यधिक प्रशंसा सुन कर, हम मात्र दर्शन के लिए ही यहाँ आये है और हम कृतार्थ हुए है—आपके दर्शन पा कर। हमने जो कुछ सुना था, उससे भी अत्यधिक एव अलौकिक रूप आपका हमारे देखने मे आया"—विप्रो ने कहा।

"अरे विप्रो ! तुमने क्या रूप देखा है मेरा ? अभी तो मेरा शरीर उबटन से व्याप्त है। स्नान भी अब तक नही किया और वस्त्राभूषण भी नही पहने। तुम थोडी देर ठहरो। जब मैं सुसज्जित हो कर राज-सभा में आऊँ, तब तुम मेरे उत्कृष्ट रूप को देखना।"

इस प्रकार कह कर नरेश स्नानादि से निवृत्त हुए और सुसज्जित हो कर राज-सभा में आये। तत्काल दोनो ब्राह्मणो को बुलाया गया। ब्राह्मण, राजा का विकृत रूप देख कर खेद करने लगे—"अहो ! यह क्या हो गया ? जो रूप हमने थोड़ी देर पहले देखा था,

वह कहाँ चला गया ? वास्तव मे औदारिक-शरीरी मानव का सुख, सुन्दरता और आरोग्यता क्षणिक होती है। इस प्रकार वे मन ही मन खेदित हो रहे थे। उन्हें विचार-मग्न एव खिन्न मुख देख कर नरेश ने पूछा—

—"पहले तुम मुझे देख कर प्रसन्न हुए थे। किन्तु अभी तुम्हारे चेहरे पर विषाद झलकता है। क्या कारण है इसका ?"

—"नरेन्द्र ! सत्य यह है कि हम सौधर्म कल्पवासी देव हैं। सौधर्मेन्द्र से आपके रूप की प्रशसा सुन कर यहाँ आये हैं। उस समय आपका रूप देख कर हम प्रसन्न हुए थे। वास्तव मे आपका रूप वैसा ही था। किन्तु अभी इस रूप मे अनिष्ट परिवर्त्तन हो गया है। इस समय आपके रूप के चोर ऐसे कई रोगो ने इस अनुपम रूप को घेर लिया है। इससे आपका वह अलौकिक रूप नही रहा और विद्रूप हो गया है।" इतना कह कर देव अन्तर्धान हो गए।

देवो की बात सुनते ही नरेन्द्र ने अपने शरीर को ध्यानपूर्वक देखा। उन खुद को अपना शरीर तेजहीन, फीका एव म्लान दिखाई दिया। उन्होने विचार किया,—

"रोग के घर इस शरीर को धिक्कार है। ऐसे सरलता से बिगडने वाले शरीर पर मूर्ख लोग ही गर्व करते हैं। जिस प्रकार दीमक, काष्ठ को भीतर ही भीतर खा कर खोखला बना देता है, उसी प्रकार शरीर मे से उत्पन्न रोग, सुन्दर शरीर को भी विद्रूप बना देते हैं। जिस प्रकार वट-वृक्ष के फल बाहर से ही सुन्दर दिखाई देते हैं, परन्तु भीतर तो वह कुरूप और कीडो का निवास बना होता है, उसी प्रकार मनुष्य का शरीर कभी ऊपर से सुरूप दिखाई दे, तो भी उसके भीतर तो कुरूपता ही भरी हुई है। उसमे कीडे कुलबुला रहे हैं। रोग एवं वृद्धावस्था से शरीर शिथिल हो जाता है, फिर भी आशा और तृष्णा ढीली नहीं होती। रूप चला जाता है, परन्तु पाप-बुद्धि नही जाती। इस संसार मे रूप-लावण्य, कांति, शरीर और द्रव्य, ये सभी कुशाग्र पर रही हुई जल-बिन्दु के समान अस्थिर है। इसलिए इस नाशवान् शरीर से सकाम-निर्जरा वाला तप करना ही उत्तम है।" इस प्रकार चिन्तन करते हुए महाराजा सनत्कुमार विरक्त हो गए और अपने पुत्र को राज्यभार सौंप कर श्री विनयधर आचार्य के समीप प्रव्रजित हुए। श्री सनत्कुमार के दीक्षित हो कर जाते ही उनके पीछे उनका परिवार भी चल निकला। लगभग छह महीने तक पीछे-पीछे फिरने के बाद परिवार के लोग हताश हो कर लौट आये। उन सर्व-विरत, ममत्व-त्यागी, विरक्त महात्मा ने उनकी ओर स्नेहयुक्त दृष्टि से देखा ही नही। दीक्षित होते ही महात्मा सनत्-

कुमार बेले-बेले पारणा करने लगे। अरस, विरस एव तुच्छ आहार के कारण शरीर मे विविध प्रकार की व्याधि उत्पन्न हो गई। व्याधियो के प्रकोप से भी वे उत्तममुनि विचलित नही हुए और विना औषधोपचार के ही समभावपूर्वक रोगातक को सहन करने लगे। इस प्रकार रोग-परीषह को सहन करते हुए सात सौ वर्ष व्यतीत हो गए। तप के प्रभाव से उन महर्षि को अनेक प्रकार की लब्धियां प्राप्त हो गईं।

तपस्वीराज श्री सनत्कुमार के विशुद्ध तप के प्रति शक्रेन्द्र के हृदय मे भक्ति उत्पन्न हुई। उन्होने अपनी देव-सभा मे महर्षि की प्रशसा करते हुए कहा कि—

"अहो, श्री सनत्कुमार कितने उत्तम-कोटि के त्यागी है। चक्रवर्ती की राज्य-लक्ष्मी को धूल के समान त्याग कर वे साधु बने। उग्र तप करते हुए शरीर मे बडे-बडे असह्य रोग उत्पन्न हो गए, किंतु वे उनका प्रतिकार नही करते। उनके खुद के पास ऐसी अनेक लब्धियाँ है कि जिनके प्रयोग से, क्षणभर मे सभी रोग नष्ट हो कर शरीर निरोग बन जाय, फिर भी वे रोग का परीषह बडी धीरता के साथ सहन कर रहे हैं।

शक्रेन्द्र स्वय धर्मात्मा है। उन्होने खुद ने पूर्वभव मे धर्म की उत्तम आराधना की थी। उनमे धर्मात्माओ के प्रति अनुराग है। जब उनके अवधि-पथ मे किसी विशिष्ट गुण-सम्पन्न आत्मा के उत्तम गुण आ जाते हैं, तो वे उनका अनुमोदन करते हैं। आज भी उन्होने गुणानुराग से प्रेरित हो कर महामुनि सनत्कुमारजी के गुणगान किये थे। किन्तु उन्ही विजय और वैजयंत देव को यह बात रुची नही। उन्होने सोचा—"महारोगो से पीडित व्यक्ति के सामने यदि कोई अमोघ औषधी ले कर उपस्थित हो, तो भी वे उपेक्षा कर दे, यह बात जँचती नही।" वे दोनो वैद्य का रूप बना कर तपस्वीराज श्री सनत्कुमार के सामने आये और औषधी लेने का आग्रह करने लगे। तपस्वीराज ने उनसे कहा,—

"वैद्यो ! मुझे द्रव्य-रोग की चिन्ता नही है। यदि तुम भाव-रोग की चिकित्सा कर सकते हो, तो करो। ये भाव-रोग जन्मान्तर तक पीछा नही छोडते है। द्रव्य-रोग की दवा तो मेरे पास भी है। लो देखो"—यो कह कर महर्षि ने अपनी अगुली अपने कफ से लिप्त की। वह तत्काल निरोग एवं स्वर्ण के समान कान्ति वाली बन गई। यह देख कर दोनो देव, महर्षि के चरणो मे झुके। वन्दन करने के वाद वोले,—

"ऋषीश्वर ! हम वे ही देव हैं, जो इन्द्र की प्रशंसा से अविश्वासी बन कर आपका रूप देखने आये थे। आज भी इन्द्र द्वारा आपकी उत्तम साधना की प्रशसा सुन कर हम आये है और आपकी परीक्षा कर के पूर्ण सन्तुष्ट हो कर जा रहे है।" वदना कर के देव चले गए।

सनत्कुमार ५०००० वर्ष कुमारपने, ५०००० वर्ष माडलिक राजापने, १०००० वर्ष दिग्विजय मे, ९०००० वर्ष चक्रवर्ती-सम्राट्पने और १००००० वर्ष सयम-पर्याय मे, इस प्रकार कुल ३००००० वर्ष का आयु पूर्ण कर के मुक्ति को प्राप्त हुए * ।

---

* त्रि. श. पु. और 'चउप्पन्न महापुरिस चरिय' आदि मे सनतकुमार चक्रवर्ती के लिए भी सनत्कुमार नामक तीसरे देवलोक मे जाने का उल्लेख है। पूज्यश्री घासीलालजी म सा ने भी उत्तराध्ययन सूत्र अ. १८ भा ३ की टीका पृ १८० मे चक्रवर्ती मघवा की और पृ २११ मे सनत्कुमार की गति तीसरे देवलोक की ही बताई है। पूज्य आचार्य श्री हस्तीमल्लजी म सा ने भी अपने 'जैन धर्म के मौलिक इतिहास' प्रथम भाग पृ ११० और ११२ मे इसी मान्यता का अनुसरण किया है। किन्तु दूसरी धारणा के अनुसार ये दोनो चक्रवर्ती भी उसी भव मे मोक्षगामी हुए हैं। उत्तराध्ययन अ १८ मे जिन राजर्षियो का उल्लेख हुआ, वे सभी तद्भव मोक्षगामी माने जाते हैं। स्थानागसूत्र ४-१ मे अतक्रिया के निरूपण मे, तीसरी अतक्रिया के उदाहरण मे श्री सनत्कुमार चक्रवर्ती को उपस्थित किया है। मूलपाठ मे उनके लिये स्पष्टाक्षरो मे लिखा है कि--"**दीहेण परियाएण सिज्झइ जाव सव्वदुक्खाणमंतं करेइ**"—दीर्घ-पर्याय (लम्बेकाल तक) सयम का पालन कर के सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हुए और समस्त दु खो का अत किया।

यह मूलपाठ श्री सनत्कुमार चक्रवर्ती को उसी भव मे मुक्त होने वाले बतलाता है और 'अतक्रिया' शब्द भी अपना अर्थ "भवान्त, कर्मो का अन्त एव ससार का अत करने वाली क्रिया" होता है। यो तो विरति मात्र भव का अन्त करने वाली है, भले ही अनेक भव के बाद अन्त हो। किन्तु स्थानाग का पाठ उसी भव मे अन्त करने वाली क्रिया से सम्बन्धित लगता है। अन्य तीन क्रियाओ के उदाहरण भी उसी भव मे मुक्ति पाने वाली भव्यात्माओ के हैं। इस सूत्र के टीकाकार ने जो—"दीर्घपर्यायेण च सिद्धस्तद्भवे सिद्धयभावेन भवान्तरे सेत्स्यमानत्वादिति" लिखा है। यह उनकी धारणा होगी, सूत्र का अर्थ नही। बाद के कुछ विद्वानो ने भी उन्ही का अनुसरण किया लगता है।

पू श्री जयमलजी म. सा. ने अपनी 'अनत चोवीसी' मे--"वली दसे चक्रवर्ती, राज-रमणी ऋद्धि छोड। दसे मुक्ति पहोचा, कुल ने शोभा चहोड।" लिखा है।

'जैन सिद्धात बोल सग्रह' भाग १ पृ २३९ मे भी तीसरी अन्तक्रिया करने के उदाहरण में श्री सनत्कुमार चक्रवर्ती को 'मोक्षगामी' लिखा है।

उत्तराध्ययन सूत्र का तात्पर्य एव स्थानाग सूत्र की अन्तक्रिया देखते हुए हमे तो श्री सनत्कुमार चक्रवर्ती का उसी भव मे मुक्ति पाना सगत लगता है।

भ शांतिनाथजी

भरत-क्षेत्र के दक्षिणार्द्ध मे रत्नपुर नाम का भव्य नगर था। श्रीसेन नाम का प्रतापी राजा राज करता था। वह स्वयं धर्मप्रिय, दानेश्वर एवं प्रजापालक था। दुष्टो और दुराचारियो को दण्ड देते हुए भी वह दयालु था। उस आदर्श नरेश के 'अभिनन्दिता' नाम की सुन्दर एवं शीलवती रानी थी। वह अपने उत्तम गुणो से मातृकुल, पितृकुल और श्वशुरकुल को सुशोभित एव प्रशसित करती थी। महाराज श्रीसेन के एक दूसरी रानी भी थी, जिसका नाम 'शिखिनन्दिता' था।

कालान्तर मे राजमहिषी अभिनन्दिता गर्भवती हुई। उसे स्वप्न मे अपनी गोद मे चन्द्र और सूर्य खेलते दिखाई दिये। गर्भ स्थिति पूर्ण होने पर दो सुन्दर पुत्रो का जन्म हुआ। उनका नाम 'इन्दुसेन' और 'विन्दुसेन' रखा। योग्य वय होने पर विद्याध्ययन कराया। वे सभी कलाओ मे पारगत हुए। उनकी इन्द्रियां सबल हुई और वे यौवन-वय को प्राप्त हुए।

दासी-पुत्र कपिल

मगध देश के अचलग्राम मे 'धरणीजट' नाम का एक ब्राह्मण रहता था। वह सागोपांग चार वेद और अनेक शास्त्रो का ज्ञाता था और अपनी ज्ञाति मे सर्वमान्य था। 'यशोभद्रा' नाम की सर्वांग सुन्दरी उसकी पत्नी थी। वह उत्तम गुणो से युक्त गृहलक्ष्मी थी।

उससे उसके 'नन्दीभूति' और 'शिवभूति' नाम के दो पुत्र हुए। नन्दीभूति ज्येष्ठ पुत्र था। उनके यहाँ 'कपिला' नामकी एक दासी थी। धरणीजट का उस दासी के साथ अनैतिक सम्बन्ध था। उस दासी के गर्भ से एक पुत्र का जन्म हुआ, जिसका नाम 'कपिल' रखा था। यशोधरा से उत्पन्न दोनो पुत्रो को तो धरणीजट, वेदाध्ययन कराने लगा, परन्तु कपिल को वह नही पढाता था, क्योकि वह दासी-पुत्र था। किंतु कपिल तीव्र बुद्धि वाला था। जब धरणीजट अपने दोनो पुत्रो को पढाता, तब वह पास बैठ कर देखता व सुनता रहता और मन-ही-मन उस पाठ को याद करता रहता। इस प्रकार मौनपूर्वक अध्ययन से वह भी वेदो का सागोपाग ज्ञाता एवं पारंगत हो गया। अपने को योग्य एवं समर्थ जान कर, कपिल घर छोड कर विदेश चला गया और अपने गले मे दो यज्ञोपवित धारण कर के अपने-आपको उत्तम ब्राह्मण बतलाने लगा। वह घूमता हुआ रत्नपुर नगर मे आया और अपनी विद्वत्ता तथा जातीय-उच्चता बताता हुआ महोपाध्याय 'सत्यकी' के महाविद्यालय मे आया। महा-पडित सत्यकी, सभी प्रकार की विद्या और कला का भडार था। कपिल इस विद्यालय मे प्रति दिन आ कर विद्यार्थियो एव विद्वानो की शकाओ का समाधान करता। उसके समझाने का ढग हृदयस्पर्शी था। उसकी विशेषता से विद्यार्थी ही नही, आचार्य सत्यकी भी प्रभावित हुआ। सत्यकी ने खुद ने कपिल को इतने कठिन प्रश्न पूछे कि जिनका उत्तर वह स्वयं भी सरलतापूर्वक नही दे पाता था। कपिल के पाडित्य पर सत्यकी मुग्ध हो गया और उसे संमानपूर्वक अपने विद्यालय मे नियुक्त कर दिया। इसके बाद कपिल, आचार्य का काम करने लगा और सत्यकी निश्चिंत हो कर रहने लगा। कपिल की भक्ति ने सत्यकी को बहुत प्रभावित किया। अन्त मे सत्यकी ने अपनी उत्तम गुणो वाली सर्वांग सुन्दरी युवा पुत्री 'सत्यभामा' के लग्न भी कपिल के साथ कर दिये। इस लग्न-सम्बन्ध से कपिल की प्रतिष्ठा मे विशेष वृद्धि हुई। महोपाध्याय का जमाई होना साधारण बात नही थी। कपिल के दिन सुखपूर्वक व्यतीत होने लगे।

कालान्तर मे रात के समय कपिल नाटक देखने गया। वर्षा का समय था। लौटते समय वर्षा होने लगी। कपिल को अपने मूल्यवान् कपडे भीगने का भय था। कुछ देर तो वह किसी घर की छाया मे खडा रहा, किंतु वर्षा नही रुकी। उसका घर पहुँचना आवश्यक था। उसने सोचा—'अंधेरी रात मे कौन देखता है, फिर क्यो मूल्यवान् वस्त्रो को भिगो कर खराब करूँ?' उसने वस्त्र उतार कर बगल मे दबा लिये और नग-धडग ही भीगता हुआ घर पहुँचा, फिर कपडे पहिन कर किवाड खटखटाये। सत्यभामा उसकी राह देख रही थी। उसने किवाड खोल कर शीघ्र ही पति के लिये दूसरे वस्त्र लाई, किन्तु पति के

सूखे वस्त्र देख कर वह अवाक् रह गई। उसने पूछा;—

"इस जोरदार वर्षा मे भी आपके वस्त्र सूखे कैसे रह गए ?"

—"प्रिये ! मन्त्र के प्रभाव से मेरे वस्त्र भीग नही सके।"

सत्यभामा ने विचार किया—"यदि मन्त्र के प्रभाव से वर्षा से इनके वस्त्र बच गए, तो शरीर क्यो नही बचा ? इनका शरीर तो पूरा पानी से तर हो रहा है। इसलिए लगता है कि ये वस्त्र-रहित—नग्न ही आये और कपडो को वर्षा से बचा लिया।" यह विचार आते ही उसके मन मे सन्देह उत्पन्न हुआ कि इस प्रकार वस्त्र बचाने के लिए नग्न हो कर आने वाला मेरा पति, किसी हीन-कुल का होना चाहिए। ऐसी निर्लज्जता स्वार्थवश कुलहीन ही कर सकता है। इस विचार के साथ ही उसके मन मे चिन्ता लग गई। वह अपने को हतभागिनी मान कर मन-ही-मन घुलने लगी और सत्य बात का पता लगाने की इच्छुक बनी।

उधर कपिल का पिता धरणीजट ब्राह्मण निर्धन हो गया। उसने सुना कि कपिल, रत्नपुर के महोपाध्याय सत्यकी का जामाता है और आचार्य भी। उसके पास धन की कमी नही है। अतएव वह धन प्राप्त करने की इच्छा से कपिल के पास आया। कपिल ने पिता का सत्कार किया। कपिल ने पिता के भोजन के विषय मे पत्नी को बताया कि—'मेरे शरीर मे व्याधि है, इसलिए मैं साधारण-सा भोजन कर लूंगा, पहले तुम पिताश्री के लिए उत्तम भोजन बना कर उन्हे आदर-सहित भोजन करा दो।"

पिता और पुत्र का पृथक् भोजन देख कर सत्यभामा की शंका दृढतर हो गई। उसने समझ लिया कि—मेरा श्वशुर तो उत्तम कुल का ब्राह्मण है, परन्तु पति की उत्पत्ति हीन-स्थान पर हुई है। इसीसे भोजन मे भेद हो रहा है। उसने श्वशुर को आदरपूर्वक भोजन कराया। वह पिता के समान श्वशुर की शुश्रूषा करने लगी। अवसर देख कर सत्यभामा ने, ब्रह्महत्या की शपथ देते हुए श्वशुर से पूछा,—

"पूज्य ! आपके पुत्र की उत्पत्ति उभय-पक्ष की शुद्धतापूर्वक हुई है, या किसी एक पक्ष मे कोई दोष है ?"

धरणीजट विचार में पड गया। शपथपूर्वक पूछने के कारण उसे सत्य बात कहनी ही पड़ी। धरणीजट अपने गांव चला आया। सत्यभामा को अपने पति की उत्पत्ति मे हीनता जान कर बड़ा दुःख हुआ। वह महाराजा श्रीसेन के पास गई और निवेदन किया कि—

"महाराज ! भाग्य-योग से मेरा पति कुलहीन है। मुझ अबला को इससे मुक्त

कर दीजिए। मैं जीवन-पर्यन्त ब्रह्मचारिणी रह कर सुकृत करते हुए जीवन व्यतीत करूँगी।"

नरेश ने कपिल को बुला कर कहा, —

"सत्यभामा अब धर्माचरण कर के पवित्र जीवन बिताना चाहती है। अब यह तुझसे और संसार से विरक्त हो गई है, इसलिए इसे मुक्त कर दे।"

—"राजन् ! मैं सत्यभामा के बिना जीवित नही रह सकता। यह मुझे अपने प्राणो के समान प्रिय है। मैं इसे कैसे मुक्त कर दूँ ?"

—"यदि मुझे मुक्त नही किया गया, तो मैं आत्मघात कर के मर जाउँगी, किंतु अब तुम्हारे साथ ससार मे नही रहूँगी"—सत्यभामा ने अपना निर्णय सुनाया।

राजा ने मार्ग निकालते हुए कहा, —

"कपिल ! यह बाई कुछ दिन मेरे अंत पुर मे रहेगी और महारानी इसकी देखभाल करेगी। बाद मे जैसा उचित होगा, वैसा किया जायगा।"

महाराजा का निर्णय कपिल को मान्य हुआ। वह चला गया। सत्यभामा महारानी के पास रह कर तपमय जीवन बिताने लगी।

इन्दुसेन और बिन्दुसेन

उस समय कोशांबी नगरी मे बल राजा की पुत्री राजकुमारी श्रीकान्ता यौवन-वय को प्राप्त हो चुकी थी। उसके योग्य अच्छा वर सरलता से प्राप्त नही हो रहा था। इसलिए बल राजा ने अपनी पुत्री को श्रीसेन नरेश के पुत्र इन्दुसेन को स्वयंवर से वरने के लिए बहुत धन और अन्य अनेक प्रकार की ऋद्धि सहित रत्नपुर भेजी। राजकुमारी के साथ 'अनन्त-मति' नाम की एक वेश्या भी आई थी। वह अत्यत सुन्दरी थी। उसका उत्कृष्ट रूप देख कर राजकुमार इन्दुसेन और बिन्दुसेन—दोनो आसक्त हो गए। दोनो भाई उसे प्राप्त करना चाहते थे। इस बात को ले कर दोनो भाइयो मे विवाद खडा हो गया। तलवारें खिच गई। जब महाराज श्रीसेन ने यह समाचार सुना, तो तत्काल वहाँ आये और दोनों को समझाने लगे, किन्तु उनका समझाना व्यर्थ गया। महाराज निराश हो अन्त पुर मे आये। उन्हे पुत्रो की दुर्मदता, भ्रातृ-वैर और निर्लज्जता से बडा आघात लगा। नरेश अब जीवित रहना नही चाहते थे। उन्होने तालपुट विष से व्याप्त कमल को सूँघ कर प्राण त्याग कर दिया। उनका अनुसरण दोनो रानियो ने किया। जब यह बात सत्यभामा ने

सुनी, तो उसने सोचा कि—"अब कपिल मुझे छोडने वाला नही है।" अतएव वह भी उस विषैले कमल को सूंघ कर मृत्यु को प्राप्त हो गई। ये चारो जीव मृत्यु पा कर जम्बूद्वीप के उत्तरकुरु क्षेत्र मे युगल मनुष्य के रूप मे उत्पन्न हुए। श्रीसेन और अभिनन्दिता तथा शिखिनन्दिता और सत्यभामा, इस प्रकार दो युगल सुखपूर्वक जीवन विताने लगे।

इधर देवरमण उद्यान मे इन्दुसेन और विन्दुसेन का युद्ध चल रहा था। इतने मे एक विद्याधर, विमान द्वारा वहाँ आ पहुँचा। उसने दोनो भाइयो को लडते देखा। वह दोनो के वीच मे खडा रह कर वोला,—

'मूर्खों! तुम आपस मे क्यो लडते हो? तुम्हे मालूम नही कि यह सुन्दरी कौन है? मैं जानता हूँ—यह तुम्हारी वहिन है। तुम दोनो अपनी वहिन को पत्नी के रूप में प्राप्त करने के लिए लड़ो, यह कितनी लज्जा की वात है? इस भेद को तुम, मुझ से शाति-पूर्वक सुनो।"

विद्याधर ने कहा—"इस जम्बूद्वीप के महाविदेह क्षेत्र मे, सीता नदी के उत्तर तट पर पुष्कलावती नामका विस्तृत विजय है। उसके मध्य मे विद्याधरो के आवास वाला ऊँचा वैताढ्य नाम का पर्वत है। उस पर्वत की उत्तर की श्रेणी मे 'आदित्याभ' नाम का नगर था और 'सुकुण्डली' नाम का राजा राज करता था। उसके अजितसेना नामकी रानी थी। मैं उसका पुत्र हूँ। मेरा नाम 'मणिकुण्डली' है। मैं एक वार आकाश मे उडता हुआ, जिनेश्वर को वन्दने के लिए पुडरिकिनी नगरी मे गया। वहाँ अमितयश नाम के केवलज्ञानी भगवत को वन्दना कर के मैंने धर्मोपदेश सुना। देशना पूर्ण होने के वाद मैंने प्रभु से पूछा—

"भगवन्! मैं किस कर्म के उदय से विद्याधर हुआ?"

प्रभु ने फरमाया—"पुष्कर-वर द्वीप के पश्चिम द्वीपार्द्ध मे, शीतोदा नदी के दक्षिण किनारे, सलिलावती विजय मे 'वितशोका' नाम की नगरी थी। उसमे रत्नध्वज नाम का महावली और रूप-सम्पन्न राजा राज करता था। उसके 'कनकश्री' और 'हेममालिनी' नाम की दो रानियाँ थी। कनकश्री के दो पुत्रियाँ हुई। उनका नाम 'कनकलता' और 'पद्मलता' रखा। दूसरी रानी हेममालिनी के एक कन्या हुई, जिसका नाम 'पद्मा' रखा गया। ये तीनो कन्याएँ अनेक प्रकार की कलाओ का अभ्यास करती हुई यौवनवय को प्राप्त हुई। वे तीनो युवतियें अनुपम सुन्दर थी। इनमें से राजकुमारी पद्मा, महासती श्री अजितसेना के पास वैराग्य प्राप्त कर प्रव्रजित हो गई। वह तप का आचरण करती हुई विचरती थी। एक दिन वह स्थंडिल भूमि जा रही थी, तव उसने देखा कि मदनमंजरी नाम की एक वेश्या पर लुब्ध हो कर दो कामान्ध राजकुमार युद्ध कर रहे हैं। उन्हे

देखने पर उसके मन मे विचार हुआ कि—"अहा ! यह वेश्या कितनी सौभाग्यवाली है कि इसके रूप पर मुग्ध हो कर ये दोनो राजकुमार युद्ध कर रहे हैं। यदि मेरे तप-संयम का फल हो, तो मैं भी ऐसा सौभाग्य प्राप्त करूँ।" इस प्रकार निदान कर के, उसकी शुद्धि किये बिना ही मर कर सोधर्म कल्प मे विपुल समृद्धि वाली देवी हुई।

रानी कनकसुन्दरी का जीव, भव-भ्रमण करता हुआ, दानादि शुभ योग के फल-स्वरूप तुम मणिकुण्डली नाम के राजा हुए हो। कनकलता और पद्मलता भी भव-भ्रमण करती हुई रत्नपुर नरेश के इन्दुसेन और बिन्दुसेन नाम के राजकुमार हुए और निदान करने वाली साध्वी पद्मा, प्रथम स्वर्ग से च्यव कर कौशाम्बी की अनतमतिका वेश्या हुई। उस वेश्या के लिए इस समय रत्नपुर के देवरमण उद्यान मे इन्दुसेन और बिन्दुसेन आपस मे युद्ध कर रहे हैं।"

इस प्रकार भगवत के मुंह से पूर्वभव का वृत्तात सुन कर, पूर्व-स्नेह के कारण तुम्हें युद्ध से विमुख करने के लिए मैं यहाँ आया हूँ। मैं तुम्हारे पूर्वभव की माता हूँ और यह अनंतमतिका तुम्हारी पूर्वभव की बहिन है। इस संसार मे मोह का ऐसा खेल है। जन्मान्तर के पर्दे मे छुपे हुए प्राणी, अपने पूर्वभव के माता, पिता, भाई, भगिनी आदि को नही पहिचान सकता और मोह के अन्धकार मे ही भटकता रहता है। अब तुम इस अन्धकार से निकलो और निर्वाण की ओर ले जाने वाली दीक्षा ग्रहण करो।"

राजकुमार उपरोक्त कथन सुन कर स्तभित रह गए। उनके मोह का क्षयोपशम हुआ। इधर माता-पितादि की मृत्यु के आघात ने भी ससार के प्रति घृणा जाग्रत कर दी। वे चार हजार राजाओ के साथ धर्मरुचि अनगार के पास दीक्षित हो गए। चारित्र और तप का उत्कृष्ट पालन कर के वे मोक्ष प्राप्त हुए और श्रीसेन आदि चारो युगलिक, मनुष्य भव पूर्ण कर के प्रथम स्वर्ग मे देव हुए।

वैताढ्य पर्वत पर 'रथनूपुर चक्रवाल' नाम का नगर था। ज्वलनजटी वहाँ का राजा था। 'अर्ककीर्ति' नाम का युवराज, वीर एव योद्धा था। 'स्वयंप्रभा' उसकी छोटी बहिन थी। वह अनुपम सुन्दरी थी। उसका लग्न त्रिपृष्ट वासुदेव के साथ हुआ था। वासुदेव ने इस उपलक्ष मे ज्वलनजटी को विद्याधरो की दोनो श्रेणियो का राज्य दे कर अधिपति बना दिया था। विद्याधर नरेश मेघवन की ज्योतिर्माला नाम की पुत्री, युवराज अर्ककीर्ति को व्याही गई थी। श्रीसेन राजा का जीव प्रथम स्वर्ग से च्यव कर ज्योतिर्माला की कुक्षि मे आया और पुत्र रूप मे उत्पन्न हुआ। उसका अप्रतिम तेज देख कर उसका नाम 'अमित तेज' रखा। अर्ककीर्ति को राज्यभार दे कर महाराज ज्वलनजटी ने चारण-

मुनि के पास मुनि-दीक्षा ग्रहण कर ली। 'सत्यभामा' (जो कपिल शर्मा की पत्नी थी और पति की कुलहीनता के आघात से रानियो के पास रहती थी तथा उन्ही के साथ मर कर युगलिनी हुई थी) का जीव प्रथम स्वर्ग से च्यव कर, ज्योतिर्माला की कुक्षि से पुत्रीपने उत्पन्न हुई। उसका नाम 'सुतारा' रखा। महारानो अभिनन्दिता का जीव भी सौधर्म स्वर्ग से च्यव कर त्रिपृष्ट वासुदेव की स्वयप्रभा रानी के गर्भ से पुत्रपने जन्मा। 'श्रीविजय' उसका नाम दिया गया। इसका परिणय सुतारा के साथ हुआ। श्रीविजय के छोटे भाई का नाम 'विजयभद्र' था। शिखिनन्दिता रानी का जीव भी वासुदेव की स्वयंप्रभा महारानी की कुक्षि से 'ज्योतिप्रभा' नाम की पुत्रीपने उत्पन्न हुआ। इसका विवाह अर्ककीर्ति के पुत्र अमिततेज से हुआ।

सत्यभामा ब्राह्मणी का जो 'कपिल' नाम का पति था, वह तिर्यञ्चादि गति मे चिर-काल परिभ्रमण करता हुआ मनुष्य-जन्म पा कर चमरचंचा नगरी का 'अशनिघोष' नाम का विद्याधरो का राजा हुआ।

एक वार रथनूपुर चक्रवाल नगर के उद्यान में श्री अभिनन्दन, जगनन्दन और ज्वलनजटो मुनिवर पधारे। महाराज अर्ककीर्ति ने अपने पिता मुनि और उनके गुरु की वन्दना की, धर्मोपदेश सुना और वैराग्य उत्पन्न होने पर अपने पुत्र अमिततेज को राज्याधि-कार दे कर दीक्षित हो गया।

भविष्य वाणी

त्रिपृष्ट वासुदेव के मरने पर युवराज श्रीविजय राज्यासीन हुआ। कालान्तर में महाराजा अमिततेज, पत्नी ज्योतिप्रभा के साथ अपनी बहिन सुतारा और बहनोई श्रीविजय से मिलने के लिए पोतनपुर आये। उन्होने देखा कि पोतनपुर नगर भीतर और बाहर से पूर्णरूप से सजाया गया है। नरेश अपनी बहिन और बहनोई से मिल कर बहुत प्रसन्न हुए। श्रीविजय ने अमिततेज का बहुत सत्कार किया। दोनो सिंहासन पर बैठे। अमिततेज ने श्रीविजय से पूछा,—

"अभी कौन-सा उत्सव हो रहा है, जिसके लिए यह तय्यारी हुई है?"

—"आठ दिन पूर्व यहां एक भविष्यवेत्ता आया था। उसने कहा था कि—"मैं आपके हित के लिए यह सूचना देने के लिए आया हूँ कि आज के सातवे दिन राजा पर

बिजली गिरेगी।"

भविष्यवेत्ता की बात सुन कर, क्रोधायमान बने हुए मेरे मुख्यमन्त्री ने उससे कहा,—

"महाराज पर बिजली पडेगी, तब तुझ पर क्या पड़ेगी ?"

—"मन्त्रीवर ! आप मुझ पर क्रोध क्यो करते हैं। मैंने तो वही कहा जो भविष्य बतलाता है। महाराज को सावधान करने और धर्माचरण कर के सुकृत करने के लिए ही मैंने कहा है। किसी प्रकार की स्वार्थ-बुद्धि से नही कहा। फिर भी मैं कहता हूँ कि उस समय मुझ पर वसुधारा के समान स्वर्ण, माणिक्य, आभूषण और वस्त्रो की वृष्टि होगी"—भविष्यवेत्ता ने कहा।

मैंने मुख्यमन्त्री को समझाया कि भविष्यवेत्ता पर क्रोध नही करना चाहिए। ये तो यथार्थ कह कर सावधान करने वाले है। मैंने उस भविष्यवेत्ता से पूछा,—

"तुमने भवितव्यता जानने की विद्या किस के पास से पढी ?"

—"महाराज ! वासुदेव के देहावसान के बाद बलदेव प्रव्रजित हुए। उनके साथ मेरे पिता भी दीक्षित हो गए थे, और पितृस्नेह के कारण मे भी उनके साथ लघुवय मे ही दीक्षित हो गया था। मैंने उसी साधु अवस्था मे ज्ञानी गुरुवर के पास से यह विद्या सीखी थी। यद्यपि निमित्त-ज्ञान, अन्य परम्परा में भी है, तथापि पूर्णरूप से सत्य होने की विद्या तो एकमात्र जिनशासन मे ही है। मैं लाभ-हानि, सुख-दु ख, जीवन-मरण और जय-पराजय, यो आठ प्रकार का भविष्य जानता हूँ। सयम का पालन करते हुए मैं यौवनवय मे आया। हम सब विहार करते हुए 'पद्मिनी खड' नामक नगर मे गये। वहाँ मेरी फूफी रहती थी। उसके चन्द्रयशा नाम की यौवन-प्राप्त पुत्री थी। बालवय मे मेरे साथ उसका वाग्दान हो चुका था। किन्तु मेरे दीक्षा लेने के कारण विवाह नही हो सका। उस सुन्दरी को देखते ही मैं मोहित हो गया। मोह के जोर से सयम भावना नष्ट हो गई। अन्त मे मैंने उस युवती के साथ लग्न कर लिए। मुझे सयमी अवस्था मे गुरुदेव से प्राप्त भविष्य ज्ञान से आपका भविष्य जान कर सावधान करने के लिए ही आया हूँ, स्वार्थ साधने के लिए नही।"

भविष्यवेत्ता की बात सुन कर सभी चिन्तित हो गए। एक मन्त्री ने कहा—

"समुद्र मे बिजली नही गिरती, इसलिए महाराज सात दिन पर्यन्त जलयान मे बैठ कर समुद्र मे रहे।"

दूसरे मन्त्री ने कहा—"यह उपाय निरापद नही, वहाँ भी बिजली गिर सकती है। मेरे विचार से वैताढ्य पर्वत पर रहने से रक्षा हो सकती है। क्योकि इस अवसर्पिणी काल

मे वहाँ विद्युत्पात नही होता। इसलिए महाराज, उस गिरि की किसी गुफा मे सात दिन रहे, तो रक्षा हो सकती है।"

तीसरे मन्त्री को यह उपाय पसन्द नही आया। उसने कहा—"जो भवितव्यता—होनहार है—निश्चित है, वह तो होगा ही। वह रुक नही सकता, न उसमे परिवर्त्तन ही हो सकता है। इस वात को समझाने के लिए मैं एक कहानी सुनाता हूँ। आप ध्यानपूर्वक सुने।"

मन्त्रीजी कथा कहने लगे—"एक नगर मे एक ब्राह्मण रहता था। उसके वर्षों तक कोई संतान नही हुई। उसने अनेक देवी-देवता मनाए और कई यन्त्र-मन्त्र-औषधादि का प्रयोग किया। वाद मे ढलती उम्र मे उसके यहाँ पुत्र का जन्म हुआ। दुर्दैव के योग से एक नरभक्षी राक्षस उस नगर मे उपद्रव करने लगा। वह प्रतिदिन वहुत से मनुष्यो का हरण कर जाता और उन्हे मार डालता। फिर प्रत्येक मनुष्य मे से थोड़ा-थोड़ा मास खा कर वाकी सव को फेंक देता। राक्षस की इस प्रकार की क्रूरता से सर्वत्र हाहाकार मच गया। राजा के भी सभी प्रयत्न व्यर्थ गए। अत मे राजा ने राक्षस को समझाया कि 'तू रोज इतने मनुष्यो को क्यो मारता है, तेरे खाने के लिए तो एक मनुष्य पर्याप्त है और वह तेरे स्थान पर चला आया करेगा। तुझे यहाँ आने का कष्ट नही करना चाहिए।' राक्षस मान गया। नगर निवासियो के सव के नाम की चिट्ठियाँ वना कर एकत्रित की गई। उन सव चिट्ठियो मे से जिसके नाम की चिट्ठी निकलती, उन्हे राज्य के सैनिक पकड कर राक्षस के स्थान पर ले जाते और राक्षस उसे मार कर खा जाता। कालान्तर मे उस ब्राह्मण के पुत्र के नाम की चिट्ठी निकली और सैनिक उसे लेने को आये, तो उसकी माता को वडा भारी आघात लगा। वह पछाड खा कर रोने लगी। उसके करुण क्रन्दन से आस-पास के लोग भी द्रवित हो गए। उस ब्राह्मण के घर के निकट एक भूतघर था, जिसमे वहुत से भूत रहते थे। जव भूतो ने ब्राह्मणी का रुदन सुना, तो उनके मन मे भी करुणा भर आई। एक वडे भूत ने ब्राह्मणी से कहा—

"तू रो मत और तेरे पुत्र को राक्षस के पास ले जाने दे। मैं उसके पास से छिन कर तेरे पुत्र को ला कर तुझे दे दूँगा। इससे राजाज्ञा का उल्लघन भी नही होगा और तेरा पुत्र भी वच जायगा।"

ब्राह्मणी को सतोष हो गया। सैनिक, ब्राह्मण-पुत्र को राक्षस के पास छोड़ कर लौट आए। जव राक्षस उस लड़के को मारने आया, तो भूत ने उसका साहरन कर के

उसकी माता के पास पहुँचा दिया। ब्राह्मणी ने पुत्र की रक्षा के लिए उसे ले कर एक पर्वत की गुफा मे छिप गई। उस गुफा मे एक अजगर रहता था। वह उस लडके को निगल गया। वह लडका राक्षस से बचा, तो अजगर ने खा लिया। इस प्रकार हे महाराज ! जो भवितव्यता होती है, वह तो हो कर ही रहती है। इसलिए मेरा तो यही निवेदन है कि आप तपस्या करे। तपस्या से कठिन कर्म भी क्षय हो जाते हैं।"

चौथे मन्त्री को यह उपाय भी ठीक नही लगा। उसने कहा—

'इस भविष्यवेत्ता ने तो यही कहा है कि—'पोतनपुर के राजा पर बिजली गिरेगी।' इसने यह तो नही कहा कि—'महाराज श्रीविजय पर बिजली गिरेगी।' यदि राजा पर ही बिजली गिरने वाली है, तो एक सप्ताह के लिए किसी दूसरे व्यक्ति को राजा बना दिया जाय और तब तक महाराज पौषधयुक्त रह कर धर्म साधना करे। इस प्रकार महाराज पर का भय दूर हो सकता है।"

मन्त्री की उपरोक्त बात सुन कर भविष्यवेत्ता प्रसन्न हुआ। उसने मन्त्री की बुद्धिमत्ता की प्रशंसा की और कहा कि—"मेरे भविष्य ज्ञान से भी आपका मतिज्ञान बहुत ऊँचा है। इस दुरित के परिहार के लिए यह उपाय बहुत उत्तम है। यही होना चाहिए और शीघ्र होना चाहिए।"

—"अपने जीवन के लिए किसी निरपराध मनुष्य की हत्या करवाना उचित है क्या ? मैं दूसरे का जीवन नष्ट कर के जीवित रहना नही चाहता"—मैंने (राजा ने) भविष्यवेत्ता और मन्त्री से कहा।

—"महाराज ! इसका भी उपाय है। अपन किसी जीवित प्राणी को राजा नहीं वना कर 'वैश्रमण देव की मूर्ति' का ही राज्याभिषेक कर दें। सप्ताह पर्यन्त उसका राज्य रहे। यदि विद्युत्पात हुआ और मूर्ति भग हो गई, तो अपन विशेष मूल्यवान् मूर्ति वनवा कर प्रतिष्ठित कर देंगे। अपना काम भी बन जायगा और किसी मनुष्य का जीवन भी नष्ट नही होगा"—उसी बुद्धिमान मन्त्री ने कहा।

मन्त्री की योजना सभी ने स्वीकार कर ली। वैश्रमण देव की मूर्ति, राजसिंहासन पर स्थापित की गई। मैं धर्म-स्थान पर जा कर पौपध व्रत ले कर धर्म साधना करने लगा। जब सातवाँ दिन आया, तो मध्यान्ह के समय आकाश मे बादल छा गए। घनघोर वर्षा होने लगी और घोर गर्जना के साथ इतने जोर से विजली कड़की कि जैसे आकाश को फोड रही हो। और एक ऐसी अग्निशिखा उत्तरी—जिसका प्रकाश, अग्नि और सूर्य के तेज से

भी सैकडो गुना अधिक था। वह अग्निशिखा—विद्युत्-लहर सीधी राजसिंहासन पर उतरी और वैश्रमण की मूर्ति के कई टुकडे हो गए। उपद्रव दूर हुआ जान कर मन्त्रियो, राजकुटुम्बियो और अन्त पुर ने भविष्यवेत्ता पर स्वर्ण, रत्न आदि की वृष्टि की। मैने भी उसे पद्मिनीखड नगर प्रदान किया और वैश्रमण की रत्नमय नई प्रतिमा बना कर प्रतिष्ठित कर दी। भयकर विघ्न टल जाने से मन्त्री, अधिकारीगण एव प्रजाजन यह महोत्सव मना रहे हैं।"

श्रीविजय नरेश से उपरोक्त वृत्तान्त सुन कर अमिततेज हर्षित हुआ। उसने अपनी वहिन को वस्त्रालकार का प्रीतिदान दे कर संतुष्ट किया और कुछ दिन रह कर अपनी राजधानी मे लौट आया।

सुतारा का हर

एक बार श्रीविजय नरेश, रानी सुतारा के साथ वनविहार के लिए ज्योतिर्वन में गए। वे वहाँ क्रीडा कर ही रहे थे कि कपिल का जीव अशनिघोष विद्याधर आकाश मार्ग से कही जा रहा था। उसकी दृष्टि सुतारा पर पड़ी। पूर्व का स्नेहानुबन्ध जाग्रत हुआ। यद्यपि अशनिघोष, यह नही जानता था कि यह सुन्दरी मेरी पूर्वभव की पत्नी है, तथापि अदृश्य मोह-प्रेरणा से वह सुतारा पर पूर्ण रूप से आसक्त हो गया और उसका हरण करने का निश्चय किया। विद्याएँ उसकी सहायक हो गई। उसने एक सुन्दर मृग की विकुर्वणा की। वह मृग नाचता-कूदता और चौकडी भरता हुआ क्रीडारत राजा और रानी के निकट हो कर निकला। मृग को देख कर रानी मोहित हो गई और राजा से उस मृग को पकड लाने के लिए आग्रह किया। राजा, मृग के पीछे भागा, वहुत भागा, किन्तु वह तो छल मात्र था। वह भुलावा दे कर भागता रहा। इधर वह विद्याधर सुतारा को उठा कर ले उडा। उस दुरात्मा ने राजा का जीवन नष्ट करने के लिए प्रतारिणी विद्या का सहारा लिया और सुतारा का दूसरा रूप वना कर उससे जोर की चिल्लाहट करवाते हुए कहलाया—"मुझे कुक्कुट सर्प डस गया। हाय मैं मरी।" यह आवाज सुनते ही राजा घवडाया और शीघ्रता से दौड कर वहाँ आया। उन्होने देखा उनकी प्राणप्रिय रानी छटपटा रही है। राजा ने वहां जितना भी हो सका उपचार किया, किन्तु कोई लाभ नही हुआ और रानी मर गई। रानी का वियोग राजा सह नही सका और संज्ञा-शून्य हो गया। थोड़ी देर वाद

राजा उठा। उसने लकडियाँ एकत्रित कर के चिता रची और अपनी प्रिया का शव गोदी मे ले कर चिता मे बैठ गया, तथा अग्नि प्रज्वलित करने का प्रयत्न करने लगा। इतने मे दो विद्याधर वहाँ आये। उनमे से एक ने अभिमन्त्रित जल चिता पर छिडका। जल छिटकना था कि मृत सुतारा के रूप मे रही हुई प्रतारिणी विद्या अट्टहास करती हुई पलायन कर गई। राजा दिग्मूढ हो गया। वह सोचने लगा—"वह प्रज्वलित अग्नि कैसे बूझ गयी? मेरी प्रिया कहाँ? अट्टहास करती हुई चली जाने वाली वह स्त्री कौन थी? क्या यह कोई इन्द्रजाल या देवमाया तो नही है?" उसने अपने सामने दो पुरुषो को देखा। राजा ने उन्हे पूछा—"तुम कौन हो? यह सारा भ्रम-जाल किसने रचा?"

आगत पुरुषो ने राजा को प्रणाम किया और कहने लगे,—"हम महाराज अमिततेज (श्री विजय नरेश के साले) के सेवक हैं। हम पिता-पुत्र हैं। हम इधर आ रहे थे कि हमारे कानो मे एक महिला की चित्कार और करुण पुकार पडी। वह इस प्रकार चिल्ला रही थी—

"हे प्राणनाथ! हे महाराजा श्री विजय! यह दुष्ट विद्याधर मुझे आप से चुराकर ले जा रहा है। मेरी रक्षा करो, रक्षा करो। हे बन्धुवर अमिततेज! बहिन सुतारा को यह चोर ले जा रहा है। मुझे बचाओ, छुडाओ।"

इस प्रकार आक्रन्द पूर्ण पुकार सुनते ही हम दोनो उस दुष्ट पर झपटे और उससे युद्ध करने को तत्पर हुए। किंतु हमे युद्ध से रोकते हुए सुतारा ने कहा—

"भाई! अभी तुम लडना रहने दो और शीघ्र ही ज्योतिर्वन मे जा कर मेरे प्राणेश्वर महाराज श्रीविजय को सभालो। कही मेरे वियोग मे वे कुछ अनर्थ नही कर बैठें। उनके जीवन से ही मेरा जीवन रहेगा। वे जीवित रहेगे, तो मुझे मुक्त करा ही लेगे।"

"देवी की बात हमारी समझ मे आई और हम शीघ्र ही यहाँ आये और मन्त्रित जल छिडका, जिससे अग्नि बुझी और सुतारा के रूप मे रही हुई प्रतारिणी विद्या का प्रभाव हटा और वह अट्टहास करती हुई भाग गई। वह एक छल ही था और आपके विनाश के लिए ही उस चोर विद्याधर ने रचा था। देवी सुतारा को तो वह ले गया है। अब आप हमारे साथ वैताढच पर चलिए। वहाँ महाराजा अमिततेज से मिल कर देवी को मुक्त कराने का प्रयत्न करेगे।"

महाराज श्रीविजय, उन विद्याधरो के साथ वैताढच पर्वत पर गए। महाराज

अमिततेज, अपनी वहिन सुतारा के साहरण की वात सुन कर क्रोधित हुए। उन्होने योद्धाओ की एक वड़ी सेना, अपने वीर पुत्रो सहित श्रीविजय को दी और श्रीविजय को शस्त्रावरणी, वन्धनी और विमोचनी विद्याएँ दी। सेना चमरचचा की ओर वढी। अमिततेज जानता था कि अशनिघोप के पास कई प्रकार की विद्याएँ हैं। इसलिए उसकी समस्त विद्याओ पर विजय पाने के लिए 'महाज्वाला' नाम की विद्या साधना आवश्यक है। वह अपने पराक्रमी पुत्र सहस्ररश्मि के साथ हिमवंत पर्वत पर गया। वहाँ महर्षि जयंत कायोत्सर्ग कर ध्यानस्थ रहे थे। महर्षि को वन्दना कर के वह मास पर्यन्त चलने वाली साधना मे लग गया और सहस्ररश्मि उसकी रक्षा करने लगा।

श्रीविजय, उस विशाल सेना के साथ अमिततेज की राजधानी चमरचंचा पहुँचा। उसने अपना दूत भेज कर अशनिघोप को भर्त्सनापूर्वक सुतारा को अर्पण करने की माँग की। अशनिघोष कव मानने वाला था ? उसने दूत को तिरस्कार पूर्वक निकाल दिया और युद्ध के लिए सेना सहित अपने पुत्रो को भेजा। युद्ध आरभ हो गया। घमासान युद्ध मे हजारो मनुष्य मारे गये। जव अशनिघोप के पुत्र और सेना हार गई, तो स्वयं अशनिघोष रणभूमि मे आया। उसने अपने पराक्रम से अमिततेज के पुत्रो का वल क्षिण कर दिया। वे घायल और सुस्त हो गए। यह दशा देख कर श्रीविजय नरेश आगे आये और अशनिघोप से युद्ध करने लगे। दोनो वीरो का युद्ध अनेक प्रकार के घात-प्रत्याघात से चलता रहा। दोनों योद्धा अपनी-अपनी शस्त्र-शक्ति और विद्या-शक्ति का प्रयोग करने लगे। अन्त मे श्रीविजय ने अशनिघोप के शरीर के दो टुकडे कर दिये, तो विद्या-शक्ति से दोनो टुकड़ो के दो अशनिघोप वन कर लडने लगे। उन दो के चार टुकड़े हुए, तो चारो वैसे ही वन कर लडने लगे। होते-होते शत्रु की सख्या हजारो तक पहुँच गई। श्रीविजय के लिए अव युद्ध करना असंभव हो गया। इतने मे अमिततेज विद्या सिद्ध कर के आ पहुँचा। उसने महाज्वाला विद्या छोडी। इस विद्या का तेज सहन नही कर सकने के कारण शत्रु-सेना शस्त्र डाल कर अमिततेज की शरण मे आ गई और अशनिघोष भाग गया। अमिततेज ने महाज्वाला विद्या को अशनिघोप के पीछे, उसे पकड लाने के लिए लगा दिया।

आगे-आगे अशनिघोप और पीछे महाज्वाला नाम की विद्या—जो अन्य सभी विद्याओं का पराभव कर के विजयी होती है। अशनिघोप को कही भी शरण नही मिली। अन्त मे वह दक्षिण-भरत मे पहुँचा। सीमान्त के निकट ही एक पर्वत पर महर्षि अचल मुनि, एक रात्रि की भिक्षु-प्रतिमा धारण कर शुक्ल-ध्यान मे लीन थे। उन्होने घातिकर्मों को

नष्ट कर के केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त कर लिया। देवगण उनके केवलज्ञान की महिमा करने के लिए वहाँ आये। अभिनन्दन, जगनन्दन, ज्वलनजटी, विजटी, अर्ककीर्ति, पुष्पकेतु और विमलमति आदि चारण मुनि भी केवलज्ञानी भगवान् की वन्दना करने के लिये आये और प्रदक्षिणा एव नमस्कार कर के बैठे। उसी समय अशनिघोष भी भयभीत दशा मे भागता हुआ वहाँ आया और केवली भगवान् की शरण मे बैठ गया। महाज्वाला से बचने के लिए अशनिघोष को केवली भगवान् का शरण, शीतल अमृतमय जल से भरे हुए द्रह के समान रक्षक हुआ। जहाँ द्रव्य और भाव सभी प्रकार की ज्वालाएँ होती है। केवली भगवान् की सभा मे इन्द्र के वज्र की भी गति नही हो सकतो, तो मानवी विद्याएँ क्या कर सकती थी ? वह लौट गई और अमिततेज को अपनी असफलता का कारण बताया। अमिततेज और श्रीविजय यह वृत्तात सुन कर अत्यंत प्रसन्न हुए। उन्होने मरीचि को आज्ञा दी कि वह नगर मे से सुतारा को ले आवे। दोनो नरेश शीघ्र ही विमान द्वारा केवली भगवान् की सेवामे पहुँचे और वन्दना-नमस्कार कर बैठ गए।

मरीचि अन्त पुर मे पहुँचा। उसने देखा—सुतारा अत्यंत दु खी, मुरझाई हुई लता जैसी और तप से कृश बनी हुई है। उसने अशनिघोष की माता से अमिततेज की आज्ञा सुना कर सुतारा को ले जाने की बात कही, तो वह स्वय सुतारा को साथ ले कर केवल-ज्ञानी भगवंत के समीप आई। वहाँ उसके पति मुनिजी भी उपस्थित थे।

अशनिघोष ने महाराजा श्रीविजय और अमिततेज से अपने अपराध की क्षमा माँगी। उन्होने भी उसे क्षमा कर दिया। वीतरागी भगवान् की सभा मे वे अपना वैर-विरोध भूल कर प्रशस्त परिणाम वाले हो गए। भगवान् ने धर्मोपदेश दिया। धर्मोपदेश पूर्ण होने पर अशनिघोष ने सर्वज्ञ-सर्वदर्शी भगवान् से पूछा,—

"प्रभो ! ऐसा कौन-सा कारण था कि जिससे मैने अचानक सुतारा का हरण कर लिया ? मै तो श्री जयत मुनि के दर्शनार्थ गया था और वहाँ सात उपवास कर के भ्रामरी विद्या की साधना की थी। वहाँ से लौटते समय ज्योतिर्वन मे सुतारा को देखते ही मेरे मन मे एकदम स्नेह उमड आया। मैने स्नेहाधीन हो कर प्रतारिणी विद्या से श्रीविजय को छला और सुतारा को अपने घर ले आया। मेरे मन मे कोई दुष्ट भावना नही थी। मैने सुतारा को अपनी माता के पास रखा और उसे एक भी कुवचन नही कहा। सुतारा निष्कलंक है, किन्तु मैने विना दुष्ट-भावना के स्नेहवश हो कर सुतारा का हरण क्यो किया ? मेरे मन मे विना पूर्व परिचय के, देखने-मात्र से ही ऐसा प्रबल स्नेह क्यो

जाग्रत हुआ ?"

केवली भगवान् ने उसके कपिल के भव और सुतारा के, सत्यभामा के भव तथा श्रीसेन, उसकी दोनो रानियाँ—अभिनन्दिता और शिखिनन्दिता के पूर्वभव की कथा सुनाई* और कहा कि "सुतारा ही सत्यभामा का जीव है और तुम कपिल के जीव हो। तुम आर्त्तध्यानपूर्वक मृत्यु पा कर अनेक योनियो मे परिभ्रमण करते रहे, फिर तुम धर्मिल नाम के तापस-पुत्र हुए। बड़े होने पर अपने तापस-पिता से ही तापसी दीक्षा ले कर बाल-तप करने लगे। कई प्रकार से अज्ञान कष्ट सहन किये। कूएँ, बावडी और सरोवर बनाए। तापसो के समिधा के लिए कुल्हाडे से वृक्ष काटे, घास आदि काट कर स्थान साफ किये। धुनी, यज्ञ और मार्ग मे दीप-दान कर के अनेक पतगादि जीवो का संहार किया। भोजन के समय कौए आदि दुष्ट तिर्यंचो को पिण्ड-दान किया। वड-पीपल आदि वृक्षो को देव के समान पूजा, गाय की पूजा की, इत्यादि अनेक प्रकार से, धर्म-बुद्धि से बहुत काल तक कार्य करते रहे। एक बार एक विद्याधर को विमान मे बैठ कर आकाश मार्ग से जाते देख कर तुमने संकल्प किया कि 'यदि मेरी साधना का फल हो, तो मैं भी ऐसा विद्याधर बनूं।' तापस का भव पूर्ण कर के तुम विद्याधर हुए और सुतारा को देखते ही पूर्व-स्नेह के गाढरूप से उदय होने के कारण तुमने उसका हरण कर लिया।"

केवली भगवान् की देशना से जन्म-मरण सम्बन्धि विडम्बना और मोह का महा भयानक परिणाम जान कर श्रीविजय, अमिततेज, सुतारा और अशनिघोष परम सवेग को प्राप्त हुए। अमिततेज ने सर्वज्ञ-सर्वदर्शी भगवान् से पूछा—

"जगदुद्धारक! मैं भव्य हूँ या अभव्य ?" भगवान् ने कहा—

"इस भव से नौवे भव मे तू पाँचवाँ पट्खण्डाधिपति चक्रवर्ती सम्राट होगा और चक्रवर्ती की ऋद्धि का त्याग कर के 'शातिनाथ' नाम का सोलहवां तीर्थंकर हो कर मोक्ष प्राप्त करेगा। ये श्रीविजय नरेश, तुम्हारे प्रथम पुत्र और प्रथम गणधर होंगे।"

अपना उज्ज्वल भविष्य जान कर दोनो नरेश प्रसन्न हुए और भगवान् से श्रावक के बारह व्रत धारण किये। अशनिघोष तो ससार से एकदम उद्विग्न हो गया था। उसने उसी समय सर्वस्व का त्याग कर निर्ग्रंथ-प्रव्रज्या स्वीकार की। श्रीविजय की माता 'स्वयप्रभा' (जो त्रिपृष्ट वासुदेव की पटरानी थी) भी प्रव्रजित हो गई।

श्रीविजय और अमिततेज, श्रावक व्रत की आराधना करने लगे। एक बार मास-क्षमण तप वाले एक तपस्वी श्रमण चमरचचा नगरी मे आये। अमिततेज नरेश ने उन्हें

* देखो पृष्ठ ३०१।

अत्यंत भक्तिपूर्वक प्रतिलाभे। चित्त, वित्त और पात्र की उत्कृष्टता से वहाँ पच-दिव्य प्रकट हुए।

वासुदेव अनन्तवीर्यजी

दोनो नरेश, श्रावक व्रत का हजारो वर्षों तक पालन करते रहे। एक बार दोनो नरेश, अवधिज्ञानी मुनिवर की पर्युपासना कर रहे थे। धर्मोपदेश के पश्चात् अपनी शेष आयु के विषय मे प्रश्न किया। मुनिवर ने'छब्बीस दिन की उनकी शेष आयु बतलाई। दोनो नरेश अपनी स्वल्प आयु जान कर चौंक गए। तत्काल राजधानी मे आ कर उन्होने अपने पुत्रो को राज्याधिकार दिया और प्रव्रजित हो कर पादपोपगमन अनशन कर लिया। अनशन के चलते श्रीविजय मुनिजी के मन मे अपने पिता का स्मरण हुआ। सोचते हुए उनकी विचारधारा अमर्यादित हो गई। उन्हे विचार हुआ—मेरे पिता तो तीन खण्ड के अधिपति थे। उन्हे 'वासुदेव' पद प्राप्त था। वे तीनो खण्ड मे एक-छत्र राज करते रहे। हजारो राजा उनकी आज्ञा के पालक थे। किन्तु मैं तो मनुष्य-भव पा कर वैसा कोई उत्तम पद प्राप्त नही कर सका और एक साधारण राजा ही रहा। अब यदि मेरी साधना का उत्तम फल हो, तो मैं भी वैसी ही उत्तम कोटि का नरेश बनूं—इस प्रकार निदान कर लिया। मुनिवर अमिततेज ने अपनी भावना नही बिगडने दी। दोनो मुनिवर आयु पूर्ण कर के प्राणत नाम के दसवे स्वर्ग के 'सुस्थितावर्त' और 'नन्दितावर्त' नाम के विमान के स्वामी 'मणिचूल' और 'दिव्यचूल' नाम के देव हुए। उनकी आयु बीस सागरोपम प्रमाण थी।

जम्बूद्वीप के पूर्व-विदेह की रमणीय विजय मे 'शुभा' नाम की एक नगरी थी। उसके राजा का नाम 'स्तिमितसागर' था। उसके 'वसुन्धरा' और अनुद्धरा' (अनगसेना)—ये दो सुन्दर और सुशील रानियाँ थी। अमिततेज का जीव, देवलोक से च्यव कर रानी वसुन्धरा की कुक्षि मे उत्पन्न हुआ। रानी ने बलदेव के योग्य गर्भ होने के सूचक चार महास्वप्न देखे। पुत्र-जन्म हुआ और उसका 'अपराजित' नाम रखा गया। कालान्तर मे श्रीविजय का जीव भी देवलोक मे च्यव कर रानी अनुद्धरा के गर्भ मे आया। उसने वासुदेव के योग्य सात महास्वप्न देखे। गर्भ-काल पूर्ण होने पर पुत्र का जन्म हुआ। उसका नाम 'अनन्तवीर्य' रखा। योग्य वय होने पर दोनो भाई समस्त कलाओ मे पारंगत हुए।

एक वार महाराजा स्तिमितसागर अश्वारूढ हो कर वन मे गए। वहाँ एक वृक्ष के नीचे विविध अतिशय सम्पन्न प्रतिमाधारी मुनिराज स्वयंप्रभ को ध्यानारूढ देखा। राजा घोडे से नीचे उतर कर मुनिराज के निकट गया और वन्दना कर के बैठ गया। मुनिराज ने राजा को धर्मोपदेश दिया। राजा धर्मोपदेश सुन कर ससार से विरक्त हो गया। वह राजधानी मे आया और अपने राज्य का भार राजकुमार अनंतवीर्य को दे कर प्रव्रजित हो गया। उसने बहुतकाल तक संयम और तप की आराधना की, किन्तु बाद मे मानसिक विराधना से चलित हो कर मृत्यु पाया और भवनपति देवो मे चमरेन्द्रपने उत्पन्न हुआ।

ार - ी ा निमित्त बनी

राजा अनंतवीर्य अपने बड़े भाई अपराजित के साथ राज्य का संचालन कर रहा था। कालान्तर मे एक विद्याधर के साथ मित्रता हो गई। उस विद्याधर ने प्रसन्न हो कर महाविद्या प्रदान की। राजा के बर्बरी और किराती नाम की दो दासियाँ थी। वे रूप मे अत्यत सुन्दर और गायन तथा नृत्य-कला मे अत्यत निपुण थी। वे अपनी कला का प्रदर्शन कर के राजा के मन को आनन्दित करती रहती थी। एक वार वे राज-सभा मे नृत्य कर रही थी, इतने मे कौतुक-प्रिय एव भ्रमणशील नारदजी वहाँ आ पहुँचे। उस समय दोनो नृत्यागनाओ का उत्कृष्ट नृत्य देखने मे अनन्तवीर्य महाराज और उनके ज्येष्ठ-भ्राता तल्लीन हो गए थे। उन्हे नारदजी के आने का आभास भी नहीं हुआ, इसलिए वे उनका आदर नही कर सके। अपना सम्मान नही होने के कारण नारदजी क्रोधित हो गए। उन्होने सोचा—"इन घमडी लोगो को मेरी परवा ही नही है। अपने अभिमान मे वे इतने अन्धे हो गए कि इन नाचनेवाली दासियो ने भी मेरी इज्जत नही की। ठीक है, मैं अपने अनादर का मजा चखाता हूँ। इन्हें मालूम हो जायगा कि नारद के अनादर का क्या परिणाम होता है।" इस प्रकार सोच कर वे वहाँ से लौट गए और वैताढ्य पर्वत पर विद्याधरो के अधिपति राजा दमितारि की राज-सभा मे पहुँचे। उस समय वह सैकड़ो विद्याधरो की सभा मे बैठा था। नारदजी को आते देख कर वह सिंहासन से नीचे उतरा और उन्हे सत्कार-पूर्वक सिंहासन पर बैठने का आग्रह किया। किन्तु नारद अपना दर्भासन विछा कर बैठ गए। उन्हें केवल योग्य सत्कार की ही चाह थी। उन्होने राजा का कुशल-क्षेम पूछा। राजा ने योग्य शिष्टाचार के बाद पूछा,—

ऋषिवर ! आपका भ्रमण तो सर्वत्र होता रहता है। विश्व की अनोखी वस्तुएँ

आपके देखने मे आती है। यदि कोई आश्चर्यजनक वस्तु आपके देखने मे आई हो, तो हमे भी सुनाइये।"

नारदजी का मनोरथ सफल होने का अवसर उपस्थित हो गया। वे मन मे प्रसन्न हुए और कहने लगे,—

"राजन्! मैं आज ही एक अद्भूत आश्चर्य देख कर आ रहा हूँ। मैं 'शभा' नाम की नगरी मे गया था। अनन्तवीर्य राजा की सभा मे मैने बर्बरिका और किराती नाम की दो रमणियाँ नृत्य-कला मे इतनी प्रवीण देखी कि उनके जैसा नृत्य तो, कदाचित् स्वर्ग मे भी नही होगा। मैं स्वर्ग मे भी गया हूँ, किन्तु मैने ऐसा उत्कृष्ट नृत्य तो वहाँ भी नही देखा।"

"नराधिप! जिस प्रकार देवो मे इन्द्र सर्वोतम ऋद्धि का स्वामी है, उसी प्रकार इस पृथ्वी पर एक आप ही ऐसे नरेन्द्र हैं कि जहाँ सर्वोत्तम वस्तु सुशोभित होती है। मेरे विचार से वे उत्कृष्ट नृत्यागनाएँ आपके ही योग्य हैं। जब तक आप उन्हे यहाँ ला कर अपनी सभा का गौरव नही बढाते, तब तक आपकी समृद्धि मे न्यूनता ही रहेगी।"

बस, लगा दी चिनगारी—नारदजी ने। यह नही सोचा उन्होने कि मेरी इस बात से कितना अनर्थ हो जायगा। अनजान मे आदर नहीं होना, अपमान नही है। किन्तु उन्हें इस बात का विवेक नही था। वे विष का बीज बो कर चले गए।

नारदजी की बात सुनते ही तीन खंड के अधिपति (प्रतिवासुदेव) पन का गर्व दमितारि के मन मे उठ खडा हुआ। उसने अपना राजदूत अनन्तवीर्य नरेश के पास भेजा। दूत ने बडी शिष्टता के साथ नृत्यागना की माँग की। राजा ने दूत से कहा—

"तुम जाओ। हम बाद मे विचार कर के दासियो को भेज देगे।"

दूत चला गया। उसके बाद दोनों भाइयो ने परामर्श किया कि दमितारि विद्या के बल से हम पर शासन करता है। हम भी विद्याधर मित्र की दी हुई महाविद्या को सिद्ध कर ले, तो फिर हम उससे टक्कर ले सकेगे। इस प्रकार निश्चय कर के वे विद्या सिद्ध करने को तत्पर हुए। उनके निश्चय करते ही प्रज्ञप्ति आदि विद्याएँ स्वत. प्रकट हुई और उनके शरीर मे समा गई। दोनो भाई बलवान् तो थे ही, इन विद्याओ की प्राप्ति से कवचधारी सिंह की भाँति अधिक बलवान हो गए।

जब दोनो नर्त्तकियाँ दमितारि के पास नही पहुँची, तो उसने पुन, दूत भेजा। दूत ने तिरस्कारपूर्वक कठोर शब्दो मे नर्त्तकियो की माँग की और यहाँ तक कहा कि—"यदि

मनोरंजन करने लगे। यो विविध प्रकार के उत्तमोत्तम अभिनय से दोनो छद्मवेशी नट-सुन्दरियो ने महाराजाधिराज को मोह लिया। नरेश मानने लगे कि ये दोनो दासियाँ कला मे पारंगत हैं और संसार मे रत्न के समान है।

महाराजा दमितारि के 'कनकश्री' नाम की वय-प्राप्त कन्या थी। नरेश ने सोचा कि उच्च शिक्षा देने मे ये दोनो नट-सुन्दरियाँ पूर्ण समर्थ है। उसने दूसरे दिन से ही दोनो को पुत्री की शिक्षिका के रूप मे नियुक्त कर दिया। योवनवय को प्राप्त, परम सुन्दरी कनकश्री को देख कर अनन्तवीर्य मुग्ध हो गए। वे दोनो भ्राता उसे शिक्षा देते और प्रसंगोपात महाराजा अनन्तवीर्य का यशोगान भी करते रहते थे। उनके रूप, शौर्य्य, औदार्य आदि गुणो का वर्णन सुन कर राजकुमारी का मन उनकी ओर फिराया। बार-बार अनन्तवीर्य की प्रशंसा सुन कर एक दिन कनकश्री ने पूछा—जिनकी तुम बार-बार प्रशंसा करते हो, वह अनन्तवीर्य कौन है ?" नटीरूपधारी महाबाहु अपराजित बोले;—

"शुभा नगरी के महप्रतापी स्वर्गीय नरेश स्मितिसागर के पुत्र और महाबाहु अपराजित के कनिष्ट भ्राता, महाराज अनन्तवीर्य, इस सृष्टि मे अद्वितीय योद्धा, मदनावतार एव महामानव हैं। वह महाबली, शत्रुओ के गर्व को नष्ट करने वाला तथा शरणागत-वत्सल है। अधिक क्या कहूँ, उसके समान इस पृथ्वी पर दूसरा कोई नही है। वह पुरुषोत्तम है। हम दोनो वही से आई हैं।

अनन्तवीर्य की कीर्तिकथा सुन कर कनकश्री आकर्षित हो गई। उसके मन मे रहा हुआ मोह जाग्रत हो गया। वह उन्ही के विचार करने लगी। उसे विचार-मग्न देख कर अपराजित ने कहा—

"आप चिन्ता क्यो करती है ? यदि आपको इच्छा उन्हे देखने की होगी, तो मैं तुम्हे उनके दर्शन करा दूंगी। मेरी विद्या-शक्ति से मैं दोनो बन्धुओ को यहाँ उपस्थित कर के उनसे तुम्हे मिला दूंगी।"

कनकश्री यही चाहती थी। उसे आशा नही थी कि वह कभी उस पुरुषोत्तम को देख सकेगी। उसने कहा—"यदि आप उनके दर्शन करा दें, तो बड़ा उपकार होगा। मुझे विश्वास है कि जिस प्रकार आप कला मे सर्वश्रेष्ठ हैं, उसी प्रकार अन्य विद्याओ मे भी सर्वोत्तम हैं। आप मेरी मनोकामना शीघ्र पूर्ण करेगे।"

कनकश्री की बात सुनते ही दोनो भ्राताओ ने अपना निज-स्वरूप प्रकट किया। राजकुमारी स्तंभित रह गई। अपराजित ने कहा—"भद्रे ! यह मेरा छोटा भाई और शुभा

नगरी का नरेश महाराज अनन्तवीर्य है।"

राजकुमारी दिग्मूढ हो गई। उसके मन मे विस्मय, लज्जा, प्रमोद आदि कई प्रकार के भाव आ-जा रहे थे। क्षणभर वाद ही उसके हृदय मे से अन्योन्य भाव निकल कर एकमात्र मोह—आसक्ति भाव स्थायी रह गया। अनन्तवीर्य भी उस रति-रूपा राजकुमारी को निरख-कर विशेष रूप से रोमाचित हो गया। राजकुमारी स्वस्थ हो कर कहने लगी।

"आर्य पुत्र! यह नाटक भी अच्छा रहा। भाग्य के खेल विचित्र प्रकार के दृश्य उपस्थित कर के विचित्र परिणाम लाते हैं। किस प्रयोजन से नारदजी ने मेरे पिताजी के सामने आपकी दो चेटियो की प्रशसा की और उन्हे प्राप्त करने की भावना उत्पन्न की। किस इच्छा से आप छद्म-वेश मे यहाँ पधारे और अव क्या परिणाम आ रहा है। कदाचित् मेरे सद्भाग्य ने फल देने के लिए ही यह सारी परिस्थिति उत्पन्न की हो। अव आप शीघ्र ही मेरा पाणिग्रहण कर के मुझे कृतार्थ करे।"

"शुभे! यदि तुम्हारी ऐसी ही इच्छा है, तो चलो। अपन अपनी राजधानी मे चले और अपने मनोरथ पूर्ण करे"—अनन्तवीर्य ने कहा।

—"मैं तो समर्पित हो चुकी। अव आपकी जैसी आज्ञा होगी वैसा करूँगी। मैं चलने को तय्यार हूँ। किन्तु मुझे भय है कि कही मेरे पिताश्री, किसी प्रकार का अनर्थ खडा कर के आपका अहित करें। उनके पास अनेक प्रकार की विद्याएँ हैं, जिनके वल से वे जिस पर रुष्ट होते है, उसका अनिष्ट करते देर नही करते। यद्यपि आप समर्थ हैं, फिर भी एकाकी और शस्त्रास्त्र से रहित है। इसलिए भय लगता है"—राजकुमारी ने परिस्थिति का भान कराया।

"भयभीत होने की वात नही है—प्रिये! तुम्हारे पिता मे चाहे जितनी शक्ति हो, वह हमारा कुछ भी नही विगाड़ सकेगा। यदि उन्होने युद्ध की स्थिति उत्पन्न की, तो इसका परिणाम उन्हे ही भोगना पड़ेगा। तुम निर्भय हो कर हमारे साथ चलो।"

युद्ध की घोषणा और विजय

राजकुमारी उनके साथ हो गई। वहाँ से प्रस्थान करते समय अनन्तवीर्य ने मेघ-गर्जना के स्वर मे गम्भीर वाणी से कहा,—

"महाराजाधिराज दमितारि! मन्त्रियों! सेनापतियो! कुमारो! सामंतो! सुभटो एव पुराध्यक्षो! आप सब स्वस्थ हो कर सुनो।"

"मैं महावीर अपराजित के प्रताप से सुशोभित अनन्तवीर्य, राजकुमारी कनकश्री को ले कर जा रहा हूँ। यदि किसी की इच्छा मुझे रोकने की हो, या राजकुमारी को मुझ से लेने की हो, तो वह मेरे सामने आवे। मेरे जाने के बाद यह कहने की आवश्यकता नही रहनी चाहिये कि—"अनन्तवीर्य, राजकुमारी को चुरा कर ले गया।"

इस प्रकार उद्घोषणा कर के वैक्रिय-शक्ति से विमान बना कर उसमे बैठे और तीनो आकाश-मार्ग से प्रस्थान कर गए। जब दमितारि ने यह उद्घोषणा सुनी, तो सन्न रह गया। उसने तत्काल अपने योद्धाओ को उनके पीछे भेजा। सेना को अपनी ओर आते देख, दोनो भ्राता सावधान हो कर युद्ध के लिए जम गए। अचानक ही उन्हे हल, शार्ङ्ग धनुष आदि दिव्य-शस्त्र स्वत प्राप्त हो गए। दमितारि की सेना शस्त्र-वर्षा करने लगी। किन्तु जब महाराज अनन्तवीर्य ने शस्त्र-प्रहार प्रारंभ किया, तो दमितारि की सेना भाग खडी हुई। सेना के भागतें ही दमितारि स्वयं युद्ध करने आया। उसके आते ही सेना भी पुन आ डटी। इधर अनन्तवीर्य भी विद्या-शक्ति से सेना तय्यार कर के युद्ध-क्षेत्र मे डट गया। विद्या के बल से दुर्मद हुए दमितारि के सुभट जब पुनः युद्ध-रत हुए, तो वीरवर अनन्तवीर्य ने पंचजन्य शख का नाद किया। इस भयंकर नाद को सुन कर सभी सुभट धसका खा कर भूमि पर गिर पडे। यह दशा देख कर दमितारि स्वयं रथारूढ हो कर आगे आया और शस्त्र-प्रहार करने लगा। अन्त मे अपने ही चक्ररत्न नामक महाशस्त्र से दमितारि मारा गया और उसके समस्त राज्य के स्वामी महाराजाधिराज अनन्तवीर्य हुए। वे अर्धचक्री—वासुदेव पद पाये।

...र्णन

दमितारि पर विजय प्राप्त कर के महाराजा अनन्तवीर्य, ज्येष्ठ बन्धु और राजकुमारी कनकश्री के साथ रवाना हुए। मार्ग मे प्रतिमाधारी मुनिराज श्री कीर्तिधर स्वामी के दर्शन हुए। उन्होने उसी दिन घातिकर्मो को क्षय कर के केवलज्ञान केवलदर्शन प्राप्त किया था और देवगण केवल-महोत्सव कर रहे थे। वासुदेव को यह देख कर परम प्रसन्नता हुई। वे और बलदेव आदि केवली भगवान् की प्रदक्षिणा और नमस्कार कर के बैठ गए।

भगवान् ने धर्मदेशना दी। उपदेश पूर्ण होने पर राजकुमारी कनकश्री ने पूछा—'भगवन् ! मेरे निमित्त से मेरे पिताजी का वध और बन्धु-वर्ग का वियोग क्यो हुआ ? यह दु खदायक घटना क्यो घटी ? इसका पूर्व और अदृश्य कारण क्या है ?"

केवलज्ञानी भगवंत ने फरमाया—

"शुभे ! धातकीखड नामक द्वीप के पूर्व-भरत मे शखपुर नाम का एक समृद्ध गांव था। उसमे 'श्रीदत्ता' नाम की एक गरीब स्त्री रहती थी। वह बहुत ही दीन, दरिद्र और अभाव पीडित थी और दिनभर परिश्रम और कठोर काम कर के कठिनाई से अपना जीवन चला रही थी। एक बार वह भटकती हुई देवगिरि पर्वत पर गई। एक वृक्ष की छाया मे शिलाखंड पर बैठे हुए तपोधनी सत सत्ययश स्वामी दिखाई दिये। श्रीदत्ता ने तपस्वी सत को वदना की और निकट बैठ कर निवेदन किया;—

"भगवत ! मैं बडी दुर्भागिनी हूँ। मैंने पूर्वभव मे धर्म की आराधना नही की। इसी लिए मेरी यह दीन-हीन और अनेक प्रकार से दु खदायक दशा हुई है। अब दया कर के मुझे कोई ऐसा उपाय बताइये कि जिससे फिर कभी ऐसी दुर्दशा नही हो।"

मुनिराज ने उसे 'धर्मचक्र' नाम का तप बताते हुए कहा कि—"देवगुरु की आराधना मे लीन हो कर दो और तीन रात्रि के क्रम से सेतीस उपवास करने पर तेरे वैसे पाप कर्मों का क्षय हो जायगा। जिससे तुझे भवान्तर मे इस प्रकार की दुरवस्था नही देखनी पडेगी।"

श्रीदत्ता, मुनिराज के वचनो को मान्य कर के अपने स्थान पर आई और धर्मचक्र तप करने लगी। उसे पारणे मे स्वादिष्ट भोजन मिला और धनवानो के घर मे सरल काम तथा अधिक पारिश्रमिक तथा पारितोषिक मिलने लगा। श्रीदत्ता थोडे ही दिनो मे कुछ द्रव्य संचय कर सकी। अब उसका मन भी प्रसन्न रहने लगा। वह कुछ दानादि भी करने लगी। एक बार वायु के प्रकोप से उसके घर की भीत का कुछ भाग गिर गया और उसमे से धन निकल आया। उसकी प्रसन्नता का पार नही रहा। अब वह विशेषरूप से दानादि सुकृत्य करने लगी। तपस्या के अंतिम दिन वह सुपात्र दान के लिए किसी उत्तम पात्र की प्रतीक्षा करने लगी। अचानक उसने सुव्रत अनगार को देखा। वे मासखमण के पारणे के लिए निकले थे। श्रीदत्ता ने भक्तिपूर्वक सुपात्रदान का लाभ लिया और धर्मोपदेश के लिए प्रार्थना की। मुनिराज ने कहा—"भिक्षा के लिये गए हुए मुनि, धर्मोपदेश नही देते। योग्य समय पर उपाश्रय में उपदेश सुन सकती हो।" मुनिराज पधार गए और पारणा कर के स्वा-

ध्याय करने लगे। इतने मे नगर के लोग और श्रीदत्ता उपाश्रय में आये। मुनिराज ने उपदेश दिया। श्रीदत्ता ने सम्यक्त्वपूर्वक व्रत धारण किया और आराधना करने लगी। उदयभाव की विचित्रता से एक बार उसके मन मे धर्म के फल मे सन्देह उत्पन्न हुआ। एक दिन वह मुनिराज श्रीसुयशजी को वन्दने गई। वहाँ उसने विमान मे आये हुए दो विद्याधरो को देखा। वह उनके रूप पर मोहित हो गई और बिना शुद्धि किये ही आयुष्य पूर्ण कर गई।

जम्बूद्वीप के पूर्व-विदेह की रमणीय विजय मे शिवमन्दिर नामका नगर था। कनकपूज्य वहाँ के राजा थे। उनकी वायुवेगा रानी से मेरा जन्म हुआ। मेरे अनिलवेगा नाम की महारानी थी। उसकी कुक्षि से दमितारि का जन्म हुआ। वह यौवनवय को प्राप्त हुआ। एक बार ग्रामानुग्राम विहार करते भ० शान्तिनाथ हमारे नगर मे पधारे। भगवान् का धर्मोपदेश सुन कर, मैंने दमितारि को राज्य का भार दे कर निर्ग्रंथ दीक्षा अंगीकार की और चारित्र तथा तप की आराधना करते हुए मुझे अभी केवलज्ञान-केवल-दर्शन प्राप्त हुआ। दमितारि प्रतिवासुदेव हुआ। उस श्रीदत्ता का जीव दमितारि की मदिरा रानी की कुक्षि से, पुत्री के रूप मे तू (कनकश्री) उत्पन्न हुई। पूर्वभव के धर्म मे सन्देह तथा मोहोदय के कारण तू स्त्री के रूप मे उत्पन्न हुई और बन्धु-बान्धवो का वियोग हुआ, धर्म में किञ्चित् कलक भी महा दु खदायक होता है।"

कनकश्री विरक्त हो गई और उसने वासुदेव तथा बलदेव से निवेदन कर दीक्षा लेने की आज्ञा मांगी। उन्होने राजधानी मे चल कर उत्सवपूर्वक दीक्षा देने का आश्वासन दिया और महर्षि को वन्दना कर के रवाना हो गए।

शुभा नगरी के बाहर युद्ध चल रहा था। दमितारि के पहले से भेजे हुए कुछ वीर और सेना शुभानगरी मे आ कर वासुदेव के पुत्र अनन्तसेन के साथ युद्ध कर रहे थे। अनन्तसेन को शत्रुओ से घिर कर युद्ध करते देखते ही बलदेव को क्रोध आ गया। वे अपना हल ले कर शत्रुसेना पर झपटे। बलदेव के प्रहार से दिग्मूढ बनी हुई शत्रु-सेना अन्धाधुन्ध भागी। नगर प्रवेश के बाद अन्य राजाओ ने शुभ मूहूर्त मे महाराजा अनन्तवीर्य का वासुदेव पद का अभिषेक किया। कालान्तर में केवली भगवान् स्वयंभव स्वामी शुभानगरी पधारे। कनकश्री ने प्रव्रज्या स्वीकार की और आत्मोत्थान कर मोक्ष प्राप्त किया।

बलदेव श्री अपराजितजी के 'सुमति' नाम की पुत्री थी। वह बालपन से ही धर्म-रसिक थी। वह जीवादि तत्त्वों की ज्ञाता और विविध प्रकार के व्रत तथा तप करती रहती

थी। एक बार वह उपवास का पारणा करने के लिए बैठी थी। उसके मन मे सुपात्रदान की भावना जगी। उसने द्वार की ओर देखा। सुयोग से तपस्वी मुनिराज का द्वार मे प्रवेश हुआ। चित्त, वित्त और पात्र की शुद्धता से वहाँ पच दिव्य की वृष्टि हुई। अद्‌भुत चमत्कार को देख कर बलदेव और वासुदेव वहाँ आये और सुपात्रदान की महिमा सुन कर विस्मित हुए। उनके मनमे राजकुमारी सुमति के प्रति आदर भाव उत्पन्न हुआ। वे सोचने लगे कि— हमारी ऐसी उत्तम बालिका के योग्य पति कौन होगा ? उन्होने अपने इहानन्द मन्त्री से परामर्श कर के स्वयंवर का आयोजन किया और सभी राजाओ को सूचना भेज कर आमन्त्रित किया। निश्चित्त दिन स्वयवर मडप मे सभी राजा और राजकुमार बडे ठाट से आ कर बैठ गए। निश्चित्त समय पर राजकुमारी सुमति सुसज्जित हो कर अपनी सखियो और सेविकाओ के साथ मडप मे आई। उसके हाथ मे वरमाला थी। वह आगे बढ ही रही थी कि इतने मे उस सभा के मध्य मे एक देव विमान आया। उसमे से एक देवी निकली और एक सिंहासन पर बैठ गई। राजकुमारी और सारी सभा इस दृश्य को देख कर चकित रह गई। इतने मे देवी ने राजकुमारी से कहा—

"मुग्धे! समझ! यह क्या कर रही है ? तू अपने पूर्व-भव का स्मरण कर। पुष्करवर द्वीपार्द्ध के पूर्व-भरत क्षेत्र मे श्रीनन्दन नाम का नगर था। महाराज महेन्द्र उस नगर के स्वामी थे। अनन्तमति उनकी महारानी थी।" उनकी कुक्षि से हम दोनो युगल-पुत्रियें उत्पन्न हुई। मेरा नाम कनकश्री और तेरा नाम धनश्री था। अपन दोनो साथ ही बढी, पढी और यौवन-वय को प्राप्त हुई। हम दोनो ने एकबार वन मे नन्दन मुनि के दर्शन किये। उनसे धर्मोपदेश सुन कर श्रावक व्रत ग्रहण किये और उनकी आराधना करने लगी। एक बार अपन अशोक वन मे गई और वहाँ वनक्रीडा करने लगी। इतने मे एक विद्याधर युवक वहाँ आया और अपना हरण कर के उसके नगर मे ले गया। किन्तु उसकी सुशीला पत्नी ने हमारी रक्षा की। वहाँ से हम दोनो एक अटवी मे आई और नवकारमन्त्र का स्मरण कर के अनशन व्रत लिया। वहाँ का आयु पूर्ण कर के मैं तो सौधर्म स्वर्ग के अधिपति की अग्रमहिषी हुई और तू कुबेर लोकपाल की मुख्य देवी हुई। तू वहाँ का आयुष्य पूर्ण कर के यहाँ जन्मी और अब संसार के प्रपञ्च मे पड रही है। अपन दोनो ने देवलोक मे निश्चय किया था कि जो देवलोक से च्यव कर पहले मनुष्य-भव प्राप्त करे, उसे दूसरी देवी देवलोक से आ कर प्रतिबोध दे। छोड इस फन्दे को और दीक्षा ग्रहण कर के मानव जैसे दुर्लभ भव को सफल कर ले।"

साथ हुआ। कनकश्री की कुक्षि से एक महान् पराक्रमी पुत्र का जन्म हुआ। उसका नाम 'शतवल' रखा गया। वह महावली था।

एक समय महाराजा क्षेमकर अपने पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र, मन्त्री और सामन्तो के साथ सभा मे बैठे थे। उस समय ईशानकल्प वासी चित्रचूल नाम का एक मिथ्यात्वी देव उस सभा मे प्रकट हुआ। देव-सभा मे वज्रायुध के सम्यक्त्व की दृढता की प्रशंसा हुई थी। किन्तु चित्रचूल को यह प्रशंसा सहन नही हुई, न विश्वास ही हुआ। वह तत्काल महाराज क्षेमकर की राजसभा मे उपस्थित हुआ। उसने आते ही सभा को सम्बोधित करते हुए कहा;—

"राजेन्द्र और सभासदों! संसार में न पुण्य है, न पाप। स्वर्ग, नर्क, जीव, अजीव और धर्म-अधर्म कुछ भी नही। मनुष्य, आस्तिकता के चक्कर मे पड कर व्यर्थ ही क्लेश एव कष्ट भोगता है। इसलिए धर्म पुण्य और परलोक की मान्यताओ को त्याग देना चाहिए।"

देव के ऐसे नास्तिकता पूर्ण वचन सुन कर वज्रायुध वोला,—

"अरे देव! तुम ऐसी मिथ्या वातें क्यो कह रहे हो? यह तो प्रत्यक्ष से भी विरुद्ध है। तुम स्वय अवधिज्ञान से अपने पूर्वभव के सुकृत के फल को देखो। तुम्हारा यह देव सम्वन्धी वैभव, तुम्हारी वात को मिथ्या सिद्ध कर रही है। तुमने पूर्व के मनुष्य-भव को छोड कर यह देव-भव प्राप्त किया है। यदि जीव नही हो, तो भव किसका? पूर्व का मनुष्य-भव और वर्त्तमान देवभव, परलोक होने पर ही हुआ। यदि परलोक नही होता, तो यह देवभव भी नही होता। इस प्रकार मनुष्य-लोक रूपी यह भव और परलोक रूपी देव-भव प्रत्यक्ष ही सिद्ध है और यह सभी सुकृत का फल है। इसलिए ऐसा नास्तिकता पूर्ण मिथ्यात्व छोड देना चाहिए।"

वज्रायुध की सम्यक् वाणी सुन कर देव निरुत्तर हुआ और प्रतिवोध पाया। देव ने पूछा,—

"महानुभाव! आपने ठीक ही कहा है। वहुत ठीक कहा है। आपने मेरा मिथ्यात्व छुडा कर मेरा उद्धार किया। आपने मुझ पर एक पिता और तीर्थंकर के समान उपकार किया है। मैं चिरकाल से मिथ्यात्वी था। आपके दर्शन मेरे लिए अमित लाभकारी हुए। अब आप मुझे सम्यक्त्व दान कर उपकृत करे।"

वज्रायुध ने उस देव को धर्म का स्वरूप समझाया और सम्यक्त्वी वनाया। चित्र-चूल देव अत्यत प्रसन्न हुआ और इच्छित वस्तु मांगने का निवेदन किया। वज्रायुध ने

कहा—"मैं आपसे यही मांगता हूँ कि आप दृढ एव अविचल सम्यक्त्वी रहे।" देव ने कहा—"यह तो मेरे ही हित की बात है। आप अपने लिए कुछ लीजिये।" वज्रायुध ने कहा—"मुझे और कुछ भी नही चाहिए।" फिर भी देव ने वज्रायुध को दिव्य अलंकार दिये और चला गया। उसने ईशानेन्द्र की सभा मे आ कर वज्रायुध की प्रशंसा की। ईशानेन्द्र ने कहा—"महानुभाव वज्रायुध भविष्य मे तीर्थंकर होगे।"

एक वार वसन्तऋतु मे वनविहार करने के लिए वज्रायुध अपनी लक्ष्मीवती आदि ७०० रानियो के साथ सुरनिपात उद्यान मे आया और एक जलाशय मे क्रीडा करने लगा। वह जलक्रीडा मे मग्न था और रानियो के साथ विविध प्रकार के जलाघात के खेल खेल रहा था। उधर पूर्वजन्म का शत्रु, दमितारि प्रतिवासुदेव का जीव, भवभ्रमण करता हुआ देवभव प्राप्त कर चुका था। वह विद्युदृष्ट नाम का देव वहाँ आया। वज्रायुध को देखते ही उसका दवा हुआ वैर जाग्रत हो गया। उसने परिवार सहित वज्रायुध को नष्ट करने के लिए उस जलाशय पर एक पर्वत ला कर डाल दिया और चला गया। वज्रायुध, इस आकस्मिक विपत्ति से घवडाया नही, किन्तु अपने प्रबल पराक्रम से उस पर्वत को तोड कर परिवार सहित वाहर निकल आया। उधर प्रथम स्वर्ग का सौधर्मेन्द्र महाविदेह मे जिनेश्वर की पर्युपासना कर के लौट रहा था। उसने महानुभाव वज्रायुध को देखा। उसने सोचा—"यह वज्रायुध इस भव मे चक्रवर्ती सम्राट होगा और वाद के भव मे तीर्थंकर होगा"—ऐसा सोच कर इन्द्र वज्रायुध से मिला। उन्हे आदर सम्मान दे कर कहा—'आप धन्य हैं। भविष्य मे आप ही भरतक्षेत्र के 'शातिनाथ' नाम के सोलहवे तीर्थंकर वनेगे।' यो कह कर इन्द्र प्रस्थान कर गया और वज्रायुध अपने अन्त पुर के साथ नगर मे आये।

महाराजा क्षेमकर ने लोकान्तिक देवो के स्मरण कराने से वार्षिक दान दे कर प्रव्रज्या स्वीकार की। वज्रायुध को राज्यभार प्राप्त हुआ। मुनिराज क्षेमकर ने विविध प्रकार के तप से घातिकर्मों का क्षय कर के केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त किया।

एक समय अस्त्रागार के अधिपति ने महाराजा वज्रायुध को शस्त्रागार मे चक्ररत्न के प्रकट होने की वधाई दी। महाराजा ने चक्ररत्न प्रकट होने का महोत्सव किया। इसके वाद अन्य तेरह रत्न भी प्रकट हुए। उन्होने छह खण्ड की साधना की और अपने पुत्र सहस्रायुध को युवराज पद पर प्रतिष्ठित किया।

एक वार महाराजा राजसभा मे वैठे थे। महामन्त्री, अधिनस्थ राज्यों के सम्बन्धों और समस्याओ पर निवेदन कर रहे थे कि इतने ही मे एक विद्याधर युवक भयभीत दशा

मे भागता हुआ आया और चक्रवर्ती सम्राट से रक्षा करने की प्रार्थना की। उसके पीछे एक सुन्दर युवती हाथ मे ढाल और तलवार ले कर क्रोध मे धमधमती हुई आई और सम्राट से कहने कहने लगी—

"महाराज ! आप इस अधमाधम को यहाँ से निकालिये। मैं इस दुष्ट को इसके दुराचरण का मजा चखाने आई हूँ।" वह आगे कुछ और कह रही थी कि यमदूत के समान एक भयंकर विद्याधर हाथ से गदा घुमाता हुआ आया और उसने सम्राट से कहा,—

"महाराजाधिराज ! इस नीच की नीचता देखिये कि— मेरी यह पुत्री, मणिसागर पर्वत पर, भगवती प्रज्ञप्ति विद्या साध रही थी। इस दुष्ट ने उसकी साधना मे विघ्न डाला और उसे उस स्थान से उठा लिया। मैं उस समय विद्या की पूजा के लिए सामग्री लेने गया था। पुत्री को विद्या सिद्ध हो गई थी। इसलिए यह कुछ अनिष्ट नही कर सका और भयभीत हो कर उसे वही छोड कर भाग गया। इसे अपनी रक्षा का अन्य कोई स्थान नही मिलने से यह आपकी शरण मे आया है। इस दुष्ट से वदला लेने के लिए मेरी पुत्री इसके पीछे-पीछे आई। जब मैं पूजा की सामग्री ले कर साधनास्थल पर आया, तो वहाँ पुत्री दिखाई नही दी। अन्त मे मैंने इनके चरण-चिन्हो का अनुसरण किया और यहाँ तक आया। आप इसे निकाल दीजिये। मेरी यह गदा इसके मस्तक का चूर्ण बनाने के लिए तत्पर है। मैं शुक्ल नगर के शुक्लदत्त नरेश का 'पवनवेग' नाम का पुत्र हूँ। मेरा विवाह किन्नरगीत नगर के दीपचूल नरेश की पुत्री सुकान्ता से हुआ और उसकी कुक्षि से इस शातिमति का जन्म हुआ।"

महाराज वज्रायुध ने पवनवेग का वृतात सुन कर अवधिज्ञान का उपयोग लगाया और उनके पूर्वभव का वृतात जान कर यो कहने लगे,—

"पवनवेग ! शान्त होओ और इस घटना के मूल कारण को देखो। जम्बूद्वीप के ऐरावत क्षेत्र मे विध्यपुर नाम का नगर था। वहाँ विध्यदत्त नाम का राजा था। उसकी सुलक्षणा रानी से 'नलिनकेतु' नाम का पुत्र हुआ। उसी नगर मे धर्ममित्र नाम का एक सार्थवाह था। उसके 'दत्त' नाम का पुत्र था। उस दत्त के 'प्रभकरा' नाम की अत्यन्त रूपवाली पत्नी थी। एक बार वसतऋतु मे दत्त अपनी पत्नी के साथ उद्यान मे क्रीडा कर रहा था। उसी उद्यान मे राजकुमार नलिनकेतु भी आया और प्रभकरा को देखते ही मुग्ध हो गया। उसने दत्त को भुलावे मे डाल कर प्रभंकरा का हरण कर लिया और उसके साथ स्वच्छन्द हो कर भोग

भोगने लगा। दत्त, प्रभकरा का वियोग सहन नही कर सका। वह उसी के ध्यान मे भटकता रहा। कालान्तर मे उसे मुनिराज श्रीसुमनजी के दर्शन हुए। उन्होने उसी दिन घातिकर्मों का क्षय कर के केवलज्ञान प्राप्त किया था। केवली भगवान् की धर्मदेशना सुन कर दत्त ने पत्नी-विरह से उत्पन्न मोह का त्याग किया और शुभ भावो से दान-धर्म करता हुआ काल कर के, जम्बूद्वीप के पूर्व-विदेह मे स्वर्णतिलक नगर के नरेश महेन्द्रविक्रम के यहाँ पुत्रपने उत्पन्न हुआ। 'अजितसेन' उसका नाम दिया गया। यौवनवय मे अनेक विद्याधर कन्याओ के साथ उसका लग्न हुआ। वह काम-भोग मे काल व्यतीत करने लगा।

राजा विंध्यदत्त के मरने पर राजकुमार 'नलिनकेतु' राजा हुआ। प्रभंकरा उसकी प्रिया थी ही। एक बार वे दोनो महल की छत पर चढ कर प्रकृति की शोभा देख रहे थे कि अचानक ही आकाश मे बादल घिर आये। काली घटा छा गई। गर्जना होने लगी। बिजली चमकने लगी और थोडी ही देर मे वह सारा ही दृश्य बिखर कर आकाश साफ हो गया। नलिनकेतु को इस दृश्य ने विचार मे डाल दिया। उसने सोचा—"जिस प्रकार आकाश मे यह मेघ-घटा उत्पन्न भी हो गई और थोडी देर मे नष्ट भी हो गई, उसी प्रकार संसार मे सभी पदार्थ अस्थिर हैं। मनुष्य एक जन्म मे ही बचपन, युवावस्था, बुढापा आदि विभिन्न अवस्थाएँ प्राप्त करता है। रोगी-निरोग धनी-निर्धन और सुखी-दुःखी आदि विविध दशाएँ प्राप्त करता है। ऐसे क्षणस्थायी दृश्यो पर मुग्ध होना भूल है—बडी भारी भूल है।' इस प्रकार विचार करता हुआ वह विरक्त हो गया और पुत्र को राज्य दे कर क्षेमंकर तीर्थंकर के पास दीक्षित हो गया तथा उग्रतप करते हुए सभी कर्मों को नष्ट कर के अव्यय पद को प्राप्त हुआ।

सरल एव भद्र स्वभाव वाली रानी प्रभंकरा ने प्रवर्तिनी सती सुव्रता के पास चान्द्रायण तप किया। सम्यक्त्व रहित उस तप के प्रभाव से आयु पूर्ण होने पर वह तुम्हारी पुत्री के रूप मे यह शातिमति हुई। इसके पूर्वभव के पति दत्त का जीव यह अजितसेन है। पूर्वभव के स्नेह के कारण ही इसने इसे उठाई थी। वर्त्तमान की इस घटना के मूल मे पूर्व का स्नेह रहा हुआ है। तुम्हे क्रोध त्याग कर बन्धु-भाव धारण करना चाहिए।

उपरोक्त वृत्तात सुन कर उनका द्वेष दूर हुआ। ज्ञानबल से चक्रवर्ती नरेश ने कहा—"तुम तीनो तीर्थंकर भगवान् क्षेमंकरजी के पास प्रव्रजित होगे। यह शातिमति रत्नावली तप करेगी और अनशन कर के आयुपूर्ण होने पर ईशानेन्द्र बनेगी। तुम दोनो कर्म क्षय कर के मुक्ति प्राप्त करोगे। शातिमति, ईशानेन्द्र का भव पूर्ण कर के मनुष्य भव

प्राप्त करेगी और संयम तप की आराधना कर के मुक्त हो जायगी ।"

चक्रवर्ती की बात सुन कर तीनो प्रतिबोध पाये और संसार का त्याग कर सयम स्वीकार किया । साध्वी शातिमति, ईशानेन्द्र और मनुष्य-भव प्राप्त कर मोक्ष गई और क्षेमकर तथा अजितसेन मुनि उसी भव मे सिद्ध हो गए ।

चक्रवर्ती सम्राट के पुत्र सहस्रायुध की रानी जयना ने गर्भ धारण किया । गर्भ के प्रभाव से उसने स्वप्न मे प्रकाशमान स्वर्ण-शक्ति देखी । पुत्र का जन्म होने पर 'कनकशक्ति' नाम दिया गया । यौवनवय प्राप्त होने पर सुमन्दिरपुर की राजकुमारी कनकमाला के साथ उसका लग्न हुआ ।

श्रीसार नगर मे अजितसेन राजा था । उसकी प्रियसेना रानी से वसंतसेना कुमारी का जन्म हुआ । यह कनकमाला की प्रिय सखी थी । उसका पिता उसके लिये किसी योग्य वर की खोज कर रहा था । किन्तु योग्य वर नही मिला । उसने पुत्री को कनकशक्ति के पास स्वयंवरा के रूप में भेजी और कनकशक्ति ने उसके साथ भी विधिपूर्वक लग्न किया । इस लग्न से वसतसेना की बूआ के पुत्र को वडा आघात लगा । वह क्रोध से जल उठा ।

एक वार कनकशक्ति उद्यान मे घूम रहा था कि उसने देखा—एक व्यक्ति मुर्गे की तरह उछलता गिरता-पडता भटक रहा था । उसने उसकी ऐसी दशा का कारण पूछा । उसने कहा—'मैं विद्याधर हूँ । मैं कार्यवश अन्यत्र जा रहा था । यहाँ रमणीय उद्यान देख कर रुक गया । यहाँ कुछ समय रुक कर जाने लगा । मैने अपनी आकाशगामिनी विद्या का स्मरण किया, किन्तु बीच का एक पद मैं भूल गया । इससे मैं पूर्व की तरह उड नही सका और उछल कर नीचे गिर रहा हूँ ।' राज कुमार ने कहा—'यदि आप मेरे समक्ष आपकी विद्या का उच्चारण करे, तो सम्भव है विस्मृत पद जोडने मे मैं आपकी कुछ सहायता कर सकूँ ।" विद्याधर ने विद्या का उच्चारण किया । राजकुमार ने अपनी पदानुसारिणी बुद्धि से भूले हुए पद को पूर्ण कर दिया । विद्याधर प्रसन्न हुआ और उसने राजकुमार को भी वह विद्या दी । दोनो अपने-अपने स्थान पर आये ।

वसतसेना की बूआ का पुत्र अपने क्रोध मे ही जलता रहा । वह कनकशक्ति की कुछ भी हानि नही कर सका और मृत्यु पा कर देवलोक मे गया ।

एक वार कनकशक्ति अपनी दोनो रानियो के साथ विद्याधर से प्राप्त विद्या से गगन-विहार करता हुआ हिमवत पर्वत पर आया । वहाँ विपुलमति नाम के चारणमुनि के दर्शन हुए । उपदेश सुन कर कनकशक्ति त्यागी बन गया । दोनो रानियें भी [illegible]

साध्वीजी के समीप दीक्षित हो गई। कालान्तर मे मुनि कनकशक्ति उसी पर्वत पर आ क एक रात्रि की भिक्षु प्रतिमा का धारण कर के ध्यानस्थ रहे। मुनिवर को ध्यानस्थ दे कर पूर्वभव का द्वेषी वह हिमचूल देव उपसर्ग करने लगा। जब विद्याधरो ने उस देव क उपसर्ग करते देखा, तो उन्होने उसकी भर्त्सना की। कालान्तर मे मुनिराज रत्नसचया नगर के वाहर उद्यान मे आ कर ध्यानस्थ हुए। वहाँ उनके घातिकर्म नष्ट हो कर केवलज्ञा केवलदर्शन की प्राप्ति हुई।

कालान्तर मे तीर्थंकर भगवान् क्षेमंकर महाराज वहाँ पधारे। वज्रायुध ने अपने पुत्र सहस्रायुध को राज्य दे कर दीक्षित हो गया। उसके साथ चार हजार राजा, चार हजार रानिये और सात सौ पुत्रो ने दीक्षा ली। श्री वज्रायुध विविध प्रकार के अभिग्रह युक्त तप करते हुए सिद्धि पर्वत पर पधारे और प्रतिमा धारण कर के ध्यानस्थ हो गए। इस समय अश्वग्रीव प्रतिवासुदेव के पुत्र मणिकुभ और मणिकेतु भव-भ्रमण करते हुए वाल-तप के प्रभाव के असुरकुमार देव हुए थे। वे उस पर्वत पर आये और ऋषिश्वर को देख कर पूर्वभव के वैर से अभिभूत हो उपद्रव करने लगे। सिह का रूप धारण कर के अपने वज्र के समान कठोर एवं तिक्ष्ण नख गडा कर दोनो देव, दोनो ओर से उन्हे चीर ने लगे। उसके बाद हाथी का रूप धारण कर सूँड, दाँत और पैरो के आघात से महान् वेदना उत्पन्न करने लगे। इसके वाद भयानक भुजग के रूप मे ऋषिवर के शरीर पर लिपट कर शरीर को वलपूर्वक कमने लगे। इसके वाद राक्षसी रूप से भयानक उपद्रव करने लगे। इस प्रकार विविध उपद्रव करने लगे। इतने मे इन्द्र की रंभा-तिलोत्तमादि अप्सराएँ जिनेश्वर भगवान् को वंदन करने के लिए उधर हो कर जा रही थी। उन्होने मुनि पर होता हुआ महान् उपसर्ग देखा। वे वोली—"अरे, ओ पापियो ! तुम ऐसे उत्तम और महान् संत के शत्रु क्यो वने हो ? ठहरो।" इतना कह कर वे उनके पास पहुँचने लगी। यह देख कर वे दोनो दुष्ट देव भाग गए। अप्सराएँ मुनिराज श्री की वंदन नमस्कार कर के चली गई।

वज्रायुध मुनि वार्षिकी प्रतिमा पूर्ण कर विशिष्ट तप करते हुए विचरने लगे। राजा सहस्रायुध राज्य चला रहे थे। एक वार यहाँ गणधर महाराज पिहिताश्रवजी पधारे। उनके उपदेश से वैराग्य पा कर-सहस्रायुध ने अपने पुत्र शतवल को राज्य का भार सौंप कर दीक्षित हो गया। ग्रामानुग्राम विहार करते हुए उन्हे ऋषिवर वज्रायुध अनगार से मिलना हो गया। अव दोनो पिता पुत्र साथ रह कर साधना करने लगे। अन्त मे अनशन कर के आयु पूर्ण कर तीसरे ग्रैवेयक मे उत्पन्न हुए।

मेघरथ नरेश

जम्बूद्वीप के पूर्व-महाविदेह मे पुष्कलावती नाम का विजय था। सीता नदी के तीर पर पुडरीकिनी नाम की नगरी थी। धनरथ नाम का महावली राजा वहाँ राज करता था। प्रियमती और मनोरमा ये दो महारानियाँ थी। वज्रायुध मुनि का जीव, ग्रैवेयक से च्यव कर महादेवी प्रियमती की कुक्षि मे उत्पन्न हुआ। महारानी ने स्वप्नावस्था मे गर्जन करता, वरसता और विद्युत् प्रकाश फैलाता हुआ एक मेघ-खण्ड अपने मुंह मे प्रवेश करता हुआ देखा। स्वप्न का फल वतलाते हुए महाराज ने कहा—'तुम्हारे गर्भ मे कोई उत्तम जीव, आया है। वह मेघ के समान पृथ्वी के ताप को मिटा कर शाति करने वाला होगा।' सहस्रायुद्ध का जीव भी ग्रैवेयक से च्यव कर महादेवी मनोरमा की कुक्षि मे उत्पन्न हुआ। इसके प्रभाव से महारानी ने स्वप्न मे एक ध्वजापताका से युक्त सुसज्जित रथ, मुँह मे प्रवेश करता हुआ देखा। महारानी ने अपने स्वप्न की वात महाराज को सुनाई, तो उन्होने स्वप्न का फल वतलाते हुए कहा—'आपका पुत्र महारथी—महान् योद्धा होगा। यथासमय दोनो महारानियो ने पुत्र को जन्म दिया। महाराज ने महारानी प्रियमती के पुत्र का नाम 'मेघरथ' और महारानी मनोरमा के पुत्र का नाम 'दृढरथ' रखा। दोनो भाई क्रमश. वढने लगे। उनमे आपस मे गहरा स्नेह था। वे यौवनवय को प्राप्त हुए। वे रूप, तेज और कला मे सर्वोत्तम थे। एक वार सुमन्दिरपुर के महाराजा निहतशत्रु का मन्त्री, महाराजा धनरथ की राजसभा मे आया और निवेदन किया—महाराजा निहतशत्रु, आपसे निकट का सम्वन्ध स्थापित करना चाहते हैं। उनके तीन पुत्रियाँ हैं। वे तीनो ही वडी गुणवती, विदुषी एव देवकन्या के समान हैं। मेरे स्वामी आपसे निवेदन करते हैं कि—मेरी दो पुत्रियाँ राजकुमार मेघरथ के लिए और एक राजकुमार दृढरथ के लिए स्वीकार कीजिए।' महाराजा धनरथ ने सम्वन्ध स्वीकार कर लिया और शुभ मुहूर्त में आगत मन्त्री के साथ अगरक्षक सेना और मन्त्री आदि सहित दोनो राजकुमारो को भेज दिया। मार्ग मे सुरेन्द्रदत्त राजा के राज्य की सीमा पडती थी। जव सुरेन्द्रदत्त को दोनो राजकुमारो के सेना सहित राज्य की सीमा मे होकर सुमन्दिरपुर जाने की वात मालूम हुई, तो उसने अपने सीमारक्षक को भेज कर उनका प्रवेश रोकना चाहा और अन्य मार्ग से हो कर जाने का निर्देश दिया। राजकुमारो ने कहा—हमारे लिए ही मार्ग अवरुद्ध करना न तो मैत्रीपूर्ण है, न नैतिक ही। यह सार्वजनिक मार्ग है। इसको किसी व्यक्ति विशेष के लिए रोक नही की जा सकती।" वे नही माने और युद्ध खडा हो गया। राजा सुरेन्द्रदत्त और उसका युवराज 'वड़ी सेना ले कर आ गये। भयानक मारधाड प्रारम्भ हो गई। युद्ध की विकरालता वढते

ही राजकुमारो के अंगरक्षकों का टिकना असंभव हो गया। वे युद्ध मे ठहर नही सके और भाग खडे हुए। यह देख कर दोनो राजकुमार युद्ध-रत हो गए और शत्रु-सेना का सहार करने लगे। उन दोनो बलवीरो की मार, सुरेन्द्रदत्त की सेना सहन नही कर सकी और युद्ध-स्थल से भाग गई। यह देख कर राजा सुरेन्द्रदत्त और उसका राजकुमार भी मैदान मे आ गया। दोनो का जम कर युद्ध हुआ, किन्तु वे सफल नही हो सके। दोनो राजकुमारो ने उन्हे हरा कर अपना बन्दी बना लिया और उस राज्य पर अपनी आज्ञा चला कर आगे बढ गए। जब वे सुमन्दिरपुर के निकट पहुँचे, तो महाराजा निहतशत्रु, उनके स्वागत के लिए सामने आया और दोनो राजकुमारो का आलिंगन कर के मस्तक पर चुम्बन किया। शुभ मुहूर्त मे राजकुमारी प्रियमित्रा और मनोरमा, इन दो बडी पुत्रियो का लग्न मेघरथ कुमार के साथ और छोटी पुत्री राजकुमारी सुमति का लग्न राजकुमार दृढरथ के साथ किया। दोनो राजकुमार अपनी पत्नियो और विपुल समृद्धि के साथ अपने नगर की ओर चले। मार्ग मे उन्होने पराजित राजा सुरेन्द्रदत्त और उसके पुत्र को राज्याधिकार प्रदान कर दिया और अपने नगर मे आये। वे सुखोपभोग पूर्वक जीवन व्यतीत करने लगे। कालान्तर मे राजकुमार मेघरथ की रानी प्रियमित्रा ने नन्दीसेन नामक पुत्र को और रानी मनोरमा ने मेघसेन नामक पुत्र को जन्म दिया। राजकुमार दृढरथ की पत्नी सुमति ने भी एक पुत्र को जन्म दिया। उसका नाम रथसेन रखा गया।

कुर्कुट कथा

एक दिन महाराजा घनरथ अपने अन्त पुर मे रानियो, पुत्रो और पौत्रो के साथ विविध प्रकार के विनोद कर रहे थे कि सुरसेना नाम की गणिका, हाथ मे एक कुर्कुट ले कर आई और निवेदन करने लगी,—

"देव ! मेरा यह मुर्गा अपनी जाति मे सर्वोत्तम है, मुकुट के समान है। इसे दूसरा कोई भी मुर्गा जीत नही सकता। यदि किसी दूसरे व्यक्ति का मुर्गा, मेरे मुर्गे को जीत ले, तो मैं उसे एक लाख स्वर्ण-मुद्रा देने को तत्पर हूँ। यदि किसी के पास ऐसा मुर्गा हो, तो वह मेरे इस दाव को जीत सकता है।"

गणिका की उपरोक्त प्रतिज्ञा सुन कर युवराज्ञी मनोरमा ने कहा,—"मेरा मुर्गा, सुरसेना के मुर्गे के साथ लडेगा।" महाराज ने स्वीकृति दे दी। युवराज्ञी ने दासी को

भेज कर अपना वज्रतुड नामक कुर्कुट मँगाया। दोनो कुर्कुट आमने-सामने खडे किये गये। वे दोनो आपस मे लडने लगे। बहुत देर तक लडते रहे, परंतु दोनो मे से न तो कोई विजयी हुआ न पराजित। तब महाराज धनरथ ने कहा—'इन दोनो मे से कोई एक किसी दूसरे पर विजय प्राप्त नही कर सकेगा।"

"क्यो नही जीत सकेगा ? क्या कारण है—पिताश्री इसका"—युवराज मेघरथ ने पूछा।

"इसका कारण इनके पूर्व-भव से सम्बन्धित है"—महाराजा धनरथ, अपने विशिष्ट ज्ञान से उन कुर्कुटो के पूर्वभव का वृत्तात सुनाने लगे,—

"इस जम्बूद्वीप के ऐरवत क्षेत्र मे रत्नपुर नाम का समृद्ध नगर था। वहाँ 'धनवसु' और 'दत्त' नाम के दो व्यापारी रहते थे। उनमे परस्पर गाढ-मैत्री थी। उन दोनो मे धनलोलुपता बहुत अधिक थी। वे व्यापारार्थ गाडियो मे सामान भर कर विदेशो मे भटकते ही रहते थे। वे भूखे, प्यासे, शीत, ताप आदि सहते हुए और बैलो पर अधिक भार भर कर उन्हे ताडना-तर्जना करते हुए, उनकी पीठ पर शूल भोकते हुए फिरते रहते थे। वे शाति से भोजन भी नही कर सकते थे। चलते-चलते खाते और रूखा सूखा खा कर मात्र धन के लोभ मे ही लगे रहते। खोटे तोल-नाप करते। कपट और ठगाई उनके रगरग मे भरी रहती थी। वे मिथ्यात्व मे रत रहते थे। धर्म की ओर उनका ध्यान ही नही जाता था। वे आर्त्तध्यान मे ही लगे रहते थे। अपने ऐसे दुष्कर्म से उन्होने तिर्यंच गति का आयुष्य बाध कर मरे और सुवर्णकूला नदी के किनारे दो हाथी के रूप मे पृथक्-पृथक् उत्पन्न हुए। एक का नाम 'ताम्रकलश' और दूसरे का 'काचनकलश' था। वे दोनो यौवनवय प्राप्त होने पर नदी किनारे के वृक्षो को तोडते-गिराते हुए और अपने यूथ के साथ घूमते-फिरते तथा विहार करते रहते थे। एक दिन दोनो यूथपति गजेन्द्रो का मिलना हो गया। वे दोनो एक दूसरे को देखने लगे। उनके मन मे रोष की भावना प्रज्वलित हुई। दोनो आपस मे लडने लगे और एक दूसरे को मार डालने के लिए प्रहार करने लगे। अन्त मे दोनो हाथी लडते-लडते मर गये। मृत्यु पा कर वे अयोध्या नगरी के पशु-पालक नन्दीमित्र के यहाँ महिषी के गर्भ से उत्पन्न हुए। यौवनवय मे वे बलवान और प्रचण्ड भैंसे दिखाई देने लगे। वे विशाल डील-डौल वाले और आकर्षक थे। एक बार वहाँ के राजकुमार धनसेन और नन्दीसेन ने उन यमराज जैसे भैंसे को देखा। उन्होने दोनो महिषो को लडाया। वे दोनो लडते-लडते मर कर उसी नगरी मे मेढे जन्मे। वहाँ भी वे दोनो आपस मे लड मरे और कुर्कुट योनि मे जन्मे। ये दोनो वे ही मुर्गे हैं।

महाराज की बात पूर्ण होने पर युवराज मेघरथ ने कहा "ये दोनो पूर्वभव के शत्रु तो हैं ही, विशेष मे विद्याधरो से अधिष्ठित भी हैं।" राजा ने युवराज को विद्याधरो से अधिष्ठित होने का वृत्तात कहने का सकेत किया। युवराज कहने लगे,—

"वैताढ्य पर्वत की उत्तर श्रेणी के स्वर्णनाभ नगर मे 'गरुडवेग' नाम का राजा था, धृतिसेना उसकी रानी थी। उनके चन्द्रतिलक और सूर्यतिलक नाम के दो पुत्र थे। यौवनवय मे वे कुमार, वन-विहार करते हुए उस स्थान पर पहुँच गए जहाँ मुनिराज श्रीसागरचन्दजी एक शिला पर ध्यानस्थ बैठे हुए थे। मुनिराज को वदना नमस्कार कर के दोनो राजकुमार बैठ गए। मुनिराज ने ध्यान पालने के बाद दोनो राजकुमारो को धर्मोपदेश दिया। मुनिराज विशिष्ट ज्ञानी और लब्धिधारी थे। राजकुमारो के अपने पूर्वभव सम्बन्धी पृच्छा करने पर मुनिराजश्री कहने लगे,—

"धातकीखण्ड के पूर्व ऐरवत क्षेत्र मे वज्रपुर नगर था। वहाँ अभयघोष नाम का दयालु राजा था। स्वर्णतिलका उसकी रानी थी। विजय और वैजयत नाम के उसके दो कुमार थे। वे शिक्षित एव कलाविद हो कर यौवनवय को प्राप्त हुए। उस समय उसी क्षेत्र के स्वर्णद्रुम नगर मे शंख राजा की पृथ्वीसेना नाम की पुत्री थी। वह भी रूप गुण और अनेक प्रकार की विशेषताओ से युक्त थी। उसका विवाह महाराज अभयघोष के साथ हुआ। एकबार राजा, रानियो के साथ वन-विहार कर रहे थे। रानी पृथ्वीसेना वन की शोभा देखती हुई कुछ आगे निकल गई। उसने वहाँ एक तपस्वी ज्ञानी मुनि को वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ बैठे देखा। वह उनके समीप गई और भक्तिपूर्वक वदना की। मुनिराज का उपदेश सुन कर वह ससार से विरक्त हो गई और राजा की आज्ञा ले कर सयम स्वीकार कर लिया।

कालान्तर में महाराज अजयघोष के यहाँ छद्मस्थ अवस्था मे विचरते हुए श्रीअनत अरिहत पधारे। राजा ने उत्कट भाव-भक्तिपूर्वक आहार दान दिया और अरिहंत ने वही अपनी तपस्या का पारणा किया। पच दिव्य की वृष्टि हुई। कालान्तर मे वे ही अरिहत भगवान् केवली अवस्था मे वहाँ पधारे और धर्मोपदेश दिया। महाराज विरक्त हो गए। उन्होने राजकुमारो को राज्य का भार ग्रहण करने के लिए कहा। किन्तु वे भी प्रव्रजित होने के लिए तत्पर थे। अतएव उन्होने राज्यभार ग्रहण नही किया। अत में अन्य योग्य व्यक्ति को राज्यभार सौंप कर महाराजा और दोनो राजकुमार निर्ग्रंथ हो गए। मुनिराज श्री अभयघोषजी ने दीक्षित होने के बाद उग्र तप एव उच्च आराधना प्रारंभ कर दी। उन्होने भावो की विशिष्टता से तीर्थङ्कर नामकर्म का बन्ध कर लिया और आयु पूर्ण कर

तीनो पिता-पुत्र अच्युतकल्प मे २२ सागरोपम की स्थिति वाले देव हुए।

इस जम्बूद्वीप के पूर्वमहाविदेह के पुष्कलावती विजय मे पुडरीकिनी नगरी थी। हेमागद राजा राज करता था। वज्रमालिनी नामक महारानी उनकी हृदयेश्वरी थी। मुनिराज श्रीअभयघोषजी का जीव, अच्युतकल्प से च्यव कर चौदह महास्वप्न पूर्वक महारानी वज्रमालिनी की कुक्षि मे उत्पन्न हुए। जन्म होने पर इन्द्रो ने उनका जन्मोत्सव किया। उनका नाम 'धनरथ' रखा गया। वे द्रव्य-तीर्थंकर अभी गृहवास मे विद्यमान हैं। तुम विजय और वैजयत के जीव, देवलोक से च्यव कर चन्द्रतिलक सूर्यतिलक नाम के विद्याधर हुए हो।

"दोनो राजकुमार अपना पूर्वभव जान कर प्रसन्न हुए और मुनिवर को नमस्कार कर के अपने पूर्वजन्म के पिता (आप) को देखने के लिए भक्तिपूर्वक यहाँ आये। उन्होने कौतुकपूर्वक इन मुर्गो मे प्रवेश कर के युद्ध का आयोजन किया। यह आपके दर्शन के लिये किया है। यहाँ से मुनिश्री भोगवर्द्धनजी के पास जा कर दीक्षा लेगे और कर्म क्षय कर मोक्ष जावेगे।"

उपरोक्त वृत्तात सुन कर वे दोनो विद्याधर कुमार प्रकट हुए और अपने पूर्वभव के पिता महाराजा धनरथजी को नमस्कार कर के अपने स्थान पर चले गये।

दोनो कुर्कुट ने भी उपरोक्त वृत्तात सुना और विचार करने लगे। उन्हे जाति-स्मरण ज्ञान हुआ। उन्होने अपने पूर्वभव देखे और सोचने लगे कि,—

"अहो! यह ससार कितना भय और क्लेश से परिपूर्ण है। हमने मनुष्य-जन्म पा कर पापो के संग्रह मे ही समाप्त कर दिया और पुन. मनुष्य-भव पाना भी दुर्लभ बना दिया।" उन्हे बहुत पश्चात्ताप हुआ। वे अपनी भाषा मे धनरथ महाराज से कहने लगे,—

"हे देव! कृपया बताइये कि हम अपनी आत्मा का उद्धार किस प्रकार करें।"

द्रव्य तीर्थंकर महाराजा धनरथजी ने कहा—

"तुम अरिहंत देव, निर्ग्रंथ गुरु और जिन प्ररूपित दयामय धर्म का शरण ग्रहण करो। इसी से तुम्हारा कल्याण होगा।"

महाराजा धनरथजी का वचन सुन कर वे सवेग को प्राप्त हुए। उनके मन में धर्मभाव उत्पन्न हुआ और उसी समय अनशन कर लिया। वे मृत्यु पा कर भूतरत्ना नाम की अटवी मे 'ताम्रचूल' और 'स्वर्णचूल' नाम के दो महर्द्धिक भूतनायक देव हुए। अवधिज्ञान से अपने पूर्वभव को देख कर वे अपने उपकारी महाराजा मेघरथजी के पास

आये और भक्तिपूर्वक प्रणाम कर के कहने लगे, —

"महाराज ! आपकी कृपा से हम तिर्यंच की दुर्गति को छोड कर व्यंतर देव हुए हैं। यदि आपकी कृपा नही होती, तो हम पाप मे ही पडे रहते और प्रतिदिन हजारो कीडो का भक्षण कर के पाप का भार बढाते ही रहते और दुर्गति की परम्परा चलती रहती। आप हमारे परम उपकारी हैं। हमारी प्रार्थना है कि आप हमे कुछ सेवा करने का अवसर प्रदान करे। आप तो ज्ञान से सब जानते हैं, किन्तु हम पर अनुग्रह कर के विमान पर बैठकर पृथ्वी के विविध दृश्यो का अवलोकन करे।" युवराज मेघरथ ने उनकी प्रार्थना स्वीकार की और परिवार सहित विमान मे बैठ कर रवाना हुए। वे वन, उपवन, पर्वत, नदियाँ, समुद्र, नगर और सभी रमणीय स्थानो को देखते हुए मानुषोत्तर पर्वत तक गये। देवो ने उन्हे प्रत्येक क्षेत्र और स्थान का वर्णन कर के परिचय कराया। वे मनुष्य-क्षेत्र को देख कर अपनी पुडरीकिनी नगरी मे लौट आए।

कालान्तर मे लोकान्तिक देवो ने आ कर महाराजा घनरथजी से निवेदन किया—"स्वामिन् ! अब धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करे।" वे तो प्रथम से ही बोधित थे। योग्य अवसर भी आ गया था। अतएव महाराजा ने युवराज मेघरथ को राज्यभार सौंपा और राजकुमार दृढरथ को युवराज पद प्रदान कर वर्षीदान दिया और ससार त्याग कर घातिकर्मों को क्षय कर के केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त किया, तथा तीर्थ-स्थापन कर भव्य जीवो का उद्धार करने लगे।

मेघरथ राजा का वृत्तांत

महाराजा मेघरथ, राज्य का संचालन करने लगे। अनेक राजा उनकी आज्ञा मे थे। एक बार वे क्रीडा करने के लिए देवरमण उद्यान मे गये। वे महारानी प्रियमित्रा के साथ अशोकवृक्ष के नीचे बैठ कर मधुर संगीत सुनने लगे। उस समय उनके सामने हजारों भूत आ कर नृत्य, नाटक और सगीत करने लगे। कोई लम्बोदर बन कर अपना नगाडे जैसा मोटा पेट हिला कर अट्टहास करने लगा, कोई दुबला-पतला कृशोदर हो कर मिमियाने लगा, कोई ताडवृक्ष से भी अधिक लम्बतडग हो कर लम्बे-लम्बे डग भरने लगा, किसी की भुजा बहुत लम्बी, तो किसी का सिर मटके से भी बढा, कोई गले मे साँपो की माला पहने हुए, जिनकी फणे इधर-उधर उठी हुई लपलपा रही है। नेवलो के भुजबन्ध, अजगर का

कन्दोरा पहन कर, बीभत्स रूप धारण कर के उछल-कूद करने लगे। कोई घोडे के समान हिनहिनाने लगा, तो कोई हाथी-सा चिंघाड़ने लगा, इत्यादि अनेक प्रकार से ताण्डव करने लगे। वे सभी महाराजा का मनोरंजन करने लगे। इतने ही मे आकाश मे एक उत्तम विमान प्रकट हुआ, जिसमे एक पुरुष और एक युवती स्त्री बैठी थी। वे दोनो कामदेव और रति के समान सुन्दर थे। उन्हे देख कर महारानी ने महाराजा से पूछा—इस विमान मे यह युगल कौन है ? महाराज कहने लगे;—

"वैताढ्य पर्वत की उत्तरश्रेणी मे अलका नाम की उत्तम नगरी है। वहाँ विद्याधरपति विद्युद्रथ शासक है। मानसवेगा उसकी रानी है। उसके 'सिंहरथ नाम का पराक्रमी पुत्र हुआ। उस राजकुमार के वेगवती युवराज्ञी है। युवराज सिंहरथ, प्रिया के साथ जलाशयो, उपवनो और उद्यानो मे क्रीडा करने लगा। कालान्तर मे विद्युद्रथ राजा, युवराज को राज्यभार दे कर सर्वत्यागी निर्ग्रंथ बन गया और ज्ञान, ध्यान, तप और समाधि से समवहत हो, कर्म काट कर मुक्ति को प्राप्त हुए। सिंहरथ, समस्त विद्याधरो का अधिपति हुआ। कालान्तर मे एक रात्रि मे महाराजा सिंहरथ की नीद खुलजाने पर विचार हुआ—"मैंने अपना अमूल्य मानव-भव यो ही गँवा दिया। मैंने न तो जिनेश्वर भगवंत के दर्शन किये, न उनका धर्मोपदेश सुना। अब मुझे सब से पहले यही करना चाहिए।" ऐसा सोचकर प्रात काल होते ही तय्यारी कर दी और महारानी सहित धातकी-खंड द्वीप के पश्चिम विदेह मे सूत्र नाम के विजय मे खड्गपुर नगर मे गया और वहाँ रहे हुए तीर्थंकर भगवान् अमितवाहन स्वामी के दर्शन किये। धर्मदेशना सुनी और भगवान् को वन्दन नमस्कार कर वापिस लौटा। वह अपनी राजधानी मे जा ही रहा था कि यहाँ आते उसके विमान की गति स्खलित हो गई। अपने विमान की गति रुकते देख कर उसने नीचे देखा। मैं उसकी दृष्टि मे आया। मुझे देख कर वह क्रोधित हुआ और मुझे उठा कर ले जाने की इच्छा से यहाँ मेरे पास आया। मैंने अपने बायें हाथ से उसके बायें हाथ पर प्रहार किया। इससे वह चिल्लाने लगा। अपने पति को कष्ट मे देख कर उसकी पत्नी परिवार सहित मेरी शरण मे आई। इसलिए मैंने उसे छोड दिया। छुटने के बाद वह विविध रूपो की विकुर्वणा करके यहाँ संगीत करने लगा।"

यह सुन कर महारानी प्रियमित्रा ने पूछा—"प्रियतम ! यह पूर्वभव में कौन था ? इसने कौनसी शुभ करणी की थी कि जिससे इतनी बडी ऋद्धि प्राप्त हुई ? महाराजा ने कहा—

पूर्ण स्वर से बोला—"मुझे अभयदान दो, मुझे बचाओ," इससे आगे वह नही बोल सका। यह सुन कर नरेश ने कहा—"तू निर्भय होजा। यहाँ तुझे किसी प्रकार का भय नहीं होगा।" इन शब्दो ने परेवे के मन मे शाति उत्पन्न कर दी। वह पिता के समान रक्षक नरेश की गोद मे, एक बालक के समान बैठा रहा। क्षणभर बाद ही एक बाज पक्षी आया और कबूतर को राजा की गोद मे बैठा देख कर मानव भाषा मे बोला—

"महाराज ! इस कबूतर को छोड़ दीजिये। यह मेरा भक्ष्य है। मैं इसे ही खोजता हुआ आ रहा हूँ।'

"अरे बाज ! अब यह कबूतर तुझे नही मिल सकता। यह मेरी शरण में है। क्षत्रीय-पुत्र शरणागत की रक्षा एव प्रतिपालना करते है। तुझे भी ऐसा निन्दनीय कृत्य नही करना चाहिए। किसी प्राणी का भक्षण करना कभी हितकर नही होता। क्षणिक सुख मे लुब्ध हो कर तू मास-भक्षण करता है, किन्तु यह क्षणिक सुख, भवान्तर मे हजारो-लाखो वर्षो पल्योपमो और सागरोपमो तक नरक के भीषण दु ख का कारण बन जाता है। क्षणिक सुख के लिए निरपराध—अशक्त प्राणियो के प्राण हरण कर के दीर्घकालीन महादु ख का महाभार बढाना मूर्खता है। जैसे तुझे दु ख अप्रिय है, वैसे ही इस कबूतर को भी दु ख अप्रिय है। यदि तेरा एक पंख उखाड़ लिया जाय, तो तुझे कितना कष्ट होगा ? तब विचारे इस कबूतर का जीवन ही समाप्त करने पर इसे दु ख नही होगा क्या ? तू बुद्धिमान है। तुझे विचार करना चाहिए कि पूर्वभव मे किये हुए पाप के कारण तो तू देव और मनुष्य जैसी उत्तम गति से वचित रह कर तिर्यंच की अशुभ गति पाया और अब भी पाप-कर्म करता रहेगा, तो भविष्य मे तेरा क्या होगा ? सोच, समझ और दुष्कर्म का त्याग कर, अपने शेप जीवन को सुधार ले।

यदि तुझे क्षुधा मिटाना है, तो दूसरा निर्दोष भोजन तुझे मिल सकता है। पित्ताग्नि का दूध मे भी शमन होता है और मिश्री आदि से भी। इसलिए तुझे निर्दयता छोड कर अहिंसक वृत्ति अपनानी चाहिए"—महाराजा मेघरथजी ने बाज को समझाते हुए कहा।

"महाराज ! आप विचार करे"—बाज राजा को सम्बोधन कर कहने लगा—"जिस प्रकार यह कबूतर मृत्यु के भय से बचने के लिए आपके पास आया, उसी प्रकार मैं भी क्षुधा से पीडित हो कर इसे खाने के लिए आया हूं। यदि मैं इसे नही खाऊँ, तो किसे खाऊँ ? अपने जीवन को कैसे बचाऊँ ? आप कबूतर की रक्षा करते हैं, तो मेरी भी रक्षा कीजिए। मुझे भूख से तडपते हुए मरने से बचाइए। प्राणी जबतक भूखा रहता है, तबतक

वह धर्म-पुण्य का विचार नही कर सकता। क्षुधा शात होने पर ही धर्मकर्म का विचार होता है। इसलिए धर्माधर्म की बाते छोड़ कर मेरा भक्ष्य—यह कबूतर मुझे दीजिये। मैं क्षुधा मिटाने के बाद आपका धर्मोपदेश अवश्य सुनूंगा। आप एक की रक्षा करते हैं और दूसरे को भूख से मरने का उपदेश करते हैं, यह कैसा न्याय है ? यह कबूतर मेरा भक्ष्य है। मैं ताजा मास ही खाता हूँ। इसीसे मेरी तृप्ति होती है। दूसरी कोई वस्तु मुझे रुचिकर नही होती। इसलिए निवेदन है कि यह कबूतर मुझे सौंप कर मुझ पर उपकार कीजिए।"

"क्या तू मास ही खाता है ? दूसरा कुछ भी नही खा सकता ? यदि ऐसा ही है, तो ले, मैं तेरी इच्छा पूरी करने को तत्पर हूँ। मैं मेरे शरीर का ताजा मास इस कबूतर के बराबर तुझे देता हूँ। तू अपनी इच्छा पूरी कर"—महाराजा मेघरथजी ने धैर्य्य और शातिपूर्वक कहा।

बाज ने नरेश की बात स्वीकार कर ली। छुरी और तराजु मँगवाया। तराजु के एक पल्ले मे कपोत को बिठाया और महाराज स्वय अपने शरीर का मास काट कर दूसरे पल्ले में रखने लगे। यह देख कर राज्य-परिवार हाहाकार कर उठा। रानियाँ, राजकुमार आदि आक्रन्द करने लगे। मन्त्रीगण, सामन्त और मित्रगण नरेन्द्र से प्रार्थना करने लगे,—

"हे, प्रभो ! हे नाथ ! आप यह क्या अनर्थ कर रहे हैं। आपका यह देवोपम शरीर, एक क्षुद्र प्राणी का ही रक्षक नही है, इससे तो सारी पृथ्वी का रक्षण होता है। आप इस एक के लिए अपने मूल्यवान् प्राणो को क्यो नष्ट कर रहे हैं ? सोचो प्रभु ! हम सब के दु ख को देखो। हम पर दया करो। हम भी आप से दया की भीख माँगते हैं। हमे आपके इस दु साहस से महान् दु ख हो रहा है।"

नरेश ने शात और गभीर वाणी से कहा—

"आत्मीयजनो ! यह कबूतर मृत्युभय से भयभीत हो कर मेरी शरण मे आया। मैंने इसे शरण दी। इसकी रक्षा करना मेरा आवश्यक कर्त्तव्य है। यद्यपि मैं इस बाज की उपेक्षा कर के या बन्दी बना कर भी कबूतर को बचा सकता था, किन्तु यह भी भूखा है और अपना भोजन चाहता है। यदि यह केवल वैर या शत्रुता से ही इसे मारने के लिए आता, तो वह बात दूसरी थी। यह मासभक्षी है। इसे मास चाहिए। यदि मैं कबूतर की रक्षा करना चाहता हूँ, तो इसकी भूख को दूर करना भी आवश्यक है। यह मास के विना दूसरी कोई वस्तु नही खाता। अब इसे भूख से तडपने देना भी मुझे इष्ट

नही है। इसके अतिरिक्त इसका पेट भरने के लिए मैं दूसरे पशु को मार कर उसका मास खिलाना भी उचित नही समझता, तब दूसरा मार्ग ही क्या है ?

आप सब अपने मोह एव स्नेह से प्रेरित हैं और इसीसे आपको यह दु.ख हो रहा है। मैं अपने कर्तव्य का पालन कर रहा हूँ। आप धैर्यपूर्वक मुझे अपने कर्तव्य का पालन करने दें।"

मन्त्रीगण समझ गये कि महाराज अपने कर्त्तव्य से डिगने वाले नही हैं। अब क्या करे। वे यह सोच ही रहे थे कि बाज बोल उठा,—

"महाराज ! मेरे पेट मे दर्द हो रहा है। शीघ्रता कीजिए। मुझे जोरदार भूख लगी है। विलम्ब होने पर तेज हुई मेरी जठराग्नि, कही मेरे जीवन को समाप्त कर देगी। आह !"

मन्त्रीगण बाज को समझाने लगे—"अरे बाज ! तू तो कुछ दया कर—हम सब पर। हम तुझे मेवा-मिष्ठान्न आदि जो कुछ तू माँगे वह देने को तय्यार हैं। तू उत्तम वस्तु खा ले—उम्रभर खाता रह। परन्तु महाराज का मास खाने की हठ छोड दे। हम सब पर तेरा बडा उपकार होगा।"

"मुझे तो ताजा मास चाहिए, फिर चाहे वह कबूतर का हो, दूसरे किसी प्राणी का हो, या महाराज का हो। मास के अतिरिक्त मेरे लिए कोई भी वस्तु न तो रुचिकर है, न अनुकूल ही। अब आप बाते करना बन्द कर दें। भूख की ज्वाला मे मेरा रक्त जल रहा है। आह, महाराज ! बड़ा दर्द हो रहा है पेट मे"—बाज भूमि पर लोटने लगा।

महाराजा मेघरथजी अपने हाथ से अपने शरीर का मास काट कर तराजु मे धरते जाते, किन्तु तराजु का पलडा ऊँचा ही रहने लगा। कबूतर का पलडा ऊपर उठा ही नही। वे छुरे से अपना मास काट कर रखते जाते और जनसमूह आक्रन्द करता जाता, परंतु कबूतर का पलडा भारी ही रहा। शरीर के कई भागो का मास काट-काट कर रख दिया। इससे महाराजा को तीव्र वेदना हुई ही होगी, किन्तु वे निरुत्साह नही हुए। उनके भावो मे विचलितता नही आई। एक मन्त्री बोल उठा—

"महाराज ! धोखा है। कोई मायावी शत्रु देव, षड्यन्त्र रच कर आपका जीवन समाप्त करना चाहता है। यदि ऐसा नही होता, तो क्या इतना मास काट कर रख देने पर भी कबूतर का पलड़ा भारी रह सकता है ?"

मन्त्री यो कह रहा था कि वहाँ एक दिव्य मुकुट-कुंडलादि आभूषणधारी देव प्रकट हुआ और महाराज का जय-जयकार करता हुआ बोला—

"जय हो, शरणागत-रक्षक महामानव नरेन्द्र मेघरथ की जय हो, विजय हो। आपकी गुणगाथा देवाधिपति ईशानेन्द्र महाराज ने दूसरे देवलोक की देव-सभा मे गाई। आप देवेन्द्र द्वारा प्रशसित हैं। मैं भी उस देव-सभा में था। मुझे आपकी प्रशंसा सुन कर, देवेन्द्र की बात पर विश्वास नही हुआ। इसलिए परीक्षा करने के लिए यहाँ आया। मार्ग मे मैंने इन दोनो पक्षियो को लडते हुए देखा, तो मैं उनमे प्रवेश कर आपके पास आया और आपकी महान् अनुकम्पा, शरणागत प्रतिपालकता एव दृढ आत्मबल की परीक्षा की। इससे आपको कष्ट हुआ। मै आपसे क्षमा चाहता हूँ। आप मुझे क्षमा करे।"

इस प्रकार देव ने निवेदन किया और राजेन्द्र को स्वस्थ बना कर स्वर्ग मे चला गया।

देव के चले जाने के बाद सामंतो ने महाराजा से पूछा—"स्वामिन् ! यह कबूतर और बाज परस्पर वैर क्यो रख रहे हैं ? ये पूर्वभव मे कौन थे ?" महाराजा मेघरथ, अवधिज्ञान से उनका पूर्वभव जान कर कहने लगे।

"ये दोनो ऐरवत क्षेत्र के पद्मिनीखड नगर के सेठ सागरदत्त के पुत्र थे। ये व्यापारार्थ विदेश गये। विदेश मे इन्हे एक बहुमूल्य रत्न प्राप्त हुआ। उस रत्न को लेने के लिए वे नदी के किनारे लडने लगे। लड़ते-लडते वे दोनो नदी मे गिर पडे और मर कर पक्षी हुए। अब भी दोनो आपस मे लड रहे हैं। अब उस देव का वृत्तात सुनो।

इस जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह मे रमणीय नाम का विजय है। उसमे शुभा नाम की नगरी है। स्तिमितसागर नाम का राजा वहाँ राज करता था। मै पूर्व के पाँचवें भव मे 'अपराजित' नाम का उनका पुत्र था और बलदेव* पद पर अधिष्ठित था। यह दृढरथ उस समय मेरा छोटा भाई 'अनन्तवीर्य' नाम का वासुदेव था। उस समय दमितारि नाम का प्रतिवासुदेव था। उसकी कनकश्री कन्या के लिए हमने उसे युद्ध मे मारडाला था। वह भव-भ्रमण करता हुआ सोमप्रभ नामक तापस का पुत्र हुआ। वह बाल-तप करता रह और मर कर सुरूप नाम का देव हुआ। ईशानेन्द्र ने मेरी प्रशंसा की। उस प्रशसा ने सुरूप देव की आत्मा मे रहा हुआ पूर्वभव का वैर जाग्रत कर दिया। वह देव यहाँ आया और इन पक्षियो मे अधिष्टित हो कर मेरी परीक्षा लेने लगा।"

महाराजा मेघरथ की बात सुन कर बाज और कबूतर को जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ। वे मूच्छित हो कर भूमि पर गिर पडे। राज-सेवको ने उन पर हवा की और पानी

---

* यह वृत्तांत पृष्ट ३१६ पर देखें।

के छिंटे दिये। वे होश मे आये और अपनी भाषा मे बोले,—

"स्वामिन्! आपने हमे अन्धकार मे से निकाला और प्रकाश मे ला कर रख दिया। हमारे पूर्वभव के पाप ने ही हमे इस दुर्दशा मे डाला था। और यहाँ भी हम नरक मे जाने की तय्यारी कर रहे थे। किन्तु आपने हमे नरक की गहरी खाड मे पडने से बचा लिया। अब हमे कुमार्ग से बचा कर सन्मार्ग पर लगाने की कृपा करे, जिससे हमारा उत्थान हो।"

महाराजा ने अवधिज्ञान से उनका आयुष्य और योग्यता जान कर अनशन करने की सूचना की। वे दोनो अनशन कर के मृत्यु पा कर भवनपति देव हुए।

इन्द्रानियों ने परी ा ली

महाराजा मेघरथजी कालान्तर मे शात रस में लीन हो कर पौषध युक्त अष्टम तप कर रहे थे। वे धर्मध्यान मे निमग्न थे। उनकी परम वैराग्यमय दशा की ओर ईशानेन्द्र का ध्यान गया। वे तत्काल बोल उठे—'हे भगवन्! आपको मेरा नमस्कार हो"—यो कहते हुए नमस्कार करने लगे। यह देख कर इन्द्रानियों ने पूछा—"स्वामिन्! आपके सम्मुख असख्य देव नमस्कार करते हैं, फिर ऐसा कौन भाग्यशाली है कि जिन्हे आप नमस्कार कर रहे हैं?"

—"वे महापुरुष कोई देव नही, किन्तु एक भाग्यशाली मनुष्य है। तिरछे लोक में पुण्डरीकिनी नगरी के नरेश मेघरथजी को मैंने नमस्कार किया है। वे अभी धर्मध्यान मे लीन हैं। ये महापुरुष आगामी मानव-भव मे तीर्थंकर पद प्राप्त करेगे। उनका ध्यान इतना निश्चल, अडोल एव दृढ है कि उन्हे चलायमान करने मे कोई भी देव समर्थ नहीं है। वे महापुरुष विश्वभर के विए वंदनीय है।"

इंद्र की बात सुन कर अन्य देवागनाओ के मन मे भी भक्ति उत्पन्न हुई, किन्तु सुरूपा और प्रतिरूपा नाम की दो इन्द्रानियो को यह बात नही रुचि। वे मेघरथजी को चलायमान करने के लिये उनके पास आईं। उन्होने वैक्रेय से परम सुन्दरी एवं देवागना जैसी कुछ युवतियाँ तय्यार की। वे हाव-भाव, तथा कामोद्दीपक विकारी-चेष्टाएँ करने लगी। किंतु महान् आत्मा मेघरथजी अपने ध्यान मे अडोल ही रहे। अन्त मे दोनो इन्द्रानियाँ हारी और वन्दना नमस्कार कर के चली गई। कालान्तर मे तीर्थंकर भगवान् धनरथजी ग्रामानुग्राम विहार करते वहाँ पधारे। महाराजा मेघरथजी सपरिवार भगवान् को वन्दन

करने गए। भगवान् की धर्मदेशना सुन कर उनकी विरक्ति विशेष बलवती हुई। वे युवराज दृढरथ को शासन का भार सौंपने लगे, किन्तु वह भी संसार से विरक्त हो गया था। उसने भी उन के साथ ही प्रव्रजित होने की इच्छा व्यक्त की। छोटे राजकुमार मेघसेन को शासन का भार दिया और युवराज दृढरथ के पुत्र रथसेन को युवराज पद दिया। इसके बाद राजा मेघसेन ने, मेघरथ नरेश का निष्क्रमणोत्सव किया। श्री मेघरथजी के साथ उनके भाई दृढरथ, सात सौ पुत्र और चार हजार राजाओ ने भी निर्ग्रंथ-प्रव्रज्या ग्रहण की। विशुद्ध सयम और उग्र तप करते हुए उन्होने एक लाख पूर्व तक चारित्र का पालन किया तथा विशुद्ध भावो से आराधना करते हुए तीर्थंकर नामकर्म को निकाचित किया। वे अनशन युक्त आयु पूर्ण कर के सर्वार्थसिद्ध महाविमान मे ३३ सागरोपम की स्थिति वाले देव हुए। मुनिराज श्री दृढरथजी भी वही उत्पन्न हुए।

ान्ति ा ा न्म

इस जम्बूद्वीप के भरत-क्षेत्र मे कुरुदेश में हस्तीनापुर नाम का नगर था। वह विशाल नगर उच्च भवनो और ध्वजा-पताकाओ से सुशोभित था। सुशोभित बाजारो, बाग बगीचो, उद्यानो और स्वच्छ जलाशयो की शोभा से दर्शनीय था और धन-धान्य से परिपूर्ण था।

उस नगर पर इक्ष्वाकु वंश के महाराजा 'विश्वसेनजी' का राज्य था। वे प्रताप तीर, न्यायप्रिय और राजाओ के अनेक गुणो से युक्त थे। उनके प्रखर तेज के आ अन्य राजा और शक्तिमान् ईर्षालु सामन्त, दबे रहते और नत-मस्तक हो कर उनकी कृप के इच्छुक रहते थे। उनके आश्रय मे आये हुए लोक, निर्भय और सुखी रहते थे। महाराज विश्वसेनजी के 'अचिरादेवी' नाम की रानी थी। वह रूप लावण्य एवं सुलक्षणो से युक तो थी ही, साथ ही सद्गुणो की खान भी थी। वह सती शीलवती अपने उच्च राजवश क सुशोभित करती थी। महाराजा और महारानी मे प्रगाढ प्रीति थी। उन दोनो का सम सुखपूर्वक व्यतीत हो रहा था। उस समय अनुत्तर विमानो मे मुख्य ऐसे सर्वार्थसिद्ध मह विमान मे मेघरथजी का जीव अपनी तेतीस सागरोपम की सुखमय आयु पूर्ण कर चुका था वह वहाँ से भाद्रपद कृष्णा सप्तमी को भरणी नक्षत्र मे च्यव कर महारानी अचिरादेवी कुक्षि मे उत्पन्न हुआ। महारानी ने चौदह महास्वप्न देखे। महारानी ने स्वप्न

महाराजा से कही। स्वप्न सुन कर महाराज बड़े प्रसन्न हुए। उन्होने कहा—'महादेवी! आपकी कुक्षि मे कोई लोकोत्तम महापुरुष आया है। वह त्रिलोक-पूज्य और परम रक्षक होगा।' प्रात काल भविष्यवेत्ता—स्वप्न-शास्त्रियो को बुलाया गया। उन्होने स्वप्न-फल बतलाते हुए कहा—

"महाराज! आपके इक्ष्वाकु वश को पहले आदि जिनेश्वर और आदि चक्रवर्ती, आदि लोकोत्तम महापुरुषो ने सुशोभित किया। अब फिर कोई चक्रवर्ती सम्राट अथवा धर्म-चक्रवर्ती— तीर्थंकर पद को सुशोभित करने वाली महान् आत्मा का पदार्पण हुआ है। आप महान् भाग्यशाली हैं—स्वामी!"

स्वप्न पाठको का सत्कार कर के और बहुत-सा धन दे कर बिदा किया। उस समय पहले से ही कुरुदेश मे महामारी फैल रही थी। उग्र रूप से रोगातंक फैल चुका था। उस व्यापक महामारी का शमन करने के लिए बहुत-से उपाय किये, किन्तु सभी उपाय व्यर्थ गये। महारानी अचिरादेवी की कुक्षि मे आये गर्भस्थ उत्तम जीव के प्रभाव से महामारी एकदम शान्त हो गई। सर्वत्र ही शान्ति व्याप्त हो गई।

गर्भ स्थिति पूर्ण होने पर ज्येष्ठ मास के कृष्णपक्ष की त्रयोदशी के दिन भरणी नक्षत्र मे—जब सभी ग्रह उच्च स्थान पर थे, पुत्र का जन्म हुआ। उस समय तीनो लोक मे उद्योत हुआ और नारकी जीवो को भी कुछ देर के लिए सुख का अनुभव हुआ। दिशा-कुमारियें आईं, इन्द्र आये और मेरुगिरि पर जन्मोत्सव किया। महाराजा विश्वसेनजी ने भी जन्मोत्सव मनाया। पुत्र के गर्भ मे आते ही महामारी एकदम शात हो गई। इसलिए पुत्र का नाम 'शातिनाथ' दिया गया। यौवनवय प्राप्त होने पर राजकुमार शातिनाथ का अनेक राजकन्याओ के साथ विवाह किया। राजकुमार पचीस हजार वर्ष की वय में आये, तब महाराजा विश्वसेनजी ने राज्य का भार पुत्र को दे दिया और आप अपना आत्महित साधने लगे। श्री शातिनाथजी यथाविधि राज्य का संचालन करने लगे और निकाचित कर्मों के उदय से रानियो के साथ भोग भोगने लगे। सभी रानियो मे अग्र स्थान पर महा-रानी यशोमती थी। उसने एक रात्रि मे स्वप्न मे सूर्य के समान तेजस्वी ऐसे एक चक्र को आकाश से उतर कर मुख मे प्रवेश करते हुए देखा। दृढरथ मुनि का जीव, अनुत्तर विमान से च्यव कर उनकी कुक्षि मे उत्पन्न हुआ। महारानी ने स्वप्न की बात स्वामी से निवेदन की। महाराजा शातिनाथजी अवधिज्ञान से युक्त थे। उन्होने कहा;—'देवी! मेरे पूर्वभव का दृढरथ नाम का मेरा छोटा भाई सर्वार्थसिद्ध महाविमान से च्यव कर तुम्हारी कुक्षि में आया है।' गर्भकाल पूर्ण होने पर पुत्र का जन्म हुआ। स्वप्न मे चक्र देखा था, इसलिए

पुत्र का नाम 'चक्रायुध' रखा। यौवन वय प्राप्त होने पर अनेक राजकुमारियो के साथ राजकुमार का विवाह किया।

ी म्राट

न्याय एवं नीतिपूर्वक राज्य का संचालन करते हुए महाराजा शांतिनाथजी को पचीस हजार वर्ष व्यतीत होने पर, अस्त्रशाला मे चक्ररत्न का प्रादुर्भाव हुआ। महाराजा ने चक्ररत्न का अठाई महोत्सव किया। इसके बाद एक हजार देवो से अधिष्ठित चक्ररत्न, अस्त्रशाला से निकल कर पूर्व-दिशा की ओर चला। उसके पीछे महाराजा शातिनाथजी सेना सहित दिग्विजय करने के लिए रवाना हुए। समुद्र के किनारे सेना का पडाव डाला गया। महाराजा मागध-तीर्थ की दिशा की ओर मुँह कर के सिंहासन पर बैठे। मागधदेव का आसन चलायमान हुआ। अवधिज्ञान से देवने महाराजा को देखा और भावी चक्रवर्ती तथा धर्मचक्रवर्ती जान कर हर्षयुक्त, बहुमूल्य भेंट ले कर सेवा मे उपस्थित हुआ और प्रणाम कर भेंट अर्पण करता हुआ बोला,—"प्रभो। मे मागधदेव हूँ। आपने मुझ पर कृपा की। मैं आपका आज्ञाकारी हूँ और पूर्व दिशा का दिग्पाल हूँ। मैं आपकी आज्ञा का पालन करता रहूँगा।"। महाराजा शातिनाथजी ने देव की भेंट स्वीकार की और योग्य सत्कार कर के बिदा किया। वहाँ से चक्ररत्न दक्षिण-दिशा की ओर गया। वहाँ वरदाम तीर्थ के देव ने भी उसी प्रकार आज्ञा सिरोधार्य की। उसी प्रकार पश्चिम-दिशा का प्रभास तीर्थ-पति देव भी आज्ञाधीन हुआ। इस प्रकार चक्रवर्ती परम्परानुसार दिग्विजय करते हुए और किरातो के उपद्रव का सेनापति द्वारा युद्ध से पराभव करते और आज्ञाकारी बनाते हुए सम्पूर्ण छह खड की साधना की। दिग्विजय का कार्य आठ सौ वर्षों में पूर्ण कर के महाराजा हस्तिनापुर पधारे। आपको चौदह रत्न और नवनिधान की प्राप्ति हुई। देवो और राजाओ ने महाराजा का चक्रवर्तीपन का उत्सव किया और महाराजा शातिनाथजी को इस अव-सर्पिणी काल के पाँचवे चक्रवर्ती घोषित किया। इसके बाद आठ सौ वर्ष कम पचीस हजार वर्ष तक आपने चक्रवर्ती पद का पालन किया।

अब चक्रवर्ती सम्राट श्री शातिनाथजी के ससार त्याग का समय निकट आ रहा था। लोकान्तिक देव आपकी सेवा मे उपस्थित हो कर अपने कल्प के अनुसार निवेदन करने लगे,—"हे भगवन्! अब धर्मतीर्थ का प्रवर्त्तन करिये," इतना कह कर और प्रणाम

कर के वे चले गए। इसके बाद प्रभु ने वर्षीदान दिया और अपने पुत्र राजकुमार चक्रायुध को राज्य का भार सौप कर प्रव्रजित होने के लिए तत्पर हो गए। इन्द्रादि देवो और महाराजा चक्रायुध आदि मनुष्यो ने दीक्षा-महोत्सव किया और ज्येष्ट-कृष्णा चतुर्दशी के दिन भरणी नक्षत्र मे दिन के अंतिम प्रहर मे, बेले के तप से, एक हजार राजाओ के साथ, सिद्ध को नमस्कार कर के प्रव्रज्या ग्रहण की। उसी समय भगवान् को मन पर्यव ज्ञान उत्पन्न हुआ।

महर्षि शातिनाथजी ग्रामानुग्राम विहार करते हुए एक वर्ष बाद हस्तिनापुर पधारे और सहस्राम्र वन उद्यान मे ठहरे। वहाँ नन्दी वृक्ष के नीचे बेले के तप से प्रभु शुक्लध्यान मे लीन थे। पौष मास के शुक्ल पक्ष की नौमी का दिन था। चन्द्र भरणी नक्षत्र मे आया था कि भगवान् के अनादिकाल से लगे आये घाती-कर्म सर्वथा नष्ट हो गए और प्रभु को केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त हो गया। प्रभु सर्वज्ञ-सर्वदर्शी हो गए। इन्द्रो ने प्रभु का केवल महोत्सव किया। समवसरण की रचना हुई। भगवान् ने धर्मदेशना दी। यथा—

र्मदेशना इन्द्रिय-जय

जीवो के लिए अनेक प्रकार के दुखो का मूल कारण यह चतुर्गति रूप संसार है। जिस प्रकार विशाल भवन के लिए स्तंभ आधारभूत होते हैं, उसी प्रकार क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाय रूपी चार स्तभ भी चतुर्गति रूप संसार के आधार के समान हैं। मूल सूख जाने पर वृक्ष अपने-आप सूख जाता है, उसी प्रकार कपायो के क्षीण होते ही ससार अपने-आप क्षीण हो जाता है। किन्तु इन्द्रियो पर अधिकार किये विना कपायो का क्षय होना अशक्य है। जिस प्रकार सोने का शुद्धिकरण, विना प्रज्वलित अग्नि के नही हो सकता, उसी प्रकार इन्द्रिय-दमन के विना कषायो का क्षय नही हो सकता।

इन्द्रिय रूपी चपल एवं दुर्दान्त अश्व, प्राणी को वलपूर्वक खीच कर नरक की ओर ले जाता है। इन्द्रियो के वश मे पडा हुआ प्राणी, कपायो से भी हार जाता है। ये इन्द्रियां, प्राणी को वश मे कर के उसका पतन, बन्धन, वध और घात करवा देती है। इन्द्रियो के आधीन वना हुआ ऐसा कौन पुरुष है जो दु ख-परम्परा से वच गया हो ?

वहुत से शास्त्रो और शास्त्र के अर्थो को जानने वाला भी इन्द्रियो के वश हो कर

बालक के समान चेष्टा करता है । यह कितनी लज्जा की बात है कि इन्द्रिय के वश हो कर भरत महाराज ने अपने भाई बाहुबली पर चक्र चलाया । बाहुबली की जीत और भरतजी की पराजय मे भी इन्द्रियो का ही प्राबल्य था । अरे, जो चरम-भव मे रहे हुए हैं, जिनका यह भव ही अन्तिम है और जो इसी भव मे केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त कर मुक्त होने वाले हैं, वे भी शस्त्रास्त्र ले कर युद्ध करे । क्या यह इन्द्रियो की दुरन्त महिमा नही है ?

प्रचण्ड शक्तिवाली इन्द्रियो से पशु और सामान्य मनुष्य दण्डित हो जाय, तो यह फिर भी समझ मे आ सकता है, किन्तु जो महान् आत्मा, मोह को दबा कर शात कर देते हैं (उपशात-मोह वीतराग भी बाद मे) और जो पूर्वों के श्रुत के पाठी हैं, वे भी इन्द्रियो से पराजित हो जाते हैं, तब दूसरो का तो कहना ही क्या ? यह आश्चर्यजनक बात है । इन्द्रियो के वश मे पडे हुए देव-दानव मनुष्य और तपस्वी भी निन्दित कर्म करते हैं । यह कितने खेद की बात है ?

इन्द्रियो के वश हो कर ही तो मनुष्य अभक्ष्य भक्षण, अपेय पान और अगम्य के साथ गमन करता है । निर्दय इन्द्रियो द्वारा घायल हुए जीव, अपने उत्तम कुल और सदाचार से भ्रष्ट हो कर वेश्याओ का दासत्व करते हैं । उनके नीच काम करते हैं । मोह मे अन्धे बने हुए पुरुषो की परद्रव्य और परस्त्री मे जो प्रवृत्ति होती है, वह जाग्रत इन्द्रियो का विलास है, अर्थात् इन्द्रियाँ जाग्रत हो कर तभी विलास कर सकती है, जब कि मनुष्य मोह मे अन्धा बन जाता है । ऐसे दुराचार के कारण मनुष्य के हाथ-पाँव तथा इन्द्रियो का छेद किया जाता है और मृत्यु को भी प्राप्त हो जाता है ।

समझदार लोग उन्हे देख कर हँसते हैं—जो दूसरो को तो विनय, सदाचार, धर्म और सयम का उपदेश करते हैं, किन्तु स्वयं इन्द्रियो से पराजित हो चुके हैं । एक वीतराग भगवंत के बिना, इन्द्र से ले कर एक कीडे तक सभी प्राणी इन्द्रियो से हारे हुए हैं ।

हथिनी के स्पर्श से उत्पन्न सुख का आस्वादन करने की इच्छा से, हाथी अपनी सूंड को फैलाता हुआ धँसता है और बन्धन मे पड जाता है । अगाध जल मे विचरण करने वाले मत्स्य, धीमर के द्वारा काँटे मे लगाये हुए मास मे लुब्ध हो कर फँस जाते हैं और अपने प्राण गँवा देते हैं । मस्त गजेन्द्र के गडस्थल पर रहे हुए मद के गन्ध पर आसक्त, भ्रमर गजेन्द्र के कर्णताल के आघात से तत्काल मृत्यु को प्राप्त करता है । स्वर्ण-शिखा जैसी दीपज्वाला के दर्शन से मोहित हो कर पतगा, दीपक पर झपट कर जल मरता है । मनोहर

गायन सुनने मे लुब्ध हुआ हिरन, शिकारी के बाण से घायल हो कर जीवन से हाथ धो वैठता है। इस प्रकार एक-एक इन्द्रिय के विषय मे लुब्ध बनने से मृत्यु को प्राप्त होना पडता है, तो एक साथ पांचो इन्द्रियो के वश मे हो जाने वाले का तो कहना ही क्या ? इसलिए वुद्धिमान् मनुष्य को चाहिए कि मन को विषय के विष से मुक्त रख कर इन्द्रियो का दमन करना चाहिये। विना इन्द्रिय-दमन के यम-नियम और तपस्या के द्वारा शरीर को कृश करना व्यर्थ ही है। जो इन्द्रियो के समूह को नही जीतता, उसका प्रतिवोध पाना कठिन है। इसलिए समस्त दु खो से मुक्त होने के लिए इन्द्रियो का दमन करना चाहिए।

इन्द्रिय जय करने का मतलब यह नही कि इन्द्रियो की सभी प्रवृत्ति को सर्वथा बन्द कर देना। ऐसा करने से इन्द्रियो का जय नही होता। अतएव इन्द्रिय की स्वाभाविक प्रवृत्ति मे होने वाले राग-द्वेष से मुक्त रहना चाहिए। इससे इन्द्रियो की प्रवृत्ति भी उनके जय के लिए होती है। ऐसी स्थिति मे इन्द्रियो के पास, उनके विषय रहते हुए भी स्पर्श करना अशक्य हो जाता है। वुद्धिमान् मनुष्य को चाहिए कि इन्द्रियो के विषय मे राग-द्वेष का त्याग कर दे।

संयमी योगियो की इन्द्रियें सदा पराजित एवं दबी हुई ही रहती है। इन्द्रियो के विषय नष्ट हो जाने से आत्मा का हित नही मारा जाता, बल्कि अहित मारा जाता है। इन्द्रियो को जीतने का परिणाम मोक्ष रूप होता है और इन्द्रियो के वश मे होना संसार के लिए है। इन्द्रियो के विषय और इनके वश मे पडने से होने वाले परिणाम का विचार कर के उचित एवं हितकारी मार्ग को ग्रहण करना चाहिए। रुई, मक्खन आदि कोमल और पत्थर आदि कठोर स्पर्श मे जो प्रीति और अप्रीति होती है, वह हेय है। ऐसा सोच कर राग-द्वेष का निवारण कर के स्पर्शनेन्द्रिय को जीतना चाहिए। भक्ष्य पदार्थों के स्वादिष्ट रस और कटु रस मे रुचि और अरुचि का त्याग कर के रसना इन्द्रिय को जीतना चाहिए। घ्राणेन्द्रिय मे सुगन्ध और दुर्गन्ध प्रवेश होते, वस्तु के परिणाम का विचार कर के राग-द्वेष रहित होना। मनोहर सुन्दर रूप अथवा कुरूप को देख कर, होते हुए हर्ष और विषाद को रोक कर चक्षु इन्द्रिय को जीतना चाहिए। वीणादि के मधुर स्वर मे और गधे आदि के कर्ण-कटु स्वर मे, रति-अरति नही करने से श्रोतेन्द्रिय वश मे होती है।

इन्द्रियो का ऐसा कोई अच्छा या बुरा विषय नही है—जिसका जीव ने अनेक वार उपभोग नही किया हो। जीव सभी विषयो का पहले अनेक वार भोग कर चुका और भोग कर दु खी हुआ, तो अव इनकी अधीनता त्याग कर स्वाधीनतापूर्वक वीतराग भाव

का सेवन क्यो नही किया जाय ? शुभ विषय, कभी अशुभ हो जाते हैं और अशुभ विष शुभ हो जाते हैं, फिर राग और द्वेष किस पर करना ?

भले ही कोई विषय रुचिकर लगे या अरुचिकर, किन्तु तात्त्विक दृष्टि से देखन पर पदार्थो मे कभी शुभत्व अथवा अशुभत्व नही होता *। इसलिए जो प्राणी मन क शुद्ध रख कर इन्द्रियो को जीतता है और कषायो को क्षीण करता है, वह स्वल्पकाल मे ही अक्षीण सुख के स्थान ऐसे मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।"

महाराजा चक्रायुध, अपने पुत्र कुरुचन्द्र को राज्य दे कर अन्य पैंतीस राजाओं के साथ दीक्षित हुए। इस देशना के बाद भगवान् के चक्रायुध आदि ९० गणधर हुए और भी बहुत से नर-नारी दीक्षित हुए। बहुतो ने श्रावक व्रत ग्रहण किये और बहुत-से सम्यग् दृष्टि हुए।

हारा । कुरुचन्द्र का पूर्वभव

कालान्तर मे भगवान् विचरते हुए पुन हस्तिनापुर पधारे। महाराजा कुरुचन्द्र प्र के दर्शनार्थ आये। धर्मदेशना सुनने के बाद महाराजा ने जिनेश्वर भगवान् से पूछा,—

"भगवान् ! मैं पूर्वभव के किस पुण्य के उदय से यहाँ राजा हुआ ? यह किस क का फल है कि मुझे प्रतिदिन पाँच वस्त्र और फल आदि भेंट स्वरूप प्राप्त होते हैं और इन वस्तुओ का उपभोग नही कर के अन्य प्रियजनो को देने के लिए रख छोडता हूँ, परन्तु दूसरो को दे भी नही सकता ? यह किस कर्म का उदय है—प्रभो !"

भगवान् ने फरमाया—'कुरुचन्द्र ! पूर्वभव मे किये हुए मुनि-दान का फल यह राज्य-लक्ष्मी है। नित्य पांच वस्तु की भेंट भी इसी का परिणाम है, किन्तु तुम इसक

* जो पदार्थ लोक दृष्टि से शुभ माने जाते हैं, वेही परिस्थिति विशेष मे अशुभ माने जाते हैं विवाहोत्सव के समय मगलगान, वादिन्त्र और कुकुमादि शुभ माने जाते हैं, किन्तु मृत्यु प्रसग पर ये ह वस्तुएँ अप्रिय एव त्याज्य होती है। स्वस्थ और बलवान् मनुष्य के लिए पौष्टिक मिष्टान्न शुभ औ चिरायता तथा कुनैन अशुभ होता है, किन्तु ज्वर पीडित के लिए चिरायता और कुनैन शुभ और गरिष्ट भोजन अशुभ हो जाता है। तीर्थस्थल का जल पवित्र माना जाता हैं, किन्तु वही जल अस्पृश्य स्थान मे अस्पृश्य समझा जाता है। पर्याय परिवर्तन से शुभ वस्तु स्वय अशुभ बन जाती है और अशुभ, शुभ के रूप आ जाती है। अतएव तात्त्विक दृष्टि से शुभत्व अशुभत्व नहीं है।

उपभोग नही करते—यह साधारण पुण्य का फल है। जो वस्तु बहुतजनो के उपभोग के योग्य हो, उसका एक व्यक्ति से भोग नही हो सकता। इसीसे तुझे विचार होता रहता है कि 'मैं यह वस्तु दूसरो को दूंगा।' अब तुम अपना पूर्वभव सुनो।"

इसी जम्बूद्वीप के भरत-क्षेत्र मे, कोशल देश के श्रीपुर नगर मे चार वणिक-पुत्र रहते थे। उनके नाम थे—सुधन, धनपति, धनद और धनेश्वर। चारो मे गाढ मैत्री-भाव था। एकबार चारो मित्र धनोपार्जन के लिए रत्नद्वीप की ओर चले। उनके साथ 'द्रोण' नाम का एक सेवक था। वह भोजन सामग्री उठा कर चलता था। मार्ग मे एक महावन पडता था। अटवी का बहुतसा भाग लाघ जाने पर इनके पास की भोजन-सामग्री कम हो गई। चलते-चलते वृक्ष के नीचे एक ध्यानस्थ मुनि दिखाई दिये। उनके मन मे भक्ति उत्पन्न हुई। उन्होने सोचा—"इन महात्मा को कुछ आहार देना चाहिए"—यह सोच कर उन्होने द्रोण से कहा—"भद्र! इन मुनिजी को कुछ आहार दे दो।" द्रोण ने श्रद्धापूर्वक उच्च भावो से मुनि को प्रतिलाभित किये और महा भोग-फल वाला पुण्य उपार्जन किया। वहाँ से सभी लोग रत्नद्वीप गए और व्यापार से बहुतसा धन संग्रह कर के लौट कर अपने घर आ गए। वे सुखपूर्वक रहने लगे। उन चारो मित्रो मे धनेश्वर और धनपति मायावी थे और द्रोण की भावना उन चारो से विशेष शुद्ध थी। वह द्रोण, आयु पूर्ण कर के तू कुरूचन्द्र हुआ। सुधन मर कर कम्पिलपुर मे 'वसतदेव' नामक वणिक-पुत्र हुआ, धनद, कृतिकापुर मे 'कामपाल' नाम का व्यापारी हुआ, धनपति, शंखपुर मे 'मदिरा' नाम की वणिक-कन्या हुई और धनेश्वर, जयंती नगरी मे 'केसरा' नाम की कन्या हुई।

सुधन का जीव वसंतदेव, यौवन वय मे व्यापार के लिए जयती नगरी मे आया। एकबार चन्द्रोत्सव के समय, केसरा को देख कर वह मोहित हो गया। केसरा भी उस पर मोहित हुई। दोनो मे पूर्वभव का स्नेह जाग्रत हुआ। वसतदेव ने केसरा के भाई जयंतदेव से मैत्री सम्बन्ध जोड़ा और दोनो का एक दूसरे के घर आना-जाना और खाना-पीना होने लगा। एकबार वसतदेव को, कामदेव की पूजा करती हुई केसरा दिखाई दी। जयंतदेव ने स्नेह सहित वसतदेव को पुष्पमाला अर्पण की। यह देख कर केसरा पुलकित हो गई। उसने इसे अच्छा शकुन समझा। केसरा के चेहरे पर के भाव वहाँ खड़ी हुई धायपुत्री प्रियकरा ने देखा और केसरा से कहा—

"तेरे भाई, मित्र का सत्कार करते हैं, तो तू भी उनका सत्कार कर।" यह सुन कर केसरा हर्षित होती हुई बोली,—"तूही सत्कार कर ले।"

प्रियंकरा ने पुष्पादि ग्रहण कर वसंतदेव को देते हुए कहा—"लीजिए, मेरी स्वामिनी की ओर से यह प्रेमपुष्प स्वीकार कीजिए।"

वसंतदेव ने सोचा—'यह युवती भी मुझे चाहती है।' उसने पुष्पादि भेट स्वीकार की और अपने नाम की अंगूठी देते हुए कहा—

"आपकी सखी को मेरी यह तुच्छ भेट दे कर कहो कि—"वे मुझ पर अपना पूण एवं अटूट स्नेह रखे और ऐसी चेष्टा करे कि जिससे दिनोदिन स्नेह बढता रहे।"

केसरा यह बात सुन कर बड़ी प्रसन्न हुई। उसने बड़े आदर के साथ अंगूठी ग्रहण की। रात को वह इन्ही विचारो को लिए सो गई। स्वप्न मे उसने वसंतदेव के साथ अपनी लग्न-विधि होती हुई देखी। वह हर्षावेश मे रोमाचित हो गई। प्रात काल होने पर उसने अपने स्वप्न की बात प्रियकरा से कही। इसी प्रकार का स्वप्न वसतदेव ने भी देखा। प्रात.काल होने पर प्रियकरा ने वसंतदेव के पास जा कर केसरा के स्वप्न की बात सुनाई। वसतदेव को निश्चय हो गया कि अब मेरे मनोरथ सिद्ध हो जावेगे। उसने प्रियकरा का सत्कार किया। अब प्रियंकरा दोनो के सन्देश लाती ले जाती थी। इस प्रकार दोनो का काल व्यतीत होने लगा।

एक बार वसंतदेव को पचनन्दी सेठ के यहाँ से मंगल वाजे बजने की ध्वनि सुनाई दी। वह चौंका। पता लगने पर मालूम हुआ कि पंचनन्दी सेठ की पुत्री केसरा का सम्बन्ध, कान्यकुब्ज के निवासी सुदत्त सेठ के पुत्र वरदत्त के साथ हुआ है। इसी निमित्त वादिन्त्र बज रहे हैं। यह सुनते ही वसंतदेव हताश हो गया। किन्तु उसी समय प्रियंकरा आई और कहने लगी,—

"आप घबडाइये नही। मेरी सखी ने कहलाया है कि—'मेरे पिताजी ने मेरी इच्छा को जाने विना ही जो यह सम्बन्ध किया है, वह व्यर्थ रहेगा। मैं आप ही की बनूंगी। यदि मेरा मनोरथ सफल नहीं हुआ, तो मैं प्राण त्याग दूंगी, परन्तु आपके अतिरिक्त किसी दूसरे मे लग्न नही करूँगी। आप मुझ पर पूर्ण विश्वास रखें।"

प्रियंकरा की वात सुन कर वसंतदेव को सतोष हुआ। उसने भी कहा कि 'मैं भी केसरा के लिए ही जीवित रहूँगा। यदि केसरा मेरी नही हो कर दूसरे की बनेगी, तो मैं भी प्राण त्याग दूंगा।'

इस प्रकार दोनो का कुछ काल व्यतीत हुआ, किंतु उनका मनोरथ सफल नहीं हो रहा था। एक दिन वसंतदेव ने देखा कि केसरा के साथ लग्न करने के लिए वरदत्त

बरात ले कर आ गया है। यह देख कर वह एकदम निराश हो गया और शीघ्रता से भाग कर नगर के बाहर एक उद्यान मे आया। वह एक वृक्ष पर चढ गया और उसकी डाल पर रस्सी बांध कर, गले मे फन्दा डालना ही चाहता था कि लतागृह मे से एक मनुष्य निकला और फन्दा काटते हुए बोला;—

"अरे ओ साहसी! यह क्या कर रहे हो? मरने से क्या होगा? ऐसा दुष्कृत्य कर के मनुष्य भव को समाप्त नही करना चाहिए। शान्त होओ और समझबूझ से काम लो।"

वसन्तदेव चौंका। उसने कहा—"महानुभाव! मै हताश हो गया हूँ। मेरी प्रिया मुझे प्राप्त नही हो कर दूसरे को दी जा रही है। अपने मनोरथ मे सर्वथा विफल रहने के बाद जीवित रहने का सार ही क्या है? मृत्यु मे तो मै इस दुःख से मुक्त हो जाऊँगा। दुःख से मुक्त होने के लिए ही मै मर रहा था। आपने इसमे विघ्न खड़ा कर दिया।" इस प्रकार कह कर उसने अपने मरने का कारण बताया। वसंतदेव की बात सुन कर वह पुरुष बोला—

"भद्र तेरा दुःख तो गहरा है, किन्तु मरना उचित नही है। मर कर तू क्या प्राप्त कर लेगा? यदि जीवित रहेगा, तो इच्छित कार्य की सिद्धि के लिए कुछ प्रयत्न कर सकेगा। यदि प्रयत्न सफल नही हो, तो भी मरना उचित नही है। इस प्रकार मरने से बुरे कर्मों का बन्ध होता है और दूसरी गति मे चले जाने से प्रिय के दर्शन से भी वंचित हो जाता है। मै स्वयं भी दुःखी हूँ। मेरी इच्छित वस्तु प्राप्त होने योग्य होते हुए भी उपाय के अभाव मे भटक रहा हूँ—इसी आशा पर कि जीवित रहा, तो कभी सफल हो सकूँगा। मैं अपनी बात तुझे सुनाता हूँ।"

"मै कृतिकापुर का रहने वाला हूँ और मेरा नाम कामपाल है। मै देशाटन के लिए निकला था। घूमता हुआ शंखपुर आया। वहाँ यक्ष का उत्सव हो रहा था। मै भी उत्सव देखने गया। वहाँ मुझे एक सुन्दर युवती दिखाई दी। मै उसके सौन्दर्य को स्नेहयुक्त निरखता ही रहा। उस युवती ने भी मुझे देखा। वह भी मुझे देख कर मुग्ध हो गई। उसने मेरे लिए अपनी सखी के साथ पान भेजा। पान ले कर बदले में कुछ देने की बात मे सोच ही रहा था कि इतने मे एक उन्मत्त हाथी, स्तंभ तुड़ा कर भागता हुआ उस कन्या की ही ओर आया। भयभीत हो कर उस सुन्दरी का सारा परिवार भाग गया। वह युवती भयभ्रान्त एवं दिग्मूढ हो कर वही खडी रही। हाथी उसे सूंड से पकड़ने ही वाला था कि मैने हाथी के मर्मस्थान पर लकडी से चोट की। उस चोट से वह हाथी मेरी ओर घूमा। किन्तु मै तत्काल चतुराई से हाथी को भुलावे मे डाल कर और उस

सुन्दरी को उठा कर निर्विघ्न स्थान पर चला गया। थोडी देर मे उसका परिवार भी वहाँ आ गया और मुझे सुन्दरी 'मदिरा' का रक्षक जान कर, सभी मेरी स्तुति करने लगे। उधर मदिरा की सखिये उसे पुन आम्रकुज मे ले गई। किन्तु वहाँ भी हाथी के उपद्रव से हलचल हुई और भगदड़ मची। इससे सभी बिखर कर इधर-उधर हो गए। खोज करने पर भी मैं उस सुन्दरी को नही पा सका और भटकता हुआ यहाँ आया। तुम्हारा हमारा दु ख समान है। प्रयत्न करने पर सफलता मिल सकती है। मै तुम्हे एक उपाय बतलाता हूँ। रीति के अनुसार, तुम्हारी प्रिया केसरा, लग्न के पूर्व कामदेव की पूजा करने के लिए आवेगी ही। अपन दोनो कामदेव के मन्दिर मे छिप जावे। जब केसरा आवे, तो उसके वस्त्र, मै पहन कर केसरा के रूप मे चला जाऊँगा और तुम केसरा को ले कर दूर चले जाना। इस प्रकार तुम्हारा कार्य सरलता से सफल हो जायगा।"

वसतदेव को इस बात से सतोष हुआ। उसने इस योजना को क्रियान्वित करने का निश्चय किया, किन्तु इसमे रहे हुए खतरे का विचार कर के वह चौका। उसने पूछा— "महानुभाव ! फिर आप उस जाल से कैसे निकलेगे ?"

—"मै अपने बचाव की युक्ति निकाल लूंगा। मुझे आशा है कि तुम्हारा काम सफल होते ही मेरा काम भी बन जायगा। फिर तुम भी तो मुझे सहायता करोगे ?"

दोनो प्रसन्न हो कर वहा से बाजार मे आ गए और सध्या के समय कामदेव के मन्दिर मे जा कर छुप गए। थोडी देर मे केसरा भी गाजे-बाजे के साथ वहाँ आई। नियम के अनुससार उसकी सखिया मन्दिर के बाहर ही रुक गई और वह अकेली पूजा की थाल ले कर मन्दिर मे आई। उसने द्वार बन्द कर दिए और देव को नमस्कार करती हुई बोली,—

"देव ! यह मेरे साथ कैसा अन्याय करते हो ? आप तो सभी प्रेमियो के मनोरथ पूरे करने वाले हो, फिर मैं ही निराश क्यो रहूँ ? मैने आपका क्या अपराध किया ? यदि आप मुझ पर अप्रसन्न ही हैं, तो मैं अपनी खुद की बलि आपके चरणो मे चढाती हूँ। इससे प्रसन्न हो कर मुझे अगले भव मे वसंतदेव की अर्धांगना बनाना।"

इतना कह कर वह गले मे पाश डालने लगी। यह देख कर छुपे हुए वसंतदेव और कामपाल बाहर निकले। केसरा यह देख कर चौंकी और स्तब्ध रह गई। किन्तु क्षणभर के बाद ही वह हर्षातिरेक से उत्फुल्ल हो गई। उसने अपना वेश उतार कर कामपाल को दिया। कामपाल केसरा का वेश पहन कर बाहर निकला और पालकी मे जा बैठा।

वसंतदेव पुरुषवेशी केसरा के साथ वहा से निकल कर एक ओर चल दिया।
कामपाल मौनयुक्त आ कर लग्नमंडप मे बैठ गया। प्रियंकरा ने कहा—"वहिन केसरा! अब चिन्ता छोड कर भगवान् अनंगदेव का ध्यान करती रहो,-जिससे सुखमय जीवन व्यतीत हो।"

केसरा के विवाह मे उसके मामा की पुत्री 'मदिरा' भी आई हुई थी। वह केसरा के प्रेम सम्बन्ध की वात सुन चुकी थी। उसने केसरा-वेशी कामपाल के कान मे कहा;—

"वहिन! तेरा मनोरथ सफल नही हुआ। इसका मुझे दुख है। मैं भी हतभागिनी हूँ। मेरा प्रिय भी मेरे मन मे स्नेहामृत का सिंचन कर के ऐसा गया कि फिर देखा ही नही। भाग्य की वात है।"

कामपाल ने देखा—यह तो वही मदिरा है कि जिसके वियोग मे वह भटक रहा था। उसने संकेत कर के मदिरा को एकान्त मे बुलाया। वे दोनो प्रच्छन्न द्वार से निकल कर चले गये और वसतदेव और केसरा के साथ दूसरे नगर मे रहने लगे।

"राजन्! वसतदेव और कामपाल—ये दोनो पूर्व-भव के स्नेह से तुम्हे पाँच वस्तुएँ भेंट करते हैं। ये वस्तुएं तुम प्रियजनो के साथ भोगने मे समर्थ वनोगे। इतने दिन तुम प्रियजन को नही जानते थे, इसलिए उन वस्तुओ का भोग नही कर सके।"

प्रभु की वाणी सुन कर राजा को और उन सम्वन्धियो को जाति-स्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ। राजा भगवान् को वन्दना कर के पूर्वभव के उन सम्वन्धियो के साथ राजभवन मे आया। भगवान् अन्यत्र विहार कर गए।

भगवान् का निर्वाण

केवलज्ञान उत्पन्न होने के वाद भगवान् २४९९९ वर्ष तक विचरते रहे। निर्वाण समय निकट आने पर प्रभु सम्मेदशिखर पर्वत पर पधारे और ९०० मुनियो के साथ अनशन किया। एक मास के अन्त मे ज्येष्ठ-कृष्णा १३ को, भरणी नक्षत्र मे उन मुनियो के साथ भगवान् मोक्ष पधारे। भगवान् का कुल आयुष्य एक लाख वर्ष का था। इसमे से कुमार अवस्था, मांडलिकराजा, चक्रवर्तीपन और व्रतपर्याय मे पच्चीस-पच्चीस हजार वर्ष व्यतीत

हुए। श्रीधर्मनाथ जिनेश्वर के बाद पौन पल्योपम कम तीन सागरोपम बीतने प भ० शांतिनाथजी हुए।

भगवान् शांतिनाथजी के चक्रायुध आदि ९० गणधर हुए ‡। ६२००० सा ६१६०० साध्वियाँ, ८०० चौदह पूर्वधर, ३००० अवधिज्ञानी, ४००० मनःपर्यवज्ञानी ४३०० केवलज्ञानी, ६००० वैक्रेय लब्धिवाले, २४०० वादी विजयी, २९०००० श्राव और ३९३००० श्राविकाएँ थी।

सोलहवें तीर्थंकर

गवान्

॥ शांति ी चरित्र ॥

---

‡ ग्रंथकार ३६ गणधर होना लिखते हैं, किन्तु समवायाग सूत्र में ९० लिखे हैं।

भ कुंथुनाथजी

इस जम्बूद्वीप के पूर्व-विदेह के आवर्त्त विजय में खड्गी नामक नगरी मे सिंहावह राजा राज करता था। वह उत्तम गुणो से सम्पन्न, धर्मधुरन्धर, धर्मियो का आधार, न्याय का रक्षक, पापमर्दक और समृद्धियो का सर्जक था। उसका प्रभाव इन्द्र के समान था। वह धर्म-भावना से युक्त हो ससार व्यवहार चलाता था। कालान्तर मे श्री सवराचार्य के उपदेश से प्रभावित हो कर उसने श्रमण दीक्षा स्वीकार कर ली और उत्तम आराधना से तीर्थंकर नामकर्म को निकाचित कर लिया। काल के अवसर उत्तम भावो मे मृत्यु पा कर सर्वार्थसिद्ध महाविमान मे अहमिन्द्र हुआ।

जम्बूद्वीप के इस भरत-क्षेत्र मे हस्तिनापुर नाम का महानगर था। महाराजा शूरसेन वहाँ के प्रभावशाली नरेश थे। वे धर्मात्मा, उच्च मर्यादा के धारक, न्याय और नीति के पालक, पोषक और रक्षक थे। 'श्रीदेवी' उनकी महारानी थी। वह भी कुल, शील, सौन्दर्य एव औदार्यादि उत्तम गुणो से सुशोभित थी। महाराजा और महारानी का जीवन सुखपूर्वक व्यतीत हो रहा था।

सभी देवलोको मे उत्तमोत्तम सर्वार्थसिद्ध नामक महाविमान का तेतीस सागरोपम का आयुष्य पूर्ण कर के सिंहावह मुनिराज का जीव, श्रावण मास के कृष्ण पक्ष की नौमी को, कृतिका नक्षत्र मे महारानी श्रीदेवी के गर्भ मे उत्पन्न हुआ। महारानी ने चौदह महास्वप्न देखे। गर्भकाल पूर्ण होने पर वैशाख-कृष्णा चतुर्दशी को कृतिका नक्षत्र के योग

मे, उच्च ग्रहो की स्थिति मे पुत्र का जन्म हुआ । इन्द्रादि देवो ने और छप्पन कुमारिका आदि देवियो ने जन्मोत्सव किया ।

गर्भ के समय माता ने कुथु नाम का रत्न-सचय देखा, इसलिए पुत्र का नाम 'कुंथुनाथ' दिया । यौवनवय प्राप्त होने पर अनेक राजकन्याओ के साथ कुमार का विवाह किया गया । जन्म से २३७५० वर्ष तक राजकुमार रहे । इसके बाद महाराजा ने अपना राज्यभार राजकुमार कुथुनाथ को दिया । २३७५० वर्ष तक कुंथुनाथजी माडलिक राजा रहे । इसके बाद आयुधशाला मे चक्ररत्न प्रकट हुआ । आपने भी पूर्व के चक्रवर्तियो के समान दिग्विजय कर के विधिपूर्वक चक्रवर्ती सम्राट हुए । दिग्विजय मे छह सौ वर्ष का काल लगा । आपने २३७५० वर्ष तक चक्रवर्ती पद का भोग किया । इसके बाद वर्षीदान दे कर वैशाख-कृष्णा पंचमी को दिन के अन्तिम प्रहर मे, कृतिका नक्षत्र के योग मे एक हजार राजाओ के साथ दीक्षित हुए । दीक्षा लेने के बाद लगभग सोलह वर्ष छद्मस्थ अवस्था मे रहे । आप बिहार करते हुए पुन हस्तिनापुर के सहस्राम्र वन उद्यान मे पधारे और तिलक वृक्ष के नीचे बेले के तपयुक्त ध्यान करने लगे । घातीकर्म जर्जर हो चुके थे । ध्यान की धारा वेगवती हुई और धर्मध्यान से आगे बढ कर शुक्लध्यान मे प्रवेश कर गई । जर्जर बने हुए घातीकर्मों की जडें, शुक्लध्यान के महाप्रवाह से हिलने लगी । मोह का महा विषवृक्ष डगमगाने लगा । महर्षि के महान् आत्मबल से शुक्ल-ध्यान की महाधारा ने बाढ का रूप ले लिया । अब विचारा मोह महावृक्ष कहा तक टिक सकता था ? आत्मा के अनन्त बल के आगे उस जड की क्या हस्ति थी ? उखड गयी उसकी जड और फिक गया मुर्दे की तरह एक ओर । मोह महावृक्ष के नष्ट होते ही ज्ञानावरणादि तीन घातीकर्म भी उखड गए । चैत्र मास की शुक्ला तृतीया का दिन था और कृतिका नक्षत्र का योग था । प्रभु सर्वज्ञ-सर्वदर्शी हो गए । केवलज्ञान महोत्सव हुआ । तीर्थ की स्थापना हुई । प्रभु ने अपनी प्रथम धर्मदेशना मे फरमाया,—

धर्मदेशना—मनः द्धि

"वह संसाररूपी समुद्र, चौरासी लाख योनीरूप जलभँवरियो • से महान् भयकर है । भवसागर को तिरने के लिए मन शुद्धि रूपी सुदृढ जहाज ही समर्थ है । मन शुद्धि मोक्ष

• पानी का चक्राकार फिरना, जिसमे पड कर जहाज भी डूब-टूट कर नष्ट हो जाते हैं ।

मार्ग को वताने वाली ऐसी दीप-शिखा है, जो कभी नही बुझती। जहाँ मन शुद्धि है, वहाँ अप्राप्त गुण भी अपने-आप प्राप्त हो जाते हैं और प्राप्त गुण स्थिर रहते हैं। इसलिए बुद्धिमान् मनुष्यो को चाहिये कि अपने मन को सदैव शुद्ध रखे। जो लोग मन को शुद्ध किये बिना ही मुक्ति के लिए तपस्या करते हैं, वे सफल नही होते। जिस प्रकार जहाज छोड कर, भुजवल से ही महासमुद्र को पार करना अशक्य है, उसी प्रकार मन शुद्धि के विना मुक्ति पाना सर्वथा अशक्य है। जिस प्रकार अन्धे के लिए दर्पण व्यर्थ है, उसी प्रकार मन को दोष-रहित किये विना तपस्वियो की तपस्या व्यर्थ हो जाती है। जोरदार ववंडर (चक्राकार वायु) राह चलते प्राणियो को उडा कर दूसरी ओर फेंक देती है, उसी प्रकार मोक्ष के ध्येय से किया हुआ तप भी, चपलचित्त तपस्वी को ध्येय के विपरीत ले जाता है अर्थात् सिद्धगति मे नही ले जा कर दूसरी गति मे ले जाता है।

मन रूपी निशाचर, निरंकुश एव नि शक हो कर तीनो लोक के प्राणियो को संसार के अत्यन्त गहरे गड्ढे मे डाल देता है। मन का अवरोध किये विना ही जो मनुष्य, योग पर श्रद्धा रखता है, तो उसकी श्रद्धा उस पंगु की तरह व्यर्थ एवं हास्यास्पद है जो अपने पाँवो से अटवी लाघ कर, नगर-प्रवेश करना चाहता है।

मन का निरोध करने से सभी कर्म का निरोध (संवर) हो जाता है और मन का निरोध नही करने वाले के सभी कर्म वहुत वड़ी मात्रा मे आते रहते हैं। यह मन रूपी वन्दर वडा ही लम्पट है। यह एक स्थान पर स्थिर नही रहता और विश्वभर में भटकता ही रहता है। जिन्हे मुक्ति प्राप्त करने की इच्छा है, उन्हे चाहिए कि मन रूपी मर्कट को यत्नपूर्वक अपने अधिकार मे रखे और दोषो को दूर कर मन को शुद्ध वना ले। विना मन शुद्धि के तप, श्रुत, यम और नियमो का आचरण कर के कायाक्लेश उठाना—काया को दण्डित करना व्यर्थ है। मन की शुद्धि के द्वारा राग-द्वेष को जीतना चाहिए, जिससे भावो की मलिनता दूर होती है और स्वरूप मे स्थिरता आती है।

'केवलज्ञान के वाद' २३७३४ वर्ष तक प्रभु, तीर्थंकरपने विचर कर भव्य जीवो का उपकार करते रहे। निर्वाण का समय निकट आने पर प्रभु एक हजार मुनिवरो के साथ सम्मेदशिखर पर्वत पर पधारे और एक हजार मुनिवरो के साथ अनशन किया। वैशाख-कृष्णा प्रतिपदा को कृतिका नक्षत्र के योग मे, एक मास के अनशन से सभी मुनियो के साथ मोक्ष पधारे। भगवान् का कुल आयु ९५००० वर्ष का था। भ. श्री शांतिनाथजी के

निर्वाण के बाद अर्द्ध पल्योपम काल व्यतीत होने पर भ. कुंथुनाथजी मोक्ष पधारे।

प्रभु के स्वयंभू आदि सेतीस * गणधर हुए। ६०००० साधु, ६०६०० साध्वियाँ, ६७० चौहह पूर्वधर, २५०० अवधिज्ञानी, ३३४० मन.पर्यंयज्ञानी, ३२०० केवलज्ञानी, ५१०० वैक्रिय-लब्धिवाले, २००० वाद-लब्धिवाले, १७९००० श्रावक और ३८१००० श्राविकाएँ हुईं।

—। ।—

सतरहवें तीर्थं

न

॥ कुंथु ी रित्र सम्पू ॥

* ग्रंथकार ३५ गणधर होना लिखते हैं, परन्तु समवायाग मे ३७ लिखें हैं।

भ अरनाथ स्वामी

जम्बूद्वीप के पूर्व-विदेह मे 'वत्स' नाम का विजय है। उसमे सुसीमा नाम की नगरी थी। 'धनपति' नरेश वहाँ के शासक थे। वे दयालु, नम्र और शात स्वभाव वाले थे। उनके राज्य मे सर्वत्र शान्ति और सुख व्याप्त थे। उन उदार हृदय नरेश के मन-मन्दिर मे जिनधर्म का निवास था। नरेश ने ससार से विरक्त हो कर संवर नाम के सयनी के समीप प्रव्रज्या स्वीकार कर ली। साधना करते हुए उन्होने तीर्थंकर नाम कर्म को निकाचित कर लिया और समाधिभाव मे काल कर के सर्वोपरि ग्रैवेयक मे अहमेन्द्र के रूप मे उत्पन्न हुए।

जम्बूद्वीप के भरत-क्षेत्र मे हस्तीनापुर नाम का नगर था। वहाँ के नगर निवासी भी समृद्ध और राजसी ठाठ से युक्त थे। राजाधिराज 'सुदर्शन' उस नगर के अधिपति थे। 'महादेवी' उनकी पटरानी थी। वह महिलाओ के उत्तमोत्तम गुणो और णों से युक्त थी।

मुनिराज श्री धनपतिजी के जीव ने ऊपर के ग्रैवेयक का आयु पूर्ण कर के फाल्गुन शुक्ला द्वितिया को रेवती नक्षत्र मे च्यव कर, राजमहिषी महादेवी की कुक्षी मे उत्पन्न हुआ। महारानी ने चौदह महास्वप्न देखे। गर्भकाल पूर्ण होने पर सुकुमार पुत्र का जन्म हुआ। जन्मोत्सव आदि सभी कार्य तीर्थंकर जन्म के अनुसार हुए। माता ने स्वप्न मे चक्र के आरे देखे थे, इसलिए पुत्र का नाम 'अर' रखा गया। यौवनवय प्राप्त होने पर अनेक राजकुमारियो के साथ विवाह किया गया। जन्म से २१००० वर्ष व्यतीत होने पर, महाराज

सुदर्शनजी ने सारा राज्यभार कुमार अरनाथ को दे दिया। २१००० वर्ष तक आप मांडलिक राजा के पद पर रहे। उसके बाद चक्ररत्न की प्राप्ति हुई और छह खड पर विजय प्राप्त करने मे ४०० वर्ष लगे। इसके बाद आप २०६०० वर्ष तक चक्रवर्ती सम्राट के रूप मे राज करते रहे। इसके बाद वर्षीदान दे कर और अपने पुत्र अरविंद को राज्य का भार सौप कर मार्गशीर्ष-शुक्ला एकादशी को रेवती नक्षत्र मे दिन के अन्तिम प्रहर मे, एक हजार राजाओ के साथ, बेले के तप से प्रव्रजित हुए। तीन वर्ष तक आप छद्मस्थ विचरते रहे। फिर उसी नगर के सहस्राम्रवन मे, आम्रवृक्ष के नीचे ध्यान धर के खडे रहे। कार्तिक-शुक्ला द्वादशी को रेवती नक्षत्र मे प्रभु को केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त हुआ। समवसरण की रचना हुई। प्रभु ने अपने प्रथम धर्मोपदेश मे कहा,—

राग-द्वेष त्याग

"संसार मे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, इन चारो पुरुषार्थों मे एक मोक्ष पुरुषार्थ ही ऐसा है कि जिसमे सुख से लबालब भरा हुआ सागर हिलोरे ले रहा है। उसमे एकान्त सुख ही सुख है, दु ख का एक सूक्ष्म अंश भी नही है। यह मोक्ष पुरुषार्थ, ध्यान की साधना से सिद्ध होता है, किन्तु ध्यान की साधना तभी हो सकती है, जब कि मन अनुकूल हो। मन की अनुकूलता के विना ध्यान नही हो सकता। जो योगी पुरुष हैं, वे तो मन को आत्मा के अधिकार मे रखते हैं, किन्तु रागादि शत्रु ऐसे हैं, जो मन को अपनी ओर खीच कर पुद्गलाधीन कर देते है। यदि सावधानीपूर्वक मन का निग्रह कर के शुभ परिणति मे लगाया हो, तो भी किंचित् निमित्त पा कर, रागादि शत्रु पिशाच की तरह वारम्वार छल करते हुए अपना अधिकार जमाने का प्रयत्न करते हैं। राग-द्वेष रूपी अन्धकार से अन्धे बने हुए जीव को अज्ञान, अधोगति मे ले जा कर नरक रूपी खड्डे मे गिरा देता है। द्रव्यादि मे प्रीति और रति (आसक्ति) राग है और अप्रीति और अरति (अरुचि—घृणा) द्वेष है। यह राग और द्वेष ही सभी प्राणियो के लिए दृढ वन्धन रूप है। यही सभी प्रकार के दु खो का मूल है। समार मे यदि राग-द्वेष नही हो, नो सुख मे कोई विस्मय नही होता और दु ख में कोई कृपणता नही होता, तथा सभी जीव मुक्ति प्राप्त कर लेते। राग के अभाव मे द्वेष और द्वेष के अभाव में राग रहता ही नही। इन दोनो मे से एक का त्याग कर दिया जाय, तो दोनो का त्याग हो जाता है। कामादि दोष, राग के परिवार में हैं और

मिथ्याभिमान आदि द्वेष का परिवार है। मोह, राग और द्वेष का पिता, बीज, नायक अथवा परमेश्वर है। यह मोह, रागादि से भिन्न नही है। इसलिए समस्त दोषो का पितामह (दादा) मोह ही है। इससे सब को सावधान ही रहना चाहिए। संसार मे राग-द्वेष और मोह—ये तीनो दोष ही हैं। इनके सिवाय और कोई दोष नही है। ये त्रिदोष ही संसार समुद्र मे परिभ्रमण करने के कारण है। जीव का स्वभाव तो स्फटिक रत्न के समान स्वच्छ एव उज्ज्वल है, किन्तु इन तीनो दोषो के कारण ही जीव के विविध रूप हुए हैं।

अहा! इस विश्व के आध्यात्मिक राज्य मे कैसी अराजकता फैल रही है। राग-द्वेष और मोह रूपी भयंकर डाकू, जीवो के ज्ञान रूपी सर्वस्व तथा स्वरूप-स्थिरता रूपी महान् सम्पत्ति को दिन-दहाडे, सबके सामने लूट लेते है। जो जीव निगोद मे हैं और जो शीघ्र ही मुक्ति प्राप्त करने वाले हैं, उन सब पर मोहराज की निर्दय एवं लुटारु सेना टूट पडती है। क्या मोहराज को मुक्ति के साथ शत्रुता है, या मुमुक्षु के साथ वैर है, कि जिससे वह जीव का मुक्ति के साथ होते हुए सम्बन्ध मे बाधक बन रहा है?

आत्मार्थी मुनिवरो को न तो सिंह का भय है, न व्याघ्र, सर्प, चोर, अग्नि और जल का ही। वे रागादि त्रिदोष से ही भयभीत हैं, क्योकि ये इस भव और पर भव मे दुःखी करने वाले हैं। संसार से पार होने का महासंकट वाला मार्ग, महायोगियो ने ही अपनाया है। इस मार्ग के दोनो ओर राग-द्वेष रूपी व्याघ्र और सिंह खडे है। आत्मार्थी मुनिवरो को चाहिए कि प्रमाद रहित और समभाव सहित हो कर इस मार्ग पर चले और राग-द्वेष रूपी शत्रु को जीते।"

कुंभ आदि ३३ गणधर हुए। संघ की स्थापना हुई। प्रभु ग्रामानुग्राम विहार करने लगे।

वीर ा

भ० अरनाथ स्वामी ग्रामानुग्राम विचरते हुए 'पद्मिनीखड' नाम के नगर के बाहर पधारे। समवसरण मे एक वामन जैसा ठिंगना दिखाई देनेवाला पुरुष आया और धर्मोपदेश सुनने लगा। देशना के बाद सागरदत्त नाम के एक सेठ ने पूछा—"भगवन्! मैं अत्यन्त दुःखी हूँ। मेरी पुत्री प्रियदर्शना, रूप, यौवन, कला और चतुराई मे परम कुशल है। उसके योग्य वर नही मिल रहा था। मैं और मेरी पत्नी बडे चिन्तित थे। एक दिन

मैं बाजार जा रहा था। मुझे ताम्रलिप्ति नगरी के सेठ ऋषभदत्त मिले। साधर्मीपन के नाते वे मेरे पूर्व-परिचित एवं मित्र थे। एक दिन मै उन्हें अपने घर लाया। वे मेरी पुत्री को घुर-घुर कर देखने लगे। उन्होने मुझ से पूछा—'यह किसकी पुत्री है?' मैने कहा—'मेरी है।' उन्होने कहा—'मेरा पुत्र वीरभद्र जवान है। रूप, कला, विद्या, नीति एव साहस आदि गुणो मे वह अजोड है। कामदेव के समान रूपवान् है। मै उसके योग्य कन्या खोज रहा हूँ। किन्तु उसके योग्य कन्या मुझे आज तक नही मिली। आपकी पुत्री मुझे उसके सर्वथा योग्य लगती है। यदि आप स्वीकार करे, तो यह सम्बन्ध अच्छा और सुखदायक रहेगा।'

मै भी योग्य वर की तलास मे ही था। मैने उनकी बात स्वीकार कर ली और कालान्तर मे शुभ मुहूर्त मे प्रियदर्शना का लग्न वीरभद्र के साथ हो गया। उनका जीवन सुखपूर्वक बीत रहा था। कुछ दिन पूर्व मैने सुना कि 'वीरभद्र, प्रियदर्शना को सोती हुई छोड कर कहीं चला गया है।' मै इस दु ख से दु खी हूँ। अभी यह वामन उसका समाचार लाया, किन्तु यह स्पष्ट कुछ नही कहता है। हे प्रभो! आप कृपा कर के उसका वृत्तान्त बताने की कृपा करे।

"सेठ! तुम्हारे जामाता वीरभद्र को उस रात विचार हुआ कि—'मैने इतनी कला और निपुणता प्राप्त की। किन्तु उसका कोई उपयोग नही हो रहा है। यहाँ मेरे पिता आदि के सामने अपना पराक्रम प्रकट करने का अवसर ही नही मिलता। इसलिए यहाँ से विदेश चला जाना अच्छा है। विदेश मे अपनी विद्या और योग्यता को व्यवहार मे लाने का अच्छा अवसर मिलेगा।' इस प्रकार विचार कर और प्रियदर्शना को नीद मे सोई हुई छोड कर वह निकल गया और चलता-चलता रत्नपुर नगर मे पहुँचा। बाजार मे घूमते हुए वह शख नाम के सेठ की दुकान पर पहुँचा। सेठ ने वीरभद्र का चेहरा देख कर समझ लिया कि यह कोई विदेशी है और सुलक्षणो वाला है। सेठ ने प्रसन्नता से वीरभद्र को बुला कर अपने पास बिठाया और परिचय पूछा। वीरभद्र ने कहा—'मैं ताम्रलिप्ति नगरी से अपने घर से रुष्ट हो कर चला आया हूँ।' सेठ ने कहा—"इस प्रकार चुपके से घर छोड कर निकलजाना उचित तो नही है, किन्तु तुम यहाँ आगये हो, तो प्रसन्नता से मेरे घर रहो। मेरे भी कोई पुत्र नही है। तुम इस विपुल सम्पत्ति का मेरे बाद स्वामी होने के योग्य हो।"

वीरभद्र ने कहा—"महाभाग! मै अपने घर से निकला, तो यह नये पिता का घर मेरे लिए तय्यार मिला। आप तो मेरे धर्म-पिता हो गए।"

वीरभद्र, सेठ के घर रहने लगा। वह अपनी योग्यता, कला और विज्ञान की कुशलता से थोड़े ही दिनो मे, नगरजनो मे आदर पात्र हो गया। सेठ के एक पुत्री थी, जिसका नाम 'विनयवती' था। नगर के राजा रत्नाकर की पुत्री का नाम 'अनगसुन्दरी' था। वह स्वभाव से ही पुरुष-द्वेषिनी थी। विनयवती उसके पास जाती रहती थी। एक दिन वीरभद्र ने विनयवती से पूछा—"वहिन! अन्त पुर मे क्यो जाती रहती हो?"

—"राजकुमारी मेरी सखी है। उसके आग्रह से मै उसके पास जाती हूँ।"

—"मै भी राजकुमारी को देखने के लिए तुम्हारे साथ चलना चाहता हूँ।"

—"नही भाई! राजकुमारी पुरुष-द्वेषिनी है। वह छोटे वच्चे से भी द्वेष करती है। इसलिए मै तुझ साथ कैसे ले जा सकती हूँ?"

—"मै स्त्री-वेश मे आऊँ और तू मुझे अपनी सखी को वतावे, तो क्या हर्ज है? मै एक वार उसे देखना चाहता हूँ।"

विनयवती मान गई और वीरभद्र को अपना वढिया वेश एव गहने पहना कर साथ ले गई। विनयवती ने राजकुमारी से वीरभद्र का परिचय कराया और कहा कि यह मेरी वहिन वीरमती है। अनगसुन्दरी ने एक पटिये पर एक हंस का चित्र बनाया था। किन्तु हंसी (मादा) का चित्र जैसा चाहिये वैसा नही बना। उसका उद्देश्य विरह-पीड़ित हंसी वनाने का था, परन्तु उसमे उसके विरह-पीड़ित होने का भाव वरावर नही आ पाया था। वीरभद्र ने उस चित्र को सुधार कर उसमे उसके भाव को पूर्ण रूप से वताया। आँखो मे आसू, म्लान वदन, गरदन झुकी हुई और पंख शिथिल। इस प्रकार उसकी विरह-पीडित अवस्था स्पष्ट हो रही थी। अनगसुन्दरी को वह चित्र वहुत पसन्द आया। उसने वीरमती से पूछा—"तुम्हे चित्रकला मे निपुणता प्राप्त है। इसके सिवाय और कौनसी कला मे तुम पारंगत हो?" वीरमती ने कहा—"मेरी कला का परिचय आपको धीरे-धीरे होता रहेगा।"

वीरभद्र स्त्री-वेश मे दूसरे दिन भी विनयवती के साथ राजकुमारी के पास गया। उस दिन राजकुमारी वीणा वजा रही थी। किन्तु वीणा का स्वर वरावर नही निकल रहा था। वीरभद्र ने कहा—'इस वीणा मे मनुष्य का वाल अटक गया है। इसलिए इसका स्वर विगड रहा है।' राजकुमारी आश्चर्य करने लगी। उसने पूछा—'तुमने कैसे जाना कि इसमे वाल फँस गया है?'—'इसका स्वर ही वतला रहा है।' वीरमती वने हुए वीरभद्र ने वीणा खोल कर उसमे फँसा हुआ वाल निकाल कर वताया। अव वीणा निर्दोष स्वर निकाल रही थी। राजकुमारी को वीरमती की कला-प्रवीणता पर आश्चर्य हुआ। उसने

वीरमती से वीणा बजाने का आग्रह किया। वीरभद्र, वीणा वादन मे प्र
गन्धर्वराज के समान सारणी से श्रुतिओ को स्फुट करने वाले स्वरो, तथा
को स्पष्ट करने वाले तान उत्पन्न किये। वाद्य के सभी प्रकार के उत्तम
राग-रस मे राजकुमारी अनंगसुन्दरी और अन्य सुनने वाली महिलाएँ स
परम सतोष को प्राप्त हुई। उनके हर्ष का उभार आ गया। राजकुम
"ऐसी परम निपुण सखी, भाग्य से ही मिलती है। यह मानवी नही
सदा का साथ, मेरे जीवन को आनन्दित एव सफल कर देगा।"

वीरभद्र ने इसी प्रकार अपनी अन्य कलाओ का भी परिचय दे क
हृदय को अपनी ओर पूर्ण रूप से आकर्षित कर लिया। वीरभद्र को भी
कि अनंगसुन्दरी उस पर पूर्ण रूप से मुग्ध है। उसने एक दिन सेठ से कहा
मै रोज बहिन के साथ राजकुमारी के पास स्त्री-वेश मे, उसकी बहिन ब
हूँ। किन्तु इससे आपको किसी प्रकार का भय नही रखना चाहिए। मै ऐस
कि जिससे आपकी प्रतिष्ठा बढे। यदि राजा अपनी कन्या का लग्न मे
विषय मे आपसे कहे, तो पहले तो आप मना कर दें, किन्तु जब राजा
तो स्वीकार कर ले।" सेठ ने वीरभद्र की बात स्वीकार कर ली।
विश्वास था। उसकी योग्यता पर सेठ भी प्रसन्न थे।

नगरभर में फैली हुई वीरभद्र की प्रशसा, राजा के कानों पर
प्रशंसा सुन कर वह भी आकर्षित हुआ। मन्त्रियो और अधिकारियो से
विशेष परिचय करना चाहने लगा। इधर अवसर देख कर एक दिन वी

"महाभागे ! आप सुयोग्य एवं भाग्यशालिनी हैं। आपके लिए
सामग्री प्रस्तुत है। फिर आप भोग से विमुख क्यों हैं ?"

—"सखी ! मै भोग से विमुख नही हूँ। किन्तु कोई योग्य व
जीवन सुखमय हो सकता है, अन्यथा सारा जीवन दुख, क्लेश एवं कटुत
जिस प्रकार रत्न अकेला रहे वह अच्छा है, परन्तु कांच के साथ लगा क
उचित नही है। इसी प्रकार युवती को एकाकी जीवन बीताना अच
कलाहीन और दुर्गुणी वर के साथ रह कर विडवित होना अच्छा नही है
मिले, तो फिर कहना ही क्या है ?"

—"हा, यह तो ठीक बात है। किन्तु आपको कैसा वर चाहिए
योग्यता चाहती हैं आप ?" वीरभद्र ने पूछा।

—"मैं कैसा बताऊं ? सर्वगुण सम्पन्न । बस, तुम्हारे जैसा, जिसे पा कर मैं सतुष्ठ हो जाऊँ।"

—"मेरे जैसा ? क्या आप मुझे सर्व गुण-सम्पन्न एवं पूर्ण योग्य मानती हैं ?"

—"अरे वीरमती ! यदि तू पुरुष होती, तो मैं तुझी को पति वरण करती। परन्तु अब मैं तुझे अपने साथ ही रखना चाहती हूँ।"

—"राजकुमारीजी ! यदि आपकी यही इच्छा है, तो मैं आपके लिए पुरुष बन जाऊँ। फिर तो आप प्रसन्न होगी न ?"—वीरभद्र ने हँसते हुए कहा।

—"चल हट ! वेश बदलने से ही कोई पुरुष हो सकता है ?"—राजकुमारी ने हँसते हुए कहा।

—"अरे, आप क्या समझती हैं मुझे ? मै वह कला जानती हूँ कि जिस के प्रयोग से सदा के लिए पुरुष बन जाऊँ। पूर्ण पुरुष।"

—"हँसी मत कर ! जन्म से स्त्री हुई, तो अब पुरुष कैसे बन सकती है ?"

—"मै आपके लिए अपना जीवन पूर्णरूप से अभी परिवर्तित कर सकती हूँ—यही !

अनंगसुन्दरी को आश्चर्य हुआ। वह सोच रही थी कि रूप परिवर्त्तन कर के स्त्री, पुरुष का वेश तो धारण कर सकती है, किन्तु वह स्वयं पूर्णरूप से पुरुष कैसे बन सकती है ? उसे विश्वास नही हो रहा था। राजकुमारी को असमंजस मे पड़े देख कर वीरभद्र ने कहा—

"महाभागे ! अविश्वास क्यो करती हो। मै अभी पुरुष बन कर तुम्हें दिखा देता हूँ। आवश्यकता मात्र पुरुष के कपडो की है। यह शरीर तो जन्म से ही पुरुष है। मै पुरुष रूप ही जन्मा और पुरुष रूप मे ही पहिचाना जाता हूँ। मेरा नाम 'वीरमती' नही, 'वीरभद्र' है। मैं विनयवती की बहिन नही, भाई हूँ। तुम्हें देखने के लिए मैंने स्त्रीवेश धारण कि[illegible] है।"

वीरभद्र की बात सुन कर राजकुमारी अत्यत हर्षित हुई। वीरभद्र ने कहा—"अब मै तुम्हारे पास नही आऊँगा। अब तुम महाराज से कहला कर अपना वैवाहिक सम्बन्ध जुड़े वैसा प्रयत्न करना।"

राजकुमारी ने वीरभद्र को प्र[illegible] पूर्वक बिदा किया। इसके बाद राजकुमारी ने अपनी सखी के द्वारा, अपनी [illegible] के पास (सखी के परामर्श के रूप मे) सन्देश भेजा। महारानीजी ने भी महाराज से वीरभद्र की प्रशसा सुनी थी। अब राजकुमारी की सखी

का भी वैसा ही विचार जाना और उसमे राजकुमारी की इच्छा का सकेत मिला,
महारानी ने महाराज को बुला कर कहा। महाराज ने सेठ को बुला कर सम्बन्ध जो
लिया और धूमधाम से वीरभद्र के लग्न, राजकुमारी अनंगसुन्दरी के साथ हो गये। वीरभ
ने राजकुमारी को जैनधर्म का स्वरूप समझा कर जिनोपासिका बना ली। कालान्तर
वीरभद्र, पत्नी सहित अपने घर आने के लिए रवाना हुआ। समुद्र मार्ग से चलते
महावायु के प्रकोप से वाहन टूट गया और सभी यात्री समुद्र के जल मे डूबने-उतराने लगे
कई डूब भी गये। अनंगसुन्दरी के हाथ मे जहाज का टूटा हुआ पटिया आ गया। वह पटि
के सहारे तैरती हुई किनारे लग गई। वह भूखी प्यासी और थकी हुई मूच्छित अवस
मे किनारे पर पडी थी। समुद्र के निकट किसी तापस का आश्रम था। घूमते हुए तापस
कुमार को किनारे पर पड़ी हुई अनगसुन्दरी दिखाई दी। उसने उसे सावचेत की और अप
आश्रम पर ले आया। आश्रम के कुलपति ने अनंगसुन्दरी को सान्तवना दी और पुत्री
समान तपस्विनियो के साथ रहने की व्यवस्था कर दी। थोड़े ही दिनो मे अनंगसुन्दरी स्वस
हो गई। उसके आकर्षक रूप एवं लावण्य को देख कर, कुलपति ने विचार किया कि—
'इस युवती का आश्रम मे रहना हितकर नही होगा। आश्रम के तपस्वियो की समाधि क
स्थिर रखने के लिए, इस सुन्दरी को यहाँ से हटाना आवश्यक है।' उसने अनगसुन्दरी क
बुला कर कहा,—

"वत्से ! यहाँ से थोडी ही दूर पर 'पद्मिनीखड' नगर है। वहाँ बहुत-से धनवा
लोग रहते हैं। उस नगर का सम्बन्ध भारत के दूर-दूर के प्रातो से है। वहाँ रहने से तुभ
तेरे पति का समागम अवश्य होगा। इसलिए तुम वहाँ जाओ।"

अनगसुन्दरी एक वृद्ध तापस के साथ पद्मिनिखंड नगर के निकट आई। तापस उ
नगर के बाहर छोड कर चला गया। वह नगर मे प्रवेश करने के लिये आगे बढी, तो उ
स्थडिलभूमि जाती हुई साध्वियाँ दिखाई दी। अनंगसुन्दरी ने सोचा—'ये साध्वियाँ तो वैसी
ही है, जैसी मेरे पति ने मुझे बताई थी।' वह साध्वियो के निकट आ ई। उसने प्रवर्तिन
महासती सुव्रताजी आदि को नमस्कार किया और उनके साथ उपाश्रय मे पहुँची। वहा
तुम्हारी पुत्री प्रियदर्शना ने उसे देखी। अनंगसुन्दरी ने सुव्रताजी और प्रियदर्शना को अपन
वृत्तात सुनाया। उसकी कथा सुन कर प्रियदर्शना ने कहा—

"सखी ! तेरे पति वीरभद्र की वय और कला आदि की सभी विशेषताएँ मेरे पति
वीरभद्र से बराबर मिलती हैं। किंतु मात्र वर्ण मे अन्तर है। तेरे पति का वर्ण श्याम है
और मेरे पति का गौर वर्ण है। बस, यही अंतर है, शेष सभी बाते मिलती हैं।"

सुव्रताजी ने कहा—'प्रियदर्शना ! यह तुम्हारी धर्म-बहिन है। इसको धर्म साधना में साथ दो।'

उधर वीरभद्र भी समुद्र मे लहरो के साथ बहता हुआ एक पटिये को पकड़ कर थपडाता रहा। इस प्रकार बहते हुए, उसे रतिवल्लभ नाम के विद्याधर ने देखा और समुद्र से निकाल कर अपने आवास मे ले गया। उस विद्याधर के पुत्र नही था, केवल एक पुत्री ही थी। उसका नाम रत्नप्रभा था। वीरभद्र को अनगसुन्दरी की चिन्ता सता रही थी। उसने विद्याधर को अपना वृत्तात सुनाया। विद्याधर ने 'आभोगिनी' विद्या के बल से जान कर कहा—"अनंगसुन्दरी तुम्हारी पूर्व पत्नी प्रियदशना के साथ पद्मिनीखंड मे, सुव्रताजी के उपाश्रय मे रह कर धर्म-क्रिया कर रही है।" यह सुन कर वीरभद्र प्रसन्न हुआ। विद्याधर ने वीरभद्र को उपयुक्त वर जान कर अपनी पुत्री रत्नप्रभा का पाणिग्रहण कराया। यहाँ वीरभद्र, 'वुद्धदास' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। कुछ काल वहाँ रहने के बाद दक्षिण-भरत देखने के बहाने, रत्नप्रभा को साथ ले कर, आकाश मार्ग से पद्मिनीखड नगर में आया। रत्नप्रभा को उपाश्रय के बाहर बिठा दिया और बोला—"मैं अभी देहचिन्ता से मुक्त हो कर आता हूँ। तुम यही बैठना।"

वीरभद्र वहाँ से चल कर एक गली मे छुप गया और चुपके से देखने लगा। बड़ी देर तक प्रतीक्षा करने पर भी जब वीरभद्र नही आया, तो रत्नप्रभा घबडा गई। ज्यो-ज्यो समय बीतता गया, त्यो-त्यो उसकी धीरज कम होती गई और अनिष्ट की आशका ने उसे रुला दिया। उसका रुदन सुन कर एक साध्वी बाहर आई और उसे सान्त्वना दे कर उपाश्रय के भीतर ले गई। रत्नप्रभा उपाश्रय मे गई, तब तक वीरभद्र उसे गुप्त रह कर देखता रहा। फिर वह निश्चिंत हो कर चला गया और अपना वामन रूप बना कर जादूगरी करता हुआ नगर मे घूमने लगा। उसकी कला ने नगरभर को मोह लिया। वहाँ के नरेश ईशानचन्द्र भी उसकी कला पर मुग्ध हो गया।

उपाश्रय मे पहुँचने के बाद अनंगसुन्दरी और प्रियदर्शना ने रत्नप्रभा को देखा। उसका वृत्तात सुनने के बाद उन्होंने रत्नप्रभा से उसके पति का वर्ण आदि पूछा। रत्नप्रभा ने कहा—"वे सिंहलद्वीप के निवासी, गौर वर्ण, समस्त कलाओ मे पारंगत और कामदेव के समान रूप वाले मेरे पति हैं। उनका नाम 'वुद्धदासजी' हैं।" यह सुन कर प्रियदर्शना बोली—"नाम और सिंहलद्वीप निवास के अतिरिक्त अन्य सभी बाते मेरे पति से, पूर्ण रूप से मिलती है।" अनंगसुन्दरी ने भी कहा—"मेरे पति के साथ भी नाम और वर्ण के

अतिरिक्त सभी विशेषताएँ मिलती है।" अब रत्नप्रभा भी उन दोनो के साथ, सगी तीन वहिनो जैसी रहने लगी। वामन बना हुआ वीरभद्र प्रतिदिन उपा मे आ कर अपनी तीनो पत्नियो को देख जाता था। उन तीनो को साथ हिलमिल कर रहते देख कर वह प्रसन्न होता था।

एक बार राजा के सामने ि ी सभासद ने कहा—"नगर के किसी उपाश्रय मे तीन अपूर्व सुन्दरी युवतियाँ आई हुई हैं। वे तीनो पवित्र हैं। वे किसी पुरुष से नही बोलती। यदि कोई उनसे बोले, तो भी वे पुरुष से नही बोलती।" यह सुन कर वामन बने हुए वीरभद्र ने कहा—"मैं उनमे से एक-एक को अपने से बोला सकता हूँ।" वह बडे-बडे अधिकारियो और मुख्य नागरिको के साथ उपाश्रय मे आया। उसने एक मुख्य अधिकारी को पहले ही कह दिया कि "उपाश्रय मे बैठने के बाद मुझे 'कोई कथा कहने' के लिए कहना।" उपाश्रय मे प्रवेश कर के प्रवर्तिनी महासती और अन्य सतियो को वन्दना की और उपाश्रय के द्वार के निकट बैठ गया। वामन को देखने के लिए साध्वीजी के साथ तीनो महिलाएँ भी आ गईं। वामन ने कहा—"मैं थोड़ी देर के लिए बैठता हूँ, फिर राजेन्द्र के पास जाने का समय होने पर मे चला जाऊँगा।" यह सुन कर साथियो मे से एक ने कहा—"इतने मे कोई आश्चर्यकारक कथा ही सुना दो।" वामन ने कहा—"सुनी हुई कथा कहूँ, या बीती हुई हकीकत कहूँ?" उत्तर मिला—"बीती हुई ही सुना दो।" अब वामन कहने लगा,—

"ताम्रलिप्ति नामकी नगरी मे ऋषभदत्त सेठ रहते हैं। वे एक बार व्यापारार्थ पद्मिनीखड मे आये। उन्होने सागरदत्त सेठ की सुपुत्री प्रियदर्शना के साथ अपने पुत्र वीरभद्र के लग्न कर दिये। वीरभद्र, प्रियदर्शना के साथ सुखपूर्वक रहने लगा। एक दिन प्रियदर्शना कपट-निद्रा मे सोई हुई थी। वीरभद्र उसे जगाने लगा, तब प्रियदर्शना ने कहा,—

"मुझे मत सताइये। मेरे सिर मे पीडा हो रही है।"

—"कैसी पीडा हो रही है—मीठी या कडवी?"

—"मीठी। कडवी हो मेरे वैरी को।"

—"अच्छा, तो मीठे दर्द की दवा तो मैं खूब जानता हूँ।"

"उसी रात प्रियदर्शना को नींद आ जाने के बाद वह उसे छोड कर चला गया।" इतनी बात कह कर वामन उठ खडा हुआ और कहने लगा—अब मेरे दरबार में जाने का समय हो गया।" प्रियदर्शना ने वामन से पूछा—"महानुभाव! फिर वीरभद्र कहाँ गये?"

—" मैं अपने कुल गौरव एवं शील की रक्षा के लिए स्त्रियो से बात नही करता।"

—" कुलीन व्यक्ति का प्रथम गुण दाक्षिण्यता है। आप दाक्षिण्यता से ही मुझे बताइए।"

—" अभी तो समय हो चुका है। अब मैं कल बतलाऊँगा।" इतना कह कर वह चला गया। दूसरे दिन उसने आगे की बात इस प्रकार कही;—

" वीरभद्र मन्त्रगुटिका से श्यामवर्ण वाला बन कर देशाटन करता हुआ सिंहलद्वीप पहुँचा।" इस प्रकार वह अनंगसुन्दरी सम्बन्धी वृत्तात, समुद्री संकट तक कह कर रुक गया। अनगसुन्दरी ने आग्रह पूर्वक पूछा—" भद्र ! अब वीरभद्र कहाँ है ?" " अब मेरे दरबार मे जाने का समय हो गया है। शेष बात कल कहूँगा।"—इतना कह कर चला गया। तीसरे दिन उसने विद्याधर द्वारा बचाये जाने और रत्नप्रभा के साथ उपाश्रय तक आने की बात कही। रत्नप्रभा ने पूछा—" अब बुद्धदास कहाँ है ?" वामन ने कहा—" शेष बात कल कही जायगी," और चला गया। तीनो महिलाओ को विश्वास हो गया कि हमारा पति एक ही है।"

महर्षि ने इतनी कथा कहने के बाद सागर सेठ से कहा—" यह वामन ही तुम्हारा जामाता है और यही उन तीनो स्त्रियो का पति है। अभी यह कला-प्रदर्शन की इच्छा से वामन बना हुआ है।" सागर सेठ, महात्मा को वन्दना कर के वामन के साथ उपाश्रय मे आये। उन्होने साध्वियो को वन्दना करने के बाद तीनो स्त्रियो से कहा—" तुम तीनो का पति यह वामन ही है।" एकान्त मे जा कर वामन ने अपना रूप बदला। पहले वह श्याम वर्ण हो कर आया। अनंगसुन्दरी ने उसे पहिचान लिया। उसके बाद वह अपने मूल गौरवर्ण मे आ गया। सेठ ने पूछा—" तुमने इतना प्रपंच क्यो किया ?" वीरभद्र ने कहा—' मै तो सैर-सपाटे और कला-प्रदर्शन के लिए ही घर से चला था।"

दूसरे दिन भगवान् अरनाथ स्वामी ने वीरभद्र के पूर्वभव का वृत्तात कहते हुए बताया कि—" मै पूर्व के तीसरे भव में पूर्व-विदेह मे राज्य का त्याग कर दीक्षित हो कर विचर रहा था। चार मास के तप का पारणा मैंने रत्नपुर के सेठ जिनदास के यहाँ किया था। जिनदास आयु पूर्ण कर ब्रह्म देवलोक मे गया। वहाँ से च्यव कर मनुष्य-भव मे समृद्धिवान् श्रावक हुआ। वहाँ धर्म की आराधना कर के अच्युत देवलोक मे गया और वहाँ से च्यव कर वीरभद्र हुआ है। पुण्यानुबन्धी-पुण्य का यह फल है।" भगवान् विहार कर गए। वीरभद्र ने चिरकाल तक भोग जीवन व्यतीत किया और संयम पालकर स्वर्ग मे गया।

भगवान् अरनाथ स्वामी के कुंभ आदि ३३ गणधर, ५०००० साधु, ६०००० साध्वियां, ६१० चौदह पूर्वधर, २६०० अवधिज्ञानी, २५५१ मन.पर्यायज्ञानी, २८०० केवलज्ञानी, ७३०० वैक्रिय लब्धि वाले, १६०० वाद लब्धि वाले, १८४००० श्रावक और ३७२००० श्राविकाएँ हुईं।

भगवान् अरनाथ स्वामी २०९९७ वर्ष केवलज्ञानी तीर्थंकरपने विचरे। निर्वाण समय निकट जान कर एक हजार मुनियो के साथ सम्मेदशिखर पर्वत पर पधारे और अनशन किया। एक मास के पश्चात् मार्गशीर्ष शुक्ला दशमी को रेवती नक्षत्र मे मोक्ष प्राप्त हुए।

भगवान् अरनाथ स्वामी २१००० वर्ष कुमार अवस्था मे, इतने ही मांडलिक राजा, इतने ही वर्ष चक्रवर्ती सम्राट और इतने ही वर्ष व्रत-पर्याय मे रहे। कुल आयु ८४००० वर्ष का था। इन्द्रादि देवो ने भगवान् का निर्वाण-महोत्सव किया।

अठारहवें ीर्थंकर

न्

॥ अरनाथजी चरित्र सम्पूर्ण ॥

वासुदेव-बलदेव

भगवान् अरनाथ के तीर्थ मे छठे वासुदेव, बलदेव और प्रतिवासुदेव हुए। उनका चरित्र इस प्रकार है।

विजयपुर नाम के नगर मे सुदर्शन नाम का राजा था। उसने दमधर नाम के मुनिराज से धर्मोपदेश सुन कर दीक्षा ग्रहण करली और चारित्र तथा तप की आराधना कर के सहस्रार नाम के देवलोक मे देव हुआ।

इस भरत क्षेत्र मे पोतनपुर नाम का नगर था। प्रियमित्र नाम का राजा वहाँ राज करता था। उस राजा की अत्यत सुन्दरी एव प्रिय रानी का, सुकेतु नाम के दूसरे बलवान् राजा ने हरण कर लिया था। इस असह्य आघात से प्रियमित्र राजा अत्यंत दुखी हुआ। ससार की भयानक स्थिति का विचार कर वह विरक्त हो गया और संयमी बन कर, कठोर तप करने लगा। वह चारित्र और तप की आराधना तो करता था, किन्तु उसके हृदय मे सुकेतु के प्रति वैर का कांटा खटक रहा था। जब उसे वह याद आता, तो वह द्वेष पूर्ण स्थिति मे कुछ समय सोचता ही रहता। उसने अपने शरीर की उपेक्षा कर के कठोर साधना अपना ली, किन्तु साथ ही आत्मा की भी उपेक्षा कर दी और वैरभाव की तीव्रता मे यह निश्चय कर लिया;—"मै इस समय तो भौतिक साधनो से हीन हूँ। किन्तु इस कठोर साधना के फलस्वरूप आगामी भव मे विपुल एवं अमोघ साधनो का स्वामी बन कर, इस सुकेतु के सर्वनाश का करण बनूं‡। इस प्रकार का संकल्प कर के मन मे एक गाठ बांधली और जीवन पर्यन्त इस वैर की गांठ को बनाये रखा। साधना उनकी चलती रही। किन्तु अध्यवसायो मे रही हुई [illegible]द्धि ने उस साधना को मैली बना दिया। वे जीवन की स्थिति पूर्ण कर माहेन्द्र नामक चौथे देवलोक मे देव हुए।

वैताढ्यगिरि पर अरिंजय नगर मे मेघनाद नाम का विद्याधर राजा था। सुभूम चक्रवर्ती ने उसे विद्याधर की दोनो श्रेणियो का राज्य दिया था। वह सुभूम चक्रवर्ती की रानी पद्मश्री का पिता था। प्रियमित्र की रानी का हरण करने वाला सुकेतु राजा भवभ्रमण करता हुआ मेघनाद के वश मे 'बलि' नाम का प्रतिवासुदेव हुआ। वह तीन खण्ड पृथ्वी का अधिपति था।

---

‡ पाठक सोच सकते हैं कि निदान करने वाले आगामी भव की अनुकूलता का ही निदान क्यों करते हैं। इसी भव का क्यों नही करते? उत्तर है--यदि इसी भव में वैर लेना चाहें, तो उन्हे साधुता से पतित हो कर लोकनिन्दित होना पडे। वे सोचते हैं कि हमने आजीवन सयमी रहने की प्रतिज्ञा ली। अतएव प्रतिज्ञा का भग हम नहीं कर सकते। अन्यथा तेजोलेश्या आदि शक्ति प्राप्त कर, वे इसी भव मे बदला ले सकते थे।

इस जम्बूद्वीप के दक्षिण भरतार्द्ध मे चक्रपुर नाम का नगर था। वहाँ महाशिर नाम का महाप्रतापी राजा राज करता था। वह बुद्धि, कला और प्रतिभा मे उस समय के अन्य राजाओ मे सर्वोपरि था। उस राजा के 'वैजयंती' और 'लक्ष्मीवती' नाम की दो रानियां थी। वे रूप, गुण और अन्य विशेषताओ से विभूषित थी। मुनिराज सुदर्शनजी का जीव, सहस्रार देवलोक से च्यव कर महारानी वैजयंती के गर्भ मे आया। महारानी ने चार महा-स्वप्न देखे। गर्भकाल पूर्ण होने पर एक सुन्दर पुत्र को जन्म दिया। योग्य वय मे राजकुमार 'आनन्द' विद्या, कला एवं न्याय-नीति मे पारगत हुआ।

प्रियमित्र मुनि का जीव, चौथे माहेन्द्र स्वर्ग से च्यव कर महारानी लक्ष्मीवती की कुक्षि मे उत्पन्न हुआ। महारानी ने सात महास्वप्न देखे। जन्म होने पर पुत्र का नाम 'पुरुषपुडरीक' दिया गया। वह भी विद्या और कला आदि मे प्रवीण हो गया। आनन्द और पुरुषपुडरीक मे घनिष्ठ स्नेह था। दोनो अतिशय योद्धा और महान् शक्तिशाली थे। राजेन्द्रपुर के राजा उपेन्द्रसेन की अनुपम सुन्दरी कन्या राजकुमारी पद्मावती का विवाह राजकुमार पुरुषपुण्डरीक के साथ हुआ। त्रिखण्डाधिपति महाराजा बलि के पुण्य का उतार प्रारंभ हो कर पापोदय प्रकट होने वाला था। उसने पद्मावती के अनुपम रूप की प्रशंसा सुनी और उसे प्राप्त करने के लिए वह चढ आया। बलि को अनीतिपूर्वक आक्रमण करने के लिए आता हुआ जान कर राजकुमार आनन्द और पुरुषपुण्डरीक भी उसके सामने चढ आये। इन दोनो बन्धुओ के पुण्य का उदयकाल था। देवो ने राजकुमार आनन्द को हल आदि तथा पुरुषपुण्डरीक को शारंग धनुष आदि शस्त्र अर्पण किये। दोनो ओर की सेनाओ मे युद्ध छिड गया। घमासान युद्ध मे बलि की सेना ने भीषण प्रहार कर के शत्रु-सेना के छक्के छुडा दिए। अपनी सेना को हताश हो कर मरती-कटती और भागती हुई देख कर दोनो वीर योद्धा अपने शस्त्र ले कर आगे आये। राजकुमार पुरुषपुण्डरीक ने पांचजन्य शंख का नाद किया। उस महानाद के भीषण स्वर ने बलि की सेना के साहस को नष्ट कर दिया और भय भर दिया। आगे के सैनिक पीछे खिसकने लगे। पुरुषपुडरीक ने इसके बाद शारग धनुष का टंकार दिया। टंकार सुनते ही बलि की सेना भाग गई। अपनी सेना को रण-क्षेत्र छोड कर भागती हुई देख कर, बलि स्वयं रणक्षेत्र मे आया और भीषण बाण-वर्षा करने लगा। उधर बलि की बाण-वर्षा से अपना बचाव करते हुए राजकुमार पुरुषपुण्डरीक भी बलि पर बाणो की मार चला रहे थे। अपने बाणो और विशिष्ट अस्त्रों का उचित प्रभाव नही देख कर बलि ने चक्र धारण किया और उसे घुमा कर जोर से अपने शत्रु पर

फेंक मारा। चक्र के प्रहार को राजकुमार सह नही सके और नीचे गिर कर मूर्च्छित हो गए। थोडी ही देर मे ज्ञान हो कर उन्होने उसी चक्र को उठाया और बलि से—"ले अब सम्भाल अपने इस चक्र को"—कहते हुए उन्होने फेका। बलि का पुण्य एवं आयुष्य समाप्त था। चक्र के प्रहार से का सिर कट गया और वह मर कर नरक मे गया। प्रतिवासुदेव पर विजय पा कर पुरुषपुण्डरीक वासुदेव और ज्येष्ठ-भ्राता आनन्द बलदेव हो गए। उन्होने दिग्विजय के लिए ण किया। अपने पेंसठ हजार वर्ष के आयुष्य तक राज्य-ऋद्धि और भोग-विलास मे गृद्ध हो कर और निदान का फल भोग कर, मृत्यु पा छठी नरक का महा दु.ख भोगने के लिए चले गए।

अपने छोटे भाई की मृत्यु से आनन्द बलदेव को . लगा। वे संसार का त्याग कर पूर्ण संयमी बनगए और चारित्र का पूर्ण शुद्धता के साथ पालन करते हुए मोक्ष पधार गए।

७ ९ र्ती

भगवान् अरनाथ स्वामी के तीर्थ में ही 'सुभूम' नाम के आठवे चक्रवर्ती हुए। उनका चरित्र इस प्रकार है—

इस भरतक्षेत्र मे एक विशाल नगर था। भूपाल नाम का राजा वहाँ राज करता था। वह महापराक्रमी था। किन्तु एक वार अनेक शत्रु राजाओ ने मिल कर एक साथ उस पर आक्रमण कर के उसे हरा दिया। अपनी पराजय से खिन्न हो कर, भूपाल विरक्त हो गया और 'सभूति' मुनिराज के पास निर्ग्रंथ प्रव्रज्या ग्रहण कर ली। संयम के साथ उग्र तप करते हुए वे विचरने लगे। कालान्तर मे उनके मन मे भोग-लालसा उत्पन्न हुई। मोह की दवी और मुरझाई हुई विष-लता भी वडी विषैली होती है। इसे थोडासा भी अनुकूल निमित्त मिला कि क्षिणप्राय दिखाई देने वाली लता पुन. हरीभरी हो कर अपना प्रभाव वताने लगती है। मोह को नष्ट करने के लिए तत्पर वने हुए राजर्षि पुन. मोह के चक्कर मे पड गए और निदान कर लिया कि "मेरी उच्च साधना के फल स्वरूप, आगामी भव मे मे काम-भोग की सर्वोत्तम एवं प्रचुर सामग्री का भोक्ता वनूं।" इस प्रकार अपनी साधना से (—जो चिन्तामणि रत्न से भी महान् फल देने वाली थी) किंपाक फल के समान दु ख-दायी विषफल प्राप्त कर लिया। वे मृत्यु पा कर महाशुक्र नाम के आठवे स्वर्ग मे देव हुए।

भरतक्षेत्र के वसंतपुर नगर मे अपने वंश का उच्छेद करने वाला एक 'अग्निक' नाम का लडका था। एक बार वह विदेश गया। वह अकेला भटकता हुआ तापसो के आश्रम मे चला गया। आश्रम के वृद्ध कुलपति ने उसे अपने पुत्र के समान रखा और उसे तापस बनाया। वह 'जमदग्नि' के नाम से प्रख्यात हुआ। उग्र तप करते हुए वह स्वयं अपने दुःसह तेज से विशेष विख्यात हुआ।

परशुराम की था

वैश्वानर नाम का देव पूर्वभव मे श्रावक था और धन्वन्तरी नाम का देव, तापस-भक्त था। दोनो देवो मे परस्पर वाद छिड गया। वैश्वानर कहता था कि 'आर्हत धर्म यथार्थ एव सत्य है' और धन्वन्तरी कहता था 'तापस धर्म उत्तम है।' दोनो ने परीक्षा करने का निश्चय किया। वैश्वानर ने कहा—'तू किसी नवदीक्षित निर्ग्रंथ की भी परीक्षा करेगा, तो वह सच्चा उतरेगा। किंतु तेरे किसी प्रौढ साधक की परीक्षा ली जायगी, तो वह टिक नही सकेगा।' पहले दोनो देव निर्ग्रंथ की परीक्षा करने आये। मिथिलानगरी का पद्मरथ राजा भाव-यति था। वह प्रव्रज्या ग्रहण करने के उद्देश्य से मिथिलानगरी से पादविहार कर चम्पानगरी मे, भ० वासुपूज्य स्वामी के पास जा रहा था। दोनो देव उसके पास आये और उसके सामने भोजन और पानी के पात्र रख कर, भोजन करने का निवेदन किया। यद्यपि पद्मरथ भूख और प्यास से पीडित था, तथापि अकल्पनीय होने के कारण भोजन और पानी ग्रहण नही किया। देवो ने मार्ग मे कंकरो को इतने तीक्ष्ण बना दिये कि मार्ग चलना कठिन हो गया और मुनि के कोमल पांवो मे से रक्त बहने लगा किन्तु वे विचलित नही हुए। थोडी दूर चलने पर उन्हें एक सिद्धपुत्र* का रूप धारण किया हुआ देव सामने आ कर कहने लगा;—"हे महाभाग ! अभी तो तुम्हारा जीवन बहुत लम्बा है और खाने-पीने, भोग भोगने और ससार सुख का आस्वादन करने के दिन है। अभी से योग लेने की क्या आवश्यकता हुई ? जब भोग से तृप्त होजाओ और इन्द्रियाँ निर्बल हो जाय, तब साधु बनना। भरपूर युवावस्था मे साधु बन कर, प्राप्त मनुष्य-भव को व्यर्थ गँवाना बुद्धिमानी नही है।" भावमुनि पद्मरथजी ने कहा,—"भाई ! जीवन का क्या भरोसा ? साधना मे विलम्ब करना बुद्धिमानी नही है। यदि जीवन लम्बा हुआ, तो धर्म-साधना बहुत होगी।

* सयम से गिरा हुआ—पच्छाई।

यह तो विशेष लाभ की बात है। कल के भरोसे निश्चित रहना तो मूर्खता है।"

देवो ने उसकी दृढता देख ली। अब वे किसी तापस की परीक्षा करने के लिए चले। चलते-चलते वे दोनो उस जमदग्नि तपस्वी के आश्रम मे आये।

दोनो देव जमदग्नि के पास आये। वह विशाल वट वृक्ष के नीचे बैठा था। उसकी वढी हुई जटाएँ भूमि को स्पर्श कर रही थी। वह ध्यानारूढ था। दोनो देवो ने चिडिया के जोड़े का रूप बनाया और जमदग्नि की दाढ़ी के झुरमुट मे बैठ गए। चीड़े ने चिड़िया से कहा,—

"प्रिये! मैं हिमालय की ओर जाऊँगा।"

"फिर कब लौटेगा"—चिड़िया ने पूछा।

"बहुत जल्दी"—चिडे ने कहा—

"यदि तू वही किसी सुन्दर चिड़िया मे लुब्ध हो कर मुझे भूल जाय तो"—चिड़िया ने आशंका व्यक्त की।

"नही, मैं वहां नही रुकूँगा। यदि मै अपने वचन से मुकर जाऊँ, तो मुझे गो-हत्या का पाप लगे"—चिड़े ने शपथपूर्वक कहा।

"नही, इस साधारण शपथ पर मै तुझे नही छोडती। यदि तू यह शपथ ले कि 'मै काम कर के वापिस नही लौटु और वही किसी चिडिया मे फँस जाऊँ तो, मुझे इस तपस्वी का पाप लगे।' इस शपथ पर मै तुझे छोड सकती हूँ"—चिड़िया ने अपनी शर्त रखी और चिडे ने स्वीकार करली।

यह वात जमदग्नि सुन रहा था। जव उसने चिडिया की शर्त सुनी, तो क्रोधित हो गया और दोनो पक्षियो को हाथो मे पकड कर पूछा,—

"वोल, मैंने कौनसा पाप किया? मै चिरकाल से ऐसा कठोर तप कर रहा हूँ और कभी कोई पाप नही किया, फिर भी तुम मुझे गो-घातक से भी महापापी वतला रहे हो? वताओ मैंने कव और कौनसा महापाप किया?"

चिडिया ने कहा,—"ऋषिश्वर! क्रोध क्यो करते हैं, क्या आप इस श्रुति को नही जानते—"अपुत्रस्य गतिर्नास्ति, स्वर्गो नैव च नैव च," जव आप अपुत्र हैं, तो आपकी सद्गति कैसे होगी और आपकी यह तपस्या किस काम आएगी? विना गृहस्थ-धर्म का पालन किये, विना पत्नी और पुत्र को तृप्त कर, पितृ ऋण का भार उतारे और विना गृहस्थ धर्म सञ्चालक उत्तराधिकारी छोडे, यह व्यर्थ का पाप प्रपञ्च क्यो किया? जो

अवस्था गृहस्थ-धर्म पालन करने की थी, उसे नष्ट कर के और कर्त्तव्य-भ्रष्ट हो कर आपने पाप नही किया क्या ? जरा शाति से विचार कर देखिये ।"

तपस्वी विचार मे पड गया । उसने सोचा "बात तो ठीक कहता है—यह पक्षी । धर्म-शास्त्र मे लिखा है कि पुत्र-विहीन मनुष्य की सद्गति नही होती । मैं इस सिद्धात को तो भूल ही गया । इस भूल से मेरा इतने वर्षो का जप, तप, ध्यान और साधना व्यर्थ गई । विना स्त्री और पुत्र के मेरा उद्धार नहीं हो सकता ।"

इस प्रकार जमदग्नि को विचलित हुआ जान कर धनवन्तरी देव आर्हत् हो गया और दोनो देव अदृश्य हो गए ।

मिथ्या विचारो से भ्रमित जमदग्नि ने अपना आश्रम छोड दिया और 'नेमिक कोष्टक' नगर मे आया । वहाँ के राजा जितशत्रु के बहुत-सी कन्याएँ थी । उनमे से एक कन्या की याचना करने के लिए जमदग्नि राजा के पास आये । राजा ने उनका सत्कार किया और आने का प्रयोजन पूछा । जमदग्नि ने कहा—"मैं आप से एक कन्या की याचना करने आया हूँ ।" राजा उसकी शक्ति से डरता था । उसने कहा—"मेरे सौ कन्या हैं । इनमे से जो आपके साथ आना चाहे, उसे आप ले सकते हैं ।" जमदग्नि अतःपुर मे गये और राजकुमारियो से कहा—"तुम मे से कोई एक मेरी धर्मपत्नी हो जाओ ।" राजकुमारियो ने यह वात सुन कर तिरस्कार पूर्वक कहा,—"अरे ओ जोगडे ! भीख माँग कर पेट भरता है, जटाधारी ऋषि बना हुआ है, तुझे राजकुमारी को पत्नी बनाने का मनोरथ करते लज्जा नही आती ?" इस प्रकार सभी ने उससे घृणा की और उसकी इस अनहोनी बात पर 'थू थू' कर के मुंह विगाडने लगी । जमदग्नि इस अपमान से क्रोधित हो गया और अपनी शक्ति से उन सब को कुबडी बना दिया । उस समय एक छोटी कन्या रेणु धूल के ढेर के साथ खेल रही थी । जमदग्नि ने उसे पुकारा—"रेणुका ! बच्ची ने जमदग्नि की ओर देखा । उसने एक बिजोरे का फल दिखाते हुए कहा—"ले, रेणुका ! यह लेना है ?" बालिका ने फल लेने के लिए हाथ बढाया । उसके बढे हुए हाथ को स्वीकृति मान कर उसे उठा लिया । राजा ने उस बालिका को गाय आदि के साथ विधिपूर्वक दे दी । संतुष्ट हुए जमदग्नि ने सभी राजकुमारियो को स्वस्थ किया । रेणुका को जमदग्नि अपने आश्रम मे लाया और यत्नपूर्वक उसका पालन-पोषण करने लगा । कालान्तर मे रेणुका यौवन वय को प्राप्त हुई और जमदग्नि ने उसे पत्नी रूप में स्वीकार की । ऋतुकाल होने पर जमदग्नि ने रेणुका से कहा—"मैं तेरे लिए एक ऐसे चरु (हवन के लिए पकाया हुआ

अन्न) की साधना करूंगा कि जिससे तेरे गर्भ से ऐसा पुत्र उत्पन्न हो, जो सर्वश्रेष्ठ ब्राह्मण हो।" इस पर से रेणुका ने कहा—"हस्तिनापुर के महाराज अनंतवीर्य की रानी मेरी वहिन है। उसके लिए भी आप ऐसा चरु साधे कि जिससे उसके गर्भ से एक क्षत्रियोत्तम पुत्र का जन्म हो।" जमदग्नि ने दोनो चरु की साधना की और दोनो चरु रेणुका को दे दिये। रेणुका के मन मे विचार उत्पन्न हुआ—'मैं तो वनवासिनी हुई। किन्तु मेरा पुत्र भी यदि ऐसा ही वनवासी ब्राह्मण हो, तो इससे क्या लाभ होगा। यदि मेरा पुत्र क्षत्रिय-शिरोमणि हो, तो मैं धन्यभागा हो जाऊँगा।" उसने क्षत्रिय चरु खा लिया और ब्राह्मण चरु अपनी वहिन को दे दिया। दोनो के एक एक पुत्र हुआ। रेणुका के पुत्र का नाम 'राम' और उसकी वहिन के पुत्र का नाम 'कृतवीर्य' हुआ।

एक वार एक विद्याधर आकाश मार्ग से जा रहा था। वह मार्ग मे ही अतिसार रोग से आक्रान्त हो गया और अपनी आकाशगामिनी विद्या भूल गया। वह उस आश्रम के पास उतरा—जहाँ जमदग्नि, रेणुका और राम रहते थे। राम ने उस विद्याधर की सेवा की और निरोग वनाया। सेवा से प्रसन्न हो कर विद्याधर ने राम को परशु विद्या प्रदान की। राम ने उस विद्या को सिद्ध कर ली और परशु (फरसा—कुल्हाड़ी जैसा शस्त्र) ग्रहण करने लगा। इससे उसका नाम 'परशुराम' प्रसिद्ध हो गया।

कालान्तर मे रेणुका अपनी वहिन को मिलने के लिए हस्तिनापुर गई। महाराज अनन्तवीर्य रेणुका को देख कर मोहित हो गए और उसके साथ कामक्रीडा करने लगे। इस व्यभिचार से रेणुका के एक पुत्र का जन्म हुआ और उस जारज पुत्र के साथ वह आश्रम मे पहुँची। जमदग्नि ने तो उसे स्वीकार कर लिया, किन्तु परशुराम को माता का कुकर्म सहन नही हुआ। उसने अपने फरसे से रेणुका और उसके पुत्र को मार डाला। यह समाचार अनन्तवीर्य ने सुना, तो वह क्रोधित हो कर परशुराम पर चढ आया और जमदग्नि के आश्रम को नष्ट कर दिया। तापसो को मार पीट कर उनकी गायें आदि ले कर लौट गया। जव परशुराम ने तापसो की दुर्दशा का हाल सुना, तो अत्यन्त क्रुद्ध हो गया और फरसा लेकर राजा के पीछे । परशुराम, अपने विद्या-सिद्ध फरसे से अनन्तवीर्य की सेना को काटने लगा। राजा सहित सेना मारी गई। अनन्तवीर्य के मरने के बाद उसके पुत्र कृतवीर्य का राज्याभिषेक हुआ। कृतवीर्य अपनी रानी तारा के साथ भोग भोगता हुआ सुखपूर्वक काल विताने लगा।

भूपाल मुनि ‡ का जीव, महाशुक्र देवलोक से च्यव कर महारानी तारा के गर्भ मे

---

‡ देखो पृ ३७७।

आया। महारानी ने चौदह महास्वप्न देखे।

कृतवीर्य ने अपनी माता से, पिता की मृत्यु का हाल सुना, तो पितृघातक से वैर लेने पर उद्यत हो गया। वह सेना ले कर जमदग्नि के आश्रम मे आया और जमदग्नि को मार डाला। जब परशुराम ने सुना, तो वह हस्तिनापुर आया और कृतवीर्य को मार कर स्वय हस्तिनापुर का राजा बन गया। परशुराम की क्रूरता से भयभीत हो कर महारानी तारा निकल भागी और वन मे जा कर एक तापस के आश्रम में पहुंची। कुलपति ने परिस्थिति का विचार कर तारा को भूमिगृह मे रखी। वहां उसके पुत्र का जन्म हुआ। भूमिगृह मे जन्म होने के कारण बालक का नाम 'सुभूम' रखा।

क्रोध की मूर्ति के समान परशुराम ने क्षत्रियो का संहार करना प्रारभ किया। एक बार वह विनाशमूर्ति उस आश्रम मे पहुँची और क्षत्रिय को खोजने लगी। तापसो ने कहा—"हम तपस्या करने वाले क्षत्रिय है।' परशुराम ने सात बार पृथ्वी को क्षत्रियो से रहित कर दी और मारे हुए क्षत्रिय योद्धाओ की दाढाओ से थाल भर कर प्रदर्शन के लिए रख दिया।

एक बार परशुराम ने किसी भविष्यवेत्ता से पूछा—"मेरी मृत्यु किस निमित्त से होगी?" उत्तर मिला—"जिस पुरुष के प्रताप से ये दाढाएँ क्षीर रूप मे परिणत हो जायगा और जो इस सिंहासन पर बैठ कर उस खीर को पी जायगा, वही तुम्हारी मृत्यु का कारण बनेगा।" यह सुन कर परशुराम ने एक दानशाला स्थापित की और उसके सामने एक उच्चासन पर दाढाओ से परिपूर्ण वह थाल रखवाया और उस पर पहरा लगा दिया।

सुभूम बढते-बढते युवावस्था मे आया।

वैताढ्य पर्वत पर रहने वाले विद्याधर मेघनाद ने किसी भविष्यवेत्ता से पूछा—"मेरी पुत्री पद्मश्री का पति कौन होगा?" भविष्यवेत्ता ने सुभूम को बताया। मेघनाद, पुत्री को ले कर सुभूम के पास आया और उसके साथ पुत्री के लग्न कर के स्वयं उसकी सहायता के लिए उसके पास रह गया।

एक बार सुभूम ने अपनी माता से पूछा—"क्या पृथ्वी इतनी ही बडी है, जहां हम रहते हैं?" माता ने कहा—"पुत्र! पृथ्वी तो असंख्य योजन लम्बी व चौडी है। इस पर हस्तिनापुर नगर है, जिस पर तुम्हारे पिता राज करते थे। किन्तु दुष्ट परशुराम ने उन्हे मार डाला और स्वय राजा बन गया। उस समय तुम गर्भ मे थे। मैं तुम्हे ले कर यहां चली आई और गुप्त रूप मे तुम्हारा पालन किया।" यह सुनते ही सुभूम का क्रोध भडका

वह उसी समय हस्तिनापुर के लिए चल दिया। उसका श्वशुर मेघनाद भी साथ हो गया। वह हस्तिनापुर की दानशाला मे आया। उसके आते ही थाल मे रही हुई दाढे गल कर क्षीर रूप मे हो गई। सुभूम उस क्षीर को पी गया। यह देख कर वहाँ रहे हुए रक्षक ब्राह्मण युद्ध कन्ने को तत्पर हो गए। मेघनाद ने उन सब को मार डाला। यह सुन कर परशुराम दौडा आया और सुभूम पर अपना फरसा फेंका। किंतु उसका निशाना चूक गया। परशुराम के पुण्य समाप्त हो गए थे और सुभूम के पुण्य का उदय हो रहा था। सुभूम ने वह क्षीर की खाली थाली परशुराम पर फेंकी। थाली ने चक्र के समान परशुराम का सिर काट डाला। परशुराम के मरने पर सुभूम राज्याधिपति हो गया। उसने इक्कीस बार पृथ्वी को ब्राह्मण-विहीन कर डाली और छह खंड को साध कर चक्रवर्ती सम्राट हो गया। उसने मेघनाद को वैताढ्य पर्वत की दोनो श्रेणियो का राज्य दिया।

भोगगृद्ध और हिंसादि महारभ तथा रौद्रध्यान की तीव्रता युक्त अपनी साठ हजार वर्ष की आयु पूर्ण कर सुभूम नाम का आठवाँ चक्रवर्ती सातवी नरक मे गया।

दत्त ासुदेव चरित्र

भगवान् श्री अरनाथ स्वामी के तीर्थ मे 'दत्त' नाम का सातवाँ वासुदेव, 'नन्दन' बलदेव और 'प्रल्हाद' प्रतिवासुदेव हुआ।

जम्बूद्वीप के पूर्व-विदेह मे सुसीमा नाम की नगरी थी। वसुधर नाम के नरेश वहाँ के अधिपति थे। उन्होने सुधर्म अनगार के समीप दीक्षा ली और चारित्र का पालन कर पाँचवे देवलोक मे देव हुए।

जम्बूद्वीप के दक्षिण भरतार्द्ध मे शीलपुर नगर था। मन्दरधीर राजा राज करते थे। उसके ललितमित्र नाम का गुणवान् ज्येष्ठ पुत्र था। राजा के खल नाम के मन्त्री ने वडे राजकुमार की निन्दा कर के राजा को अप्रसन्न कर दिया और छोटे पुत्र को युवराज वना दिया। इससे अप्रसन्न हो कर ललितमित्र ने घोषसेन मुनिजी के पास दीक्षा ग्रहण कर ली। उग्र तप करते हुए उसने निदान कर लिया कि—"मैं आगामी भव मे दुष्ट खल मन्त्री का वध करने वाला वनू।" निदान-शल्य सहित काल कर के वह प्रथम देवलोक मे ऋद्धि सम्पन्न देव हुआ। खल मन्त्री चिरकाल तक ससार मे परिभ्रमण करता हुआ जम्बूद्वीप के वैताढ्य पर्वत की उत्तर श्रेणी के तिलकपुर नगर मे विद्याधरो का अधिपति

'प्रह्लाद' नाम का प्रतिवासुदेव हुआ।

जम्बूद्वीप के दक्षिण भरत मे वाराणसी नगरी थी। अग्निसिंह नाम का इक्ष्वाकु वंशी राजा था। उसके रूप एवं सौन्दर्य से भरपूर जयंती और शेषवती नाम की दो रानियाँ थी। वसुधर मुनि का जीव, पाँचवे स्वर्ग से च्यव कर चार महास्वप्न के साथ महारानी जयंती के गर्भ मे आया। जन्म होने पर पुत्र का नाम 'नन्दन' दिया। ललितमित्र का जीव, महारानी शेषवती के गर्भ मे सात महास्वप्न के साथ आया। जन्म होने पर पुत्र का नाम 'दत्त' रखा। दोनो भाई युवावस्था मे समानवय के मित्र के समान लगते थे। वे महापराक्रमी योद्धा थे।

प्रतिवासुदेव प्रह्लाद को समाचार मिले कि—अग्निसिंह राजा के पास ऐरावत के समान उत्तम हाथी है। उसने हाथी की मांग की, किन्तु राजकुमारो ने उस मांग को अस्वीकार कर दी। प्रहलाद क्रोधित हो कर युद्ध के लिए चढ आया और अन्त मे उसी के चक्र से मारा गया। उसके समस्त राज्य पर राजकुमार दत्त ने अधिकार कर लिया और वासुदेव पद पर प्रतिष्ठित हुआ। राजकुमार नन्द बलदेव हुए। राज्य एव भोग मे गृद्ध एवं दुर्ध्यान मे लीन रहते हुए दत्त वासुदेव अपनी ५६००० वर्ष की आयु पूर्ण कर के पाँचवी नरक मे गए। नन्दन बलदेव संसार से विरक्त हो कर दीक्षित हो गए और चारित्र की आराधना कर मोक्ष प्राप्त हुए।

भ मल्लिनाथजी

जम्बूद्वीप के -विदेह के सलिलावती विजय मे वीतशोका नाम की नगरी थी। 'बल' नाम के महाराजा वहाँ राज करते थे। वे बड़े पराक्रमी और योद्धा थे। उनके 'धारणी' नाम की महारानी थी। 'महाबल उनका राजकुमार था। वह भी पूर्ण पराक्रमी था। उ कमलश्री आदि पाँचसो राजकुमारियो के साथ विवाह हुआ था। राजकुमार महाबल के—अचल, धरण, पूरण, वसु, वैश्रमण और अभिचन्द्र नाम के छह राजा बाल-मित्र थे। एक बार उस नगरी के बाहर इन्द्रकुब्ज उद्यान मे कुछ मुनि आ कर ठहरे। महाराज बल ने धर्मोपदेश सुना और युवराज महाबल को राज्यभार दे कर प्रव्रजित हो गए। तप-संयम की विशुद्धता पूर्वक आराधना करते हुए महाराजा ने मुक्ति प्राप्त की।

महाबल नरेश की कमलश्री महारानी से बलभद्र नामका पुत्र हुआ। यौवनवय प्राप्त होने पर राजकुमार बलभद्र को युवराज पद पर प्रतिष्ठित किया और आप अपने छ मित्र राजाओ के साथ जिनधर्म का श्रवण करने लगे। महाराजा महाबलजी ने वैराग्य मे सराबोर हो कर एक बार अपने मित्रो से कहा;—

"मित्रो ! मैं तो संसार से उद्विग्न हुआ हूँ और शीघ्र ही निर्ग्रंथ-प्रव्रज्या लेना चाहता हूँ। तुम्हारी क्या इच्छा है ?"

—"मित्र ! जिस प्रकार अपन सब सासारिक सुख-भोग मे साथ रहे, उसी प्रकार त्याग-मार्ग मे भी साथ रहेगे। हमारी योग-साधना भी साथ ही होगी। हम एक-दूसरे से भिन्न नही रह सकते। हम मुक्ति मे भी साथ ही पहुँचेगे।"

महावल नरेश ने युवराज बलभद्र को राज्याधिकार दिया। इसी प्रकार अन्य राजाओ ने भी अपने कुमारो को राज्य दिया। इसके बाद महाबल नरेश अपने छ मित्र-राजाओ के साथ महात्मा वरधर्म मुनिजी के पास दीक्षित हुए।

हाबल ुनि का मायाचार

प्रव्रजित होने के बाद सातो मुनिराजो ने यह प्रतिज्ञा की कि—"हम सातो ही एक ही प्रकार की तपस्या करते रहेगे। किसी एक की इच्छा जो तप करने की होगी, वही तप हम सब करेगे।" इस प्रकार निश्चय कर के सभी साधना मे प्रवृत्त हो गए। साधना करते हुए महावल मुनिराज के मन मे विचार उत्पन्न हुआ—

"मैं संसार मे सब से ऊँचा था। मेरे मित्र-राजाओ मे मेरा दर्जा ऊँचा रहा और यहाँ भी ये मेरा विशेष आदर करते हैं। अब यदि मैं तपस्या भी सब के समान ही करूँगा, तो आगे पर समान कक्षा मिलेगी। इसलिए मुझे इन छहो मुनियो से विशेष तप करना चाहिए, जिससे स्वर्ग मे भी मैं इनसे ऊँचे पद पर रहूँ।"

इस प्रकार विचार कर वे गुप्त रूप से अपना तप बढाने लगे। जब पारणे का समय आता और अन्य मुनि पारणा ला कर श्री महावल मुनिराज को पारणा करने का कहते, तो वे मायापूर्वक कहते—"आज तो मुझे भूख ही नही है, आज मेरे मस्तक मे पीडा हो रही है। आज मेरे पेट मे दर्द है"—इत्यादि बहाने बना कर पारणा नही करते और तपस्या वढा लेते। इस प्रकार मायाचार से वे अपने छहो मित्र मुनिवरो को ठगते। इस मायाचार से उन्होने 'स्त्रीवेद' का वन्ध कर लिया। इस माया के अतिरिक्त उनकी साधना उच्च प्रकार की थी। उच्च परिणाम, उग्रतप एवं अरिहंत आदि २० पदो की आराधना करते हुए उन्होने तीर्थंकर नाम कर्म का निकाचित वन्ध भी कर लिया। उनकी सयम और तप की आराधना वढती ही गई। अत समय निकट जान कर सातो ही मुनिवरो ने अनशन किया। उनका संथारा दो मास तक चला और अप्रमत्त अवस्था मे ही आयु पूर्ण कर 'जयत'* नाम के तीसरे अनुत्तर विमान मे अहमिन्द्रपने उत्पन्न हुए। उन सब की आयु वत्तीस सागरोपम प्रमाण हुई।

---

* आचार्य श्री हेमचन्द्रजी ने 'त्रिषष्ठीशलाका पुरुष चरित्र' मे 'वैजयन्त' नामक दूसरा अनुत्तर विमान बतलाया। किन्तु ज्ञातासूत्र मे 'जयन्त' ही लिखा है।

तीर्थंकर जन्म

इस जम्बूद्वीप के दक्षिण भरतार्द्ध मे 'मिथिला' नामकी प्रसिद्ध नगरी थी। वह धन-धान्यादि उत्तमताओ से समृद्ध थी। महाराजा कुंभ वहाँ के पराक्रमी शासक थे। वे उत्तम कुल-शील एवं राज-तेज से शोभायमान थे। रूप, लावण्य, सद्‌गुण एवं उत्तम महिलाओ की सभी प्रकार की विशेषताओ से विभूषित महारानी प्रभावती, महाराजा कुंभ की अर्द्धांगना थी।

महात्मा महाबलजी का जीव, जयत नामक अनुत्तर विमान से च्यव कर, फालगुन-शुक्ला चतुर्थी को अश्विनी नक्षत्र से चन्द्रमा का योग होने पर, महारानी प्रभावती के गर्भ मे आया। महारानी ने चौदह महास्वप्न देखे। गर्भ के तीसरे महीने बाद महारानी को दोहद (विशेष इच्छा) उत्पन्न हुआ कि 'पांच वर्ण के सुन्दर एवं सुगन्धित पुष्पो से सजी हुई शय्या का उपभोग करूं और उत्तम श्रीदामगंड (गुच्छे) को सूंघती हुई सुखपूर्वक रहूँ।' महादेवी के इस दोहद को निकट रहे हुए वाणव्यंतर देवो ने जाना और तदनुसार पूरा किया। गर्भकाल पूर्ण होने पर मार्गशीर्ष-शुक्ला ११ को अश्विनी नक्षत्र मे चन्द्रमा का योग होने पर और उच्च स्थान पर रहे हुए ग्रहो के समय, आधी रात मे सभी शुभ लक्षणो से युक्त उन्नीसवे तीर्थंकर पद को प्राप्त होने वाली पुत्री को जन्म दिया।

सभी तीर्थंकर पुरुष ही होते हैं। स्त्री-शरीर से कोई जीव तीर्थंकर नही होता। यह नियम है। किन्तु उन्नीसवे तीर्थंकर का स्त्री-शरीर से जन्म लेना, एक आश्चर्यजनक घटना है। श्री महाबल मुनि ने सयम की साधना करते हुए भी माया कषाय का उतनी तन्मयता से सेवन किया कि जो सज्वलन से निकल कर अनन्तानुबन्धी की सीमा मे पहुँच गया और उस समय स्त्री-वेद का बन्ध कर लिया। फिर साधना की उग्रता मे तीर्थंकर नाम-कर्म का बन्ध भी कर लिया। इस प्रकार बांधा हुआ कर्म उदय मे आया और स्त्री-पर्याय मे उत्पन्न होना पडा।

दिक् कुमारियो, देवीदेवताओ और इन्द्रो ने जन्मोत्सव किया। माल्य की शय्या पर शयन करने के दोहद के कारण पुत्री का नाम "मल्लि" दिया गया। आपका रूप अनुपम, अलौकिक एवं सर्वश्रेष्ठ था। योवनावस्था मे आपका शरीर अत्यन्त एवं उत्कृष्ट शोभायमान हो रहा था।

निधि निर्माण

आप देवलोक से ही अवधिज्ञान ले कर आये थे। आपने उस अवधिज्ञान से अपने

पूर्व-भव के मित्रो को देखा और भविष्य का विचार कर के अपने सेवको को आज्ञा दी कि— "अशोक वाटिका मे एक भव्य मोहनगृह का निर्माण करो। वह अनेक खभो से युक्त हो। उसके मध्यभाग मे छ कमरे हो। प्रत्येक कमरे मे एक जालगृह (जाली लगा हुआ बैठक का छोटा कमरा) हो और उसमे एक उत्तम सिंहासन रखा हो। यह मोहनघर अत्यंत रमणीय एव मनोहर बनाओ।"

राजकुमारी मल्लि की आज्ञा होते ही काम प्रारम्भ हो गया और थोडे ही दिनो मे उनकी इच्छानुसार भव्य मोहनघर तय्यार हो गया। उसके बाद राजकुमारी ने ठीक अपने ही अनुरूप और अपने ही समान रूप-लावण्यादि उत्तमताओ से युक्त एक पोली स्वर्ण प्रतिमा बनवाई और एक पीठिका पर स्थापित करवा दी। उस प्रतिमा के मस्तक पर एक छिद्र बनवा कर कमलाकार ढक्कन लगवा दिया। वह प्रतिमा इस कौशल से बनवाई थी कि देखने वाला व्यक्ति उसे प्रतिमा नही समझ कर, साक्षात् प्रसन्नवदना राजकुमारी ही समझे।

प्रतिमा बनवाने के बाद भगवती मल्लिकुमारी, जो उत्तम भोजन करती, उसका एक ग्रास उस प्रतिमा के मस्तक पर रहे हुए छिद्र मे डाल कर ढक्कन लगा देती। इस प्रकार वे प्रतिदिन करती रहती। वह भोजन का ग्रास प्रतिमा मे पडा हुआ सडता रहता। उसमें असह्य दुर्गन्ध उत्पन्न होती रहती। वह सडांध दिनोदिन तीव्रतम होती गई। इस प्रकार यह निमित्त तय्यार होने लगा। मातापितादि इस क्रिया को देख कर विचार करते—'यह राजदुलारी, अपनी उत्तमोत्तम प्रतिमा मे भोजन डाल कर क्यो सड़ा रही है?' फिर वे सोचते—'अवश्य इसमे कुछ-न-कुछ रहस्य है। हमारी बेटी ऐसी नही, जो व्यर्थ ही ऐसा काम करे। यह अलौलिक आत्मा है। इसमे अवश्य ही कोई उत्तम उद्देश्य है। इसके द्वारा भविष्य मे कोई उलझी हुई गुत्थी सुलझने वाली है। यथासमय इसका परिणाम सामने आ जयगा।" इस प्रकार सोच कर वे सतोष कर लेते।

पूर्वभव के मित्रों का आकर्षण

(१) महात्मा महाबलजी के साथी 'अचल' अनगार का जीव, अनुत्तर विमान मे च्यव कर इसी भरत क्षेत्र मे कोशल देश के साकेतपुर नगर के शासक के पुत्र रूप मे उत्पन्न हुआ और 'प्रतिबुद्धि' नाम का इक्ष्वाकुवंशीय नरेश हुआ। महाराज प्रतिबुद्धि के पद्मा-

वती महारानी थी और सुबुद्धि नाम का प्रखर बुद्धिशाली मन्त्री था।

साकेतपुर नगर के बाहर नागदेव का मदिर था। महारानी पद्मावती, नागदेव का उत्सव कर रही थी। प्रतिबुद्ध नरेश के साथ महारानी उस उत्सव मे गई। राजाज्ञा से वहाँ राजकुटुम्ब के लिए एक 'पुष्प-मण्डप' तय्यार किया गया। वह इस प्रकार कलापूर्ण ढग से सुन्दर बनाया गया था कि देखने वालो को उसकी सुन्दरता अपूर्व लगे। उस 'कुसुमगृह' मे विविध प्रकार के सुन्दर पुष्पो से बनाया हुआ एक मनोहर गेंद (अथवा मुद्गर) रक्खा गया था। जब प्रतिबुद्ध नरेश, पुष्प-मंडप मे आये और विविध पुष्पो से बने हुए उस मनोहर श्रीदामगड को देखा, तो चकित रह गये। इस प्रकार का उत्तम और कलापूर्ण श्रीदामगड उन्होने पहले कभी नही देखा था। उनकी दृष्टि उसी पर स्थिर हो गई। उन्होने अपने महामात्य 'सुबुद्धि' से पूछा—'देवप्रिय! तुम मेरे आदेश से अनेक राज्यो मे गये और अनेक उत्सवो मे शरीक हुए। तुमने अन्य किसी स्थान पर इस प्रकार का उत्तम श्रीदामगड देखा है?" सुबुद्धि ने कहा—"स्वामिन्! आपकी आज्ञा से एक बार मैं मिथिला गया था। उस समय वहाँ राजकन्या मल्लि की वर्ष-गाँठ मनाई जा रही थी। वहाँ मैंने जो श्रीदामगड देखा, वह अपूर्व था। आपका यह श्रीदामगड तो उसके लाखवे अश मे भी नही आता।" महामात्य की यह वात सुन कर राजा ने पूछा—'देवप्रिय! जिस राजकुमारी का श्रीदामगड इतना उत्तम है, तो वह स्वयं कैसी है?" "स्वामिन्! राजकुमारी मल्लि, विश्वभर मे अपूर्व एव अनुपम सुन्दरी है। उसकी सुन्दरता की बराबरी विश्व की कोई भी सुन्दरी नही कर सकती।" महामात्य के शब्दो ने प्रतिबुद्ध के मोह को जाग्रत कर दिया। उसका पूर्व स्नेह जाग्रत हुआ। उसने अपने दूत को, राजकन्या मल्लि की याचना करने के हेतु मिथिला नरेश के पास भेजा। उसने दूत को इतना अधिकार दे दिया था कि 'यदि मल्लि के बदले राज्य भी देना पडे, तो देदे।' इस प्रकार पूर्वभव का प्रथम मित्र आकर्षित हुआ।

अरहन्न श्रावक की दृढ़ता

(२) महात्मा धरणजी के अवतरण और आकर्षण की कथा इस प्रकार है। अंगदेश की चम्पानगरी मे 'चन्द्रच्छाया' राजा राज करता था। वहाँ अरहन्नक आदि अनेक व्यापारी रहते थे। वे सभी सम्मिलित रूप से नौका द्वारा विदेशो मे व्यापार करते थे। अर-

देख लिया है। वास्तव मे आप दृढ-धर्मी हैं। मैं आपसे अपने अपराध की क्षमा माँगता हूँ।" इस प्रकार प्रशसा कर और दो जोड़ी दिव्य कुण्डल दे कर देव चला गया।

कालान्तर मे व्यापारियो का वह सार्थ, मिथिला आया और कुंभराजा को दिव्य कुण्डल सहित मूल्यवान् नजराना (भेंट) किया। मिथिलेश ने वे दिव्य कुण्डल, राजकुमारी मल्लि को उसी समय दे दिये और अरहन्नकादि व्यापारियो का समान किया, तथा उनके व्यापार पर का कर माफ कर दिया। वहाँ वेचने योग्य वस्तुएँ वेच कर और नया माल खरीद कर वे व्यापारी लौट कर चम्पानगरी मे आये और "चन्द्रछाया" नरेश को दूसरे दिव्य कुण्डल की जोडी सहित नजराना किया। अंगदेशाधिपति ने अरहन्नकादि से पूछा—"आप कई देशो मे घुम आये। कही कोई ऐसी वस्तु देखी कि जो अन्यत्र नहीं हो और आश्चर्य-कारी हो?" अरहन्नक ने कहा—"स्वामिन्! हमने मिथिला नगरी मे राजकुमारी मल्लि को देखा है। वास्तव मे वह त्रिलोक-सुन्दरी है। वैसा रूप, विश्व की किसी भी सुन्दरी मे नही है।" व्यापारियो के निमित्त से चन्द्रछाया का मोह जाग्रत हुआ और उसने भी अपना दूत, मल्लिकुमारी की याचना के लिए मिथिला भेजा।

(३) भगवान् मल्लिनाथ के पूर्वभव के मित्र महात्मा पूरणजी, जयन्त नाम के अनुत्तर विमान से च्यव कर, कुणाल देश की सावत्थी नगरी मे, 'रुपी' नाम के कुणाला-धिपति नरेश हुए। उनके 'सुबाहु' नाम की सुन्दरी नवयौवना पुत्री थी। एक बार राज-कुमारी सुबाहु के चातुर्मासिक स्नान का उत्सव मनाया गया। शहर के मध्य मे एक भव्य पुष्प-मडप तय्यार किया और उसके मध्य मे एक पुष्प निर्मित श्रीदामगण्ड' (गेंद या मुद्गर) रखा गया। उत्सव बडे ही आडम्बरपूर्वक मनाया गया। राजा, बडे भारी जुलूस से, अन्तःपुर व राजकुमारी के साथ, उस भव्य मण्डप में आया और राजकुमारी का स्ना-नोत्सव किया। राजा की दृष्टि मे वह उत्सव बहुत ही महत्वपूर्ण एव अपूर्व था। उसने अपने वर्षधर = अन्तःपुर रक्षक से पूछा—'देवप्रिय! तुम मेरी आज्ञा से अनेक देशो और राज-धानियो मे गये और अनेक उत्सव देखे, किन्तु जैसा स्नानोत्सव यहाँ हो रहा है, वैसा अन्यत्र कहीं तुम्हारे देखने मे आया?' वर्षधर ने कहा—"स्वामिन्! एक बार मैं आपकी आज्ञा से मिथिला गया था। वहाँ विदेह राजकुमारी मल्लि का स्नानोत्सव मैंने देखा था। वह उत्सव इतना भव्य और उत्कृष्ट था कि जिसके आगे आपका यह उत्सव बिलकुल फीका और निस्तेज लगता है।" बस, राजा के मोह का भाजन करने का निमित्त मिल गया। उसने भी अपना दूत मिथिलाधिपति के पास, मल्लि की याचना के लिए भेजा।

(४) अरहन्नक श्रमणोपासक ने जो दिव्य कुण्डल जोडी, मिथिलेश को भेट की और जिसे भगवती मल्लि कुमारी धारण करती थी, उस कुण्डल की संधी टूट गई स्वर्णकारो ने उसे जोडने का बहुत प्रयत्न किया, किन्तु वह जुड नही सकी। क्योकि वह देव-निर्मित्त कुण्डल था। उसको जोडने की शक्ति मनुष्य मे कहाँ ? उन्होने महाराजा से निवेदन किया—'यदि आज्ञा हो, तो हम इस कुण्डल जैसे ही दूसरे कुण्डल बना सकते हैं, किन्तु इसे जोडने की शक्ति हम मे नही है। हमने बहुत परिश्रम किया, किन्तु यह हम से नही जुड सका।" नरेन्द्र कुपित हुए। उन्होने क्रोधपूर्वक कहा—"तुम कैसे कलाकार हो ! तुम से एक कुण्डल की सधी भी नही जुड सकी। इस प्रकार के कलाविहीन लोग हमारे देश के लिए कलक रूप हैं। जाओ निकलो—इस राज्य से ! तुम्हारे जैसे ढोंगियो की (जो कलाविहीन हो कर भी अपने को उत्कृष्ट कलाकार बतलाते हैं) यहाँ जरूरत नही है। हमारा देश छोड कर निकल जाओ।' स्वर्णकारो को देश निकाला हो गया। वे अपने-अपने कुटुम्ब और सर-सामान ले कर और विदेह देश छोड कर काशी देश की वाराणसी नगरी मे आये। उस समय वहाँ 'शख' नाम का नरेश राज करता था। वह सम्पूर्ण काशी देश का अधिपति था। ये शख नरेश, महामुनि महाबलजी के अनुगामी 'वसु' नाम के महात्मा थे और अनुत्तर विमान से च्यव कर आये थे। स्वर्णकारो का सघ, बहुमूल्य भेंट ले कर काशी नरेश की सेवा मे उपस्थित हुआ। उन्होने भेट समर्पित कर के निवेदन किया—

"स्वामिन् ! हमे विदेह देश से निकाला गया है। हम आपकी शरण मे आये हैं। हमे आश्रय प्रदान कीजिए।"

"विदेहराज ने तुम्हे देश निकाला क्यो दिया"—राजेन्द्र ने पूछा।

"नराधिपति ! विदेहराजकुमारी मल्लि के कुंडलो की सधी टूट गई थी। हम उस संधी को जोड नही सके। इसलिए कुपित हो कर मिथिलेश ने हमे देश निकाला दिया।"

"स्वामिन् ! हम कलाकार हैं। अपनी कला मे हम निष्णात हैं। किन्तु वह कुडल जोडी ही अलौकिक थी। उसका निर्माण मनुष्य द्वारा नही हुआ था। उसकी सधी को मिला देना किसी भी मनुष्य के लिए असंभव है। फिर हम उसे कैसे जोड सकते थे ? बस यही हमारा अपराध था"—स्वर्णकार सघ के प्रमुख ने कहा।

"ऐसी अपूर्व कुडल की जोडी है वह ? अच्छा यह बताओ कि उन दिव्य कुडलो को धारण करने वाली विदेहराज-कन्या कैसी है"—राजा का प्रश्न।

"स्वामिन् ! विदेहराज-कन्या मल्लिकुमारी के रूप, लावण्य और यौवन का हम क्या

वर्णन करे। वह तो अलौकिक सुन्दरी है। उसके समान सौन्दर्य, इस सृष्टि पर दूसरा हो ही नही सकता। उसकी बराबरी तो देव-कन्याएँ भी नही कर सकती"—स्वर्णकारो ने कहा।

राजा का मोह भडका। स्वर्णकारो को बिदा करने के बाद राजा ने अपने दूत को बुला कर मल्लिकुमारी की याचना के लिए, मिथिला नरेश के पास भेजा।

(५) भगवती मल्लिकुमारी के एक छोटा भाई था, जिसका नाम "मल्लिदिन्न" था। उसने एक चित्रशाला (रंगशाला = विलास-भवन) बनवाया। कलाकारो ने उसमे अनेक प्रकार के विलासजन्य सुन्दर चित्र बनाये। एक चित्रकार को चित्रकारी की लब्धि प्राप्त थी। उस लब्धि के प्रभाव से उसमे ऐसी शक्ति उत्पन्न हुई थी कि किसी के शरीर का जरासा भी हिस्सा देख लेता, तो वह उसके सारे शरीर का यथातथ्य चित्र बना सकता था। उसने एक वार मल्लिकुमारी का पर्दे की जाली मे से पांव का अंगूठा देख लिया था। उस पर से मल्लिकुमारी का पूरा रूप उसके ध्यान मे आ गया। उसने सोचा कि ऐसी अपूर्व सुन्दरी का चित्र बनाने से राजकुमार बहुत प्रसन्न होगे। इस प्रकार मिथ्या अनुमान लगा कर उसने राजकुमारी मल्लि का चित्र बना दिया। जब चित्रशाला पूर्ण रूप से तय्यार हो गई, तो मल्लिदिन्न युवराज, अपनी रानियो के साथ उसे देखने को आया। उसकी धात्रि-माता भी साथ ही थी। वह हावभाव और विलास पूर्ण चित्र देखता हुआ जब मल्लिकुमारी के चित्र के पास आया और उस पर उसकी दृष्टि पडी, तो एक बारगी वह पीछे हट गया। उसे आश्चर्य हुआ कि "पूज्य बहिन यहाँ क्यो आई ?" युवराज को विस्मयपूर्वक पीछे हटता हुआ देख कर धायमाता ने पूछा—'पुत्र ! पीछे क्यो हटे ?' युवराज ने कहा—माता ! यह लज्जा की बात है कि मेरे देव और गुरु के समान पूज्या ज्येष्ठ भगिनी यहाँ उपस्थित है।' धात्रि ने कहा—'पुत्र ! तुम भ्रम मे हो, यहाँ मल्लिकुमारी नही है। यह तो उनका चित्र है।' मल्लिदिन्नकुमार सावधान हुआ, उसे विश्वास हो गया कि वास्तव मे यह चित्र ही है। अब वह चित्रकारो पर क्रुद्ध हुआ। उसने कहा—'ऐसा कौन नीच चित्रकार है, जिसने मेरे विलास-भवन मे मेरी देव-गुरु तुल्य पूजनीय बहिन का चित्र बनाया।' उसने क्रोध मे ही उस चित्रकार के वध की आज्ञा दे दी। युवराज की कठोर आज्ञा सुन कर सभी चित्रकार उपस्थित हुए और उस चित्रकार के प्राणो की याचना करने लगे। राजकुमार ने उसके वध के बदले उसका अंगूठा कटवा कर देश निकाला दे दिया। देश-निकाला पाया हुआ, वह अंगुष्ठ-विहीन चित्रकार, कुरु जनपद के हस्तिनापुर नगर मे आया और विदेह राजकुमारी मल्लि का साक्षात् सदृश चित्र बना कर वहाँ के 'अदीनशत्रु' राजा को भेंट

किया और निवेदन किया—

"स्वामिन्! मैं चित्रकार हूँ। मुझे चित्रकारी की ऐसी विद्या प्राप्त है कि किसी भी वस्तु का कोई भी हिस्सा देख लूँ तो उसका पूरा—साक्षात्-सदृश्य रूप बना दूँ। इसी चित्र के कारण विदेह के युवराज ने मेरा अगूठा कटवा कर मुझे निर्वासित किया है। अब मुझे आप अपनी छत्र-छाया मे शरण दीजिए।" महाराज अदीनशत्रु भी, राजकुमारी मल्लि के पूर्वभव के मित्र, मुनिराज वैश्रमणजी थे और विजय नाम के अनुत्तर विमान की कुछ कम ३२ सागरोपम प्रमाण आयुष्य पूर्ण कर के आये थे। राजकुमारी मल्लि के उस चित्र ने राजा को आकर्षित किया और उसने भी अपना दूत मिथिला की ओर भेजा।

चोक्खा का पराभव

(६) मिथिला मे एक 'चोक्खा' नाम की परिव्राजिका थी। वह चारो वेद और अनेक शास्त्रो मे पंडिता थी। दान, तीर्थाभिषेक और शुचि मूल धर्म का प्रचार करती हुई विचरती थी। एक बार वह अपनी शिष्याओ के साथ विदेह-राजकन्या के पास आई और भूमि पर पानी छिडक कर उस पर अपना आसन बिछा कर बैठ गई। परिव्राजिका ने अपने दानादि धर्म का उपदेश दिया। भगवती मल्लिकुमारी ने परिव्राजिका से पूछा—

"तुम्हारे धर्म का मूल क्या है?"

"हमारे धर्म का मूल शुचि है। शौच मूल धर्म का पालन करने से जीव स्वर्ग मे जाता है"— परिव्राजिका ने कहा।

"चोक्खे! रक्त रजित वस्त्र यदि रक्त से ही धोया जाय, तो उसकी शुद्धि नही होती, उसी प्रकार प्राणातिपातादि अठारह पाप करने से आत्मा के कर्म-बन्धन नही छूटते। तुम्हारा मार्ग, आत्मा की शुद्धि का नही, किन्तु बन्ध का है। तुम्हारे ऐसे प्रचार से कोई लाभ नही होता।"

इस प्रकार भगवती मल्लिकुमारी के प्रभावशाली एव अर्थ-गाभीर्य वचनो से चोक्खा निरुत्तर हो कर प्रभावहीन बन गई। उसका चेहरा उतर गया। उसकी ऐसी दशा देख कर राजकन्या की दासियाँ, चोक्खा का उपहास करने लगी। चोक्खा अपने इस अपमान को सहन नही कर सकी। उसके मन मे राजकुमारी के प्रति वैरभाव उत्पन्न हो गया। वह वहाँ से निकल कर पाचाल देश के कपिलपुर नगर मे आई। वहाँ जितशत्रु राजा राज करता था।

वह पाचाल जनपद का अधिपति था। जितशत्रु नरेश भी भगवती मल्लिकुमारी के पूर्वभव के मित्र थे। उनका नाम अभिचन्द्र मुनि था। वे भी अनुत्तर-विमान से च्यव कर आये थे। चोक्खा वहाँ अपने धर्म का प्रचार करने लगी। एकदा राजा, अपनी एक हजार रानियो के साथ अन्त पुर मे था, तब चोक्खा परिव्राजिका वहाँ पहुँची। राजा और रानियो ने उसका आदर-सत्कार किया। धर्मोपदेश के पश्चात् राजा ने चोक्खा से पूछा—"आप अनेक राजाओ के अन्त पुर मे जाती है, किन्तु मेरे अन्त पुर की रानियो के समान रूप-सौन्दर्य आपने और कही देखा है ?" राजा की बात सुन कर चोक्खा हँसी और बोली—

"राजन् ! तुम कूप-मडुक के समान हो। जिस प्रकार कूएँ मे रहा हुआ मेढक, अपने कूएँ को ही सबसे बडा मान कर समुद्र की बडाई नही जानता, उसी प्रकार तुम अपनी रानियो मे ही संसार का समस्त सौन्दर्य देखते हो। किन्तु तुम्हे मालूम नही है कि मिथिलेशनन्दिनी राजकुमारी मल्लि के सौन्दर्य के सामने तुम्हारी सभी रानियाँ फीकी है। ये उसकी दासी के तुल्य भी नही हैं। वह त्रिलोक सुन्दरी है। कोई देवी भी उसके रूप की समानता नही कर सकती।"

चोक्खा, राजा के मोह को भडका कर चली गई। राजा ने शीघ्र ही दूत को बुलाया और मिथिला भेजा।

छहो दूत मिथिला पहुँचे और विनयपूर्वक मल्लिकुमारी की याचना की। किन्तु मिथिलेश ने सब की माँग ठुकराते हुए उन दूतो से कहा—

"तुम्हारे राजा नादान है, मूर्ख है। वे नही समझते कि हम पामर प्राणी किस अलौकिक आत्मा पर अपना मन बिगाड रहे है। जो महान् आत्मा, इन्द्रो से भी पूज्य है, उसके प्रति उन राजाओ का मोहभाव धिक्कार के योग्य है। तुम जाओ और अपने स्वामियो से कहो कि वे अपना दु साहस छोड दें।"

युद्ध और अवरोध

इतना कहकर दूतो को अपमानपूर्वक निकाल दिया। वे दूत अपनी-अपनी राजधानी पहुँच कर अपने स्वामियो को मिथिलेश का उत्तर सुनाया। दूतो की बात सुन कर छहो राजा क्रोधित हुए और एक-दूसरे से दूत द्वारा परामर्श कर के मिथिलेश से युद्ध करने को तत्पर हो गये। छहो राजाओ की विशाल सेनाएँ विदेह देश की ओर बढी। उधर विदेहा-

धिपति भी शत्रु-सैन्य का आगमन सुन कर, अपनी सेना के साथ, अपने देश की सीमा पर आ धमके। भीषण युद्ध हुआ। इस युद्ध मे छहो राजा एक ओर थे। उनकी शक्ति भी विशाल थी और कुभराजा अकेले थे। मिथिलेश की हार हुई ‡। उन्होने विदेह का मोर्चा छोड दिया और मिथिला नगरी मे आ कर उसके किले के द्वार बन्द करवा दिये। छहो राजाओ ने मिथिला के बाहर घेरा डाल दिया।

मित्रों को प्रतिबोध

कुभ राजा, छहो राजाओ से बचाव के उपाय ढूँढने लगे। उन्हे कोई उपाय नही सूझ रहा था। वे इसी चिंता मे बैठे थे कि भगवती मल्लिकुमारी ने आ कर पिता की चरण-वंदना की। राजा चितातुर थे। उन्होने कुमारी का आदर नही किया। पूछने पर राजेन्द्र ने कहा—"पुत्री! तेरे ही कारण यह सकट उत्पन्न हुआ है। इस सकट से बचने का मुझे कोई उपाय दिखाई नही देता। मैं इसी चिंता मे बैठा हूँ।"

पिता की बात सुन कर राजकुमारी ने कहा—

"तात! आप चिंता नही करे और छहो राजाओ को भिन्न-भिन्न दूत के द्वारा कहलाइये कि "हम अपनी कन्या आपको देंगे। आप चुपचाप रात के समय यहाँ आ जावे।" इस प्रकार छहो राजाओ को गर्भ-गृह मे पृथक् पृथक् रखिये और मिथिला के द्वार बन्द ही रख कर, उस पर कड़ा पहरा रख दीजिए। इसके बाद मैं सब सम्हाल लूंगी।"

मिथिलेश को यह सलाह अच्छी लगी। उन्होने सोचा होगा—"राजकुमारी कितनी चतुर है। इस प्रकार सहज ही मे छहो शत्रुओ को अधिकार मे कर लिया जायगा। फिर तो सकट टला ही समझो।" उन्होने शीघ्र ही प्रबन्ध किया। छहो नृपति, कुभ नरेश का सन्देश पा कर बहुत प्रसन्न हुए और समझे कि "हमे ही राजकन्या मिलेगी"। वे प्रसन्नता पूर्वक चले आये *।

---

‡ ज्ञातासूत्र मे युद्ध होने का उल्लेख है, किन्तु 'त्रिशष्ठि शलाका पुरुष चरित्र' मे केवल मिथिला नगरी को घेरा डालने का ही उल्लेख है।

* इससे यह स्पष्ट होता है कि उस समय शत्रु की बात पर भी विश्वास किया जाता था। व्यवहार मे झूठ ने इतना स्थान नहीं बना लिया था—जितना वर्तमान मे है। आज सत्य-प्रियता बहुत घट गई है।

प्रातःकाल छहो राजाओ ने अपने-अपने कमरो मे से जालघर मे स्थापित की हुई राजकन्या की स्वर्णमयी प्रतिमा देखी। उन्हे विश्वास हो गया कि 'यही राजकन्या है।' वे उसके सौन्दर्य पर मोहित हो गए और एकटक देखते रहे। इधर मल्लिकुमारी वस्त्राभूषण से सज्ज हो कर, अपनी दासियो और अंतःपुर-रक्षको के साथ जालघर मे आई और प्रच्छन्न रह कर मूर्ति के मस्तक का ढक्कन खोल दिया। फिर क्या था, उसमे से घिरी हुई महान् असह्य दुर्गन्ध एकदम बाहर निकली और सारे भवन को भर दिया। वे मदान्ध राजा, उस दुर्गन्ध को सहन नही कर सके और अपनी नाक बन्द कर ली। उनकी यह दशा देख कर भगवती मल्लिकुमारी ने उनसे पूछा—

"अहो विषयान्ध प्रेमियो! थोडी देर के पहले तो आप सब एकटक मेरी प्रतिमा को देख रहे थे। अब नाक बन्द कर के घृणा क्यो कर रहे हो?"

—"हमे आपका सौन्दर्य तो प्रिय है, किन्तु इस असह्य दुर्गन्ध को हम सहन नही कर सकते। इससे बचने के लिए हमने अपनी नासिका बन्द की है। हम घबडा रहे हैं"—छहो राजाओ ने कहा।

"हे मोहाभिभूत नरेशो"—भगवती मल्लिकुमारी ने उन मोहान्ध राजाओ को सम्बोधित करते हुए, उनके मोह के नशे को उतारने के उद्देश्य से कहा—"यह प्रतिमा मेरे ही रग रूप जैसी है, फिर भी यह स्वर्ण निर्मित्त है—हाड, मास और रक्तादि इसमे नही है। मैने इसमे उसी सुस्वादु और उत्तम भोजन के निवाले डाले हैं, जिन्हे मैं खाती थी। जब उत्तम स्वर्णमयी प्रतिमा मे भी आहार का ऐसा अशुभतर परिणाम होता है, तो हाड, मास, रक्त, वात, पित्त, कफ और विष्ठादि अशुभ पुद्गलो वाले सड़न, पड़न और विध्वंशन शील, इस देह का क्या परिणाम हो सकता है?"

"महानुभावो! सोचो, समझो और कामभोग की आसक्ति को छोडो। ये भोग तुम्हे अच्छे लगते हैं, किन्तु इनका परिणाम महान् भयानक होता है। भोग, रोग, शोक और दुर्गति का देने वाला तथा जन्ममरण बढाने वाला होता है।"

"आत्म बन्धुओ! अज्ञान को छोडो और विचार करो। अपन सभी पूर्वभव के साथी हैं। इस भव से पूर्व तीसरे भव मे, हम सब अपर महाविदेह के 'सलीलावती विजय' मे 'महाबल' आदि सात बाल-मित्र थे। बचपन से साथ ही रहे थे। हम सभी ने साथ ही ससार छोड कर संयम स्वीकार किया था। किन्तु मैं मायापूर्वक तप बढाती रही। इस मायाचारिता के कारण मैने स्त्री नाम-कर्म का बन्ध किया। वहाँ से हम सभी आयुष्य पूर्ण

कर के जयंत विमान मे उत्पन्न हुए। हम सब ने वहाँ अपने मन से ही आपस मे संकेत किया था कि "मनुष्य होने पर एक दूसरे को प्रतिबोध देगे। बन्धुओ! याद करो, अपनी स्मृति को एकाग्रता पूर्वक पिछले भव की ओर लगाओ। तुम्हे सब प्रत्यक्ष दिखाई देगा।"

—वे सभी एकभवावतारी, हलुकर्मी एव सकेत मात्र से समझने वाले थे। भगवती मल्लिकुमारी का उद्‌बोध, उन सब के हृदय मे पैठ गया। सब ने शुभ परिणाम से उपयोग लगाया। कमजोर आवरण खिसक गये और जातिस्मरण ज्ञान प्रकट हो गया। उन सब राजाओ ने अपने पूर्वभव और पारस्परिक सम्बन्ध देखे। गर्भगृह का द्वार खुल गया। छहो नरेन्द्र, द्रव्य अरिहत भगवान् मल्लिनाथ के समीप उपस्थित हुए—पूर्वभव के सातो मित्र मिले। भगवान् मल्लिनाथ ने अपने मित्रो से कहा।

'मै तो ससार का त्याग करना चाहती हूँ। तुम्हारी क्या इच्छा है?"

—"हम भी आपके साथ ही संसार छोडेंगे। अब संसार मे रह कर हम क्या करेंगे। हमे भी ससार मे कोई रुचि नही है। जिस प्रकार पिछले तीसरे भव मे आप हमारे नेता थे, उसी प्रकार अब भी हमारे नेता ही रहेगे"—सभी मित्रो ने कहा।

—"अच्छा तो पहले अपने पुत्रो को राज्य पर स्थापित करो, फिर यहाँ आओ। अपन सब एक साथ ही दीक्षित होगे"—अरिहत ने कहा।

छहो राजा, कुभराजा के पास आये और उनके चरणो मे झुके। कुभराज ने सभी का आदर-सत्कार कर के विदा किया।

वर्षीदान

लोकान्तिक देवो का आसन कम्पायमान हुआ और उन्होंने अपने ज्ञान में देखा कि अर्हन्त मल्लिनाथ के निष्क्रमण का समय निकट आ गया है। वे भगवान् के पास आये और परम विनीत एवं मृदु शब्दो मे निवेदन किया—

"वुज्झाहि भगवं! लोगणाहा, पवत्तेहि धम्मतित्थ।
जीवाणं हियसुहणिस्सेयस करं भविस्सई।"

—"भगवन्! बूझो। हे लोकनाथ! जीवों के हित-सुख और मुक्ति-दायक धर्म-तीर्थ का प्रवर्त्तन करो।"

इस प्रकार दो-तीन बार निवेदन कर के और भगवान् को प्रणाम कर के लौट गये।

अरिहंत मल्लिनाथ भगवान् ने निश्चय किया कि 'मै एक वर्ष बाद ससार का त्याग कर दूंगा ।' भगवान् का अभिप्राय जान कर प्रथम स्वर्ग के अधिपति देवेन्द्र शक्र ने 'वर्षीदान' की व्यवस्था करवाई । अर्हन्त भगवान्, नित्य प्रात काल एक करोड आठ लाख सोने के सिक्को का दान करने लगे । उधर मिथिलेश ने भी दानशाला चालू कर दी, जिसमे याचको को सम्मानपूर्वक आहारादि का दान दिया जाने लगा । इस प्रकार एक वर्ष मे तीन अरब, अठासी करोड अस्सी लाख सोने के सिक्को का दान किया ।

भगवान् ने मातापिता के सामने अपने महाभिनिष्क्रमण की इच्छा व्यक्त की । मातापिता तो जानते ही थे । उन्होने सहर्ष आज्ञा प्रदान कर दी और महोत्सव प्रारभ किया । भगवान् के महाभिनिष्क्रमण महोत्सव मे देवेन्द्र भी उपस्थित हुए । भव्य महोत्सव मनाया गया । भगवान् की शिविका को उठाने मे बलेन्द्र, चमरेन्द्र, शक्रेन्द्र और ईशानेन्द्र ने भी योग दिया ।

भगवान् ने पौष † शुक्ला एकादशी को अश्विनी नक्षत्र मे, दिन के पूर्व-भाग में तेले के तप सहित स्वयं पंच-मुष्टि लोच किया और सिद्धो को नमस्कार कर के स्वय सामायिक चारित्र ग्रहण किया । आपके साथ ३०० स्त्रियो, ३०० पुरुषो और ८ राजकुमारो ने दीक्षा ली । भगवान् को उसी समय 'विपुलमति मन पर्यज्ञान' उत्पन्न हो गया और उसी दिन शाम को उन्हे केवलज्ञान एव केवलदर्शन भी प्राप्त हो गया ※ । वे द्रव्य-तीर्थंकर से भाव-तीर्थंकर हो गये । इसके बाद भगवान् ने अपनी प्रथम धर्मदेशना इस प्रकार चालू की—

धर्मदेशना—समता

भगवान् ने केवलज्ञान प्राप्त करने के बाद अपने प्रथम उपदेश मे 'समता' का महत्व बतलाते हुए फरमाया कि—

"यह ससार अपने-आप मे अपार होते हुए भी जिस प्रकार पूर्णिमा के दिन समुद्र वढता है, उसी प्रकार रागादि से विशेष वढता रहता है । इस वृद्धि का मूल कारण है—

---

† त्रि श पु. च और आवश्यक मे मार्गशीर्ष शु ११ का उल्लेख है और 'जैन सिद्धान्त बोल सग्रह' भाग ६ मे भी ऐसा ही है । किन्तु यह सूत्रानुसार नही है ।

※ आवश्यक भाष्य गा २६१ और टीका मे छद्मस्थकाल 'अहोरात्रि' का लिखा । जैन सिद्धात बोल सग्रह भा ६ पृ १८५ मे भी ऐसा ही है । यह ज्ञातासूत्र से विपरीत है ।

समता का अभाव। जहाँ समता है, वहाँ संसार की वृद्धि नही है। जो प्राणी उत्तरोत्तर आनन्द को उत्पन्न करने वाले समता रूपी जल मे स्नान करता है, उसके राग-द्वेष रूप मल तत्काल धुल जाते हैं। प्राणी, जिन कर्मों को कोटी जन्म तक तीव्र तप का आचरण कर के भी नष्ट नही कर सकता, उन कर्मो को समता का अवलम्बन कर के आधे क्षण मे ही नष्ट कर देता है। जीव और कर्म—ये दोनो आपस मे मिल कर एकमेक हो गए है। इन्हे ज्ञान के द्वारा जान कर आत्मनिश्चय करने वाला साधु पुरुष, सामायिक रूपी सलाई से पृथक्-पृथक् कर देता है। योगी पुरुष सामायिक रूपी किरण से रागादि अन्धकार का विनाश कर के अपने परमात्म स्वरूप का दर्शन करते है।

जिन प्राणियो मे स्वार्थ के कारण नित्य वैर—जाति वैर होता है, वे प्राणी भी समता के सागर ऐसे महान् संत पुरुष के प्रभाव से परस्पर स्नेह से रहते हैं।

समता उसी विशिष्ट आत्मा मे निवास करती है, जो सचेतन या अचेतन—ऐसी किसी भी वस्तु मे इष्ट अनिष्ट = अच्छे-बुरे का विचार कर के मोहित नही होती। कोई अपनी भुजाओ पर गोशीर्ष चन्दन का लेप करे, या तलवार से काट डाले, तो भी जिसकी मनोवृत्ति मे भेद उत्पन्न नही होता, उसी पुरुष मे अनुपम समता के दर्शन होते हैं। स्तुति करने वाले, प्रशसा करने वाले अथवा प्रीति रखने वाले पर और क्रोधान्ध, तिरस्कार करने वाले या गालियाँ देने वाले पर जिस महानुभाव का चित्त समान रूप से रहता है, उस पुरुष मे ही समता का निवास रहता है।

जिसने मात्र समता का ही अवलम्बन लिया है, उसको किसी प्रकार के होम, जप और दान की आवश्यकता नही रहती। उसको समता से ही परम निवृति = मोक्ष प्राप्त हो जाती है।

अहा! ममता का कितना अमूल्य लाभ! बिना प्रयत्न ही शान्ति के ऐसे महान् लाभ को छोड कर प्रयत्न-साध्य और क्लेशदायक ऐसे रागादि की उपासना क्यो करनी चाहिए? बिना प्रयत्न के सहज प्राप्त ऐसी मनोहर सुखकारी समता ही धारण करनी चाहिए। स्वर्ग और मोक्ष तो परोक्ष होने के कारण गुप्त है, किन्तु समता का सुख तो स्वसंवेद्य = खुद के अनुभव का होने से प्रत्यक्ष है। यह किसी से छुपाया नही जा सकता।

कवियो के कहने से रूढ बने हुए अमृत पर मोहित होने की आवश्यकता ही क्या है? जिसका रस खुद के अनुभव मे आ सकता है, ऐसे समता रूपी अमृत का ही निरन्तर पान

करना चाहिए। जो आत्मार्थी मुनिजन खाद्य, लेह्य, चुष्य, और पेय—इन चार प्रकार के रस से विमुख हैं, वे समता रूपी अमृत-रस को वारंवार पीते रहते हैं। उनके कंठ मे कोई सर्प डाल दे और कोई मन्दार वृक्ष (एक उत्तम सुगन्धित वृक्ष) की माला पहिना दे, तो भी उनके मन मे हर्ष-शोक अथवा प्रीति-अप्रीति नही होती। वे ही वास्तव मे समता रूपी सुन्दरी के शक्तिशाली पति—स्वामी हैं।

समता न तो गूढ (समझ मे नही आने योग्य) है, न किसी से हटाई जा सकती है और इसकी प्राप्ति भी कठिन नही है। चाहे अज्ञानी (विशेष ज्ञान रहित) हो, या बुद्धिमान् हो, यह समतारूपी औषधी दोनो को संसार रूपी रोग से मुक्त करने वाली है।

अत्यन्त शात रहने वाले योगियो मे भी एक क्रूर कर्म ऐसा रहा हुआ है कि जो समतारूपी शस्त्र से, रागादि दोषो के कुल का नाश कर देता है। समता का परम प्रभाव तो यही है कि इसके द्वारा पापीजन भी आधे क्षण मे शाश्वत पद को प्राप्त कर लेते हैं।

जिसके सद्भाव से ज्ञान, दर्शन, और चारित्र ये तीनो रत्न सफल होते हैं और जिसकी अनुपस्थिति में ज्ञानादि तीनो रत्न निष्फल हो जाते हैं, ऐसे महाक्रमी समता गुण से सदा कल्याण ही कल्याण है। जब उपसर्ग आ गये हो, अथवा मृत्यु प्राप्त हो रही हो, तब तत्काल करने योग्य श्रेष्ट उपाय एक मात्र समता ही है। इससे बढ़ कर दूसरा कोई उपाय नही है।

जिन्हे राग-द्वेष को जीतना है, उन्हें एक समता को ही धारण करना चाहिए, जो मोक्ष रूपी वृक्ष का बीज है और अनुपम सुख देने वाली है।"

छहो राजा भी भगवान् के पास दीक्षित हुए और भगवान् के मातापिता ने देशविरति स्वीकार की।

भगवान् के भिषक् आदि २८ गणधर हुए। ४०००० साधु, ५५००० साध्वियाँ, ६०० चौदह पूर्वधर,+ २००० अवधिज्ञानी, ८०० मन पर्ययज्ञानी, ३२०० केवलज्ञानी, ३५०० वैक्रिय लब्धिधारी, १४०० वाद लब्धि वाले, २००० अनुत्तरोपपातिक १८४००० श्रावक और ३६५००० श्राविकाएँ थी।

भगवान् ५४९०० वर्ष तक तीर्थंकर नाम कर्म के उदयानुसार विचर कर धर्मोपदेश

+ त्रि श. पु च मे संख्या भेद इस प्रकार है—६६८ चौदह पूर्वधर, २२०० अवधिज्ञानी, १७५० मनःपर्ययज्ञानी, २२०० केवलज्ञानी, २९०० वैक्रिय लब्धि वाले, १४०० वादलब्धि वाले, १८३००० श्रावक और ३७०००० श्राविकाएँ थी।

देते रहे। फिर निर्वाण समय निकट जान कर ५०० साधु और ५०० साध्वियो के साथ सम्मेदशिखर पर्वत पर चढ कर अनशन किया। एक मास के बाद चैत्र-शुक्ला ४ * भरणी नक्षत्र मे मोक्ष पधारे। आपकी कुल आयु ५५००० वर्ष की थी।

उन्नीसवें तीर्थंकर

भगवान्

॥ मल्लिनाथजी का चारित्र सम्पूर्ण ॥

प्रथम भाग समाप्त

* त्रि श पु च. और 'जैन सिद्धान्त बोल संग्रह' भा ६ में अनुसार फाल्गुन शु. १२।

परिशिष्ट

तीर्थंकर भगवंतों ा वि रण

तीर्थंकर नाम	नगर	पिता		जन्म-तिथि	कुमार-अ
ऋषभदेवजी	इक्ष्वाकु भूमि	नाभि	मरुदेवा	चैत्र कृ. ८	२० लाख पूर्व
अजितनाथजी	अयोध्या	जितशत्रु	विजया	माघ शु. ८	१८ लाख पूर्व
सभवनाथजी	श्रावस्ती	जितारी	सेना	मार्गशीर्ष शु. १४	१५ लाख पूर्व
अभिनदनजी	अयोध्या	सवर	सिद्धार्था	माघ शु २	१२५०००० पूर्व
सुमतिनाथजी	अयोध्या	मेघ	मगला	वैसाख शु. ८	१०००००० पूर्व
पद्मप्रभ जी	कोशावी	धर	सुशीमा	कार्तिक कृ. १२	७।। पूर्व
सुपार्श्वनाथजी	वाराणसी	प्रतिष्ठ	पृथ्वी	ज्येष्ठ शु. १२	५ लाख पूर्व
चन्द्रप्रभ जी	चन्द्रपुरी	महासेन	लक्ष्मणा	पोष कृ. १२	२।। लाख पूर्व
सुविधिनाथजी	काकन्दी	सुग्रीव	रामा	मार्गशीर्ष कृ. ५	५०००० पूर्व
शीतलनाथजी	भद्दिलपुर	दृढरथ	नन्दा	माघ कृ. १२	२५००० पूर्व
श्रेयासनाथजी	सिहपुर	विष्णु	विष्णु	फाल्गुन कृ. १२	२१ लाख वर्ष
वासुपूज्यजी	चम्पा	वसुपूज्य	जया	फाल्गुन कृ १४	१८ वर्ष
विमलनाथजी	कंपिलपुर	कृतवर्मा	श्यामा	माघ शु. ३	१५ लाख वर्ष
अनंतनाथजी	अयोध्या	सिंहसेन	सुयशा	वैशाख कृ. १३	७।। लाख वर्ष
धर्मनाथजी	रत्नपुर	भानु	सुव्रता	माघ शु. ३	२।। लाख वर्ष
शातिनाथजी	गजपुर	विश्वसेन	अचिरा	ज्येष्ठ कृ. १३	२५००० वर्ष
कुंथुनाथजी	गजपुर	शूर	श्री	वैशाख कृ १४	२३७५० "
अरनाथजी	गजपुर	सुदर्शन	देवी	मार्गशीर्ष शु. १०	२१००० "
मल्लिनाथजी	मिथिला	कुभ	प्रभावती	मार्गशीर्ष शु. ११	१०० "
मुनिसुव्रतजी	राजगृही	सुमित्र	पद्मावती	ज्येष्ठ कृ. ९	७५०० "
नमिनाथजी	मिथिला	विजयसेन	वप्रा	श्रावण कृ. ८	२५०० "
अरिष्टनेमिजी	सोरियपुर	समुद्रविजय	शिवा	श्रावण शु ५	३०० "
पार्श्वनाथजी	वाराणसी	अश्वसेन	वामा	पोष कृ. १०	३० "
महावीर स्वामी	कुंडपुर	सिद्धार्थ	त्रिशला	चैत्र शु १३	३० "

तीर्थंकर नाम	राज्य काल	दीक्षा तिथि	दीक्षा तप	छद्मस्थ काल
ऋषभदेवजी	६३ लाख पूर्व	चैत्र कृ. ८	बेला	१००० वर्ष
अजितनाथजी	५३ " पूर्व १ पूर्वांग	माघ शु. ९	"	१२ "
समवनाथजी	४४ " " ४ "	मार्ग शीर्ष शु १५	"	१४ "
अभिनदनजी	३६५०००० पूर्व ८ पूर्वांग	माघ शु. १२	"	१८ "
सुमतिनाथजी	२९ लाख " १२ "	वैशाख शु. ९	०	२० "
पद्मप्रभ जी	२१५०००० " १६ "	कार्तिक कृ १३	बेला	६ मास
सुपार्श्वनाथजी	१४ लाख " २० "	ज्येष्ठ शु. १३	"	९ "
चन्द्रप्रभ जी	६५०००० " २४ "	पौष कृ. १३	"	६ " +
सुविधिनाथजी	५०००० " २८ "	मार्गशीर्ष कृ. ६	"	४ "
शीतलनाथजी	५०००० "	माघ कृ. १२	"	३ "
श्रेयासनाथजी	४२ लाख वर्ष	फाल्गुन कृ. १३	उपवास	२ "
वासुपूज्यजी	०	फाल्गुन कृ. ३०	बेला	१ "
विमलनाथजी	३० लाख वर्ष	माघ शु ४	"	२ "
अनतनाथजी	१५०००००	वैशाख कृ १४	"	३ वर्ष
धर्मनाथजी	५०००००	माघ शु १३	"	२ "
शातिनाथजी	५००००	ज्येष्ठ कृ १४	"	१ "
कुंथुनाथजी	४७५००	वैशाख कृ ५	"	१६ "
अरनाथजी	४२०००	मार्गशीर्ष शु ११	"	३ "
मल्लिनाथजी	०	पौष शु ११	तेला	एक प्रहर@
मुनिसुव्रतजी	१५०००	फल्गुन शु १ ‡	बेला	११ मास
नमिनाथजी	५०००	आषाढ कृ. ९ §	"	९ "
अरिष्टनेमिजी	०	श्रावण शु ६	"	५४ दिन
पार्श्वनाथजी	०	पौष कृ ११	तेला	८३ दिन
महावीर स्वामीजी	०	मार्गशीर्ष कृ. १०	बेला	बारह वर्ष साढे छह मास

+ ग्रथ मे ३ महीना है। ● ग्रथ मे मार्गशीर्ष कृ ११ लिखा है। @ ग्रथ मे एक दिन-रात लिखा है। ‡ ग्रथ मे फाल्गुन शु ८ और ज्येष्ठ शु १२ भी लिखा है। § ग्रथ मे श्रावण कृ. ९ भी लिखा है।

तीर्थंकर नाम	निर्वाण साथी	निर्वाण	अन्तरकाल
ऋषभदेवजी	१००००	६ उनवास	०
अजितनाथजी	१०००	मासखमण	पचास लाख करोड़ सागर
संभवनाथजी	"	"	तीस लाख "
अभिनंदनजी	"	"	दस लाख "
सुमतिनाथजी	"	"	नो लाख "
पद्मप्रभ.जी	३०८	"	नव्वे हजार "
सुपार्श्वनाथजी	५००	"	नो हजार "
चन्द्रप्रभ जी	१०००	"	नो सो "
सुविधिनाथजी	"	"	नव्वे करोड सागर
शीतलनाथजी	"	"	नो "
श्रेयासनाथजी	"	"	एक करोड़ सागर मे छासठ लाख छव्वी हजार एक सो सागर कम।
वासुपूज्यजी	६००	"	चौवन सागर
विमलनाथजी	६०००	"	तीस सागर
अनंतनाथजी	७०००	"	नो सागर
धर्मनाथजी	८००	"	चार सागर
शातिनाथजी	९००	"	तीन सागर में पौन पल्योपम कम
कुंथुनाथजी	१०००	"	अर्द्ध पल्योपम
अरनाथजी	१०००	"	पाव पल्योपम में एक हजार करोड वर्ष कम।
मल्लिनाथजी	१०००+	"	एक हजार करोड वर्ष
मुनिसुव्रतजी	१०००	"	५४००००० वर्ष
नमिनाथजी	१०००	"	६००००० वर्ष
अरिष्टनेमिजी	५३६	"	५०००००
पार्श्वनाथजी	३३	"	८३७५०
महावीर स्वामी	नही	बेला	२५० वर्ष

+ ज्ञाता मे ५०० साध्वियाँ और ५०० साधु के साथ मुक्ति होना लिखा है, इस मे ५०० है। इसमें साध्वियो की संख्या नहीं लिखी होगी।

तीर्थंकर नाम	श्रावक	श्राविका	केवली	मनःपर्य ज्ञानी
ऋषभदेवजी	३०५०००	५५४०००	२००००	१२६५०
अजितनाथजी	२९८०००	५४५०००	२००००	१२५००
सभवनाथजी	२९३०००	६३६०००	१५०००	१२१५०
अभिनदनजी	२८८०००	५२७०००	१४०००	११६५०
सुमतिनाथजी	२८१०००	५१६०००	१३०००	१०४५०
पद्मप्रभ जी	२७६०००	५०५०००	१२०००	१०३००
सुपार्श्वनाथजी	२५७०००	४९३०००	११०००	९१५०
चन्द्रप्र भजी	२५००००	४९१०००	१००००	८०००
सुविधिनाथजी	२२९०००	४७१०००	७५००	७५००
शीतलनाथजी	२८९०००	४५८०००	७०००	७५००
श्रेयाशनाथजी	२७९०००	४४८०००	६५००	६०००
वासुपूज्यजी	२१५०००	४३६०००	६०००	६०००
विमलनाथजी	२०८०००	४२४०००	५५००	५५००
अनंतनाथजी	२०६०००	४१४०००	५०००	५०००
धर्मनाथजी	२०४०००	४१३०००	४५००	४५००
शांतिनाथजी	२९००००	३९३०००	४३००	४०००
कुंथुनाथजी	१७९०००	३८१०००	३२३२	३३४०
अरनाथजी	१८४०००	३७२०००	२८००	२५५१
मल्लिनाथजी	१८४००० ©	३६५०००‡	३२००§	८०० ●
मुनिसुव्रतजी	१७२०००	३५००००	१८००	१५००
नमिनाथजी	१७००००	३४८०००	१६००	१२६०
अरिष्टनेमिजी	१६९०००	३३६०००	१५००	१०००
पार्श्वनाथजी	१६४०००	३२७०००+	१०००	७५०
महावीर स्वामीजी	१५९०००	३१८०००	७००	५००

© प्रत में १८३००० है। ‡ प्रत में ३७०००० है। § प्रत में २२०० है। ● प्रत में १७५० है। + प्रत में ३३६००० है।

तीर्थंकर नाम	चारित्र पर्याय	कुल आयु	निर्वाण तिथि
ऋषभदेवजी	एक लाख पूर्व	८४ लाख पूर्व	माघ कृ १३
अजितनाथजी	एक पूर्वांग कम एक लाख पूर्व	७२ लाख पूर्व	चैत्र शु ५
सभवनाथजी	चार पूर्वांग कम एक लाख पूर्व	६० "	चैत्र शु. ५
अभिनदनजी	आठ पूर्वांग कम एक लाख पूर्व	५० "	वैशाख शु ८
सुमतिनाथजी	१२ पूर्वांग कम एक लाख पूर्व	४० "	चैत्र शु. ९
पद्मप्रभ जी	१६ पूर्वांग कम एक लाख पूर्व	३० "	मार्ग कृ ११
सुपार्श्वनाथजी	२० पूर्वांग कम एक लाख पूर्व	२० "	फल्गुन कृ ७
चन्द्रप्रभ जी	२४ पूर्वांग कम एक लाख पूर्व	१० "	भाद्र कृ ७
सुविधिनाथजी	२८ पूर्वांग कम एक लाख पूर्व	२ "	भाद्र शु ९
शीतलनाथजी	२५००० पूर्व	१ "	वैशाख कृ. २
श्रेयासनाथजी	२१००००० वर्ष	८४ लाख वर्ष	श्रावण कृ. ३
वासूपूज्यजी	५४००००० "	७२ "	आषाढ शु १४
विमलनाथजी	१५००००० "	६० "	आषाढ कृ ७
अनतनाथजी	७५०००० "	३० "	चैत्र शु ५
धर्मनाथजी	२५०००० "	१० "	ज्येष्ठ शु ५
शातिनाथजी	२५००० "	१ "	ज्येष्ठ कृ १३
कुथुनाथजी	२३७५० "	९५००० वर्ष	वैशाख कृ १
अरनाथजी	२१००० "	८४००० "	मार्ग शु १०
मल्लिनाथजी	५४९०० "	५५००० "	चैत्र शु ४
मुनिसुव्रतजी	७५०० "	३०००० "	ज्येष्ठ कृ ९
नमिनाथजी	२५०० "	१०००० "	वैशाख कृ. १०
अरिष्टनेमिजी	७०० "	१००० "	आषाढ शु. ८
पार्श्वनाथजी	७० "	१०० "	श्रावण शु. ८
महावीर स्वामीजी	४२ "	७२ "	कार्तिक कृ ३०

तीर्थंकर नाम	निर्वाण साथी	निर्वाण	अन्तर
ऋषभदेवजी	१००००	६ उपवास	•
अजितनाथजी	१०००	मासखमण	पचास लाख करोड़ सागर
सभवनाथजी	"	"	तीस लाख "
अभिनदनजी	"	"	दस लाख "
सुमतिनाथजी	"	"	नो लाख "
पद्मप्रभ जी	३०८	"	नव्वे हजार "
सुपार्श्वनाथजी	५००	"	नो हजार "
चन्द्रप्रभ जी	१०००	"	नो सौ "
सुविधिनाथजी	"	"	नब्बे करोड सागर
शीतलनाथजी	"	"	नौ "
श्रेयासनाथजी	"	"	एक करोड़ सागर में छासठ लाख छब्बी हजार एक सो सागर कम।
वासुपूज्यजी	६००	"	चोवन सागर
विमलनाथजी	६०००	"	तीस सागर
अनंतनाथजी	७०००	"	नो सागर
धर्मनाथजी	८००	"	चार सागर
शातिनाथजी	९००	"	तीन सागर में पौन पल्योपम कम
कुंथुनाथजी	१०००	"	अर्द्ध पल्योपम
अरनाथजी	१०००	"	पाव पल्योपम में एक हजार करोड़ वर्ष कम।
मल्लिनाथजी	१०००+	"	एक हजार करोड वर्ष
मुनिसुव्रतजी	१०००	"	५४०००० वर्ष
नमिनाथजी	१०००	"	६००००० वर्ष
अरिष्टनेमिजी	५३६	"	५०००००
पार्श्वनाथजी	३३	"	८३७५०
महावीर स्वामी	नही	बेला	२५० वर्ष

+ ज्ञाता में ५०० साध्वियाँ और ५०० साधु के साथ मुक्ति होना लिखा है, ग्रथ में ५०० है। उसमे साध्वियो की सख्या नहीं लिखी होगी।

तीर्थंकरों के न त्र

तीर्थंकर नाम	गर्भ	जन्म	दी	के	निर्वाण
ऋषभदेवजी	उत्तराषाढा	उत्तराषाढा	उत्तराषाढा	उत्तराषाढा	अभिजित
अजितनाथजी	रोहिणी	रोहिणी	रोहिणी	रोहिणी	मृगशिर
संभवनाथजी	मृगशिर्ष	मृगशिर्ष	मृगशिर्ष	मृगशिर्ष	आर्द्रा
अभिनंदनजी	पुनर्वसु	पुष्य	मृगशिर्ष§	अभिजित	पुष्य
सुमतिनाथजी	मघा	मघा	मघा	मघा	पुनर्वसु
पद्मप्रभ जी	चित्रा	चित्रा	चित्रा	चित्रा	चित्रा
सुपार्श्वनाथजी⊛	विशाखा	विशाखा	विशाखा	विशाखा	अनुराधा
चन्द्रप्रभजी	अनुराधा	अनुराधा	अनुराधा	अनुराधा	ज्येष्ठा ‡
सुविधिनाथजी	मूल	मूल	मूल	मूल	मूल
शीतलनाथजी	पूर्वाषाढा	पूर्वाषाढा	पूर्वाषाढा	पूर्वाषाढा	पूर्वाषाढा
श्रेयांशनाथजी	श्रवण	श्रवण	श्रवण	श्रवण	धनिष्ठा
वासुपूज्यजी	शतभिषा	शतभिषा	शतभिषा	शतभिषा	उत्तराभाद्रपद
विमलनाथजी	उत्तराभाद्रपद	उत्तराभाद्र.	उत्तराभाद्र.	उत्तराभाद्र.	रेवती •
अनंतनाथजी	रेवती	रेवती	रेवती	रेवती	रेवती
धर्मनाथजी	पुष्य	पुष्य	पुष्य	पुष्य	पुष्य
शांतिनाथजी	भरणी	भरणी	भरणी	भरणी	भरणी
कुंथुनाथजी	कृतिका	कृतिका	कृतिका	कृतिका	कृतिका
अरनाथजी	रेवती	रेवती	रेवती	रेवती	रेवती
मल्लिनाथजी	अश्विनी	अश्विनी	अश्विनी	अश्विनी	भरणी
मुनिसुव्रतजी	श्रवण	श्रवण	श्रवण	श्रवण	श्रवण
नमिनाथजी	अश्विनी	अश्विनी	अश्विनी	अश्विनी	अश्विनी
अरिष्टनेमिजी	चित्रा	चित्रा	चित्रा	चित्रा	चित्रा
पार्श्वनाथजी	विशाखा	विशाखा	विशाखा	विशाखा	विशाखा
महावीर स्वामी	उत्तराफा०	उत्तराफा०	उत्तराफा•	उत्तराफा•	स्वाति

§ अभिजित भी लिखा है। ⊛ त्रिश. श. पु. च. में सुपार्श्वनाथ का गर्भ और दीक्षा अनुराधा में जन्म और केवल विशाखा में तथा निर्वाण मूल में लिखा है। ‡ श्रवण भी लिखा है। • पुष्य भी लिखा है

ीकर

तीर्थंकर भगवंतो के गणधरों की संख्या में सूत्रों और ग्रथो में अन्तर रहा हुआ है। जिन तीर्थंकर भगवतो के गणधर महात्माओ की संख्या में अन्तर है, वे इस प्रकार हैं। ग्रंथों मे भगवान् अजितनाथजी के ९५, सुविधिनाथजी के ८८, श्रेयासनाथजी के ७२, वासुपूज्यजी के ६६, विमलनाथजी के ५७, शातिनाथजी के ३६, अरिष्टनेमिजी के ११ और पार्श्वनाथजी के १० लिखे है।

ीर्थंकरों के न त्र

तीर्थंकर नाम	गर्भ	जन्म	दी	के	निर्वाण
ऋषभदेवजी	उत्तराषाढा	उत्तराषाढा	उत्तराषाढा	उत्तराषाढा	अभिजित
अजितनाथजी	रोहिणी	रोहिणी	रोहिणी	रोहिणी	मृगशिर
संभवनाथजी	मृगशिर्ष	मृगशिर्ष	मृगशिर्ष	मृगशिर्ष	आर्द्रा
अभिनदनजी	पुनर्वसु	पुष्य	मृगशिर्ष§	अभिजित	पुष्य
सुमतिनाथजी	मघा	मघा	मघा	मघा	पुनर्वसु
पद्मप्रभ जी	चित्रा	चित्रा	चित्रा	चित्रा	चित्रा
सुपार्श्वनाथजी❁	विशाखा	विशाखा	विशाखा	विशाखा	अनुराधा
चन्द्रप्र भजी	अनुराधा	अनुराधा	अनुराधा	अनुराधा	ज्येष्ठा ‡
सुविधिनाथजी	मूल	मूल	मूल	मूल	मूल
शीतलनाथजी	पूर्वाषाढा	पूर्वाषाढा	पूर्वाषाढा	पूर्वाषाढा	पूर्वाषाढा
श्रेयाशनाथजी	श्रवण	श्रवण	श्रवण	श्रवण	धनिष्ठा
वासुपूज्यजी	शतभिषा	शतभिषा	शतभिषा	शतभिषा	उत्तराभाद्रपद
विमलनाथजी	उत्तराभाद्रपद	उत्तराभाद्र.	उत्तराभाद्र.	उत्तराभाद्र.	रेवती ●
अनतनाथजी	रेवती	रेवती	रेवती	रेवती	रेवती
धर्मनाथजी	पुष्य	पुष्य	पुष्य	पुष्य	पुष्य
शांतिनाथजी	भरणी	भरणी	भरणी	भरणी	भरणी
कुंथुनाथजी	कृतिका	कृतिका	कृतिका	कृतिका	कृतिका
अरनाथजी	रेवती	रेवती	रेवती	रेवती	रेवती
मल्लिनाथजी	अश्विनी	अश्विनी	अश्विनी	अश्विनी	भरणी
मुनिसुव्रतजी	श्रवण	श्रवण	श्रवण	श्रवण	श्रवण
नमिनाथजी	अश्विनी	अश्विनी	अश्विनी	अश्विनी	अश्विनी
अरिष्टनेमिजी	चित्रा	चित्रा	चित्रा	चित्रा	चित्रा
पार्श्वनाथजी	विशाखा	विशाखा	विशाखा	विशाखा	विशाखा
महावीर स्वामी	उत्तराफा°	उत्तराफा°	उत्तराफा●	उत्तराफा●	स्वाति

§ अभिजित भी लिखा है। ❁ त्रिष. श. पु. च. में सुपार्श्वनाथ का गर्भ और दीक्षा अनुराधा में जन्म और केवल विशाखा में तथा निर्वाण मूल में लिखा है। ‡ श्रवण भी लिखा है। ● पुष्य भी लिखा है